धर्मसूत्र - परिशीलन

• डॉ. शान्ति पाण्डेय •

प्राच्यभारती संस्थान, गोरखपुर

धर्मसूत्र-परिशीलन

डॉ० शान्ति पाण्डेय

प्राच्यभारती संस्थान, गोरखपुर

धर्मसूत्र-परिशीलन

(धर्मसूत्रों में मानवजीवन, धर्म एवं नैतिक मूल्य)

डॉ० (श्रीमती) शान्ति पाण्डेय
एम०ए०, पी-एच०डी०

प्राच्यभारती संस्थान, गोरखपुर

संस्करण २००२

प्रकाशक :

प्राच्यभारती संस्थान,
शिवनिकेतनम्,५७ डी, कालेपुर,
गौतमनगर, गोरखपुर २७३००६
दूरभाष २२०२५६४

मूल्य ५००/- रु०

मुद्रक :
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी
फोन नं० २२७६२१४

समर्पित

स्वर्गीया 'माँ' और स्वर्गीय 'बाबा'
की स्नेहमयी एवं शक्तिदायिनी
स्मृतियों को।

- शान्ति

धर्मसूत्र-परिशीलन

प्राक्कथन

वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत कल्प वेदाङ्ग नाम से अभिहित सूत्र साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्मसूत्र इसी कल्प के अंग हैं। यहाँ निम्नलिखित, और प्रायः सभी उपलब्ध, धर्मसूत्रों में विवेचित विषयसामग्री का मानवजीवन, धर्म एवं नैतिकता की दृष्टियों से अनुशीलन किया गया है-

१- गौतमधर्मसूत्र।
२- बौधायनधर्मसूत्र।
३- आपस्तम्बधर्मसूत्र।
४- सत्याषाढ या हिरण्यकेशिधर्मसूत्र।
५- वसिष्ठधर्मसूत्र।
६- वैखानसधर्मसूत्र।
७- विष्णुधर्मसूत्र।

धर्मसूत्रों पर जो समीक्षात्मक विवेचन इस समय उपलब्ध हैं उनमें महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे का प्रख्यात ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' अग्रगण्य है। इसके अतिरिक्त डॉ० रामगोपाल का 'इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़', डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी का 'धर्मसूत्राज़ : ए स्टडी इन देअर ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट' तथा डॉ० वेदमित्र की रचना 'इण्डिया ऑफ धर्मसूत्राज़' के ही नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० काणे ने धर्मशास्त्रीय रचनाओं के विपुल विस्तार को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। स्मृतियों, अन्य धर्मशास्त्रीय संकलनों, रामायण, महाभारत और पुराणों की सामग्री के साथ उन्होंने धर्मसूत्रों को भी ग्रहण किया है।

डॉ० रामगोपाल की कृति में सामग्री का संकलन कल्पसूत्रों के प्रमुख अंग श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों से किया गया है और धर्मसूत्रों का पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है। डॉ० बनर्जी की रचना में धर्मसूत्रों में विवेचित मानव-जीवन की संक्षिप्त समीक्षा ही प्रस्तुत की गयी है और इसका आधा से अधिक भाग अन्य रचनाओं में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर अनेक सूत्रग्रन्थों के पाठ का उद्धार करने में व्यय किया गया है। डॉ० वेदमित्र की रचना 'इण्डिया ऑफ धर्मसूत्राज़', जैसा कि उन्होंने अपने प्राक्कथन में स्पष्ट किया है, मूलतः 'स्टडी ऑफ द धर्मसूत्राज़ विद स्पेशल रिफरेंस टु द गौतमधर्मसूत्र' नाम से लिखित उनका पी-एच०डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोधप्रबन्ध है। इस रचना में धर्मसूत्रों के साथ मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों तथा कतिपय पुराणों का अध्ययन भी मिश्रित है।

हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में विशेषतः धर्मसूत्रों का ही अध्ययन किया है। धर्मसूत्रों में विवेचित मानवजीवन के विभिन्न पक्षों की दृष्टि से उपलब्ध सामग्री का यथासम्भव पूरा उपयोग करने का यत्न किया गया है। प्रस्तावना में धर्मसूत्र साहित्य के विस्तार, रचनाकाल, शैली तथा विषयवस्तु का विश्लेषण सन्निविष्ट है। रचनाकाल के सन्दर्भ में महामहोपाध्याय काणे के मतों के अतिरिक्त जार्ज ब्यूह्लेर, माक्स म्यूल्लेर, ओल्डेनबेर्ग आदि पाश्चात्य विद्वानों के साथ डॉ० रामगोपाल, डॉ० बनर्जी आदि भारतीय विद्वानों के मतों की भी समीक्षा की गयी है।

धर्म शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में होता है, किन्तु धर्मसूत्रों में धर्म का विशिष्ट स्वरूप उपलब्ध होता है। उनमें यह विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों, आचार, विधि और नैतिकता का वाचक है। धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म के स्रोत एवं प्रमाण, उसका स्वरूप तथा दार्शनिक विचारों पर द्वितीय अध्याय में प्रकाश डाला गया है। धर्म शब्द द्वारा अभिहित जीवन के कर्त्तव्यों का विधान ही धर्मसूत्रों का लक्ष्य है और इन कर्त्तव्यों को वर्णधर्म, आश्रमधर्म, निमित्तधर्म, गुणधर्म एवं साधारणधर्म के वर्गों में रखा जाता है। इसी आधार पर यहाँ भी विचार किया है- मानवजीवन की व्यवस्था अर्थात् आश्रमधर्म

(अध्याय ३), समाज के वर्ग और व्यवसाय या वर्णधर्म (अध्याय ४), धर्मसूत्रों में आचार का महत्त्व तथा पाप और प्रायश्चित्त अर्थात् निमित्तधर्म (अध्याय ५ एवं ६), राजधर्म, न्याय, दण्ड एवं अर्थव्यवस्था अर्थात् गुणधर्म (अध्याय ७, ८) तथा नैतिक मूल्यों का विकास अर्थात् साधारणधर्म (अध्याय १०)। सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से नारी का विशेष महत्त्व होने के कारण नारी की स्थिति एवं मानवजीवन के यौनसम्बन्धों पर भी एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डाला गया है (अध्याय ६ः नारी एवं यौनजीवन)। इस अनुशीलन का उपसंहार करते हुए हमने धर्मसूत्रों में प्रतिपादित धर्म की विशेषतओं पर मानव के जीवन एवं नैतिक मूल्यों की दृष्टि से विचार किया है और इस प्रकार अन्तिम अध्याय में भारतीय जीवनदृष्टि का एक संक्षिप्त मूल्यांकन करने का प्रयास किया है।

यह उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्रों में जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए आचरण हेतु जिन नियमों का विधान किया गया है उनमें नैतिक मूल्य की एक विशिष्ट अवधारणा भी अनिवार्यतः विद्यमान है। इस कारण हमने जहाँ भी धर्मसूत्रकालीन या धर्मसूत्रविहित जीवन के आचारों एवं कर्त्तव्यों को स्पष्ट किया है वहाँ उनके नैतिक पक्ष पर भी विचार किया है। धर्मसूत्रों में जीवन के आचारों और नैतिक मूल्यों में पार्थक्य असम्भव है। फिर भी यहाँ आश्रमधर्म, वर्णधर्म, नारी एवं यौनजीवन, राजधर्म तथा अर्थव्यवस्था के अध्यायों में धर्मसूत्रों में प्रतिपादित जीवन का तथा धर्म का स्वरूप, आचार, पाप एवं प्रायश्चित्त तथा नैतिक मूल्यों के विकास से संबद्ध अध्यायों में धर्मसूत्रों की नैतिक धारणा का विशेष रूप से समीक्षण किया गया है। विवाह, यौनजीवन, दण्ड तथा न्याय के सन्दर्भ में भी नैतिकता पर सामान्य रूप से ध्यान दिया गया है।

धर्मशास्त्रीय विषयों पर धर्मसूत्र ही प्राचीनतम व्यवस्थित ग्रन्थ हैं। यह संभव है कि इनमें कुछ धर्मसूत्र वैदिक काल के बहुत बाद के हों और कुछ में प्रक्षिप्त अंशों का भी अस्तित्व हो, किन्तु इन सभी में जो मुख्यविषय विवेचित हैं वे प्रायः समान ही हैं। इनमें विचारधारा का अन्तर होना भी स्वाभाविक है, क्यों कि वे सभी एक काल और एक प्रदेश की रचनाएँ नहीं

हैं। इन धर्मसूत्रों के मतभेदों का अध्ययन भी एक रोचक विषय है और वह नैतिक मूल्यों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को स्पष्ट रूप में इंगित करता है। इस दृष्टि से वर्तमान अध्ययन में धर्मसूत्रों की तुलनात्मक समीक्षा का भी समावेश किया गया है।

समाजशास्त्रीय, वैधानिक, आर्थिक एवं नैतिक अध्ययन की दृष्टियों से सभी धर्मसूत्र एक समान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनमें भी प्रमुख पाँच ही हैं- गौतमधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, वसिष्ठधर्मसूत्र एवं विष्णुधर्मसूत्र। इन्हीं में जीवन के सभी पक्षों से संबद्ध सामग्री उपलब्ध होती है। हिरण्यकेशिधर्मसूत्र, जिसे यहाँ सत्याषाढश्रौतसूत्र का २६वाँ एवं २७ वाँ प्रश्न होने के कारण सत्याषाढधर्मसूत्र कहकर उल्लिखित किया गया है, आपस्तम्बधर्मसूत्र से ही अधिकांशतः मिलता-जुलता है। वैखानसधर्मसूत्र मुख्यतः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी है। हारीत तथा शंख-लिखित के धर्मसूत्रों के अनुपलब्ध या उद्धरण मात्र उपलब्ध होने के कारण ही उनका उपयोग इस अध्ययन में नहीं है।

हमने धर्मसूत्रों के प्रस्तुत परिशीलन को सांगोपांग पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया है। प्रायः सभी प्रमुख धर्मसूत्रों के प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य को समाविष्ट किया गया है और प्रत्येक विषय पर विभिन धर्मसूत्रकारों के मतों की तुलनात्मक समीक्षा का ध्यान रखा गया है। अतएव मुझे यह आत्म-विश्वास है कि यह परिशीलन सामान्यतः हिन्दू धर्म और विशेषतः प्राचीनतम धर्मशास्त्रीय साहित्य के अध्येता के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ में पादटिप्पणियों में सन्दर्भों को यथासम्भव पूर्णतः उद्धृत किया गया है। इससे इसकी उपयोगिता में वृद्धि होगी।

हिन्दू धर्म का स्वरूप विविधताओं से व्याप्त है। इस धर्म के प्राचीनतम व्यवस्थित धर्मशास्त्रीय साहित्य धर्मसूत्रों में यह विविधता पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। एक ओर तर्कविरहित विशुद्ध आस्था एवं रूढि पर आधृत क्रियाएँ और मानवतावाद की नृशंस उपेक्षा करने वाले निर्देश हैं, तो दूसरी ओर पूर्णतः तर्कसमर्थित, श्रेष्ठ चिन्तन एवं दीर्घ अनुभव से उद्भूत ऐसे

विधान भी हैं, जो आधुनिक व्यवस्थाओं के समकक्ष हैं। हिन्दू धर्म की व्याख्या करना मेरा लक्ष्य नहीं है, किन्तु धर्मशास्त्रीय वाङ्मय द्वारा मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन हेतु जो सर्वस्वीकृत आचारसंहिता विहित की गयी है और साथ ही नैतिक मूल्यों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिष्ठाापित करने का प्रयास किया गया है, उसका यदि यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत कर सकी, तो मै स्वयं को कृतकृत्य समझूँगी।

'धर्मसूत्रों में जीवन एवं नैतिक मूल्यों का अध्ययन' विषय पर मैंने अपना शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर वर्ष १९८० में गोरखपुर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त की। इस उपाधि हेतु शोधकार्य में मुझे परम श्रद्धेय प्रो० अतुलचन्द्र बनर्जी, तत्कालीन अध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय (तदनन्तर अधिष्ठाता, कलासंकाय, गोरखपुर विश्वविद्यालय एवं कुलपति, अवध विश्वविद्यालयय, फैजाबाद) का निर्देशन का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उनके प्रति हार्दिक एवं श्रद्धान्वित आभार व्यक्त करती हूँ। उनकी क्षमाशील और शिष्यों का परोपकार करने वाली कृपादृष्टि के फलस्वरूप मैं अपना शोधकार्य पूर्ण करने में समर्थ हो सकी। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय की रक्षा और शिक्षा के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त रहते हुए मेरे लिखित अध्यायों का अवलोकन एवं संशोधन करने तथा अध्ययन के लिए उपयोगी आदेश देने की जो कृपा की उसी के फलस्वरूप मेरा यह कार्य सम्पन्न हो सका है। यद्यपि आचार्य के रूप में अपने छात्र-छात्राओं का मार्गदर्शन उनके लिए स्वभाव-सिद्ध है, तथापि उनका निर्देशन पाने से मैं आजीवन असीम कृतज्ञता का अनुभव करती रहूँगी। मातृतुल्या परमादरणीया गुरुपत्नी से भी मुझे निरन्तर अपार स्नेह मिलता रहा, जिसके लिए मैं आजीवन ऋणी रहूँगी।

मुझे अपने अनुसन्धान कार्य में अभीष्ट अध्ययन सामग्री का संकलन करने तथा मूल ग्रन्थों के कठिन अंशों को समझने में अनेक विद्वानों की रचनाओं से सहायता मिली है। मैं उन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनके चिन्तन एवं अभिमत के उद्धरण इस ग्रन्थ में प्रयुक्त किये गये हैं।

वाराणसी के सरस्वतीभवन ग्रन्थालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के केन्द्रीय ग्रन्थालय के प्राच्यविद्या अनुभाग में अध्ययन और सामग्री-संकलन के कार्य में जिन सुयोग्य अधिकारियों और कर्मचारियों ने मुझे अनुमति और उदार सहायता दी उनके प्रति आभार एवं धन्यवाद ज्ञापित करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्योति-कुंज महिला छात्रावास की तत्कालीन अधीक्षिका डॉ० श्रीमती सरस्वती श्रीवास्तव का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हूँ, जिन्होंने मुझे वहाँ स्नेहपूर्वक आवास की सुविधा प्रदान की।

अन्त में, मैं अपनी स्नेहमयी 'मा' स्वर्गीया ज्योत्स्ना चक्रवर्ती एवं उदारहृदय पूज्य 'बाबा' स्वर्गीय शिवदास चक्रवर्ती को कृतज्ञतापूर्वक कोटिशः प्रणति निवेदित करती हूँ, जिनसे प्राप्त सभी प्रकार के अनिवार्य सहयोग एवं प्रेरणा के फलस्वरूप ही मैं यह कार्य सम्पन्न कर सकी हूँ। उनकी स्नेहमयी स्मृतियाँ हीं मेरा संबल हैं। इति। शुभम् भूयात्।

शिवनिकेतनम्,
५७ डी, गौतमनगर,
गोरखपुर २७३००६

---- **शान्ति पाण्डेय।**

८-१-२००२

विषयानुक्रम

अध्याय १- प्रस्तावनाः धर्मसूत्रों का उद्भव और विकास पृ० १- ७७

कल्प वेदाङ्ग २

धर्मसूत्र ८

धर्मसूत्रों का रचनाकाल ... १५

धर्मसूत्रों की शैली २०

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ ... २४

श्रुति तथा स्मृति २४, स्मृतियों का विकास एवं रचनाकाल २५, धर्मसूत्र और स्मृति का अन्तर २७

उपलब्ध धर्मसूत्रों का परिचय ... २६

गौतमधर्मसूत्र ३०, बौधायनधर्मसूत्र ३८, आपस्तम्बधर्मसूत्र ४७, वसिष्ठधर्मसूत्र ५३ विष्णुधर्मसूत्र ६०, हरण्यकेशिधर्मसूत्र ६७, वैखानसधर्मसूत्र ६८, शंख-लिखितधर्मसूत्र ७२, हारीतधर्मसूत्र ७२

मानवधर्मसूत्र का विवाद ७४

अध्याय २ः धर्मसूत्रों में धर्म और दर्शन ... पृ० ७८ -१२०

धर्मसूत्रों के अनुसार धर्म के स्रोत ८३

वेद ८४, स्मृति ६१, शिष्टाचार ६४, परिषद् ६६, सद्गुणी श्रोत्रिय ६८, प्रादेशिक आचार १००, स्त्रियों की विद्या, आत्मसन्तुष्टि १०४

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म १०५

धर्मसूत्रों में दार्शनिक विचार... ... ११२

अध्याय ३ : धर्मसूत्रों में मानवजीवन और आश्रमधर्म .. पृ० १२१- २०३

ब्रह्मचर्याश्रम १२७

उपनयन संस्कार १२७, ब्रह्मचर्य की अवधि १३०, ब्रह्मचर्याश्रम का महत्त्व १३२, ब्रह्मचारी के गुण १३३, ब्रह्मचारी के आचार-नियम १३४, वेदाध्ययन तथा अनध्याय १३८, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध १४४ ब्रह्मचर्यनियम का महत्त्व १५२,

नैष्ठिक ब्रह्मचारी १५३

स्नातक के कर्त्तव्य १५४

गृहस्थाश्रम १५८

विवाह का महत्त्व १६०, पुत्र का महत्त्व १६३, पञ्चमहायज्ञ १६६, अतिथिसत्कार १६९, गृहस्थ के लिए भोजनविषयक नियम १७४, श्राद्धकर्म १७६, गृहस्थाश्रम की दस वृत्तियाँ १८०

तपस्या का जीवन वानप्रस्थाश्रम ... १८१

वानप्रस्थ्य ग्रहण की विधि १८२, तप और संयम का जीवन १८४, वानप्रस्थों के भेद १८९

संन्यास का विरक्त जीवन ... १९१

संन्यासग्रहण की विधि १९२, पूर्ण निवृत्ति का जीवन १९३,संन्यासी की भिक्षावृत्ति१९६, नैतिक आदर्श का जीवन १९७, वैराग्य और योगाभ्यास २००, संन्यासियों के भेद २०२

अध्याय ४: धर्मसूत्रों में वर्णधर्म, वर्ग एवं व्यवसाय २०४-२५४

वैदिक काल में वर्णव्यवस्था २०७

धर्मसूत्रों में वर्णव्यवस्था २१२

ब्राह्मण २२३

ब्राह्मण की विशेष सामाजिक स्थिति २१८, ब्राह्मण के गुण २२४, ब्राह्मण की हिंसा का पाप २२७,
क्षत्रिय वर्ण के कर्म २२६
वैश्य वर्ण २३०
शूद्र की हीन स्थिति २३२
शूद्र का अन्न तथा अस्पृश्यता २३६
वर्णसंकर जातियाँ २४०
स्वधर्म का महत्त्व २४७
स्वधर्मत्याग से जातिभ्रष्टता २४८
आपत्तिकाल में स्वधर्मत्याग २५०

अध्याय ५ : धर्मसूत्रों की आचारसंहिता ... पृ० २५५-३१२

शुद्धिविषयक आचार २६०
बाह्यशुद्धि २६२, शरीर की शुद्धि २६४, स्नान के नियम २६६, वस्तुओं की शुद्धि २६७ कमण्डलु का महत्त्व २७०
आशौच के आचार २७१
मृत्युविषयक आशौचाचार २७२, गर्भपातनिमित्तक आशौच २७६, शवानुगमन, शवोपस्पर्शन आशौच २७७, जन्मनिमित्तक आशौच २७६
गुरुजनों के प्रति आचारनियम ... २८०
भोजनविषयक आचार ... २८६
भोजनदाता का विचार २८६, विशेष स्थिति में भोजन की अग्राह्यता २६३, अभक्ष्य पदार्थ २६४, भोजन की विधि २६५, भोज्य अन्न के सम्मान का नियम २६६, भोजन की शुद्धता और मात्रा २६८, मांसभक्षण २६६, सुरापान ३०२

सामान्य व्यावहारिक आचार ३०५
वाणीविषयक आचार ३०७,
यात्राकालीन आचार ३०८
अन्य व्यावहारिक आचार ३१०

अध्याय ६ : धर्मसूत्रों में नारी एवं यौनजीवन ३१३-३६५
स्त्रीधर्म ३१६
पत्नी का महत्त्व ... ३१६
नारी और विवाहव्यवस्था ... ३३०
गान्धर्व अथवा प्रेमविवाह ३३४,
कन्यापहरण अथवा राक्षस एवं
पैशाच विवाह ३३६, कन्याक्रयण
अथवा आसुर विवाह ३३७,
स्त्री की विवाह-वय ३४०,
विधवा की स्थिति ३४२
स्त्री का पुनर्विवाह ३४३
नियोग ३४५
यौनजीवन ३५०
गृहस्थ का यौनजीवन ३५२,
बहुपत्नीत्व ३५६, व्यभिचार एवं
वेश्यावृत्ति ३६०,

अध्याय ७ : धर्मसूत्रों में राजधर्म, न्याय एवं दण्ड ३६६-४२७
राजा - उसका महत्त्व एवं व्यक्तित्व ३६७
आन्तरिक सुरक्षा ३७३
शासनव्यवस्था ३७७
पुरोहित ३७८,
न्यायव्यवस्था ३८२
व्यवहार-विधि ३८२, न्याय का
आधार ३८४, साक्षी तथा प्रमाण ३८६
साक्षी की अर्हता ३८७, शपथग्रहण ३८६,
साक्षी का सत्यभाषण ३६१

दोषरहित असत्यभाषण ३६४
लेख्य ३६४, दिव्य अथवा समय-
क्रिया ३६६

दण्डविधान ४०१

वर्णव्यवस्था एवं सामाजिक प्रतिष्ठा
की रक्षा हेतु दण्ड ४०५,
व्यभिचारनिमित्तक दण्ड ४१०,
हिंसानिमित्तक दण्ड ४१४,
सम्पत्तिरक्षा-विषयक दण्ड ४१८,
असत्यभाषण एवं कर्त्तव्यहीनता हेतु
दण्ड ४२५

अध्याय ८: धर्मसूत्रों की अर्थव्यवस्था : व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं राजस्व ४२८-४७२

व्यक्तिगत सम्पत्तिविषयक नियम,कानून ४२६

स्वामित्व के सामान्य सिद्धान्त ४२६,
भुक्ति का सिद्धान्त ४३०,
सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा ४३३,

दायविभाग ४३४

विभाग मे अंशनिर्धारण ४३६,
ज्येष्ठ पुत्र का विशेष अंश ४३६,
अन्य पुत्रों का अतिरिक्त अंश ४३८,
असवर्णा पत्नी के पुत्रों का दायभाग ४३६,
पुत्रियों का अंश ४४१, पित्र्य भाग ४४१,

स्त्रीधन ४४२

उत्तराधिकार के नियम ... ४४४

पुत्रों के भेद ४४७

ऋण एवं वृद्धि ... ४५३

उत्तराधिकारी द्वारा देय ऋण ४५७,
अदेय ऋण ४५८, प्रतिभू ४५८
निधि एवं निक्षेप ४५६,

मुद्रा एवं वाणिज्य ... ४६०

राजस्व या राजकीय सम्पत्तिविषयक कानून ४६१
करग्रहण ४६२, कृषिकर ४६५,
विक्रयकर ४६६, वृत्तिकर ४६७,
अस्वामिक धन ४६८, उत्तराधिकारिविहीन
रिक्थ ४८६, युद्ध में प्राप्त शत्रुधन ४६०,
आर्थिक दण्ड से प्राप्त धन ४७१

अध्याय ६ : धर्मसूत्रों में पाप और प्रायश्चित्त ४७३- ५२५

पाप की अवधारणा ४७४
दुष्कर्मों का वर्गीकरण ... ४७६
अतिपातक ४७६ महापातक ४७७,
महापातकसमान कर्म ४७८,
उपपातक ४७६, अशुचिकर कर्म,
जातिभ्रंशकर कर्म, संकरीकरण कर्म ४८१,
अपात्रीकरण, मलावह कर्म ४८२,
पतन एवं पतित की स्थिति ... ४८२
त्याग या पात्रनिनयन ४८४
जातिप्रवेश ४८८
प्रायश्चित्त ४८६
आत्मनाश ४६१, ब्रह्मचर्य ४६४,
अनाशक या उपवास ४६५, स्नान एवं
आचमन ४६६,पवित्र पेय एवं भक्ष्य४६८,
प्राणायाम ५००, होम एवं इष्टि ५०१
तप एवं विविध व्रत ५०३
जप या रहस्य प्रायश्चित्त ... ५१३
पापशमन हेतु दान ५१६
देवपूजा द्वारा पापनाश ... ५२३

अध्याय १० धर्मसूत्रों में नैतिक मूल्यों का विकास एवं साधारणधर्म ५२६-५६७

प्रवृत्ति ५३१
धर्म एवं कर्त्तव्य ५३३

आत्मरक्षा ५३४, सामाजिक भेद के अनुसार कर्त्तव्य ५३६
यौनप्रवृत्ति एवं नैतिकता ५३८
न्यायविषयक नैतिकता ५४३
प्रायश्चित्त का नैतिक प्रयोजन ... ५४६
कर्म का सिद्धान्त ५५१
साधारणधर्म : विषयपरक नैतिकता ... ५५३
अहिंसा ५५६, दया एवं परित्राण५६१, इन्द्रियनिग्रह ५६३, मानसिक सुख ५६४ दान एवं स्वार्थहीनता ५६५

अध्याय ११ : उपसंहार - धर्मसूत्रों की जीवनदृष्टि ५६८-५८१
धर्म का आधार एवं क्षेत्र ५६८
पुरुषार्थचतुष्टय ५७१
आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य ... ५७४
स्वधर्म एवं सामाजिक जीवन ... ५७५

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची ५७७-५८२

संक्षिप्त-ग्रन्थनाम-सूची

ऋ० ,ऋ०सं०	=	ऋग्वेदसंहिता।
तै सं	=	तैत्तिरीयसंहिता।
मै सं	=	मैत्रायणीसंहिता।
ऐ ब्रा	=	ऐतरेयब्राह्मण।
तै ब्रा	=	तैत्तिरीयब्राह्मण।
श ब्रा	=	शतपथब्राह्मण।
गौ	=	गौतमधर्मसूत्रम्।
बौ	=	बौधायनधर्मसूत्रम्।
आप	=	आपस्तम्वधर्मसूत्रम्।
सत्या	=	सत्याषाढधर्मसूत्रम्।
व	=	वसिष्ठधर्मसूत्रम्।
वि	=	विष्णुधर्मसूत्रम्।
वै, वैखा	=	वैखानसधर्मसूत्रम्।
हि ध शा	=	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र।
इ० वे० क. सू.	=	इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़।
धर्मसूत्राज़,ओ डे	=	धर्मसूत्राजत्र,ए स्टडी इन देअर ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट।
से बु ई	=	सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज़।
हि ए सं लि	=	हिस्ट्री ऑफ एंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर।

सन्दर्भ- संकेत

१- इस ग्रन्थ में गौतमधर्मसूत्र का सन्दर्भनिर्देश तीन संख्याओं द्वारा किया गया है, जो क्रमशः प्रश्न के, प्रश्न के अन्तर्गत आये हुए अध्याय के और अध्याय के अन्तर्गत आये हुए सूत्र के बोधक हैं।

२- बौधायनधर्मसूत्र के सन्दर्भों की तीन संख्याएँ क्रमशः प्रश्न, प्रश्न के अन्तर्गत आये हुए खण्ड और खण्ड के अन्तर्गत आये हुए सूत्र के लिए हैं।

३- आपस्तम्बधर्मसूत्र के सन्दर्भों में तीन संख्याएँ क्रमशः प्रश्न, प्रश्न के अन्तर्गत आयी हुई कण्डिका और कण्डिका के अन्तर्गत आये हुए सूत्र की बोधक हैं।

अध्याय १

प्रस्तावना

धर्मसूत्रों का उद्‌भव और विकास

वैदिक वाङ्मय का इतिहास विश्व की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति के उद्भव एवम् उत्कर्ष का इतिहास है। वेद हमारी संस्कृति और धर्म का मूल है, महान् स्रोत है। मनुष्य, संसार और ईश्वर-विषयक हमारा सम्पूर्ण ज्ञान वेद से निःसृत है और वेद से संबद्ध असंख्य रचनाओं में हमारे पूर्वज ऋषियों और तत्त्वचिन्तकों के शताब्दियों के अनुभव, चिन्तन की उपलब्धियाँ मनुष्य के मन में उठनेवाली जिज्ञासाओं के समाधान, जीवनको परम लक्ष्य तक पहुँचाने वाली व्यवस्थाएँ तथा भौतिक एवम् आध्यात्मिक उन्नति के लिए दिव्य सन्देश -- सभी कुछ समाहित है।

धर्मसूत्र इसी महान् वैदिक साहित्य के अन्तिम काल की रचनाएँ हैं, जो अधिक लौकिक एवं व्यावहारिक धरातल पर आधारित हैं। 'मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि' परम्परया अपौरुषेय मानी गयी है। इसे आश्रित कर अनेक प्रकार की रचनाएँ प्रणीत हुइं जो पौरुषेय हैं। धर्मसूत्र भी इसी रचनाक्रम की एक शृङ्खला हैं और इनका विकास कल्प नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत हुआ है, अतः धर्मसूत्रों के उद्भव और विकास का अध्ययन कल्प वेदाङ्ग के इतिहास के साथ ही संबद्ध है।

कल्प वेदाङ्ग

वेद के दो पक्ष हैं- ज्ञान तथा कर्म। ज्ञानकाण्ड का तात्पर्य वेदों में अभिव्यक्त चिन्तनपरम्परा से है और कर्मकाण्ड का संबन्ध उनमें उपदिष्ट यज्ञादि के अनुष्ठान से। इन्हीं दो प्रयोजनों से अर्थात् वैदिक मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने तथा उनका यज्ञानुष्ठान में प्रयोग करने के लिए एक विपुल साहित्य का विकास ब्राह्मण ग्रन्थों के मध्य से ही हुआ और यह साहित्य वेद के लिए उपकारक या सहायक होने के कारण वेदाङ्ग कहलाया। अङ्ग शब्द का अर्थ ही है जिसके द्वारा जानने में सहायता मिले- 'अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरित्यङ्गानि।'

मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए शिक्षा का, यज्ञ के अनुष्ठानों की विधि स्पष्ट करने के लिए कल्प का, शब्दों की शुद्धता का ज्ञान देने के लिए व्याकरण का, अर्थज्ञान की दृष्टि से शब्दों के निर्वचन का उपदेश देने वाले निरुक्त का, वैदिक छन्दों के ज्ञान के लिए छन्दस् का तथा यज्ञानुष्ठानों के उचित समय एवं नक्षत्रादि का बोध कराने के लिए ज्योतिष वेदाङ्ग का विकास हुआ। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से ये वेदाङ्ग वेद के अर्थज्ञान एवं कर्मकाण्ड के लिए उपयोगी हैं। वस्तुतः, वेदाङ्ग की उत्पत्ति का मूल ब्राह्मण ग्रन्थों में है। ब्राह्मण कर्मकाण्ड से तो मुख्यतया संबद्ध हैं ही, वे स्थान-स्थान पर निर्वचन एवं छन्दस् जैसे विषयों को भी स्पर्श करते हैं। धीरे-धीरे इन विविध विषयों का वेदाङ्गों के रूप में विकास हुआ।

वस्तुतः, कल्प ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वेदाङ्ग है। वैदिक युग के परवर्ती काल में यज्ञों की प्रधानता थी और यज्ञ से संबद्ध साहित्य की ही रचना अधिक हुई। ब्राह्मण नाम के ग्रन्थों में यज्ञक्रिया अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और नियमों का इतना विपुल विस्तार हो गया कि सरलता और संक्षिप्तता के लिए कल्पसूत्रों की रचना की आवश्यकता हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ अनेक प्रकार के देवशास्त्रीय, आख्यानपरक, व्युत्पत्तिसंबन्धी विवेचन भी हैं, वहाँ कल्प विशुद्ध यज्ञानुष्ठान तक ही सीमित रहा। 'कल्प' का शाब्दिक अर्थ ही है- वेदविहित कर्मों को क्रमबद्ध रूप में विवेचित करने वाला शास्त्र ।

कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्' ।

कल्प वेदाङ्ग के उद्भव और प्रयोजन के विषय में बौधायनसूत्र के भाष्य में सायण की यह उक्ति सर्वथा संगत है-

"तत्र तावद्विध्यर्थवादमन्त्रात्मना त्रिधा व्यवस्थितो वेदराशिः। विधिविहितमर्थवादप्ररोचितं मन्त्रेण स्मृतमभ्युदयकारि भवतीति। ततश्च चोदितानां कर्मणां सुखावबोधाय भगवान् बौधायनः कल्पमकल्पयत्।"[1]

यज्ञविषयक विस्तृत साहित्य को क्रमबद्ध और संक्षिप्त रूप देने के लिए सूत्रशैली एक उपयोगी माध्यम सिद्ध हुई और इस कारण ब्राह्मणों की रचना के बाद सूत्र रचनाओं का ही प्राधान्य रहा। सूत्रों के प्राधान्य से ही इस काल को सूत्रकाल कहा जाता है। सभी प्रकार की सूत्र रचनाओं में कल्प का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से भी सर्वाधिक महत्त्व है। जिन यज्ञों का कल्पसूत्रों में वर्णन है उनमें से अधिकांश का विवेचन ब्राह्मणों भी हुआ है, किन्तु कल्पसूत्र यज्ञविधि का स्पष्ट और संक्षिप्त वर्णन करते हैं और उनकी प्रतिपादन शैली सुन्दर एवं व्यवस्थित है।

यह उल्लेखनीय है कि कल्प का विकास ब्राह्मण ग्रन्थों के गर्भ से ही हुआ और कई ऐसे भी ब्राह्मण विद्यमान थे , जो स्वरूपतः कल्प ही थे[2] साथ ही कई ऐसी सूत्र नाम की रचनाएँ भी हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थों से मिलती-जुलती हैं।[3] यह स्थिति ब्राह्मण-काल से सूत्रकाल में संक्रमण की ओर संकेत करती है। डॉ० विण्टरनित्स ने भी कल्पसूत्रों के ब्राह्मणों से ही उद्भूत होने की ओर संकेत किया है-

"प्राचीन सूत्र रचनाओं में ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रायः उद्धरण हैं तथा जहाँ सीधा उद्धरण नहीं है वहाँ सूत्रों के भीतर आये हुए अनेक ब्राह्मणतुल्य अंशों से स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रशैली का विकास ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्य से ही हुआ है।"[4]

१- माक्स म्यूल्लेर द्वारा 'हिस्ट्री ऑव एंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर' में उद्धृत, पृ०१५१, टि०१

२- द्रष्टव्य- कुमारिल, तन्त्रवार्त्तिक,
'आरुणपराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वम्'
माक्स म्यूल्लेर द्वारा हि० ए० सं० लि०, पृ० १५२ पर उद्धृत।

३- यथा शौनकप्रणीतसूत्र को ब्राह्मणसन्निभ कहा गया है और शांखायनसूत्र के बहुत से अंश ऐतरेयब्राह्मण के समान हैं।
द्र० माक्स म्यूल्लेर, तदेव, पृ० १५२।

४- हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, खण्ड १, पृ०२३७

कल्पसूत्र भी भिन्न-भिन्न वेद से संबद्ध हैं। ऋग्वेद से संबद्ध कल्पसूत्र आश्वलायन, शांखायन और शौनक शाखा के हैं। सामवेद के मशकार्षेयकल्प, लाट्यायनसूत्र और द्राह्यायणसूत्र हैं। अथर्ववेद के कौशिकसूत्र और वैतानसूत्र हैं, किन्तु यजुर्वेद के सूत्रों की संख्या बीस से भी अधिक है। अकेली तैत्तिरीय शाखा के ही सात कल्पसूत्र मिलते हैं। यजुर्वेद की अधिकांश शाखाओं के कल्पसूत्र हैं, इनमें प्रमुख हैं- आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ-हिरण्यकेशी, मानव, भारद्वाज, वैखानस, लौगाक्षि, वाधून, मैत्र, कठ और वाराहसूत्र तथा शुक्लयजुर्वेद का कात्यायनसूत्र।[१] डॉ०रामगोपाल का यह कथन उचित ही है कि अनेक कल्पसूत्रों का लोप हो गया है ओर इस समय उस सांस्कृतिक धरोहर का बहुत छोटा अंश हमें प्राप्त है।[२]

कल्पसूत्रों की एक और विशेषता की ओर माक्स म्यूल्लेर ने[३] निर्देश किया है और वह यह कि सूत्र उनके रचयिताओं द्वारा अनेक चरणों के लिए अभिप्रेत थे अथवा वे कई शाखाओं द्वारा अपने कल्प के रूप में ग्रहण किये जाते थे। कुमारिल ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है।[४] आश्वलायन द्वारा रचित कल्पसूत्र शाकल और बाष्कल दोनों दोनो ही शाखाओं के लिए था।[५] शांखायन के कल्पसूत्र को कौषीतकि शाखा ने ग्रहण किया है। इन दोनो कल्पसूत्रों का संबन्ध होता नाम के ऋत्विज् से है।

कल्पसूत्रों के विषय में यह अनुमान किया जा सकता है कि उनकी एक बार जिस रूप में रचना हुई प्रायः उसी रूप में वे बने रहे। उनमें अधिक परिवर्तन नहीं हुए।

१- द्र० माक्स म्यूल्लेर, हि ए सं लि, पृ० १७७

२- "There is no doubt that numerous Kalpasutras belonging to all the Vedas are now extinct. and that only a small fraction of rich cultural heritage has come down to us in the form of extant Kalpasutras." -Dr. Ram Gopal, *India of Vedic Kalpasutras*, *p.2*

३- तदेव,पृ०१५८

४- स्वशाखाविहितैश्चापि शाखान्तरगतान्विधीन्।
कल्पकाराः विबध्नन्ति सर्व एव विकल्पितान्।।
सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि सम्मतः।। *-तन्त्रवार्त्तिक १.३*

५- द्र० हि एं सं लि, पृ० १६३ "They are evidently the works of individual writers, the result of careful and systematic research".

जैसा कि प्रो० माक्स म्यूल्लेर का कथन है, कल्पसूत्र विभिन्न लेखकों की रचनाएँ हैं और दीर्घकालीन योजनाबद्ध अनुसन्धान के परिणाम हैं।

सूत्रों का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ता गया और व्यावहारिक प्रयोजनों से इन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों का भी स्थान ले लिया। इन कल्पसूत्रों के कारण अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों का लोप भी हुआ और वे अब केवल नामतः ज्ञात हैं। कल्पसूत्रों के अस्तित्व में आने पर ब्राह्मण ग्रन्थों के लम्बे, अस्तव्यस्त तथा दुरूह याज्ञिक विवेचनों की उपयोगिता अपने-आप कम हो गयी ओर सूत्र अधिक प्रामाणिक बन गये। कल्पसूत्रों के आधार पर ही यज्ञ का अनुष्ठान संभव हो गया और ब्राह्मण ग्रन्थों की आवश्यकता उतनी नहीं रह गयी जितनी पहले थी।

कल्पसूत्र भिन्न-भिन्न शाखाओं के अलग-अलग भी होते थे और अलग नहीं भी होते थे। इस संबन्ध में हिरण्यकेशिसूत्र के भाष्यकार महादेव का कथन उद्धरणीय है-

> "तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशाखं भिन्नमभिन्नमपि क्वचित् शाखाभेदेऽध्ययनभेदाद्वा। आश्वलायनीयं कात्यायनीयञ्च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरेकैकमेव।"[1]

सूत्रों में ब्राह्मण चरणों का नाम लेकर उल्लेख किया गया है, इसी से स्पष्ट है कि सूत्रों के पहले सभी ब्राह्मण चरण अस्तित्व में थे। जैसा कि माक्स म्यूल्लेर का मत है, सूत्रों की रचना चरण की स्थापना के प्रयोजन से नहीं हुई, किन्तु एक बार जब सूत्रों को यज्ञ की दृष्टि से महत्त्व प्राप्त हो गया तो कई प्राचीन चरण अपनी संहिता और ब्राह्मण के भेदों की उपेक्षा कर एक नये सूत्रचरण में मिल गये। इस प्रकार नये सूत्रचरण चल पड़े और बाद में संहिता एवं ब्राह्मणों को भी सूत्रचरण के ही नाम से अभिहित किया जाने लगा।[2]

१- द्र० माक्स म्यूल्लेर, तदेव, पृ० १७५

२- तदेव, पृ० १७३
प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने बोडेलियन लाइब्रेरी के ऐतरेयब्राह्मण की पाण्डुलिपि का उदाहरण दिया है, जिसे आश्वलायनब्राह्मण कहा गया है। इसी प्रकार आपस्तम्ब शाखा में तैत्तिरीयब्राह्मण को आपस्तम्बब्राह्मण भी कहा गया है।

यद्यपि कल्पसूत्रों का यज्ञ की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है, वे स्वाध्याय के अनिवार्य अंग भी माने गये थे और उनका उद्भव भी ब्राह्मण ग्रन्थों से ही हुआ, तथापि उन्हें श्रुति नहीं माना गया है। उन्हें वेद से भिन्न ग्रहण किया गया है। एक ओर वेद जहाँ अपौरुषेय हैं, वहाँ कल्पसूत्रों को स्पष्टतः पौरुषेय माना गया है। कल्पसूत्रों का विस्तृत सूत्रात्मक साहित्य दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- (१) श्रौतसूत्र एवं (२) स्मार्त्तसूत्र। श्रौतसूत्रों का सीधा सम्बन्ध श्रुति अर्थात् वेद से है, किन्तु स्मार्त्तसूत्र स्मृति अर्थात् परम्परा पर आश्रित हैं। स्मार्त्तसूत्र के अन्तर्गत भी दो प्रकार के सूत्र हैं- (१) गृह्यसूत्र और (२) धर्मसूत्र अथवा सामयाचारिकसूत्र। कल्पसूत्र के अन्तर्गत चार प्रकार की सूत्र रचनाएँ हैं-

१- श्रौतसूत्र- जिनमें ब्राह्मणों में विवेचित बड़े श्रौतयज्ञ प्रतिपादित हैं।

२- गृह्यसूत्र- जिनमें गृह्य अग्नि द्वारा किये जाने वाले यज्ञकर्मों, उपनयन, विवाह आदि संस्कारों का विवेचन हैं।

३- धर्मसूत्र- जिनमें चार वर्णों एवं आश्रमों के कर्त्तव्यों, राजा के कर्त्तव्यों, सामाजिक नियमों आदि के विवेचन हैं।

४- शुल्बसूत्र-जिनमें वेदी के निर्माण की विधि बतायी गयी है और जो प्राचीन ज्यामिति के लघु ग्रन्थ के रूप में है एवं श्रौतसूत्रों से संबद्ध है।

उपर्युक्त चारो प्रकार के सूत्र बौधायन और आपस्तम्ब की शाखाओं में ही उपलब्ध होते हैं। ये दोनो ही कृष्णयजुर्वेद से संबद्ध हैं। अन्य वेदों से संबद्ध कल्पसूत्रों में किसी न किसी प्रकार की सूत्र-रचना का अभाव है। कल्प के अन्तर्गत श्रौतसूत्र ही प्रमुख हैं। उनका विषय-क्षेत्र व्यापक है। उनमें दर्श, पूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध, सोमयाग, सत्र, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाह याग, अहीन आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

ऋग्वेद के प्रमुख श्रौतसूत्र हैं आश्वलायन तथा शांखायनश्रौतसूत्र, *शुक्ल यजुर्वेद* का कात्यायानश्रौतसूत्र, *कृष्णयजुर्वेद* के बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, वैखानस, भारद्वाज एवं मानवश्रौतसूत्र, *सामवेद* के लाट्यायान, द्राह्यायण तथा जैमिनीयश्रौतसूत्र। *अथर्ववेद* का श्रौतसूत्र है वैतानश्रौतसूत्र।

गृह्यसूत्रों में मुख्यतः गृहस्थ से संबद्ध कर्मों का वर्णन है। विवाह, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन,

समावर्तन संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, बलिकर्म, समिदाधान, तर्पण, भवन-निर्माण की पूजनविधि, नये अन्न के ग्रहण का कर्म, पृथ्वी पर शयन करने का विधान, रोगी बालक या पत्नी का रोग दूर करने के लिए आभिचारिक क्रियाएँ तथा श्राद्धकल्प। इस विषयसूची से स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रों में व्यक्ति से संबद्ध पर्याप्त रोचक सामग्री का भी समावेश है और उनमें संस्कारों के अतिरिक्त लौकिक क्रियाओं और रीति-रिवाजों के भी वर्णन है। जीवन से लेकर मृत्यु तक के संस्कार गृह्यसूत्रों के प्रमुख विषय हैं।[१]

गृह्य शब्द की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। उनके अनुसार गृह्य कर्म गृह्य अग्नि में, जो विवाह के समय प्रज्वलित की जाती है, किये जाने वाले कर्म अथवा पत्नी के साथ किये जाने वाले कर्म हैं, अथवा स्मृति के आधार पर किये जाने वाले कर्म हैं।[२] भिन्न-भिन्न वेदों से संबद्ध गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं। अधिकांशतः गृह्यसूत्र यजुर्वेद के मिलते हैं। प्रमुख उपलब्ध गृह्यसूत्र हैं- ऋग्वेद से संबद्ध आश्वलायन, शांखायन और कौषीतकिगृह्यसूत्र, शुक्लयजुर्वेद का पारस्करगृह्यसूत्र, कृष्णयजुर्वेद के बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, मानव, काठकगृह्यसूत्र, सामवेद के गोभिल, खदिर और जैमिनीयगृह्यसूत्र तथा अथर्ववेद का कौशिकगृह्यसूत्र।

गृह्यसूत्रों का संबन्ध एक ओर श्रौतसूत्रों से और दूसरी ओर धर्मसूत्रों से है। कल्प के अन्तर्गत गृह्यसूत्रों की स्थिति श्रौतसूत्रों के बाद आती है। अनेक गृह्यसूत्र अपनी शाखा के श्रौतसूत्र का संकेत करते हैं।[३] श्रौत और गृह्य-सूत्रों के कर्मों में

१- विण्टरनित्स के शब्दों में- They contain directions for all usages, ceremonies and sacrifices by virtue of which the life of the Indians receives a higher 'sanctity' what the Indians call 'samskara' from the moment when he is conceived in the womb till the hour of his death and still further through the death ceremonies and cult of the soul." *–History of Indian Literature, Vol.I, Part I, page,238.*

२- द्र० गोभिलगृसूत्र की व्याख्या-"अथातो गृह्यकर्माण्युपदेक्ष्यामः। गृह्यशब्देन स्मार्ताग्निरुच्यते। तस्मिन् यानि कर्माणि तानि गृह्यकर्माणि अथवा गृह्या पत्नी। तया सहितस्य यानि कर्माणि।"

२- यथा आश्वलायनगृह्यसूत्र आरम्भ में ही कहता है कि तीन श्रौत अग्नियों के कर्म विवेचित किये जा चुके हैं। "उक्तानि वैतानिकानि, गृह्याणि वक्ष्यामः।

-आश्वलायनगृह्यसूत्र-१ १, १

स्वरूपतः अन्तर होने के साथ-साथ गृह्य कर्मों का एक वैशिष्ट्य यह है कि गृह्य कर्मो में अनेक ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं होती और ये कर्म गृहस्थ स्वयं ही कर सकता है। एक ही शाखा के श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र में शब्दावली की भी समानता का संबन्ध देखा जा सकता है।

कल्प के अन्तर्गत सूत्रों का तीसरा वर्ग धर्मसूत्र या सामयाचारिक सूत्र कहलाता है। यहाँ हम धर्मसूत्र नाम की रचनाओं पर विस्तार से विचार करेंगे।

धर्मसूत्र

वैदिक कल्पसूत्रों के अन्तर्गत तीसरा वर्ग धर्मसूत्र है। धर्मसूत्र का गृह्यसूत्रों से घनिष्ठ संबन्ध है। दोनो ही स्मार्त्तसूत्र कहे जाते हैं। किन्तु जहाँ गृह्यसूत्र एक ओर केवल गृह्य कर्मों से संबद्ध हैं, वहाँ धर्मसूत्रों का विषय-विस्तार और व्यापक है। वे मनुष्य के आचरण नियमों का भी विवेचन करते हैं और व्यवहार तथा राजधर्म का भी विधान करते हैं। गृह्यसूत्र में अनुष्ठानों के बाह्य स्वरूप और उनकी विधि पर ही विशेष बल दिया गया है, किन्तु धर्मसूत्र में इससे भिन्न आचार, कर्त्तव्यों और व्यवहार को महत्त्व दिया गया है। राजा के कर्त्तव्य, प्रायश्चित्त, दण्डव्यवस्था, कर-प्रणाली तथा सम्पत्ति का विभाजन भी धर्मसूत्रों के विषय हैं। संक्षेप में, धर्मसूत्र मानव-जीवन के धार्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक और व्यावहारिक नियमों का विस्तार से एवं सूक्ष्म विवेचन करते हैं।

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में कुछ विषय समान पाये जाते हैं, यथा उपनयन, अनध्याय, विवाह, श्राद्ध, मधुपर्क, स्नातक का जीवन, पञ्चमहायज्ञ। इन समान रूप से विवेचित विषयों में दोनो प्रकार के सूत्रों का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। धर्मसूत्र इन क्रियाओं से संबद्ध सामाजिक नियमों, प्रतिबन्धों एवं रिवाजों का उल्लेख करता है, जबकि गृह्यसूत्र विधि और अनुष्ठान का वर्णन करता है।

उपर्युक्त समानताओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि धर्मसूत्र का विकास गृह्यसूत्र में से हुआ है और धर्मसूत्र गृह्यसूत्र के बाद की कड़ी हैं।[1] वस्तुतः, धर्मसूत्रों का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। धर्मसूत्रों की विषयवस्तु

१- एम० विण्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, ख० १, पृ० २४०

ऐसी है जो श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र के क्षेत्र से परे है। समाज की रचना के साथ ही कुछ नियम, कानून बनने के साथ ही आचरण की संहिता एवं परम्पराएँ निर्धारित हो जाती हैं। प्राचीन भारत के इन्हीं नियमों और आचारसंहिताओं को ही आधार बनाकर धर्मसूत्र विकसित हुए हैं, अतः धर्मसूत्र गृह्यसूत्र के बाद और गृह्यसूत्रों के मध्य से उद्भूत हैं यह कथन संगत नहीं है। प्राचीनता की दृष्टि से धर्मसूत्रों में कल्प के अन्तर्गत आनेवाली किसी भी श्रौत या गृह्यसूत्र नाम की रचना के समकालीन सूत्रों का अस्तित्व हो सकता है। ऐसा मानना भी असंगत नहीं होगा कि तीनो प्रकार के कल्पसूत्र एक साथ ही विकसित हुए, किन्तु उनका स्थान और क्षेत्र भिन्न था। एक का विकास श्रौतयज्ञ की तीन अग्नियों की वेदी पर, दूसरे का विकास नितान्त व्यक्तिगत जीवन के अन्तर्गत गृह्याग्नि की वेदी पर और तीसरे का विकास मनुष्य के सामाजिक संबन्धों के परिवेश में हुआ।

यद्यपि कुछ धर्मसूत्र अपने कल्प के अन्तर्गत गृह्यसूत्रों के साथ ही आये हैं, जैसे वैखानसस्मार्त्तसूत्र में, तथापि इससे गृह्य के मध्य से धर्मसूत्र का विकास होना सिद्ध नहीं होता। हिरण्यकेशिकल्पसूत्र में धर्मसूत्र भी श्रौतसूत्र के अन्तर्गत दिया गया है, इससे भी इस प्रकार का कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः, प्राचीन परम्परा में चूँकि श्रौत एवं गृह्यसूत्र वैदिक अनुष्ठान से सीधे संबद्ध थे, इसलिए इनको संकलनों में पहले रखा गया होगा और धर्मसूत्र बाद में रखे गये। शाखा या चरण के भेद का आग्रह भी श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में अधिक था और धर्मसूत्रों में कम। इस कारण भी अधिक प्रचलित एवं कई चरणों में व्यवहृत धर्मसूत्रों को बाद में रखा गया है।

ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि कतिपय धर्मसूत्र श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के पहले भी विद्यमान थे। श्रौतसूत्र में कहा गया है कि एक विशिष्ट यज्ञक्रिया वही व्यक्ति कर सकता है जिसने यज्ञोपवीत धारण किया है, किन्तु यज्ञोपवीत धारण करने की विधि का वर्णन नहीं किया गया है, अपितु ऐसा माना गया है कि उसका ज्ञान धर्मसूत्र से प्राप्त है। आचान्त और सन्ध्यावन्दन के विषय में भी श्रौतसूत्र इसी प्रकार का संकेत देते हैं। व्याख्याकारों ने यह संभावना की है कि इन धर्मक्रियाओं का ज्ञान धर्मसूत्र से ही हो सकता है और इस कारण धर्मसूत्र किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थे । जैसा कि माक्स म्यूल्लेर का मत है, यह अधिक

संभव प्रतीत होता है कि यज्ञोपवीतधारण, आचान्त आदि क्रियाएँ श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों के समय इतनी अच्छी तरह ज्ञात थीं कि उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी।[१]

धर्मसूत्रों में शूद्र वर्ण की जो निकृष्ट स्थिति दिखायी पड़ती है उसे भी प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने इन रचनाओं के श्रौत एवं गृह्य से परवर्ती होने का प्रमाण माना है। किन्तु यह संगत नहीं प्रतीत होता। सच तो यह है कि श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों में समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे पूर्णतः एक समुदाय से संबद्ध हैं और यज्ञपरक हैं। अतः उनमें शूद्र की स्थिति का पूर्ण चित्रण नहीं हुआ है। इसके विपरीत, धर्मसूत्र वर्णाश्रमधर्म से विशेष रूप से संबद्ध हैं और शूद्र की स्थिति का प्रतिपादन उनका स्वाभाविक वर्ण्य विषय है। प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने श्रौतसूत्रों से ऐसा कोई उदाहरण नहीं दिया है जिससे सिद्ध हो कि श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों में शूद्र की सामाजिक स्थिति सम्मानपूर्ण थी। यदि एकाध उदाहरण मिल भी जाये, तो ऐसे उदाहरण धर्मसूत्रों में भी पाये जा सकते हैं, जिनका हम वर्णविषयक विचार करते समय उल्लेख करेंगे।

माक्स म्यूल्लेर के विचार को थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय तो एक समस्या यह उठ खड़ी होती है कि गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के काल में कितनी शताब्दियों का अन्तर माना जाय। शूद्र की स्थिति में धर्मसूत्रों में जो पतन हुआ है वह एकाध शताब्दी में नहीं हो सकता और तब दोनो प्रकार की रचनाओं में कई शताब्दियों का अन्तर मानना पड़ेगा। किसी भी प्रकार यह सिद्ध करना कठिन है कि धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों के बहुत बाद के हैं। उनका संकलन परवर्ती हो सकता है, किन्तु उनका उद्भव गृह्यसूत्रों का काल समाप्त होने के बाद का नहीं है, अपितु गृह्यसूत्रों के साथ इनकी समकालीनता हो सकती है। स्वयं माक्स म्यूल्लेर इन धर्मसूत्रों को स्वतन्त्र संकलन के रूप में स्वीकार करते हैं।[२]

१- "On the contrary, it seems more likely that these matters, such as adjusting the sacrificial cord, etc. were supposed to be so well known at the time when the Srauta and Grhyasutras were first composed, that they required no elucidation." -हि ए सं लि, पृ० १८३

२- द्र० हि एं सं लि, पृ०१८५ "They must therefore be considered as independent

धर्मसूत्रों का एक नाम 'सामयाचारिकसूत्र' भी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के आरम्भ में कहा गया है 'अथातस्सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः।' समय का अर्थ है 'शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त, संविद्। इन अर्थों में से यहाँ कौन सा अर्थ अभिप्रेत है, यह विवादास्पद है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त 'पौरुषेयी व्यवस्था' को 'समय' मानते हैं, जो विधि, नियम और प्रतिषेध रूप से तीन प्रकार की होती है।[1]

इस प्रकार समयाचार का अर्थ होगा मनुष्यों द्वारा की गयी व्यवस्था पर आश्रित आचार-संबन्धी नियम। गौतमधर्मसूत्र के भाष्यकार मस्करी के अनुसार सामयाचारिक धर्म वे हैं जो 'सामयिक' और शिष्टों के आचार के अनुकूल नियम हैं, ज़ो किसी ग्रन्थ में लिखित नहीं हैं।[2]

धर्मसूत्रों का विषय-विस्तार व्यापक है। वे मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक - सभी पक्षों का विवेचन करते हैं। उनमें समाविष्ट ज्ञान प्राचीन मनीषियों के कई शताब्दियों के यथार्थ एवं व्यावहारिक अनुभव का परिणाम है। उनके रचयिता मनुष्य हैं, जिन्होंने वेद, स्मृति और सदाचार के स्रोत से ज्ञात धर्म के नियमों को संकलित एवं व्यवस्थित रूप दिया है।[3]

धर्मसूत्रों में धर्म का क्या तात्पर्य है इस पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ धर्मसूत्रों में विवेचित विषयों की समीक्षा प्रासंगिक है।

---

collections of Sutras, later perhaps than the Srauta and Grhyasutras but enjoying the same authority on matters beloging to Smrti or tradition, as the Gryasutras."

१- 'पौरुषेयी व्यवस्था समयः। स च त्रिविधः विधिर्नियमः प्रतिषेधश्चेति। ...
समयमूला आचारास्समयाचाराः, तेषु भवाः सामयाचारिकाः।

२- 'सामयिकाः स्मार्ताः उपनिबद्धाः आचारिकाः शिष्टाचारिताः पदार्थाः अनुपनिबद्धाः।'
-द्र० डॉ० सुरेश चन्द्र बनर्जी, धर्मसूत्राज़ ए स्टडी इन देअर ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट, पृ० ६

३- "The author of the Dharmasutras declare themselves to be ordinary mortals and state plainly that they are endeavouring to codify Dharma as known from three main sources, viz. the Veda, tradition (Smrti) and the standard conduct of unselfish and virtuous personages."
- Dr. Ram Gopal, *India of Vedic Kalpasutras, p.43.*

धर्मसूत्रों में विवचित विषयों को मुख्यतः चार वर्गों में रखा जा सकता है-
१- वर्णधर्म - विभिन्न वर्ण के पुरुषों के कर्त्तव्य।
२- आश्रमधर्म - चार आश्रमों के कर्त्तव्य।
३- नैमित्तिक धर्म - प्रायश्चित्त आदि।
४- गुणधर्म - राजा के कर्त्तव्य आदि।

मेधातिथि[1] और हरदत्त[2] ने पाँच वर्ग माने हैं और 'वर्णाश्रमधर्म' नाम का वर्ग भी रखा है। इसके अतिरिक्त विज्ञानेश्वर[3] 'साधारणधर्म' (सभी के लिए समान रूप से लागू होने वाले नियम) का एक अलग वर्ग भी माना है।

धर्मसूत्रों का पर्याप्त अंश आश्रमों के नियमों का विवेचन करने में लगाया गया है और बहुसंख्यक धर्मसूत्र द्वितीय आश्रम गृहस्थाश्रम के ही नियमों का विस्तार से वर्णन करते हैं, क्योंकि धर्मसूत्रों की दृष्टि में अन्य सभी आश्रम उसी पर आश्रित हैं। गृहस्थाश्रम के प्रकरण में ही विवाह, अन्य आवश्यक संस्कारों, पञ्चमहायज्ञों और श्राद्ध का भी विवेचन हुआ है, जो विषय गृह्यसूत्रों में ही मुख्यतः आये हैं। इसी आश्रम से संबद्ध रूप में विविध प्रकार के पुत्रों और उनके उत्तराधिकार का भी प्रश्न विवेचित है। वानप्रस्थाश्रम के नियमों का वर्णन करते समय विविध प्रकार की वृत्तियों का भी विवरण दिया गया है। संन्यासाश्रम के नियमों का विधान करते समय धर्मसूत्रों में दार्शनिक विषयों- योग, आत्मा, परमात्मा और मोक्ष आदि पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार धर्मसूत्रों में दार्शनिक सिद्धान्तों की भी संक्षिप्त विवेचना हो गयी है। वैखानसधर्मसूत्र वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के ही नियम विस्तार से देता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य के साथ ही विद्यार्थी के कर्त्तव्यों, शुद्धि के नियम, अनध्याय आदि विषय ग्रहण किये गये हैं।

वर्णों के धर्म का विधान करते हुए धर्मसूत्र वर्णसंकर जातियों का भी विस्तृत उल्लेख करते हैं। नैमित्तिक धर्म के अन्तर्गत विविध प्रकार के पातक, उपपातक आदि

१- मनुस्मृति, २.२५ का भाष्य।
२- गौ १६.१ का भाष्य।
३- याज्ञ० १.१ का भाष्य।

पाप, उनके फल, प्रायश्चित्तस्वरूप किये जाने वाले व्रत, जप अथवा शारीरिक दण्ड के भी निर्देश किये गये हैं। अन्तिम वर्ग गुणधर्म का है, जिसमें राजा के विशेषाधिकार, कर्त्तव्य, न्यायव्यवहार, साक्षी, दण्डव्यवस्था, करग्रहण के नियम वर्णित हैं। इन विषयों के साथ स्त्री के कर्त्तव्य तथा उसके आर्थिक अधिकार भी धर्मसूत्रों में अनिवार्यतः विवेचित हैं। कुछ धर्मसूत्रों में आभिचारिक क्रियाओं को भी स्थान मिल गया है। संक्षेप में, धर्मसूत्र प्राचीन आर्य के जीवन के सभी पक्षों को प्रस्तुत करता है। मनुष्य के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन का कोई पक्ष और कोई प्रश्न धर्मसूत्रों से अछूता नहीं है। धर्मसूत्रों में प्रतिपादित विषयों के विस्तृत वितान को और अधिक व्यवस्थित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

(क) आश्रमों के धर्म

१- धर्म के उपादान तथा आर्यावर्त का विचार।

२- ब्रह्मचर्याश्रम- उपनयन का काल और वर्णानुसार मृगचर्म, मेखला, दण्ड।
ब्रह्मचारी के गुरु या आचार्य के प्रति कर्त्तव्य तथा उसके सामान्य आचार।
आचार्य की परिभाषा और योग्यता।
यज्ञोपवीत-विहीन पतितसावित्रीक के लिए प्रायश्चित्त।
ब्रह्मचारी द्वारा अग्नि की परिचर्या।

३- अध्ययन के नियम तथा अनध्याय।

४- स्नातक के कर्त्तव्याकर्त्तव्य।

५- गृहस्थाश्रम के नियम, विवाह के प्रकार और विवाह-विधि, कन्या के गुण, वर के गुण, विवाह-संबन्ध में गोत्र तथा सपिण्डता का विचार।

६- विवाह के अनन्तर दम्पती के कर्त्तव्य, ऋतुकाल-गमन का विधान, पञ्चमहायज्ञ, अतिथिसत्कार, मधुपर्क, वैश्वदेव बलि की विधि।

७- परिवार के प्रति कर्त्तव्य, माता-पिता की सेवा के नियम, परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण, भृत्य की रक्षा, गुरुजनों के प्रति सम्मान के नियम।

८- श्राद्धकर्म, उसके प्रकार तथा श्राद्ध में भोजन कराने योग्य ब्राह्मण।

९- वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण की विधि, वानप्रस्थों के भेद, वृत्तियाँ और तप।

१०- संन्यास की विधि, संन्यासी के नियम, आत्मज्ञान तथा योग की महत्ता।

(ख) वर्णों के धर्म।

१- ब्राह्मण के लिए विहित तथा निषिद्ध कर्म, ब्राह्मण की जीविका, ब्राह्मण द्वारा अविक्रेय वस्तुएँ।
२- क्षत्रिय और वैश्य के कर्म।
३- आपत्काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की वृत्तियाँ।
४- शूद्र की वृत्ति और आचार।
५- वर्णों में ऊँच-नीच के नियम तथा पारस्परिक अभिवादन की विधियाँ, अन्य के लिए मार्ग छोड़ने का नियम।
६- वर्णसंकर जातियों के भेद और उपभेद।

(ग) व्यक्ति से संबद्ध विशिष्ट नियम ।

१- आशौच के नियम, स्नान तथा आचमन की विधि और अवसर।
२- ग्राह्य, अग्राह्य वस्तु तथा भोजन, भक्ष्य और अभक्ष्य मांस,अन्नादि।
३- उपाकर्म, वेदाध्ययन का काल एवम् उत्सर्ग।
४- वस्तुओं की शुद्धि के नियम।
५- पातक कर्म और उनके प्रायश्चित्त, जाति से बहिष्कार और पुनःप्रवेश।
६- जप, होम और विविध व्रत, पवित्र करने वाले मन्त्र, तीर्थ और प्राणायाम।
७- क्रोध, लोभ, मोह आदि का त्याग और नैतिक गुण।
अनेक प्रकार के संस्कार और आध्यात्मिक गुण।

(घ) स्त्रीविषयक नियम

१- स्त्री की परतन्त्रता तथा विवाह के विषय में कतिपय स्थितियों में परतन्त्रता।
२- स्त्री की पवित्रता, पुनः शुद्धि, पातिव्रत्य के नियम।
३- कतिपय स्थितियों में विवाह-विच्छेद और परित्यक्ता का भरण-पोषण। ।

४- नियोग-विधि द्वारा सन्तानोत्पत्ति।

५- विधवा-जीवन के नियम और व्रत।

(ङ) राजधर्म, सामाजिक कानून और दण्ड

१- राजा के कर्त्तव्य, उसकी योग्यता और पुरोहित। राजा की आय के स्रोत।
२- व्यक्ति, पशु, जीव की हत्या के लिए आर्थिक एवं शारीरिक दण्ड।
३- व्यभिचार, चोरी और अपमान करने पर दण्ड।
४- दण्ड के विषय में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार।
५- न्याय-व्यवहार की प्रक्रिया और साक्षियों तथा विविध प्रकार के प्रमाणों का विचार, दिव्य की विधि।
६- सम्पत्ति का उत्तराधिकार, ज्येष्ठ पुत्र का विशेषाधिकार।
७- पुत्रों के प्रकार और उनका भाग।
८- ब्याज की दर, खोये हुए धन का स्वामित्व।
९- नाबालिग, मन्दबुद्धि, नपुंसक भाई या पुत्र के भाग का विचार।
१०- सन्तानहीन के धन की व्यवस्था।
११- कतिपय स्थितियों में असत्यभाषण दोष नहीं।
१२- सम्पत्ति में माता का अधिकार और स्त्रीधन।

कुछ धर्मसूत्रों में गृह्यसूत्रों से संबद्ध विषयों का भी विवेचन हुआ है, किन्तु सामान्यतः सभी धर्मसूत्रों में उपर्युक्त विषयों को ही ग्रहण किया गया है। धर्मसूत्रों के उपर्युक्त विषयों का विवेचन करने के पूर्व इनकी तिथि पर विचार आवश्यक है।

धर्मसूत्रों का रचना-काल

धर्मसूत्रों का रचनाकाल निर्धारित करना अनेक कारणों से कठिन है। प्राचीन रचनाओं की मौखिक उपदेश-परम्परा और प्रक्षेपों की गुंजाइश होने से यह कार्य और जटिल हो जाता है। इन रचनाओं की तिथि पर प्रकाश डालने वाले प्रमाण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचाते और जैसा कि डॉ० बनर्जी का कथन है, उनका ठीक-ठीक समय-

निर्धारण एक असंभव बात ही है।[१] इतना निश्चित है कि सूत्रात्मक ग्रन्थों की रचना संहिता और ब्राह्मणों के बाद हुई है। वेदाङ्ग के अन्तर्गत आने वाले श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र वैदिक काल के अन्तिम युग की रचनाएँ हैं।

सर्वप्रथम प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने सूत्रों की रचना का एक काल 'सूत्रकाल' माना है। यह सूत्रकाल वैदिक संस्कृत और परवर्ती अर्थात् लौकिक संस्कृत को परस्पर जोड़ने वाली शृङ्खला के रूप में है। माक्स म्यूल्लेर ने 'सर्वानुक्रमणी' के रचयिता कात्यायन को वररुचि से अभिन्न मानकर अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका काल चतुर्थ शताब्दी ई०पू० के उत्तरार्द्ध में माना है और इसी के अनुसार उनके पूर्ववर्ती आश्वलायन को ३५० ई०पू० तथा उनके गुरु शौनक को ४०० ई०पू० के समय का माना है। उन्होंने सभी धर्मसूत्रकारों को शौनक एवं कात्यायन के बीच ही रखा है। वे प्रयोगात्मक रूप से सूत्रकाल का समय ६००- २०० ई०पू० ग्रहण करते हैं।[२] इस सूत्रकाल की पुष्टि के लिए माक्स म्यूल्लेर ने उणादि सूत्रों में आये 'दीनारः', 'जिनः' 'तिरीटम्' तथा 'स्तूपः' शब्दों पर विचार किया है।

जहाँ तक धर्मसूत्रों का प्रश्न है, कल्प के अन्तर्गत ही श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्रों के आपेक्षिक काल के सन्दर्भ में विवाद है। कई प्रमाण ऐसे भी हैं जिनसे श्रौतसूत्रों से भी पहले धर्मसूत्रों के अस्तित्व होने का संकेत मिलता है।[३] इन सूत्र रचनाओं की परस्पर सापेक्ष तिथियों के निर्धारण की कठिनाई का समाधान करते हुए प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने सीधे-सीधे ६०० - २०० ई०पू० को सूत्रकाल मान लिया। वस्तुतः, श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्रों के विकास के लिए एक निश्चित तिथिक्रम बनाना संभव भी नहीं है। यह असंगत नहीं है कि ये तीनो प्रकार की रचनाएँ साथ-साथ

१- "Absolute chronology of these works is an impossible thing, chiefly because the evidence both internal and external, are inconclusive in their cases."-Dr. S.C.Banerjee, *Dharmasutras : A Study in Origin and* Development, p. 13

२- As an experiment, therefore, though as no more than an experiment, we propose to fix the years 600 and 200 B.C. as the limits of that age during which the Brahmanic literature was carried on in the strange style of Sutras." - Max Müller, History of Ancient Sanskrit Literature, p.218.

विकसित हुई हों और यज्ञक्रिया की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों को पूर्णता पहले मिली हो, किन्तु धर्मसूत्रों के व्यापक आधार, नियम, विधि, कानून से संबद्ध होने के कारण अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त करने में अपेक्षाकृत कुछ अधिक समय लगा हो।

सूत्रकाल का जो समय माक्स म्यूल्लेर ने निर्धारित किया है उससे कई विद्वान् सहमत नहीं हैं। यथा, डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी इसे स्वीकार नहीं करते, यद्यपि उन्होंने विरोध में कोई तर्क नहीं दिये हैं, किन्तु सूत्रकाल जैसा सूत्रात्मक ग्रन्थों की रचना का एक युग मान लेने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं है।[१]

प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने यह मानकर सूत्रकाल का निर्धारण किया है कि सूत्रग्रन्थों के बाद अनुष्टुप् छन्द वाले धर्मशास्त्र रचे गये। किन्तु उनकी यह मान्यता तथ्यों के विपरीत है। धर्मसूत्रों में भी 'अथाप्युदाहरन्ति' कहकर श्लोकों के उद्धरण दिये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि धर्मसूत्रों के पहले भी श्लोकबद्ध रचनाएँ विद्यमान थीं और वे इतनी प्रामाणिक थीं कि धर्मसूत्र उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। डॉ० बनर्जी ने तो धर्मसूत्रों से पूर्व धर्मशास्त्र की पद्यात्मक रचनाओं का अस्तित्व निःसंकोच स्वीकार किया है।[२] इस सन्दर्भ में महामहोपाध्याय काणे के शब्द भी ध्यानार्ह हैं-

> "श्लोक वाला ग्रन्थ मनुस्मृति कुछ धर्मसूत्रों से, जैसे विष्णुधर्मसूत्र से, प्राचीन और वसिष्ठधर्मसूत्र का समकालीन है। कुछ प्राचीनतम धर्मसूत्रों में, यथा बौधायनधर्मसूत्र में, प्रायः लम्बे-लम्बे प्रबन्ध श्लोक-छन्द में पाये जाते हैं और उनमें से कुछ तो उद्धरण मात्र हैं। यहाँ तक कि आपस्तम्ब में भी बहुत से श्लोक पाये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्लोक-बद्ध ग्रन्थ धर्मसूत्रों से पूर्व भी विद्यमान थे। इसके

१- डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी, धर्मसूत्राज़, ओरिजिन एण्ड डेव०, पृ० १२

२- "The conclusion seems irresistible that a metrical Dh.S. literature did exist before the Ds literature came into being and that the authority of the former was too great to be shaken off by the authors of the latter." - - Dr.S.C.Banerjee, *Dharmasutras: A Studies in the Origin & Development*, p.39.

अतिरिक्त आपस्तम्ब तथा बौधायन के समय में धर्मसम्बन्धी एक बृहत् साहित्य था, जो आज उपलब्ध नहीं है।"[१]

श्लोकबद्ध धर्मशास्त्र यास्क के पहले भी विद्यमान थे यह निरुक्त में आये हुए उद्धरण से सिद्ध होता है।[२] गौतमधर्मसूत्र में भी धर्मशास्त्रों का उल्लेख है।[३] गौतम ने 'इत्येके' 'एकेषाम्' कहकर अन्य धर्मशास्त्रकारों का निर्देश किया है,[४] तथा 'आचार्याः' नाम से भी अन्य धर्मशास्त्रकारों को उद्धृत किया है।[५] प्रो०काणे का यह निष्कर्ष संगत प्रतीत होता है कि "धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम से कम ई० पू० ६०० - ३०० के पूर्व तो वे थे ही और और ईसा पूर्व की द्वितीय शताब्दी में वे मानव आचार के लिए सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे।[६] महामहोपाध्याय काणे भी प्राचीनतम धर्मसूत्रों- गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों को ई०पू० ३००- ६०० के बीच का स्वीकार करते हैं।

डा० रामगोपाल सभी सूत्रों के आपेक्षिक तिथिक्रम पर विचार करने के अनन्तर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी सूत्रों की रचना एक काल में नहीं हुई और उनमें समय का दीर्घ अन्तराल भी है। वे भी माक्स म्यूल्लेर द्वारा प्रतिपादित सूत्रकाल को स्वीकार करते हैं तथा अनेक विद्वानों के तर्कों का सन्दर्भ देते हुए इस काल को लगभग ८०० - ५०० ई० पू० के बीच मानते हैं और सूत्र रचनाओं में भी आरम्भिक एवम् अन्तिम रचना के बीच कम से कम तीन शताब्दियों का अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार इन कालसीमाओं को और पीछे भी ले जाया जा सकता है।[७] उन्होंने

१- काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, अर्जुन चौबे काश्यप द्वारा हिन्दी अनुवाद, पृ० ६

२- निरुक्त, ३ ४ ५

३- गौ , १ ६ . २१ तस्य व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यंगानि उपवेदाः पुराणम्।

४- गौ , १ १ १६,४२, २ ५६, ४ १३,१७, ६ ६, ७ १५, २ १ ४५,५३,६७, ३ २७, ५ ३,३१, ७ ३६, ६ . ७,१६,२३ ३ . १ ४,३ ८,१४, ५ १३, १० १७,२४,३८

५- गौ १ ३ ३५, १ ४ १८

६- काणे, तदेव,पृ०८

७- "These are, however, the lowest limits of the Sutra period and an interval of three centuries is the minimum that could be allowed between the earliest and the latest works of Sutra Literature."
-Dr. Ram Gopal, *India of Vedic Kalpasutras, p.90*

सूत्रों (श्रौत, गृह्य और धर्म) के विकास की कालक्रमानुसार चार अवस्थाएँ मानी हैं और धर्मसूत्रों में बौधायन तथा गौतम को प्रथम वर्ग में, आपस्तम्बधर्मसूत्र को दूसरे में, वसिष्ठधर्मसूत्र को तीसरे में तथा वैखानसधर्मसूत्र एवं विष्णुधर्मसूत्र को चौथे वर्ग में रखा है। तीसरे वर्ग में हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र हैं, अतः श्रौतसूत्र में आया हुआ हिरण्यकेशिधर्मसूत्र भी उसी वर्ग का है।

इस प्रकार डॉ० रामगोपाल ने वैखानस और विष्णुधर्मसूत्र को सबसे बाद का माना है और उनके अनुसार इनकी तिथि सूत्रकाल के बाद की भी हो सकती है, किंवा, ये दोनो ईस्वी सन् के आरम्भ होने के बाद के भी हो सकते हैं। प्रथम वर्ग के सूत्रों की रचना कई शताब्दियों की अवधि में हुई है। इन पूर्ववर्ती और परवर्ती सूत्रों में विचारों, भाषा, शैली तथा सामाजिक परिस्थितियों का अन्तर द्रष्टव्य है। इनमें से प्राचीनतम सूत्रों को पाणिनि से पहले का मानना संगत होगा। विद्वानों ने पाणिनि का समय ७ वीं शताब्दी ई०पू० से चौथी शताब्दी ई०पू० तक माना है।[1]

इस प्रकार प्राचीन धर्मसूत्र चौथी शताब्दी ई०पू० के पहले के सिद्ध होते हैं। किन्तु यदि पाणिनि की तिथि ६०० - ५०० ई०पू० मानी जाय, जैसा कि डॉ० रामगोपाल ने माना है, तो प्राचीन सूत्रों को ८०० ई०पू० तक प्राचीन मानना पड़ेगा।[2]

डॉ० रामगोपाल के विस्तृत विवेचन के बाद भी धर्मसूत्रों के रचना-काल में इसके अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं दिखायी देता कि वे माक्स म्यूल्लेर के सूत्रकाल को दो शताब्दी पहले कर देते हैं।

धर्मसूत्रों का रचनाकाल ६०० ई०पू० से लेकर १०० ई०पू० तक माना जा सकता है। परवर्ती धर्मसूत्रों का रचनाकाल निश्चय ही और बाद का होगा। आगे धर्मसूत्रों का परिचय देते हुए प्रत्येक धर्मसूत्र के रचना-काल पर भी विचार किया जायगा।

१- डॉ० रामगोपाल, इण्डिया आफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ८६

२- तदेव, पृ० ८८

धर्मसूत्रों की शैली

धर्मसूत्र मुख्यतः सूत्रों में रचित हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में यह शैली शास्त्रीय रचनाओं में व्याप्त रही है। व्याकरण, दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त यज्ञविधि और आचार-विषयक रचनाओं में भी सूत्रशैली को ही अपनाया गया। इस शैली की विशेषताएँ एक पद्य में इस प्रकार बतायी गयी हैं-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

सूत्रशैली की प्रमुख विशेषता है संक्षिप्तता। इस विषय में महाभाष्य का यह वाक्य प्रसिद्ध है कि आधे अक्षर की बचत होने पर सूत्रकार को पुत्रजन्म के समान आनन्द मिलता है। सूत्रशैली को माक्स म्यूल्लेर एक ढाँचा मात्र मानते हैं, जिसमें विचारों के विकास अथवा अन्वय का अभाव होता है।[१]

किन्तु सूत्रशैली की अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण प्राचीन शास्त्र आज तक सुरक्षित रह सके हैं। कल्पसूत्रों में जिस सूत्र-शैली का प्रयोग किया गया है वह व्याकरण जैसे विषयों की सूत्रशैली से भिन्न है। श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्रों में संक्षिप्तता का अधिक आग्रह नहीं है। उनमें विषय को स्पष्ट करना ही प्रधान है। इसी कारण उनमें लम्बे-लम्बे सूत्र भी मिलते हैं।

धर्मसूत्रों में तो गद्यात्मक सूत्रों के साथ-साथ उद्धरण के रूप में अथवा मौलिक रूप में भी पद्यों का प्रयोग हुआ है। गौतमधर्मसूत्र एवं वैखानसधर्मसूत्र ही ऐसे हैं जिनमें गद्यात्मक सूत्रों का पूर्णतः प्रयोग है और पद्यों को स्थान नहीं दिया गया है। अन्य धर्मसूत्रों की शैली गद्य और पद्य का मिश्रण है। बौधायनधर्मसूत्र की शैली सरल है और सूत्रकार अक्षरों को बचाने के प्रति सचेष्ट नहीं है, इस तथ्य की ओर

१- "Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law or philosophy, is reduced to a mere skelton. All the important points and joints of a system are laid open with the greatest precision and clearness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas."
-History of Ancient Sanskrit Literature, p.64-65

भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने भी इंगित किया है।[1] इस धर्मसूत्र में सभी प्रकार की शैलियाँ देखी जा सकती हैं। इसमें लम्बे गद्य के अंश भी मिलते हैं,[2] तो पद्यात्मक अंश भी प्रचुर मात्रा में हैं। इस धर्मसूत्र के चौथे प्रश्न में तो पद्यात्मक अंश ही प्रमुख रूप में आये हैं, गद्यात्मक सूत्र बहुत कम हैं। इसमें ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली में भी सूत्र मिलते हैं, तो छोटे और अर्द्धनिर्मित सूत्र भी असंख्य हैं। ब्राह्मणों से अनेक उद्धरण भी हैं।[3] इसमें मन्त्रों को भी विस्तार से दिया गया है, जैसे दूसरे प्रश्न के नवें खण्ड में तर्पण के मन्त्र तथा आठवें खण्ड में जप के मन्त्र। वेद से जो उद्धरण लिये गये हैं उनका 'इति विज्ञायते' अथवा 'इति श्रुतिः'[4] कहकर निर्देश किया गया है और पद्यात्मक उद्धरणों को 'अथाप्युदाहरन्ति' से प्रस्तुत किया गया है।

बौधायनधर्मसूत्र में विषय के विवेचन की दृष्टि से सौष्ठव नहीं है और एक ही विषय भिन्न-भिन्न स्थलों पर आया है। कहीं-कहीं एक साथ ऐसे विषय भी प्रतिपादित हैं जो परस्पर 'पूर्णतः असंबद्ध हैं अथवा यदि संबद्ध भी हैं तो बहुत शिथिल रूप' में।[5] डॉ० ब्यूह्लेर ने इसकी शैली को आपस्तम्बधर्मसूत्र की तुलना मे अधिक प्राचीनता का एक प्रमाण माना है।[6]

आपस्तम्बधर्मसूत्र आंकार में छोटा है। इसमें शैली की विविधता कम है, किन्तु भाषा की दृष्टि से यह रोचक है। यह मुख्यतः गद्य में है और इसमें गद्यात्मक सूत्र भी छोटे हैं। असंख्य सूत्र तो एक-एक शब्द के भी हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण तथा अध्यात्मपटल के दो सूत्रों को छोड़ दें तो सम्पूर्ण धर्मसूत्र में दो पंक्तियों में लिखे जाने योग्य सूत्रों की संख्या एक दर्जन से कम ही होगी। इसमें प्रायः २० पद्य भी आये हैं।

१- 'सत्यम्, अयं ह्याचार्यो नातीवग्रन्थलाघवप्रियो भवति।' - बौ. १. ३. १६ की व्याख्या।
२- यथा, बौ १।५।११।७,२२, १।६।१३।३०, २।१०।१।३८, २।१।२।५,६ २।२।४।२३, २।३।५।१६,२१
३- द्र० बौ २।१।२।११, २।६।१।८, २।६।११।३६,३७
४- यथा, बौ १।१०।२१।२,२१
५- द्र० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय द्वारा लिखित,गौ ध सू ,चौखम्बा सं० की भूमिका, पृ० २६
६- द्र० ब्यूह्लेर, बौ ध सू के अनुवाद की भूमिका, से बु ई, खण्ड २, पृ० ३७

आये हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भाषा की दृष्टि से अनेक असंगतियाँ मिलती हैं। डॉ० ब्यूह्लेर ने[१] शब्दों की रूपविषयक विसंगतियों को निम्नलिखित चार वर्गों में रखा है-

१- पुराने शब्द और रूप जो दूसरी वैदिक रचनाओं में मिलते हैं, या वैदिक प्रयोगों के सादृश्य के आधार पर बना लिये गये हैं।

२- ऐसे प्राचीन शब्दरूप जो केवल इसी धर्मसूत्र में मिलते हैं।

३- वैदिक तथा पाणिनीय नियमों से असिद्ध शब्दरूप, जिनके समान प्रयोग प्राकृत में मिलते हैं, तथा

४- वाक्यों की संरचना की असंगतियाँ। इन शब्दों की असंगतियों को देखकर यह संभावना भी स्वाभाविक प्रतीत होती है कि मूल रूप में इसमें अनेक अपाणिनीय प्रयोग रहे होंगे।[२]

आपस्तम्बधर्मसूत्र के तिथिनिर्धारण में इसकी भाषा और शैली से पर्याप्त सहायता मिलती है।

वसिष्ठधर्मसूत्र की शैली भी गद्य और पद्य वाली मिश्रित शैली है। जैसा कि प्रो० काणे ने निर्देश किया है,[३] गौतमधर्मसूत्र से इसकी शैली मिलती-जुलती है। इसमें भी पर्याप्त प्राचीन प्रयोग मिलते हैं। इसमें रहस्यव्रत के चार अध्यायों (२५-२८) की शैली में अन्तर है। इन अध्यायों में कोई सूत्र नहीं है, केवल पद्य हैं और अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है। अध्याय २३-२४ की भाषा प्राचीन दिखायी पड़ती है। विषय के प्रस्तुतीकरण की एक विशिष्ट शैली भी इस सूत्र में मिलती है। पहले सूत्र द्वारा नियम दिया गया है और फिर उसका समर्थन वैदिक अंश के अथवा किसी धर्मशास्त्र के पद्य के उद्धरण द्वारा किया गया है।

१- तदेव, भूमिका, पृ० ४०

२- "In the original text there must have been many Un-Panean forms than in the one preserved by Hardatta."
- काणे, हि० आफ धर्मशास्त्र, पृ०२२

३- धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनु०,भाग १, पृ० २२

विष्णुधर्मसूत्र की शैली की समालोचना करते हुए डॉ० जॉली का कथन है: 'सूत्र या गद्यात्मक नियम जो अधिकांशतः विष्णुधर्मसूत्र में आया है, सूत्रशैली की विशेषता प्रकट करता है, जिससे अनेक स्थानों पर भाष्य की सहायता के विना अर्थ करना असंभव हो जाता है और शब्दों के चयन में ये सूत्र प्राचीन धर्मसूत्रों से तथा कुछ स्थानों पर गृह्यसूत्रों से यथासम्भव समानता प्रदर्शित करते हैं।'[१] इसके बीच-बीच में श्लोक भी आये हैं। प्रायः अध्यायों का अन्त श्लोकों से हुआ है। अध्याय १, ९९ तथा १०० पूर्णतः पद्यात्मक हैं और इन्हें मूल धर्मसूत्र के साथ बाद में जोड़ा गया माना जा सकता है।

अन्य अध्यायों में भी[२] सूत्रों की अपेक्षा पद्यों की संख्या ही अधिक है और अध्याय ९८ में विष्णु के प्रत्येक नाम को एक-एक सूत्र में रखा गया है। इन्द्रवज्रा, उपजाति और त्रिष्टुप् छन्दों का भी प्रयोग इस धर्मसूत्र में मिलता है। समग्र रूप में इसकी शैली सरल है और व्याकरण के नियमों का पालन किया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र और विष्णुधर्मसूत्र में जो अंश समान पाये जाते हैं उनकी शैली की दृष्टि से परस्पर तुलना करने पर डॉ० जॉली ने विष्णुधर्मसूत्र के पाठ को उत्तम एवं शुद्ध माना है।[३]

केवल उद्धरणों के रूप में प्राप्त हारीतधर्मसूत्र में भी गद्य के साथ अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् छन्दों का प्रयोग था।[४] शंखलिखित की भी यही स्थिति है। 'तन्त्रवार्त्तिक' में इस धर्मसूत्र के अनुष्टुप् छन्द तथा विश्वरूप के परवर्ती भाष्यकारों द्वारा गद्यात्मक अंश उद्धृत किये गये हैं।[५] हिरण्यकेशिधर्मसूत्र आपस्तम्बधर्मसूत्र का बहुत अधिक ऋणी है और उसकी शैली भी आप ध सू के समान ही है। वैखानसधर्मसूत्र में छोटे गद्यात्मक

१- "The Sutras or prose rules of which the bulk of the Vishnu-sutra is composed, show throughout that characteristic laconism of the sutra style, which renders it impossible in many cases to make out the real meaning of a Sutra without the help of commentary." -SBE VII .p.xvii.

२- यथा अध्याय ५, ११, २०, २२, २३, ४३, ५१, ५४, ५५, ६७, ९३ ।

३- से बु ई, खण्ड ७, भूमिका, पृ० १८-१९

४- गद्यात्मक सूत्र का उद्धरण 'पालंकया-- नालिका' आदि सूत्र है जिसमें कश्मीरी शब्द 'कफेल्ल' का प्रयोग है।

५- द्र० काणे, तदेव, हि० अनु०, पृ०२९

सूत्रों का ही प्रयोग है और यह शुद्ध संस्कृत में रचित है। इसमें पद्यों का अभाव है।

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ

धर्मसूत्रों में विवेचित विषयों को ही ग्रहण कर स्मृति नाम की रचनाओं का विकास हुआ है। 'स्मृति' शब्द दो प्रकार का अर्थ व्यक्त करता है। एक अर्थ व्यापक है। इस अर्थ में यह शब्द श्रुति अर्थात् वेद से भिन्न ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें स्मृति शब्द वेदाङ्ग तथा श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियों का भी निर्देश करता है। दूसरी ओर, संकुचित अर्थ में 'स्मृति' का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए होता है और इससे मनु, याज्ञवल्क्य आदि के पद्यात्मक धर्मशास्त्रीय रचनाओं का निर्देश होता है।

श्रुति तथा स्मृति

श्रुति और स्मृति का मुख्य अन्तर यह है कि श्रुति अर्थात् वेद अपौरुषेय वाङ्मय को कहा गया है और स्मृति धर्मविषयक पौरुषेय रचनाएँ हैं, जिन्हें धर्मशास्त्र भी कहा गया है।[१] धर्मसूत्रों में श्रुति और स्मृति दोनो को ही धर्म का मूल कहकर इस भेद की ओर संकेत किया गया है।[२] श्रुति के अन्तर्गत 'मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि' आती है, जिसे ऋषिदृष्ट माना गया है और स्मृति में उससे भिन्न वाङ्मय।[३] इस प्रकार वेदाङ्ग के अन्तर्गत आने वाली सभी सूत्र रचनाएँ स्मृति हैं, भले ही उनका आधार श्रुति क्यों

१- 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।'- मनु० २।१०

२- 'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः।'- वसिष्ठ, १।४।६
'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।'- मनु० २।६
'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।'- याज्ञ० १।७

३- द्र० माक्स म्यूल्लेर, हि एं सं लि, पृ० ६७-६८
Literary works, belonging to the preceding periods, the Brahmanas as well as the Mantras, are considered by Indian theologians as forming the Sruti or divine revelation, in contradistinction to the Sutras and all the rest of their Literature."

न हो।[1] श्रुति पर आधारित श्रौतसूत्र नाम की रचनाएँ भी स्मृति हैं, क्योंकि वे श्रुति अर्थात् अपौरुषेय वेद से भिन्न हैं। वे पुरुष रचयिताओं द्वारा प्रणीत हैं। स्मृति का प्रामाण्य उसी सीमा तक मान्य होता है जहाँ तक वह श्रुति का विरोधी न हो, अतः स्मृति का मूल भी श्रुति ही है। कल्पसूत्रों को श्रुति से भिन्न मानने का एक आधार यह है कि उनके मशक, बौधायन, आपस्तम्ब और आश्वलायन आदि द्वारा रचित होने का स्पष्ट ज्ञान है।

श्रुति और स्मृति में उपर्युक्त भेद के आधार पर ही सूत्रों के दो वर्ग किये गये हैं- श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र। श्रौतसूत्र वे सूत्र हैं जिनका आधार श्रुति है, किन्तु स्मार्तसूत्रों का ऐसा कोई आधार नहीं है। कल्पसूत्रों में जो चार प्रकार की सूत्रात्मक रचनाएँ- श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्बसूत्र आती है, उनमें श्रौतसूत्र एक अलग वर्ग हैं और उससे संबद्ध होने के कारण शुल्बसूत्र को भी उसी के साथ रखा जा सकता है। शेष दो प्रकार के सूत्र- गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र- स्मार्त्तसूत्र कहे जाते हैं।

स्मृतियों का विकास और रचनाकाल

स्मृतियों का विकास भी दीर्घकाल में हुआ है। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि आरम्भ में गद्यात्मक सूत्रों वाली धर्मशास्त्रीय रचनाएँ रही होंगी, जिनके बाद केवल पद्यात्मक स्मृतियों की रचना हुई होगी। गौतमधर्मसूत्र में मनु का उल्लेख है, उससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि यह धर्मसूत्र वर्तमान मनुस्मृति का निर्देश करता है अथवा मनु द्वारा रचित किसी सूत्रात्मक रचना का। इसी प्रकार बौधायन ने भी अपने पहले के सात धर्मशास्त्रकारों के नाम लिये हैं, आपस्तम्ब ने दस के और वसिष्ठ ने पाँच के नाम निर्दिष्ट किये हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन धर्मसूत्रों की रचना के काल में भी अन्य धर्मशास्त्र विद्यमान थे, जो स्मृति नाम से उल्लिखित होते होंगे।

१- कुमारिल ने वेदाङ्गों को स्मृति माना है-
स्मृतित्वं त्वङ्गनां धर्मसूत्राणाञ्चाविशिष्टम्।
यद्यपि स्मृतिशब्देन नाङ्गनामभिधेयता।
तथाप्येषां न शास्त्रत्वप्रमाणत्वनिराक्रिया।। - तन्त्रवार्त्तिक, १।३।६

प्रो० माक्स म्यूल्लेर का यह विचार है कि अधिकांश स्मृतियाँ सूत्र रचनाओं के ऊपर आधृत हैं और इन पद्यात्मक संस्करणों ने सूत्रों के पाठ का स्थान ग्रहण कर लिया है।[१] माक्स म्यूल्लेर का उपर्युक्त कथन विवादास्पद है, क्योंकि स्मृतियों का विकास स्वतन्त्र रहा है। वे अनिवार्यतः धर्मसूत्रों की आधारभूमि पर नहीं फली-फूलीं। भारतीय साहित्य के विकास-क्रम में वैदिक काल की समाप्ति के लगभग पद्यात्मक रचनाओं का युग आया, जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण और स्मृतियाँ रची गयीं। इस युग को अनुष्टुप् युग कह सकते हैं, क्योंकि इस काल की प्रायः सभी रचनाओं में अनुष्टुप् ही प्रमुख छन्द था। इसी अनुष्टुप् युग की देन स्मृतियाँ भी हैं।

याज्ञवल्क्य ने २० स्मृतिकारों के नाम गिनाये हैं। पराशरस्मृति में भी १९ नाम मिलते हैं। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में १८, विश्वरूप द्वारा दी गयी सूची में ३०, तथा पैठीनसि द्वारा प्रस्तुत नामावली में ३६ स्मृतिकारों के नाम आये हैं। *वीरमित्रोदय* में 'प्रयोगपारिजात' से एक उद्धरण है जिसके अनुसार १८ मुख्य स्मृतियाँ, १८ उप-स्मृतियाँ और २१ अन्य स्मृतियाँ हैं।

स्मृतियों की सूचियों में[२] धर्मसूत्रकार आपस्तम्ब, शंखलिखित तथा हारीत के नाम प्रमुख स्मृतिकारों के रूप में, बौधायन का नाम उपस्मृतिकार के रूप में तथा वसिष्ठ एवं विष्णुस्मृतिकार के नाम अन्य स्मृतिकारों के रूप में उल्लिखित हैं। यदि इन धर्मसूत्रकारों के नाम अलग कर दिये जायें तो सबसे प्राचीन स्मृतिकार मनु हैं, जो संभवतः कई धर्मसूत्रकारों से भी पहले के हो सकते हैं। मनुस्मृति के रचनाकाल पर विचार करते हुए प्रो० काणे ने अनेक बाह्य और आन्तः साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि 'मनुस्मृति' की रचना ई० पू० दूसरी शताब्दी तथा ईसा के बाद दूसरी

१- "Most of these (Smritis), if not all, are founded in Sutras, but the text of Sutras have mostly been superseded by these later metrical paraphrases."- History of Ancient .Sanskrit Literature, p. 77.

२- प्रमुख स्मृतिकार हैं- मनु, बृहस्पति,दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत। द्र० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हि० अनु०, पृ० ४१

शताब्दी के बीच कभी हुई होगी।[1] मनु के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य, पराशर और नारद की स्मृतियाँ भी प्राचीन मानी जाती हैं। इन स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य स्मृतियों का रचनाकाल ४०० ई० से १००० ई० के मध्य माना जा सकता है।[2]

स्मृतियों की उपयोगिता के विषय में यही संभावना की जा सकती है कि सभ्यता के विकास के साथ नियमों और कानूनों का विस्तार होता गया और इन नियमों को पद्यात्मक रूप देना याद रखने के लिए न केवल अधिक सुविधाजनक सिद्ध हुआ अपितु अपरिहार्य भी बन गया।[3] इस आवश्यकता के फलस्वरूप पद्यात्मक स्मृतियों का विकास हुआ। इन स्मृतियों में जो बाद में रची गयीं, उनमें बहुतों का संबन्ध प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों से जोड़कर उन्हें प्रामाणिक घोषित किया गया।

वस्तुतः स्मृतियाँ राजधर्म और व्यक्ति के आचार के लिए निदर्शक ग्रन्थों के रूप में रची गयी हैं।

धर्मसूत्र और स्मृति का अन्तर

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में जो अन्तर है वह मुख्यतः शैली की दृष्टि से है। प्रो० काणे ने धर्मसूत्रों और स्मृतियों का आन्तरिक भेद प्रदर्शित करने वाले लक्षणों का स्पष्टतः निर्देश किया है। उनके प्रतिपादन के आधार पर ही हम यहाँ अपनी ओर से दोनो प्रकार की रचनाओं के अन्तर प्रस्तुत करेंगे।

१- धर्मसूत्र वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। उनका संबन्ध कल्प से है। और अनेक धर्मसूत्र कल्प के अङ्ग के रूप में हैं। उनका गृह्यसूत्रों से घनिष्ठ संबन्ध है, जो किसी चरण की रचनाएँ हैं। धर्मसूत्रों में अनेक विषय गृह्यसूत्रों के अनेक समान हैं।

२- वैदिक शाखा से संबद्ध होने के कारण धर्मसूत्र किसी एक शाखा के मन्त्रों, संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों के प्रति विशेष पक्षपात प्रदर्शित करते हैं, किन्तु

१- तदेव, पृ० ४६ २- तदेव, ४१

३-- "Sutras were composed for the guidance of the society in its very early stages. With the progress of civiliation, the need was felt for more elaborate treatment of the rules for the guidance of a far more advanced society."- S.C.Banerjee, *Dharmasutras: Orig .& Dev., P.11.*

स्मृतियों में ऐसी बात नहीं है।

३- प्राचीन धर्मसूत्रों के रचयिताओं ने स्वयं को आचार्यों के रूप में ही प्रस्तुत किया है। वे अपनी धर्मशास्त्रीय रचना का संबन्ध किसी देवता से नहीं जोड़ते, किन्तु अनेक स्मृतियों में दैवी उत्पत्ति का दावा किया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों को स्मृतियों में ब्रह्मा के समकक्ष रखने में भी संकोच नहीं किया गया है।

४- शैली की दृष्टि से दोनो का अन्तर उल्लेखनीय है। धर्मसूत्र गद्य में हैं अथवा गद्य और पद्य दोनों में मिश्रित हैं। स्मृतियों में गद्य का अभाव है। वे पूर्णतः पद्यात्मक हैं।

५- भाषा की दृष्टि से, धर्मसूत्रों में प्राचीन भाषा के रूप और चिह्न प्रायः उपलब्ध होते हैं और अपाणिनीय प्रयोग भी दिखायी पड़ते हैं। स्मृतियों की भाषा सूत्रों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

६- विवेचित विषयों के विन्यास में धर्मसूत्र तत्पर नहीं हैं। उनमें क्रमबद्धता अधिक नहीं है। बहुधा एक ही विषय कई स्थानों पर विवेचित हुआ है। कहीं-कहीं एक विषय के प्रसंग में नितान्त भिन्न प्रकार का विषय भी प्रतिपादित है। इसके विपरीत स्मृतियों में क्रमबद्धता है और विषयों का अध्यायों एवं शीर्षकों के अन्तर्गत सुन्दर विभाजन है। याज्ञवल्क्यस्मृति में सभी नियमों का आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्ताध्याय में विभाजन इसका उदाहरण है।

७- रचनाकाल की दृष्टि से भी धर्मसूत्र स्मृतियों के अपेक्षा प्राचीन हैं। स्मृतियों में मनुस्मृति से प्राचीन है, किन्तु गौतम, बौधायन ओर आपस्तम्ब के धर्मसूत्र अधिक प्राचीन हैं। धर्मसूत्रों में क्षेपकों की संभावना अधिक रही है, किन्तु स्मृतियों के पद्यबद्ध होंने से ऐसा कम हुआ है।

धर्मसूत्र और स्मृतियों के इन अन्तरों के कारण ही इन्हें दो वर्गों में रखा जाता है। स्मृतियों को ही सामान्यतः धर्मशास्त्र नाम से अभिहित किया जाता है।

उपलब्ध धर्मसूत्रों का परिचय

श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों की तुलना में उपलब्ध धर्मसूत्रों की संख्या कम है। इसका कारण संभवतः यह हो सकला है कि धर्मसूत्र सार्वजनीन, लोकप्रचलित व्यवस्थाओं, विधिविषयक नियमों एवं आचार से संबद्ध थे। अतः उनमें विविधता की संभावना कम थी तथा यज्ञ-क्रिया से सीधे संबद्ध न होने के कारण उनके संरक्षण पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया गया होगा। एक ही धर्मसूत्र कई चरणों द्वारा भी ग्रहण कर लिये जाते थे, इस कारण भी इनकी संख्या स्वभावतः कम रही होगी। जो धर्मसूत्र उपलब्ध हैं उनमें भी आद्योपान्त एक काल की रचना प्राप्त करना असंभव है। प्राचीन रचनाओं में मौखिक परम्परा के कारण क्षेपकों की संभावना अस्वीकार नहीं की जा सकती।

डॉ० जॉली धर्मसूत्रों को तीन वर्गों में विभक्त करते हैं- (१) शुद्ध, (२) संशोधित तथा (३) गौण या खण्डित। इनमें शुद्ध के अन्तर्गत वे आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी और बौधायन को रखते हैं। दूसरे वर्ग में वे उन रचनाओं को रखते हैं, जो कल्प के अंग के रूप में नहीं हैं और तीसरे वर्ग की रचनाएँ इस प्रकार की हैं, जो बाद के ग्रन्थों में खण्डित रूप में उपलब्ध होती हैं। डॉ० जॉली का यह वर्गीकरण संगत नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मसूत्रों के विकास का इतिहास पेंचीदा है। मूलतः उनका क्या स्वरूप था यह निर्धारित करना कठिन है। जिन धर्मसूत्रों से संबद्ध श्रौत एवं गृह्यसूत्र नहीं मिलते उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अस्तित्व ही नहीं था।

सम्प्रति निम्नलिखित धर्मसूत्र उपलब्ध हैं-

१- गौतमधर्मसूत्र।

२- बौधायनधर्मसूत्र।

३- आपस्तम्बधर्मसूत्र।

४- वसिष्ठधर्मसूत्र।

५- विष्णुधर्मसूत्र।

६- वैखानसधर्मसूत्र।

७- हिरण्यकेशिधर्मसूत्र।

८- शंखलिखितधर्मसूत्र।

६- हारीतधर्मसूत्र का भी कुछ अंश उद्धरणों द्वारा उपलब्ध होता है। इनमें विष्णुधर्मसूत्र 'विष्णुस्मृति' नाम से अधिक प्रचलित है। शंखलिखित भी स्मृति के नाम से उल्लिखित होता है। हिरण्यकेशिधर्मसूत्र सत्याषाढश्रौतसूत्र के अन्तर्गत ही आया है।

यहाँ हम उपर्युक्त धर्मसूत्रों का उनके स्वरूप, तिथि, रचयिता और उनकी शाखा आदि विषयों पर अनेक विद्वानों के मतों के आधार पर एक समालोचनात्मक परिचय प्रस्तुत करेंगे।

१- गौतमधर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में गौतमधर्मसूत्र को प्राचीनतम माना गया है। इसकी प्राचीनता के विषय में कई प्रमाण उपलब्ध हैं। बौधायनधर्मसूत्र में गौतम के मत का उल्लेख किया गया है। विशिष्ट विषयों में प्रदेश के नियम को प्रमाण मानना चाहिए, इस प्रकार की मान्यता का निर्देश करने के बाद यह कहा गया है कि धर्मसूत्रकार गौतम के मत से यह मिथ्या है।[१] इसी प्रकार अन्यत्र भी यह उल्लेख किया गया है कि आपत्काल में ब्राह्मण क्षत्रिय के धर्म का आश्रय लेकर जीविका-निर्वाह कर सकता है और इसके विरोध में गौतम का यह मत उद्धृत किया गया है कि क्षत्रिय का धर्म ब्राह्मण के लिए कठोर होता

१- तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्। मिथ्यैतदिति गौतमः। - बौ १।२।६।७

है, अतः ब्राह्मण क्षत्रिय के धर्म का आश्रय न ले।[1]

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि विद्यमान गौतमधर्मसूत्र में इस सन्दर्भ में जो विचार मिलता है वह उपर्युक्त मत से भिन्न है और वह आपत्काल में ब्राह्मण को क्षत्रिय का धर्म अपनाने की अनुमति देता है।[2]

इसके अतिरिक्त बौधायनधर्मसूत्र ३।१० में गौतमधर्मसूत्र के १६ वें अध्याय के अनेक सूत्र शब्दशः गृहीत हैं। गौतम० १।३।२५-३४ के सूत्रों को बौधायनधर्मसूत्र के २।११।१७ -२३ सूत्रों में पाया जा सकता है। इन उल्लेखों और समानताओं से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि गौतम बौधायन से पूर्ववर्ती हैं।

वसिष्ठधर्मसूत्र में भी गौतम के उद्धरण मिलते हैं। सपिण्डों में आशौच के विषय में और आहिताग्नि व्यक्ति के प्रवास काल में मृत्यु होने के सन्दर्भ में गौतम के मत को उद्धृत किया गया है।[3] गौतमधर्मसूत्र का १६ वाँ अध्याय सामान्यतः अनेक शाखाओं में गृहीत था। बौधायन एवं वसिष्ठ दोनो में इसका पाया जाना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

स्मृतियों में मनुस्मृति ३।१६ तथा याज्ञवल्क्य १।५ में गौतम का उल्लेख मिलता है। आप ध सू अनेक प्रमाणों से बौधायन के भी बाद की रचना सिद्ध होता है। इस कारण धर्मसूत्रों में गौतमधर्मसूत्र को प्राचीनतम माना गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र में गौतमधर्मसूत्र से लिये गये उद्धरणों की समीक्षा करने के बाद डॉ० ब्यूह्लेर का यही स्पष्ट मत है कि गौ ध सू रचनाओं में प्राचीनतम है, किन्तु इसका प्रत्येक सूत्र समान

१- 'नेति गौतमोऽत्युग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य।'- बौ , २।४।१७

२- 'तदलाभे क्षत्त्रवृत्तिः।- गौ ,१।७।६

३- द्र० वसिष्ठ, ४।३५, ३७ सद्यः शौचमिति गौतमः।
आहिताग्निश्चेत्प्रवसन्म्रियेत पुनः संस्कारं कृत्वा
शववच्छौचमिति गौतमः।
द्र० याज्ञवल्क्य १।५ पराशरव्यासशङ्खलिखिताः दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।।

रूप से प्राचीन नहीं है। इसमें कतिपय अंश प्रक्षिप्त भी हैं।[1]

सामवेद से सम्बन्ध

गौतमधर्मसूत्र का सम्बन्ध सामवेद से है। इसके लिए निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। गौतम का एक आचार्य के रूप में सामवेद से संबद्ध दो श्रौतसूत्रों- लाट्यायनश्रौतसूत्र एवं द्राह्यायणश्रौतसूत्र - में उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गौतम नाम का चरण सामवेद का अध्ययन करता था और जिस समय लाट्यायन एवं गोभिल के वर्त्तमान सूत्र की रचना हुई थी उसी समय गौतम श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र सामवेद के साहित्य के अंग थे। ब्यूह्लेर ने इसी निष्कर्ष की ओर संकेत किया है।[2]

गौतम का उल्लेख चरणव्यूह (३।१) में सामवेद की एक शाखा के अन्तर्गत किया गया है। गौतम चरण को राणायणीय शाखा का एक भेद बताया गया है। सामवेद से सम्बद्ध वंशब्राह्मण में गौतम नाम के चार आचार्यों का उल्लेख आया है। ये हैं- गातृ गौतम, सुमन्त बाभ्रव गौतम, शङ्कर गौतम और राध गौतम। गोभिलगृह्यसूत्र में (३।१०।६) में भी गौतम चरण का उल्लेख किया गया है। इसमें कई विषयों पर गौतम के विचारों से सहमति व्यक्त की गयी है। गोभिलगृह्यसूत्र का संबन्ध भी सामवेद से है। गौतमधर्मसूत्र का एक सम्पूर्ण अध्याय (२६वाँ) सामविधानब्राह्मण से लिया गया है, जो स्पष्टतः सामवेद का ब्राह्मण है। इससे भी इस धर्मसूत्र का सामवेद से संबन्ध प्रकट होता है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त डॉ० ब्यूह्लेर ने कतिपय अन्य तथ्यों की ओर संकेत किया है, जो गौतमधर्मसूत्र का सम्बन्ध सामवेद से प्रमाणित करते हैं।[3]

१- द्र० से बु ई, खण्ड २, भूमिका, पृ० ५४ "These facts will, I think, suffice to show that the Gautama Dharmasutra may be safely declared to be the oldest of the existing works on the sacred law."

२- तदेव, पृ० ४७ "It follows, therefore that at least one, if not several Gautama Caranas, studied the Sama-Veda, and that at the time when the existing Sutras of Latyayana and Gobhila were composed Gautama Srauta and Grhya-sutras formed part of the literature of the Sama-Veda."

२- सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, खण्ड २, भूमिका, पृ० ४७-४६

जैसा कि ब्यूह्लेर ने निर्देश किया है, गौतम ने शुद्धि-विषयक मन्त्रों के प्रति अपना पक्षपात प्रकट किया है और पुरुषगति, रौहिण तथा महावैराज नाम के ऐसे साम का उल्लेख किया है जो केवल सामवेद के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। गौतमधर्मसूत्र १।१।५२ और ३।७।८ में पाँच व्याहृतियों का उल्लेख किया गया है।[१] अधिकांश वैदिक रचनाओं में तीन ही व्याहृतियों का निर्देश होता है। गौतमधर्मसूत्र की व्याहृतियों में अन्तिम व्याहृति 'सत्यम्' है और जैसा कि हरदत्त ने अपनी टीका में संकेत किया है, 'सत्यम्' व्याहृति व्याहृतिसाम में आयी है।[२] इससे भी गौतमधर्मसूत्र का सामवेद से संबन्ध सिद्ध होता है। बौधायनधर्मसूत्र १।२।५ की टीका में गोविन्दस्वामी ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि गौतमधर्मसूत्र का अध्ययन छन्दोग अर्थात् सामवेदियों द्वारा किया जाता है।[३]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह तथ्य पुष्ट है कि गौतमधर्मसूत्र सामवेद से सम्बद्ध है। जॉर्ज ब्यूह्लेर ने इस सन्दर्भ में उचित ही कहा है- 'मेरी दृष्टि से केवल दो तथ्यों का सन्तोषपूर्ण समाधान हो सकता है। वे हैं इस रचना का सामवेद से संबन्ध एवं इस समय उपलब्ध अन्य चार धर्मसूत्रों से इसकी प्राचीनता।'[४]

रचयिता गौतम

गौतमधर्मसूत्र के रचयिता गौतम हैं। 'गौतम' नाम का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों में भी कई स्थानों पर आया है।[५] शतपथब्राह्मण में माथव विदेह के

----

१ - ॐ पूर्वा व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः। - गौ , १।१।५२
'प्रतिषिद्धत्वाङ्मनसापचारे व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः'- गौ , ३।७।८

२- 'व्याहृतिसाम भूर्भुवः स्वः सत्यं पुरुष इति पञ्च।' - गौ १।१।५२ पर हरदत्त।

३- यथा वा बौधायनीयं धर्मशास्त्रं कैश्चिदेव पाठ्यमानं सर्वाधिकारं भवति। गौतमीयगोभिलीये छन्दोगैरेव पठ्येते, वासिष्ठं तु बह्वृचैः अथ च सर्वाधिकाराणि।- गोविन्दस्वामी, १।२।५ की टीका

४- से बु ई, खण्ड २ भूमिका, पृ० ४५

५- द्र० डॉ० वेदमित्र, 'इण्डिया ऑफ धर्मसूत्राज़', भूमिका, पृ० १२

पुरोहित गोतम राहूगण का नाम मिलता है, जो जनक के समकालीन थे।[1] यजुर्वेद एवं सामवेद में गोतम नाम नहीं मिलता। ऋग्वेद का एक सूक्त (१।७६) गोतम से सम्बद्ध कहा जाता है और ऋ० १।७७।५ में 'गोतमेभिः' का भी प्रयोग है। इन उल्लेखों से किसी एक आचार्य या व्यक्ति का अर्थ सभी स्थलों पर ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में उल्लिखित गोतम के किसी सूक्त का ऋषि होने की पुष्टि नहीं होती।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् (६।५।१) में गोतमीपुत्र का नाम आया है । अनेक व्यक्तियों के नाम के साथ गौतम शब्द पैतृक उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त है, जैसे आरुण,[3] उद्दालक आरुणि,[4] कुश्रि,[5] सति,[6] और हारिद्रुमत।[7]

बृहदारण्यकोपनिषद् में गौतम शाखा के अनेक आचार्यों का उल्लेख है। जैसा कि ऊपर उल्लिखित है, वंशब्राह्मण में गौतम चरण के चार आचार्यों के नाम आये हैं। अनेक श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में गौतम नाम के आचार्य का मत उल्लिखित किया गया है। मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका आदि में श्लोक गौतम का भी उल्लेख है तथा वृद्ध गौतम के भी उद्धरण दिये गये हैं।

इसी प्रकार बृहद् गौतम के भी उद्धरण 'दत्तकमीमांसा' नामक ग्रन्थ में मिलते हैं। अङ्गिरा वंश में भी छः गौतम कुलों का उल्लेख गोत्र, प्रवरों में उपलब्ध है। इसी प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण २।७८ में तथा महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६७ में मेधातिथि गौतम नाम के आचार्य का उल्लेख है। गौतम नाम के विभिन्न कुलों और

१- शतपथब्राह्मण, ११।४।३।२०, १३।५।१।१

२- द्र० वेदिक इण्डेक्स, मैक्डोनेल एवं कीथ, खण्ड १, पृ० २४०
"Gotama is mentioned several times in the Rgveda but never in such a way as to denote personal authorship of any hymn."

३- शतपथब्राह्मण १०।६।१।४

४- तदेव, १।४।१।३, ५।१।२।२ बृहदा० ६।१।७, छान्दोग्योपनिषद् ५।३।६, कौषीतकि उप० १।१, जैमिनीय उप० ब्राह्मण १।४१।४

५- शतपथब्रा० १०।६।५।१

६- वंशब्राह्मण ४।३।७३

७- छान्दोग्य उप० ४।४।३

आचार्यो का विस्तृत निर्देश करते हुए डॉ० वेदमित्र ऐसा मानते हैं कि धर्मसूत्र के रचयिता गौतम भी इन्हीं आचार्यों में से एक थे।[१]

गौतमधर्मसूत्र का सम्बन्ध गौतम चरण से है और इसके रचयिता इस चरण के प्रवर्त्तक आचार्य थे। म०म० काणे के अनुसार गौतमधर्मसूत्र आरम्भ में किसी कल्प से संबद्ध नहीं था। इस सन्दर्भ में डॉ० काणे के परस्पर विरोधी उक्तियों की डॉ० रामगोपाल ने आलोचना की है।

गौतमधर्मसूत्र का रचना-काल

गौतमधर्मसूत्र के रचनाकाल पर अनेक तथ्यों से प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम बौधायनधर्मसूत्र में गौतम का नाम आया है। जैसा कि ऊपर उल्लिखित है, बौधायनधर्मसूत्र में गौतमधर्मसूत्र का एक सम्पूर्ण अध्याय (१६ वाँ) ग्रहण कर लिया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र में भी गौतम का दो स्थलों पर उद्धरण है और गौतमधर्मसूत्र का एक सम्पूर्ण अध्याय (१६वाँ) ग्रहण कर लिया गया है, यद्यपि आपस्तम्बधर्मसूत्र मे गौतम का नामतः उल्लेख नहीं मिलता, तथापि उनके विचारों की ओर स्पष्ट संकेत द्रष्टव्य है।[४]

आपस्तम्बधर्मसूत्र बौधायनधर्मसूत्र के भी बाद की रचना है। दोनो धर्मसूत्रों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक विषयों पर बौधायन के मत आपस्तम्ब के मतों की अपेक्षा प्राचीन हैं, जैसे ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार का प्रश्न तथा नियोग की प्रथा। इन दोनो धर्मसूत्रों की विस्तृत आलोचना करते हुए डॉ० ब्यूह्लेर ने आपस्तम्ब

१- द्र० वेदमित्र, इण्डिया ऑफ धर्मसूत्राज़, भूमिका, पृ० १६
"Our Gautama who composed the Dharmasutras, must be one of these illustrious teacher. He was the follower of the Sama-veda."

२- काणे, तदेव,हि०अनु०, पृ० १२

३- इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ५३

४- आप ध सू में गौ ध सू १।२।१ 'प्रागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः' का संकेत करते हुए कहा गया है- 'श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्'- आप १।४।८

धर्मसूत्र के बौधायन की अपेक्षा भी परवर्ती होने के विषय में तीन तथ्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'दोनो आचार्यों की रचनाओं में सूत्रों की समानता, यह तथ्य कि आपस्तम्ब कुछ विषयों पर अधिक परिष्कृत विचार प्रस्तुत करते हैं और वे बौधायन के सूत्रों में विवेचित सिद्धान्तों का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं इस परम्परा को बल प्रदान करता है कि वे (आपस्तम्ब) बौधायन के बाद के हैं।[१] स्पष्टतः गौतमधर्मसूत्र आपस्तम्ब और बौधायन के धर्मसूत्रों से अधिक प्राचीन है। वसिष्ठधर्मसूत्र में भी दो स्थानों पर गौतम का उल्लेख आया है और गौतम के १६ वें अध्याय को २२ वें अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक मन्त्रों में समानता भी है। स्पष्टतः, वसिष्ठधर्मसूत्र भी गौतमधर्मसूत्र का ऋणी है। हिरण्यकेशिधर्मसूत्र बौधायनधर्मसूत्र के भी बाद का सिद्ध होता है।[२]

विभिन्न धर्मसूत्रों के साथ तुलना करते पर सबसे प्राचीन गौतम का धर्मसूत्र ही सिद्ध होता है। धर्मसूत्रों का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन करते हुए डॉ० ब्यूह्लेर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।[३] महामहोपाध्याय काणे ने गौतमधर्मसूत्र के समय का विवेचन करते हुए इसे सामविधानब्राह्मण के बहुत बाद का माना है। उनके अनुसार गौतम 'यास्क के बाद के हैं और उनके समय में पाणिनि का व्याकरण या तो था ही नहीं और यदि था तो वह तब तक अपनी महत्ता स्थापित नहीं कर सका था।[४]

गौतमधर्मसूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में प्रो० काणे ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि उसमें ब्राह्मण धर्म पर बुद्ध अथवा उनके अनुयायियों द्वारा किये गये आक्षेपों का संकेत नहीं है और इस कारण यह ई०पू० ४००- ६०० के पहले ही रचा जा चुका था।[५] बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का संकेत न होना निश्चित रूप से प्रमाण

१- से बु ई, खण्ड १४, भूमिका, पृ० २२

२- द्र० ब्यूह्लेर, से बु ई, २, भूमिका, पृ० ४६

३- से बु ई, खण्ड२, भूमिका, पृ० ५४ पीछे पृ० ३३ पर उद्धृत

४- तदेव, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग,पृ० १३।

५- तदेव, पृ० १८-१६ ।

नहीं माना जा सकता, क्योंकि सूत्रकार का लक्ष्य एक परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना है और यह सम्भव है कि सूत्रकार ने बौद्धधर्म के सिद्धान्तों को अपने धर्मशास्त्र में उल्लिखित करना उचित न माना हो।

इस सन्दर्भ में एक तथ्य और विचारणीय है। गौतमधर्मसूत्र में 'यवन' शब्द आया है।[१] गौतम के अनुसार शूद्र पुरुष और क्षत्रिया स्त्री का पुत्र 'यवन' कहलाता था। यवन शब्द से यूनानियों का अर्थ लिया जाता है। जैसा कि डॉ० ब्यूह्लर ने कहा है, 'यवन' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारत में ग्रीसवासी के लिए और विशेषतः बैक्ट्रीयन या इण्डो-बैक्ट्रियन लोगों के लिए किया जाता था, जिन्होंने द्वितीय शताब्दी ई० पू० में भारत के कुछ भागों पर शासन किया था। सामान्यतः यह माना जाता है कि जिन रचनाओं में 'यवन' शब्द का प्रयोग है वे सिकन्दर के आक्रमण (३२६ ई०पू०) के बाद की हैं। वस्तुतः 'यवन' शब्द के प्रयोग को आधार बनाकर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकला। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारतीयों का यूनानियों से परिचय नहीं था तथा यवन शब्द का अर्थ ग्रीसवासी ही था यह भी निश्चित नहीं है।

डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।[२] डॉ० ब्यूह्लर ने भी 'यवन' शब्द के प्रयोग को अधिक महत्त्व नहीं दिया है और वे इस प्रकार के प्रमाण को सन्देहास्पद मानते हैं, क्योंकि धर्मसूत्र में प्रक्षेप की सम्भावना अधिक थी और यवन शब्द ग्रीसवासी से भिन्न के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख में।

----

१ - तेभ्य एव क्षत्रिया मूर्धावसिक्थक्षत्रियधीवर-पुल्कसांस्तेभ्य
एव वैश्या भूर्ज्जकण्ठमाहिष्यवैश्यवैदेहान्पारशवयवनकरण शूद्राशूद्रेत्येके।
- गो , १।४।१७

२- सुरेशचन्द्र बनर्जी, धर्मसूत्राज़, ओरि० डेव० पृ०१६
"The theory based on 'Yavana' is now an out-moded one. This is mainly because this word does not necessarily mean Greek nor is there anything to rule out the possibility of the Indians having had free intercourse with Greece, either commercial or cultural, before Alexander's invasion of India."

मनुस्मृति की तुलना में गौतमधर्मसूत्र का रचनाकाल भी कुछ अधिक विवादास्पद है। मनु के अनुसार ब्रह्महत्या, सुरापान और गुरुतल्पगमन के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। मनुस्मृति में इस प्रकार के विचार अभिव्यक्त हैं।[१] मनु के इस प्रकार के विचार का उल्लेख गौतमधर्मसूत्र में उनके नाम के निर्देश के साथ किया गया है।[२] इससे डॉ० ब्यूह्लेर ने यह संभावना की है कि गौतम मानवधर्मसूत्र का संकेत करते हैं। दूसरी ओर, मनुस्मृति में भी उतथ्य-तनय गौतम का नाम आया है।[३] यदि इससे गौ ध सू के रचयिता का अर्थ ग्रहण करें तो गौतमधर्मसूत्र मनुस्मृति से पूर्ववर्ती हो सकता है। मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप द्वितीय शताब्दी ई०पू० से लेकर द्वितीय शताब्दी ईस्वी के बीच का है। इस कारण गौतम का समय एक या दो शताब्दी पहले हो सकता है।[४]

मनुस्मृति के पूर्व मानवधर्मसूत्र अथवा मनुस्मृति का कोई प्राचीन संस्करण विद्यमान था या नहीं यह विवादास्पद है, किन्तु इतना निश्चित है कि मनुस्मृति एकाध शताब्दी की रचना नहीं है। यह सम्भव है कि गौतम अपने समकालीन या पूर्ववर्ती मनु का संकेत करते हैं। गौतमधर्मसूत्र अपनी भाषा और शैली से भी मनुस्मृति की अपेक्षा प्राचीन है। यह उल्लेखनीय है कि गौतमधर्मसूत्र में मनुस्मृति का कोई पद्य उद्धृत नहीं है, जबकि अन्य धर्मसूत्रों में मनुस्मृति के पद्य मिल जाते हैं। गौतमधर्मसूत्र में संहिताओं और ब्राह्मणों के अतिरिक्त वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, उपवेद और धर्मशास्त्र का उल्लेख है। इसी प्रकार सामविधानब्राह्मण से एक अध्याय ग्रहण किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक से भी सूत्र उद्धृत किये गये हैं और अथर्वशिरस् का भी उल्लेख जप के सन्दर्भ में हुआ है।[५] हरदत्त के अनुसार अथर्वशिरस् का संबन्ध अथर्ववेद से हैं ।[६]

१- मनुस्मृति, ११।१०४,१०५।

२- 'त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्मनुः।'- गौ, ३।३।७

३- शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्या तदपत्यतया भृगोः।।- मनुस्मृति ३।१६ कुल्लूक 'उतथ्यतनयस्य गौतमस्य।

४- डॉ० सुरेश चन्द्र बनर्जी, तदेव, पृ० १८।

५- गौ , ३। १। १२

६- अथर्वशिरोऽथर्ववेदे प्रसिद्धम्। देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन् इत्यादि।

इस प्रकार गौतमधर्मसूत्र का रचनाकाल प्रायः वही सिद्ध होता है, जो महामहोपाध्याय काणे ने माना है, अर्थात् ४००- ६०० ई०पू० के पहले।

गौतमधर्मसूत्र के दो टीकाकार मुख्य हैं- हरदत्त और मस्करी। हरदत्त का समय ११००- १३०० के बीच माना जाता है। असहाय नाम के आचार्य की टीका का उल्लेख विश्वरूप ने किया है। हरदत्त की टीका ही सर्वाधिक प्रचलित है जिसे 'मिताक्षरा' कहते हैं।

गौतमधर्मसूत्र का विभाजन तीन प्रश्नों में है। तीनो प्रश्नों में कुल २८ अध्याय हैं- प्रथम में ९, द्वितीय में ९ तथा तृतीय में १० अध्याय हैं।

२-बौधायनधर्मसूत्र

बौधायनधर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद से संबद्ध कल्पसूत्र का अंग है। बौधायन सूत्र-चरण के कल्प के सभी प्रकार के सूत्र उपलबध होते हैं। डॉ० ए० बर्नेल ने[1] दक्षिण भारत में बहुत दिनों तक निवास कर बौधायन के सूत्रों का ज्ञान प्राप्त किया है। उनके अनुसार बौधायन के सूत्रों में छः प्रकरण हैं-

१- श्रौतसूत्र - १९ प्रश्नों में।
२- कर्मान्तसूत्र - २० अध्यायों में।
३- द्वैधसूत्र - चार प्रश्नों में ।
४- गृह्यसूत्र - चार प्रश्नों में।
५- धर्मसूत्र - चार प्रश्नों में तथा
६- शुल्बसूत्र- तीन अध्यायों में।

गृह्यसूत्र को स्मार्त्तसूत्र भी कहते हैं और किन्हीं संस्करणों में इसमें ९ प्रश्न भी मिलते हैं।[2] बौधायनसूत्र की सभी पाण्डुलिपियाँ अपूर्ण हैं और प्रायः भ्रष्ट भी हैं। जहाँ तक इन विविध प्रकार के सूत्र रचनाओं के क्रम का प्रश्न है, यह कहना

१- द्र० डॉ० ब्यूह्लेर, से बु ई, खण्ड २, भूमिका,पृ० ३०।
२- तदेव, पृ० ३०।

कठिन है कि गृह्य, धर्म और शुल्ब सूत्र मूलतः किस क्रम में थे। सामान्यतः डॉ० बर्नेल द्वारा दिये गये क्रम को मान्यता दी गयी है। बौधायन कल्प में धर्मसूत्र का स्थान गृह्यसूत्र के बाद था। इसका प्रमाण यह है कि धर्मसूत्र में स्पष्टतः दो स्थलों पर गृह्यसूत्र का निर्देश है।[1]

गौतमधर्मसूत्र के बाद का सूत्र

बौधायनधर्मसूत्र का समय गौतमधर्मसूत्र के बाद का है इसके सन्दर्भ में ऊपर निर्देश दिया गया है कि इसमें गौतम के मत का दो स्थलों पर उल्लेख है।[2] इसमें द्वितीय के विषय में यह ध्यातव्य है कि गौतम के जिस मत का बौधायन ने निर्देश किया है उसके ठीक विपरीत मत विद्यमान गौतमधर्मसूत्र में मिलता है। वस्तुतः, गौ ध सू में ब्राह्मण के लिए आपत्काल में क्षत्रिय की जीविका ग्रहण करने की अनुमति दी गयी है किन्तु बौधायन के अनुसार गौतम का मत क्षत्रिय की जीविका की अनुमति नहीं देता। इस विरोध की व्याख्या दो प्रकार से सम्भव है। प्रथमतः, यह माना जा सकता है कि बौधायन ने किसी दूसरे गौतम के मत का निर्देश किया है।[3] दूसरी सम्भावना यह है कि गौ ध सू का १।७।६ सूत्र, जो ब्राह्मण के लिए आपत्काल में क्षत्रिय की जीविका विहित करता है, प्रक्षेप हो और गौतम का मत मूलतः वही हो जिसका बौधायन ने निर्देश किया है। डॉ० ब्यूह्लेर ने गौतम के कुछ अन्य सूत्रों का इस सन्दर्भ में विवेचन किया है और यही संभावना व्यक्त की है कि गौतम ब्राह्मण के लिए युद्ध करने की अनुमति नहीं देते।[4]

१- बौ १।२।३।१५ कृष्णरुरुबस्ताजिनान्यजिनारि' तथा २।१५।६ 'शेषमुक्तमष्टका होमे'। ये दोनो क्रमशः २।११।४२ तथा २।५।६६ के समान हैं- 'मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणा याज्ञिकस्य वृक्षस्य दण्डाः'- बौ १।२।३।१६
इसके भाष्य में गोविन्दस्वामी ने लिखा है- 'याज्ञिकवृक्षविशेषाः पलाशादयो गृह्य एवोक्ताः।'

२- बौ १।२।७ मिथ्येतदिति गौतमः।
तथा २।४।१७ नेति गौतमोऽत्युग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य।

३- बौ ध सू के भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने यही सम्भावना व्यक्त की है-
"प्रसिद्धगौतमीये 'तदलाभे क्षत्रियवृत्तिः' इति वचनात् अन्यद्गौतमशास्त्रमस्तीति कल्प्यते।"

४- द्र० से बु ई, खण्ड २, भूमिका, पृ० ५१-५२

बौधायनधर्मसूत्र ३।१० में गौतमधर्मसूत्र के १६ वें अध्याय के दो को छोड़कर शेष सभी सूत्र मिलते हैं। बौधायनधर्मसूत्र २।११।१७-२३ सात सूत्र भी गौतम धर्मसूत्र १।३।२५-३४ के दस सूत्रों के समान हैं। इसी प्रकार गौ ध सू १।३।३५ भी बौ ध सू २।११।२६ में समान रूप से पाया जाता है।[1] इस समानता के विषय में डॉ०ब्यूह्लेर[2] का मत है कि बौधायन ने ही ये अंश ग्रहण किये हैं। बौधायनधर्मसूत्र के लगभग आठ सूत्र आपस्तम्बधर्मसूत्र में और चार सूत्र वसिष्ठधर्मसूत्र में भी मिलते हैं।[3] बौधायनधर्मसूत्र में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति की कई बातें समान शब्दों में अभिव्यक्त हैं और पद्यों के भी उद्धरण दिये गये हैं।[4]

बौधायनधर्मसूत्र में प्रक्षेप

बौधायनधर्मसूत्र के मौलिक स्वरूप के विषय में यह प्रश्न विचारणीय है कि इसका तृतीय और चतुर्थ प्रश्न बाद में जोड़ा गया है। इस सन्दर्भ में डॉ० ब्यूह्लेर के

१- ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य।- गौ , १।३।३५
ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः अप्रजननत्वादितरेषाम्।- बौ २।११।२६

२- "The almost literal identity of first long passage, makes it not improbable that Baudhayana borrowed in this instance also from Gautama without noting the source from which he drew." SBE. Vol.II. p.lii

३- द्र० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय की बौ ध सू की भूमिका, चौखम्बा संस्करण, पृ० ३०-३२
बौ २।२।१० = आप १।२६।८-११ बौ २।२।११ = आप १।२५।१२
बौ १।३।४०,४१ = आप १।२।३० बौ १।३।३६ = आप १।२।८,६
बौ १।१५।२० = आप १।१५।१२ बौ १।२१।१ = आप २।१२।४
बौ १।२१।८ = आप १।११।२३ बौ २।२।३ = आप १।२७।११
बौ २।२।६ = आप १।२६।१७,१८ बौ २।३।३४-३५= आप २।१३।६
बौधसू २।१४।२= आपधसू २।१७।२२

४- बौ ध सू में मनुस्मृति के उद्धरण इस प्रकार हैं-
बौ १।८।१८ = मनु० ५।१६ बौ १।६।१ = मनु० ५।१२६
बौ १।६।२ = मनु० ५।१० बौ १।६।६,१० = मनु० ५।१२७-१२८
बौ १।१०।२५ = मनु० ८।१०३ बौ १।१०।२६ = मनु० ३।६३-६६
विस्तृत विवरण हेतु द्र० बौ ध सू, सं० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, भूमिका, पृ० ३५

विचारों का[१] यहाँ संक्षेप में उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। प्रथमतः, चतुर्थ प्रश्न में दो भाग दिखायी पड़ते हैं- प्रथम भाग में आरम्भ के चार अध्याय हैं और द्वितीय भाग में अध्याय ५-८ आते हैं । इसमें प्रथम भाग पूर्णतः प्रक्षेप है, क्योंकि इसमें विवेचित विषय व्रत आदि का द्वितीय प्रश्न में पहले ही वर्णन किया जा चुका है।[२] इस भाग के नियम कभी-कभी पूर्ववर्ती सूत्रों के विरोधी भी हैं और सिद्धि-प्राप्ति के साधन भी दूसरे धर्मसूत्र में नहीं मिलते। द्वितीय भाग अध्याय ५-८ में व्रत के सन्दर्भ में विस्तृत निर्देश दिये गये हैं, जबकि इनका विवेचन पहले हो चुका है। इस भाग में गद्य के स्थान पर श्लोक का अधिक प्रयोग है। भाषा भी पुराणों के निकट है और एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस प्रश्न का विभाजन अध्यायों में है जबकि प्रथम दो प्रश्नों का विभाजन कण्डिका में अथवा खण्ड और अध्याय में है।

प्रश्न का अध्यायों में विभाजन तीसरे प्रश्न में भी मिलता है, यद्यपि इसकी भाषा प्रथम दो प्रश्नों की भाषा के बहुत निकट है। वस्तुतः, जैसा कि डॉ० ब्यूहलेर ने कहा है, धर्मसूत्र का सम्पूर्ण विषय बौधायनधर्मसूत्र के प्रथम दो प्रश्नों में ही समाप्त हो जाता है। तृतीय प्रश्न एक प्रकार का परिशिष्ट है। इसके कई अध्याय दूसरे सूत्रग्रन्थों से लिये गये हैं, जैसे दसवाँ अध्याय गौतमधर्मसूत्र से उद्धृत है और तीसरा अध्याय सम्भवतः वैखानससूत्र का संक्षेप है। इन स्थितियों में यह सम्भावना बलवती प्रतीत होती है कि बौधायन-धर्मसूत्र मूलतः दो प्रश्नों का था और इसमें बाद के काल में तृतीय प्रश्न और उससे भी बाद के समय में चतुर्थ प्रश्न जोड़ दिया गया है।[३]

१- द्र० से बु ई, खण्ड २, भूमिका, पृ० ३३ आदि।

२- तृतीय प्रश्न अध्याय ४-१० में भी उसी विषय का विवेचन किया गया है।

३- "These circumstances justify, it seems to me, the assumption that Baudhayana's original Dharma-sutra consisted like Apastamba's of two Prasnas only, and that it recieved through followers of his school, two separate additions, first in very ancient times Prasna III, where the style of the master is strictly followed and later Prasna IV, where the language and phraseology of the metrical Smtitis are adopted."

-SBE,II, p. xxxiii

बौधायनधर्मसूत्र का रचनाकाल

बौधायनधर्मसूत्र का रचनाकाल गौतमधर्मसूत्र के बाद का मानना उचित है। दूसरी ओर, जैसा कि गौतमधर्मसूत्र की प्राचीनता के सन्दर्भ में कहा जा चुका है, बौधायन का समय आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी से भी पहले का है। हिरण्यकेशी के भाष्यकार महादेव ने ऋषितर्पण का जो क्रम दिया है उसके अनुसार बौधायन का नाम आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी से पहले आता है।[१] इसके अतिरिक्त बौधायनधर्मसूत्र की शैली भी अधिक प्राचीनता का संकेत करती है।

बौधायन के सूत्र अधिक सरल और विस्तृत हैं। वे लाघव के पक्षपाती नहीं हैं। विषयवस्तु के विवेचन में भी इस धर्मसूत्र में कुछ शिथिलता दिखायी देती है। इसका कारण, डॉ० ब्यूह्लेर के मतानुसार, संभवतः यह है कि सबसे पहले बौधायन ने तैत्तिरीय शाखा के धर्मविषयक उपदेशों को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया है।[२]

बौधायनधर्मसूत्र में जिन प्राचीन रचनाओं के उद्धरण दिये गये हैं उनसे भी इसके समय पर प्रकाश पड़ता है। इसमें तैत्तिरीय शाखा की संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के उद्धरण हैं। शतपथब्राह्मण के भी दो अंश इसमें उद्धृत हैं।[३] बौधायन ने अन्य धर्मशास्त्रकारों में कात्य, मौद्गल्य, औपजंघनि[४] तथा हारीत को उद्धृत किया है।[५] प्रजापति के नाम से भी कई गीतश्लोक आये हैं और इस धर्मसूत्र की एक विशेषता इसमें आयी हुई गाथाएँ भी हैं जैसे बौ ध सू २।४।२६-२७ ।

१- तदेव, पृ० ३५ ।

२- "In other cases we find a certain awkwardness in the distribution of the subject-matter, which probably finds its explanation through the fact that Baudhayana first attempted to bring the teaching of the Taittiriyas on the Dharma into a systematic form."
-SBE,II, p. xxxvii

३- द्र० बौ १।२।४।३-८ तथा २।६।११।१-६

४- द्र० कात्य (बौ १।२।३।४७), मौद्गल्य (बौ २।२।४।८),
औपजंघनि (बौ २।२।३।३३)

५- बौ २।२।११

गौतम के नाम का दो बार उल्लेख होने के अतिरिक्त गौतम के एक लम्बे अंश का उद्धरण भी लिया गया है और एक पद्यबद्ध स्मृति का भी संकेत किया गया है।[१] इससे यह सिद्ध होता है कि बौधायन के समय में पद्यात्मक स्मृति ग्रन्थ भी थे। बौधायनधर्मसूत्र में तर्पण के प्रकरण में गणेश के कई नाम आये हैं, किन्तु इसे इसकी तिथि-निर्धारण में सहायक नहीं माना जाता।[२] महामहोपाध्याय काणे ने बौधायनधर्मसूत्र को आपस्तम्ब के बाद का होने की सम्भावना व्यक्त की है। इन दोनो में जो समानता पायी जाती है उसके सम्बन्ध में उनकी उक्ति है "यह बात कही जा सकती है कि बौधायन, वसिष्ठ एवं मनु ने किसी एक ही ग्रन्थ से ये बातें ली हों या कालान्तर में इन ग्रन्थों में ये बातें क्षेपक के रूप में आ गयी हों। किन्तु क्षेपक छोटा हुआ करता है और यहाँ जो बातें या उद्धरण सम्मिलित हैं वे बहुत लम्बे-लम्बे हैं।"[३]

सामान्यतः, बौधायनधर्मसूत्र का रचनाकाल २००- ५०० ई०पू० के अन्तर्गत मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

बौधायनधर्मसूत्र के रचयिता

बौधायनधर्मसूत्र के रचयिता का निर्धारण करना कठिन है, क्योंकि स्वयं इस रचना में ही बौधायन[४] तथा भगवान् बौधायन का उल्लेख हुआ है,[५] तथा तर्पण के

१- पितुर्गुरोर्नरेन्द्रस्य भार्यां गत्वा प्रमादतः।
गुरुतल्पीभवेत्तेन पूर्वोक्तस्तस्य निश्चय इति।। - बौ २।४।१५

२- द्र० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० १६

३- 'बौ ध सू गौतम से बाद का ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु आपस्तम्ब से प्राचीन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता'- तदेव, पृ० १६

४- बौ १।५।१३ 'एतेन विधिना प्रजापतेः परमेष्ठिनः परमर्षय; परमां काष्ठां गच्छन्तीति बौधायनः।' बौ १।६।१६ 'अपि वा प्रतिशौचमामणिबन्धाच्छुद्धिरिति बौधायनः।'
बौ १।७।६ 'यदिच्छेद्धर्मसन्ततिमिति बौधायनः।'
बौ ३।५।८ 'सर्वं तरति ... सिध्यन्तीति बौधायनः।'

५- 'अपि वा गोनिष्क्रान्तानां यवानामेकविंशतिरात्रं पीत्वा गणान् पश्यति गणाधिपतिं पश्यति विद्यां पश्यति विद्याधिपतिं पश्यतीत्याह भगवान् बौधायनः।'- बौ ३।६।२०

प्रकरण [1] में 'काण्वं बौधायनं तर्पयामि' आया है। इससे तीन संभावनाएँ की जा सकती हैं, प्रथमतः यह रचना प्राचीन आचार्य बौधायन के किसी शिष्य ने रची हो, अथवा द्वितीयतः, इसके रचयिता बौधायन ने ही स्वयं अपने नाम का उल्लेख प्रथम पुरुष में किया है अथवा अन्ततः, यह मानना अधिक संगत है कि यह रचना बौधायन शाखा के लेखकों द्वारा रचित है।[2]

बौधायन शाखा का प्रदेश

डॉ० ब्यूह्लेर बौधायन शाखा का मूलस्थान आन्ध्रप्रदेश मानते हैं।[3] उनका तर्क है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से बौधायन ब्राह्मण दक्षिण भारत में निवास करते हैं। बौधायनसूत्रों की सभी पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारत में उपलब्ध हुई हैं। बौधायन ने समुद्र यात्रा के कई बार उल्लेख किये हैं, जिससे उनका समुद्र के निकटवर्ती होना ज्ञात होता है।[4] परम्परा से वेद के प्रख्यात भाष्यकार सायण माधव भी बौधायनीय माने जाते थे और इसे भी ब्यूह्लेर एक प्रमाण के रूप में ग्रहण करते हैं। उपर्युक्त तर्कों के विषय में स्वयं ब्यूह्लेर बहुत दृढता के साथ दावा नहीं करते हैं।

इसके विपरीत मत व्यक्त करते हुए कुछ विद्वानों ने[5] यह सम्भावना व्यक्त की है कि बौधायन शाखा के लोग बड़ी संख्या में दक्षिण भारत चले गये होंगे। बौधायन दक्षिण की भी निन्दित प्रथाओं का उल्लेख करते हैं।[6] बौधायन ने उत्तर और दक्षिण का प्रयोग आर्यावर्त के लिए ही किया है। दक्षिण से नर्मदा से दक्षिण का तात्पर्य नहीं है।[7]

१- बौ २।६।१४ २- डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी, तदेव, पृ० २१

३- से बु ई,खण्ड २, पृ० ३७

४ - बौ १।७।८।१३ 'सामुद्रशुल्कः'; १।१।२।४ 'समुद्रसंयानम्'; समुद्रसंयान को उत्तर के निन्दित आचारों में गिनाया गया है। २।१।२।२ में भी पतनीय कर्मो में प्रथम है समुद्रसंयान।

५- डॉ० रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ६६

६- बौ १।२।१४

७- डॉ० रामगोपाल, तदेव, पृ०६६ " The terms North and South are employed by Baudhayana in relation to Aryavarta, that the term North does not apply to the region lying to the north of the river Narmada, but to the region lying to

बौधायन का आर्यावर्त के प्रति पक्षपात स्पष्ट है। शिष्टों के देश आर्यावर्त की सीमा उन्होंने इस प्रकार बतायी है-

प्रागदर्शनात् प्रत्यकालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्तं तस्मिन् य आचारस्स प्रमाणम्।

अर्थात् सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से पूर्व की ओर कालकवन नाम के वन से पश्चिम, हिमालय पर्वत के दक्षिण का और पारियात्र पर्वत से उत्तर का भूभाग आर्यावर्त है। इस भूभाग में जो आचार-नियम प्रचलित हैं वही प्रमाण हैं।

बौधायन ने अवन्ति, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत एवं सिन्धु देशों के निवासी तथा सौवीर को संकीर्णयोनि अर्थात् मिश्रित उत्पत्ति वाला कहा है।[१] इसी प्रकार आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वंग, कलिंग एवं प्रानून की यात्रा को निन्दित बताया है और इसके लिए पुनस्तोम या सर्वपृष्ठा इष्टि का विधान किया है।[२]

डॉ० रामगोपाल ने बौधायनश्रौतसूत्र के आधार पर भी बौधायन के आर्यावर्त के प्रति पक्षपात और परिचय का संकेत किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि बौधायन का मूल स्थान दक्षिण भारत था इसकी कोई सम्भावना नहीं है, अपितु वे संभवतः आर्यावर्त के ही थे।[३]

डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी दोनो ही सम्भावनाओं को स्वीकार करते हैं। उनके

---

the north of Aryavarta, and that the home of Baudhayana most probably lay in Aryavarta as defined by him."

१- अवन्तयोऽङ्गमागधाः सुराष्ट्रादक्षिणापथाः।
उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः।। -बौ १।१।२।१४

२- आरट्टान कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् बंगान् कलिंगान्।
प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठ्या वा। - बौ १।१।२।१५

३- डॉ० रामगोपाल, तदेव, पृ० १०० "It is abundantly clear from the foregoing discussion that there seems to be little probability of Baudhayana's home being in the South. He most probably belonged to Aryavarta as defined by him."

अनुसार यदि बौधायन उत्तर भारत के थे तो आरट्ट आदि देशों को छोड़कर ही उनका मूल प्रदेश रहा होगा, किन्तु यह भी तर्क किया जा सकता है कि वे दक्षिण भारतीय थे और दक्षिणापथ के विषय में जो निन्दात्मक उक्तियाँ हैं वे उस प्रदेश में वर्णसंकर जातियों के बाहुल्य के विषय में हैं जिनका बौधायन ब्राह्मण अपवाद थे।[1]

३- आपस्तम्बधर्मसूत्र

आपस्तम्बधर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध है। आपस्तम्ब शाखा का सम्पूर्ण कल्प उपलब्ध है। इस शाखा का कल्पसूत्र ३० खण्डों में विभक्त है, जिन्हें प्रश्न कहा गया है। आरम्भ के २४ प्रश्नों में श्रौतसूत्र, २५ वें प्रश्न में सामान्य परिभाषाएँ, २६-२७ प्रश्नों में गृह्यसूत्र, २८-२९ प्रश्नों में धर्मसूत्र है तथा अन्तिम ३० वाँ प्रश्न शुल्बसूत्र हैं । इस प्रकार आपस्तम्बकल्प में धर्मसूत्र का स्थान गृह्यसूत्र के बाद आया है और इस स्थिति में, जैसा कि डॉ० ब्यूह्लेर ने संकेत किया है[2] यह धारणा बनती है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र मौलिक रूप में सूत्रों का अभिन्न अंग था और इसको बाद में नहीं जोड़ा गया है। यदि यह बाद में जोड़ा गया होता तो तीस प्रश्नों के अन्त में होता अथवा संकलन के बाहर होता।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का रचयिता

जहाँ तक आपस्तम्बधर्मसूत्र के रचयिता का प्रश्न है, अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपस्तम्ब कल्प के अन्य भागों का रचयिता ही धर्मसूत्र का भी रचयिता है। प्रथमतः, धर्मसूत्र में गृह्यकार्य-विषयक नियमों को स्थान दिया गया है और पहले ही गृह्यसूत्र को संक्षिप्त बनाया गया है। गृह्यसूत्र का संक्षिप्त होना सोद्देश्य है और रचयिता ने अपनी योजना के अनुरूप ही ऐसा किया है। धर्मसूत्र में कई स्थानों पर पूर्ववर्ती गृह्यसूत्रों के नियमों का 'यथोपदेशम्'[3] या 'यथोक्तम्'[4] कहकर निर्देश किया

१- डॉ० बनर्जी, तदेव, पृ० २२ २- से बु ई, खण्ड २, भूमिका ,पृ० १२

३- आप , १।४।१६ अग्निमिध्वा परिसमूह्य समिध आदध्यात् सायंप्रातर्यथोपदेशम्।

४- सर्वेषु वृत्तेषु सर्वस्समवदाय शेषस्याग्रास वरार्ध्यं प्राश्नीयाद्यथोक्तम् - आप २।१७।१

निर्देश किया गया है। व्याख्याकार हरदत्त ने इन स्थलों की टीका में 'यथा गृह्य उक्तम्' और 'यथोक्तं गृह्ये' कहकर स्पष्टतः इन सन्दर्भों का संबन्ध गृह्यसूत्र से जोड़ा है। गृह्यसूत्र में भी 'यथोपदेशम्' द्वारा धर्मसूत्र में विवेचित विषय एवं नियमों का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त आपस्तम्बधर्मसूत्र और गृह्यसूत्र में बहुत से सूत्र एक समान उपलब्ध हैं।[1] इससे यह निर्विवाद है कि धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र एक ही आचार्य द्वारा रचित हैं। डॉ० ब्यूहूलेर ने इस प्रकार के सूत्र[2] की समानता के आधार पर धर्मसूत्र और श्रौतसूत्र का सम्बन्ध जोड़ा है। इस सूत्र में 'ऋत्वे' अव्याकरणीय है और श्रौतसूत्र में भी इसी रूप में आया है। इस प्रकार इन दोनो का एक ही आचार्य की रचना होना सिद्ध है। आपस्तम्ब नाम भी अन्य शाखाओं के समान शाखा या कुल के नाम के द्योतक हैं।

आपस्तम्ब शाखा का मूल स्थान

आपस्तम्ब शाखा का संबन्ध किस स्थान से था यह विवादास्पद है। *महार्णव* के अनुसार आपस्तम्ब शाखा दक्षिण भारत में थी। *चरणव्यूह* में महार्णव का उद्धरण देते हुए निम्नलिखित पंक्तियाँ आयी हैं-

नर्मदादक्षिणे भागे आपस्तम्ब्याश्वलायनी।
राणायणी पिप्पला च यज्ञकन्या विभागिनीः।।
माध्यंदिनी शांखायनी कौथुमी शौनिकी तथा।।

और इस शाखा को स्पष्टतः दक्षिणभारतीय कहा गया है-

आन्ध्रादिदक्षिणाग्नेयी गोदासागर आवधि।
यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्या आपस्तम्बी प्रतिष्ठिता।।

चरणव्यूह के अनुसार आपस्तम्बीय शाखा खाण्डिकीय शाखा के पाँच भेदों में से एक थी। प्रो० माक्स म्यूल्लेर के अनुसार आपस्तम्ब एक सूत्रचरण का नाम था और इस चरण के ऋषि मन्त्रों का द्रष्टा होने का दावा नहीं करते। कभी-कभी तैत्तिरीयब्राह्मण को

१- द्र० ब्यूहूलेर, से बु ई, खण्ड २, भूमिका पृ० १४
२- यह सूत्र है 'ऋत्वे वा जायाम्' - आप २।२।५।१७

ही आपस्तम्ब-ब्राह्मण कहा गया है और कृष्णयजुर्वेद की आपस्तम्ब-संहिता है। स्वयं धर्मसूत्र में यह संकेत किया गया है कि प्राचीन काल में ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते थे और अवर लोगों में ऋषियों का अभाव है।[1]

ब्राह्मण और संहिता के साथ आपस्तम्ब का नाम जोड़ने से यही तात्पर्य है कि उस शाखा द्वारा उस वैदिक रचना का अध्ययन किया जाता था। आपस्तम्ब शाखा या चरण दक्षिणभारतीय था इसका प्रमाण यह है कि इस धर्मसूत्र में तैत्तिरीय आरण्यक से जो मन्त्र ग्रहण किये गये हैं वे सभी आन्ध्र पाठ से लिये गये हैं। डॉ० ब्यूह्लेर इस आधार पर आपस्तम्ब को आन्ध्रदेशीय मानते हैं।[2] आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१७।१७ में उत्तर में प्रचलित विधि का उल्लेख है। इससे संकेत मिलता है कि रचयिता स्वयम् उत्तर का न होकर दक्षिण का है। दक्षिणभारत में पाये गये अनेक दानपत्रों में[3] आपस्तम्ब का नाम है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का रचनाकाल

आपस्तम्बधर्मसूत्र का समय गौतम एवं बौधायन के बाद ही माना जा सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में बौधायन के कई सूत्र उपलब्ध होते हैं। आप ध सू १।१०।२६।८-१४ में आये हुए सूत्र बौ ध सू में भी मिलते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१०।२।३०, १।१।३।६, १।२।६।८-६ बौधायन के प्रश्न १ के द्वितीय अध्याय में आये हैं। इस सम्बन्ध में कई सम्भावनाएँ की जा सकती हैं। यह भी हो सकता है कि आपस्तम्ब और बौधायन दोनो ने एक ही स्रोत से इन सूत्रों को लिया हो, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आपस्तम्ब के कई सिद्धान्त बौधायन की अपेक्षा परवर्ती काल का संकेत देते हैं। अनेक स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब बौधायन

१- आप १।५।४-५

द्र० से बु ई,खण्ड२,भूमिका, पृ०३४ "It would therefore follow, from the adoption of an Andhra text by Apastamba that he was born in that country, or at least, had resided there so long as to have become naturalized in it."-

३- तदेव, पृ० ३३

के मत का खण्डन कर रहे हैं। उदाहरण के लिए उत्तराधिकार के प्रसंग में ज्येष्ठ पुत्र के भाग के विषय में आपस्तम्ब का मत है कि सभी पुत्रों को समान रूप से सम्पत्ति मिले, किन्तु बौधायन का मत इससे भिन्न है। नियोग के विषय में भी आपस्तम्ब बौधायन से सहमत नहीं हैं। इन सभी तथ्यों से यही सिद्ध होता है कि आपस्तम्ब बौधायन के बाद के हैं। डॉ० ब्यूह्लेर के अनुसार दोनो रचनाओं में सूत्रों की समानता, यह तथ्य कि आपस्तम्ब कुछ विषयों पर अधिक परिष्कृत विचार व्यक्त करते हैं और बौधायनसूत्र के नियमों का विरोध करने का प्रयत्न करते हैं इस निर्णय के पक्ष में हैं।[1]

यह उल्लेखनीय है कि आप ध सू के अनेक सूत्र हिरण्यकेशिधर्मसूत्र में ले लिये गये हैं। जो थोड़े-बहुत परिवर्तन हिरण्यकेशी में किये गये हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। डॉ० ब्यूह्लेर का मत है कि आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी में १०० या १५० वर्षों का अन्तर हो सकता है।[2] आपस्तम्बधर्मसूत्र में कण्व, काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पौष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु एवं हारीत का नाम आया है। हारीत का उल्लेख बौधायनधर्मसूत्र में भी है। आपस्तम्ब ने मीमांसा तथा वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तों के भी ज्ञान का परिचय दिया है और उनके कई सूत्रों में जैमिनि के मीमांसासूत्र का भाव मिलता है।[3] धर्मसूत्र के २२ वें और २३ वें खण्ड में प्रथम के वेदान्त के सिद्धान्तों का भी स्पष्ट उल्लेख है। डॉ० ब्यूह्लेर के मतानुसार आपस्तम्ब के शब्दों से यह ज्ञात होता है कि उन्हें न केवल उपनिषदों और आरण्यकों के व्यवस्थित चिन्तन का ज्ञान था, अपितु बादरायण के ब्रह्मसूत्र से मिलते-जुलते वेदान्तदर्शन का भी

१- से बु ई,खण्ड २,भूमिका, पृ०३२ "The three points which have been just discussed,viz. the identity of a number of Sutras in the works of the two authors, the fact that Apastamba advocates on some points more refined or puritan opinions, and that he labours to controvert doctrines contained in Baudhayana's Sutras, give a powerful support to the traditional statement that he is younger than that teacher."

२ - से बु ई, खण्ड २, भूमिका, पृ० ३४

३- जैसे आप १।१।१४।८-१० के विचार मीमांसासूत्र १।३।३।४ से मिलते हैं।

ज्ञान था।[1]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में आये हुए अन्य वैदिक ग्रन्थों के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी उत्पत्ति कृष्णयजुर्वेद के सूत्रों में सबसे बाद में नहीं तो अपेक्षाकृत बाद में हुई । इसमें अथर्ववेद का उल्लेख 'अथर्वाङ्गिरसः' नाम से न कर 'अथर्ववेद' नाम से ही किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक के कई उद्धरण हैं।[2] छः वेदाङ्गों की संख्या का उल्लेख भी हुआ है।[3]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में पुराणों का भी उल्लेख किया गया है और भविष्यत् पुराण का नाम लेकर उससे उद्धरण दिया गया है। वस्तुतः, केवल आपस्तम्बधर्मसूत्र में ही पुराण का नाम लेकर उल्लेख है। यद्यपि भविष्यत् पुराण से जो उद्धरण दिया गया है वह विद्यमान भविष्यत्पुराण में नहीं मिलता, तथापि पुराणों के अन्तिम रूप में आने से पहले अनेक परिवर्तन हुए और सम्भव है कि मौलिक भविष्यत् पुराण में आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत अंश रहा हो।

डा० ब्यूह्लेर ने आपस्तम्बधर्मसूत्र में आये हुए श्वेतकेतु के उल्लेख को भी आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण माना है।[4] श्वेतकेतु का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद्[5] में भी है। शतपथब्राह्मण के अनुसार श्वेतकेतु याज्ञवल्क्य और जनक के समकालीन थे। श्वेतकेतु को आपस्तम्ब ने अवर आचार्यों के अन्तर्गत माना

१- "That he knew not merely the unsystematic speculation contained in the Upanishads and Aranyakas but a well-defined system of Vedantic philosophy identical with that of Badarayana's Brahma-sutras." -SBE,II,p.xxviii.

२- जैसे आप २।३।१६-२०, ५-१।६।१६।३-८

३- आप १।१६।३-८,१।२८।१-२

४- से बु ई, खण्ड २, भूमिका, पृ० ३७ आदि।

५- छान्दोग्योपनिषद्,६।१।१-२ श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति। स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अंनूचानमानी स्तब्ध एवास। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः।

है। इस आधार पर डॉ० ब्यूह्लेर का निष्कर्ष है कि श्वेतकेतु और याज्ञवल्क्य को तीसरी या चौथी शताब्दी ई०पू० का माना जा सकता है और धर्मसूत्र इसके बाद की रचना है। आपस्तम्ब को प्रथम शताब्दी ई०पू० से पहले का मानना उचित होगा। याज्ञवल्क्य और शंखलिखित आपस्तम्ब की गणना धर्मशास्त्रकारों में करते हैं। शङ्कराचार्य ने भी आपस्तम्ब का उद्धरण दिया है।[1] जैसा कि महामहोपाध्याय काणे ने[2] निर्देश किया है, जैमिनिसूत्रों के भाष्यकार शबर के समय अर्थात् ५०० ई० से ग्रन्थकारों ने आपस्तम्ब को प्रमाण माना है। यह सम्भावना भी की गयी है कि जिस समय जैमिनि ने अपनी शाखा चलायी उसी समय आपस्तम्बधर्मसूत्र का प्रणयन हुआ। इस प्रकार आपस्तम्बधर्मसूत्र का समय भी ६००- ३०० ई०पू० के बीच रखा जा सकता है।[3]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में अनेक शब्द पाणिनि के नियमों के विपरीत हैं जिससे सिद्ध होता है कि आपस्तम्ब या तो पाणिनि से पहले रहे होंगे या पाणिनि के व्याकरण के भारत में प्रचार होने के पहले रहे होंगे। पाणिनि का व्याकरण दूसरी शताब्दी ई०पू० तक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका था और भाषा के आधार पर डॉ० ब्यूह्लेर ने आपस्तम्ब को तीसरी शताब्दी ई०पू० से पहले का माना है।[4]

आपस्तम्बधर्मसूत्र उपलब्ध धर्मसूत्रों में सबसे छोटा और सबसे अधिक व्यवस्थित है। इसमें दो प्रश्न हैं, जिनकी गणना एक समग्र प्रश्न में विना विभाजन के की गयी है और पटल के विभाजन का कण्डिका के विभाजन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार प्रथम प्रश्न २२ कण्डिकाओं में और द्वितीय प्रश्न २९ कण्डिकाओं

१- ब्रह्मसूत्र, ४।२।१४

२- धर्मशास्त्र का इतिहास, हि० अनु०,पृ० २०

३- काणे, तत्रैव ।

४- द्र० ब्यूह्लेर, से बु ई,खण्ड २, भूमिका, पृ०३२ "On linguistic grounds it seems to me Apastamba cannot be placed later than the third century B.C. and if his statement regarding Svetaketu is taken into account the lower limit for the composition of his sutras must be put further back by 150-200 years."

में विभक्त है। आपस्तम्बधर्मसूत्र मुख्यतः गद्य में है। यत्र-तत्र पद्यों के भी उद्धरण दिये गये हैं। इसमें प्रायः २० श्लोक आये हैं। इस धर्मसूत्र पर हरदत्त की 'उज्ज्वला वृत्ति' नाम की टीका से यह संकेत मिलता है कि इससे पहले कोई व्याख्या थी।

४- वसिष्ठधर्मसूत्र

वसिष्ठधर्मसूत्र एक स्वतन्त्र धर्मसूत्र के रूप में उपलब्ध है। वसिष्ठ के नाम से कोई श्रौत या गृह्यसूत्र नहीं उपलब्ध होता है। इसके विविध संस्करण उपलब्ध हैं, जिनमें २० अध्याय एवं इक्कीसवें का कुछ अंश, अथवा ३० अध्याय या कहीं ६ अध्याय हैं तो किसी में १० अध्याय हैं।[1] जैसा कि डॉ०रामगोपाल ने उल्लेख किया है, इन संस्करणों में आपस में पर्याप्त अन्तर है। अन्य रचनाओं में वसिष्ठ के नाम से जो पद्य उद्धृत हैं उनमें से अधिसंख्यक उपलब्ध संस्करणों में नहीं मिलते और वसिष्ठधर्मसूत्र का पूर्णतः प्रामाणिक पाठ अभी निर्धारित होना है।[2] तीस अध्यायों के संस्करण में भी आरम्भिक १-२३ अध्यायों की अपेक्षा अन्तिम सात २४-३० अध्यायों के परवर्ती काल का अंश होने की संभावना की गयी है[3] और इस संभावना को इन बाद के अध्यायों की शैली से भी बल मिलता है। अध्याय २४ में भगवान् वसिष्ठ का नामोल्लेख है जिससे इस अध्याय की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। वसिष्ठधर्मसूत्र के आरम्भिक २३ अध्यायों में गद्यात्मक सूत्र ही अधिक संख्या में हैं, किन्तु २५ से २८ तक के चार अध्याय पूर्णतः पद्यों में हैं और यह भेद इन चार अध्यायों को बाद के समय का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अन्तिम दो अध्यायों में भी विषय की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है।

१- जीवानन्द के संग्रह में २० अध्याय और २१ वें का कुछ अंश है; आनन्दाश्रम स्मृतिसंग्रह में ३० अध्याय हैं। -द्र० काणे,हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ५०

२- "A large number of verses ascribed to Vasistha in other works on Hindu law are not traceable to any of the extant MSS of the Vasistha Dharmasutra. Thus, a thoroughly authentic text of the Vas.D.S. is still a desideratum."
- Dr. Ram Gopal, India Vedic Kalpasutras, p.58.

३- डॉ० रामगोपाल, तदेव, पृ० ५६

ऋग्वेद से संबन्ध

वसिष्ठधर्मसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद से जोड़ा जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि वसिष्ठ ऋग्वेदसंहिता के ऋषियों में प्रमुख ऋषि हैं और सातवें मण्डल के द्रष्टा हैं। यद्यपि महामहोपाध्याय काणे के अनुसार इस सन्दर्भ में वसिष्ठ के नाम के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है,[१] तथापि 'तन्त्रवार्त्तिक'[२] में यह स्पष्ट कहा गया है कि इस धर्मसूत्र का अध्ययन विशेषतः ऋग्वेद के अनुयायी करते थे। इस धर्मसूत्र में आये हुए अन्य संहिताओं के उद्धरणों का विचार करने पर एक धारणा यह बनती है कि इसका संबन्ध किसी विशिष्ट वेद से नहीं था और मूलतः इसका स्वतन्त्र अस्तित्व था। महामहोपाध्याय काणे का यही मत है, किन्तु वे इस धर्मसूत्र के ऋग्वेद से संबद्ध होने के विषय में असहमत होते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि यह धर्मसूत्र बाद में ऋग्वेद के अनुयायियों द्वारा अपने धर्मसूत्र के अभाव की पूर्ति के लिए ग्रहण कर लिया गया।[३] जिस किसी भी प्रकार इस धर्मसूत्र का संबन्ध ऋग्वेद के अध्येताओं से है इसमें सन्देह नहीं। डॉ० रामगोपाल का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि सभी धर्मसूत्रों में अनेक संहिताओं से उद्धरण हैं। इस कारण उद्धरणों के आधार पर वसिष्ठधर्मसूत्र को ऋग्वेद से संबद्ध मानना तर्कसंगत नहीं है, तथापि आन्तरिक प्रमाणों से भी इस धर्मसूत्र का ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों से संबन्ध है।[४] यह उल्लेखनीय है कि अन्य वेदों से संबद्ध गृह्यसूत्रों के साथ वसिष्ठधर्मसूत्र की उतनी समानता नहीं है जितनी ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों के साथ। इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि वसिष्ठधर्मसूत्र का रचयिता ऋग्वेदीय शाखाओं में प्रचलित गृह्य कर्मों एवं प्रथाओं का अनुयायी था।[५] इस

१- पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ५४

२- तन्त्रवार्त्तिक , पृ० १७६

३- काणे, तदेव, पृ० २१

४- "Though the Vas.d.S. is not known to have formed part of a Rigvedic Kalpa the internal evidence points to its close relationship with the Grhyasutras of the Rigveda and militates against Dr. Kanes's conclusion that beyond the name Vasistha there is hardly anything special in the Vas.D.S. to connect it with the Rigveda" - *India of Vedic Kalpasutrs*,p, 59

५- तत्रैव, पृ० ६०

धर्मसूत्र के ऋग्वेद से संबद्ध होने का संकेत बौधायनधर्मसूत्र के व्याख्याकार गोविन्दस्वामी ने भी किया है।[१]

यदि वसिष्ठधर्मसूत्र ऋग्वेद के अनुयायियों का सूत्र है तो इसका समय भी प्राचीन होना चाहिए, किन्तु अपनी शैली से यह सूत्र उतना प्राचीन नहीं दिखायी पड़ता। इसका संकेत करते हुए डॉ० ब्यूह्लेर कहते हैं कि वसिष्ठधर्मसूत्र में प्राचीनता के चिह्न ढूँढना निष्फल होगा। यद्यपि इसमें पर्याप्त प्राचीन प्रयोग हैं, तथापि इसमें प्राचीन धर्मसूत्रों के असंख्य उद्धरण यह सिद्ध कर देते हैं कि यह प्राचीनतम कृतियों में से नहीं है, वरन् अब भी विद्यमान स्मृतियों में गौण है।[२] डॉ० ब्यूह्लेर यह भी मानते हैं कि वसिष्ठधर्मसूत्र का पहले किसी विशेष ऋग्वेदीय शाखा से सम्बन्ध रहा होगा, किन्तु बाद में यह सभी ब्राह्मणों के लिए प्रामाणिक बन गया होगा। उनका यह अनुमान है कि वसिष्ठ शाखा का अस्तित्व था, जो सूत्र चरण था और जिसकी स्थापना वसिष्ठ गोत्र के आचार्य ने की थी।[३] वसिष्ठधर्मसूत्र में जिन रचनाओं के उल्लेख हैं उनसे भी इसकी तिथि पर प्रकाश पड़ता है।

वसिष्ठधर्मसूत्र में उद्धृत धर्मशास्त्र

इसमें वैदिक रचनाओं में ऋग्वेदसंहिता के अतिरिक्त यजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता तथा शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता से कई उद्धरण आये हैं। सामवेद का भी उल्लेख हुआ है।[४] धर्मसूत्रों के अन्तर्गत यम के धर्मशास्त्र के अतिरिक्त मनु, हारीत और गौतम के धर्मसूत्रों का ज्ञान वसिष्ठधर्मसूत्र के रचयिता को था।

१- 'यथा वा बौधायनीयं धर्मशास्त्रं कैश्चिदेवपाठ्यमानं सर्वाधिकारं भवति।
गोतमीयगोभिलीये छन्दोगैरेव पठ्येते, वासिष्ठं तु बह्वृचैः अथ च सर्वाधिकाराणि।
- बौ १।१।२।५ का व्याख्या।

२- डॉ० ब्यूह्लेर, से बु ई, खण्ड १४, भूमिका,पृ० १५

३- द्र० डा० ब्यूह्लेर, तत्रैव, पृ० १५
"That we may assume the former existence of a Vasishtha school, a sutra-carana of the Rigveda founded perhaps by a teacher of the Vasishtha gotra."

४- वसिष्ठधर्मसूत्र ३।१९

यह भी संभावना की गयी है कि इसका रचयिता बौधायन से भी परिचित था।[१] प्रजापति के नाम से भी दो पद्य उद्धृत हैं।[२] इन उद्धरणों के विषय में डॉ० ब्यूह्लेर स्मृतियों की इस प्रवृत्ति का संकेत करते हैं जिसके अनुसार सामाजिक संस्थानों , क्रियाओं और व्रतों का उद्घोषक प्रजापति को बताया जाता है, जो प्राचीन रचनाओं में वही स्थान ग्रहण करते हैं जो बाद की रचनाओं में ब्रह्मा को दिया गया है।[३] इस धर्मसूत्र में यमराज के नाम से भी उद्धरण हैं[४] और ये संभवतः किसी ऐसी प्राचीन धर्मशास्त्रीय रचना से लिये गये हैं, जो अब उपलब्ध नहीं है।

वसिष्ठधर्मसूत्र में मनुस्मृति से अनेक उद्धरण आये हैं।[५] इसी प्रकार एक सूत्र 'मानव' नाम से उद्धृत किया गया है और यह गद्य में है।[६] इस उद्धरण के विवेचन में डॉ० ब्यूह्लेर का मत है कि यह पाँचवें सूत्र तक न होकर आठवें सूत्र के अन्त तक है और अनेक पाण्डुलिपियों में ऐसा उपलब्ध भी होता है।[७] ये उद्धरण अत्यन्त रोचक हैं और इनसे मानवधर्मसूत्र के अस्तित्व की संभावना को बल मिलता है। इस धर्मसूत्र में अन्यत्र मानव नाम से त्रिष्टुप् छन्द भी मिलते हैं।[८] इन उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि वसिष्ठधर्मसूत्र की दृष्टि में मनु के नाम से प्रचलित कोई धर्मसूत्र था जो गद्य और पद्य दोनो की मिश्रित शैली में था।[९] मनुस्मृति में वसिष्ठ को प्रमाण माना गया है इस

१- द्र० ब्यूह्लेर, सेबु ई, खण्ड १४, भूमिका, पृ० १७
२-- व १४।२४,३०
३- डॉ० ब्यूह्लेर, तत्रैव,पृ० १७
४- व १८। १३-१६
५- व १।१७; ३।२; ४।५-८; ११।२३; १२।१६; १३।१६;१६।२७; २०।१८; २३।४३; २६।८
६- पितृदेवतातिथिपूजायामप्येव पशुं हिंस्यादिति मानवम्। - व ४।५
७- से बु ई, खण्ड १४, भूमिका, पृ० १८, डॉ० ब्यूह्लेर ने निर्देश किया है कि व ध सू४।६ भी मनुस्मृति में मिलता है और ४।७ का अर्थ अभिव्यक्त करने वाला श्लोक भी मिलता है।
८- शुल्के चापि मानवं श्लोकमुदाहरन्ति- न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्के न शिल्पवृत्तौ न दूते। न भैक्षलब्धे न हृतावशेषे न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञ इति।- व , १६।३७
९- ब्यूह्लेर, से बु ई, खण्ड १४, भूमिका, पृ० १६ It seems indisputable that the author of the Vasistha harmasutra knew a treatise attributed to a teacher called Manu, which like all other Dharma-sutras, was partly written in aphoristic prose and partly in verse."

कारण ऐसा मानना असंगत होगा कि वसिष्ठधर्मसूत्र ने विद्यमान मनुस्मृति से उद्धरण लिये हैं और निष्कर्ष यही हो सकता है कि वसिष्ठधर्मसूत्र मनु के प्राचीन धर्मसूत्र का का ही ऋणी है, यद्यपि महामहोपाध्याय काणे का अनुमान भिन्न है[१] और मानवधर्मसूत्र का अस्तित्व आज भी विवादास्पद है।

वसिष्ठधर्मसूत्र में हारीत का भी उल्लेख है[२] और बौधायनधर्मसूत्र से भी इसका विलक्षण सम्बन्ध दिखायी देता है। बौधायनधर्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय प्रश्नों के कई सूत्र वसिष्ठधर्मसूत्र के सूत्रों से मिलते-जुलते हैं।[३] बौ ध सू के तृतीय प्रश्न का दशम खण्ड भी व ध सू के बाइसवें अध्याय के रूप में देखा जा सकता है। बौ ध सू के तृतीय प्रश्न को डॉ० ब्यूह्लेर ने मौलिक नहीं माना है। अतः यह सम्भव है कि दोनो धर्मसूत्रों में यह अध्याय किसी अन्य स्रोत से ग्रहण किया गया होगा। इसी प्रकार व ध सू के दो सूत्र (२४।६-७) बौ ध सू के दो सूत्रों (४।४।६-१०) के समान हैं। इन दोनो में वसिष्ठधर्मसूत्र के पाठ के अन्त में 'इति' है जो उसके उद्धरण होने का स्पष्ट संकेत है।[४] डॉ० ब्यूह्लेर को व ध सू के २२ वें अध्याय की प्रामाणिकता में सन्देह है।[५] व ध सू के दो अंश विष्णुस्मृति में भी मिलते हैं।[६] इन समानताओं को डॉ० जॉली ने

१- म०म० काणे ने वसिष्ठधर्मसूत्र को मानवधर्मसूत्र का ऋणी न मानकर यह संभावना व्यक्त की है कि ' हो सकता है कि दोनो (मनुस्मृति तथा व ध सू) का कालान्तर में संशोधन हुआ हो और इसकी बातें उसमें और उसकी बातें इसमें चली आयी हैं।'- धर्म० इति० हिन्दी अनु० पृ० २२

२- व २।६ 'हारीतोऽप्युदाहरन्ति'।

३- द्र० बौधायनधर्मसूत्र, सं० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, भूमिका, पृ० ३२

४- स तद्यदेतद्धर्मशास्त्रं नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सरोषिताय दद्यात्।
सहस्रं दक्षिणा ऋषभैकादशा गुरुप्रसादो वेति। -व २४।६-७
'तदेतद्धर्मशास्त्रं नाऽभक्ताय नाऽपुत्राय नाऽशिष्याय नाऽसंवत्सरोषितायदद्यात्।
सहस्रं दक्षिणा ऋषभैकादशं गुरुप्रसादो वा।' - बौ ४।४।६-१०

५- ब्यूह्लेर, से बु ई, खण्ड १४, भूमिका, पृ० २१

६- व २८।१०-१५ = विष्णु० अध्याय ५६ इन दोनो अंशों में शैली का अन्तर है । व ध सू में पद्यों में जो कहा गया है वह वि ध सू में कतिपय परिवर्तन के साथ २० सूत्रों में रखा गया है। इसी प्रकार व १८।१८-२२ = वि ध सू अध्याय ८७ ।

भी इंगितं किया है। उनका मत है कि विष्णु का गद्यात्मक पाठ ही अधिक प्राचीन है और वसिष्ठ ध सू में उसे ही भद्दे ढंग से पद्यबद्ध किया गया है।[१] ऐसी स्थिति में डॉ० जाली का[२] पक्ष यह है कि दोनो ग्रन्थों ने किसी एक सामान्य स्रोत से इन अंशों को ग्रहण किया है। किन्तु वसिष्ठ ध सू २८।१८-२२ को वे विष्णु० अध्याय ८७ का ही ऋणी मानते हैं। डॉ० ब्यूह्लेर इसे अस्वीकार करते हैं। वे वसिष्ठ ध सू के २८ वें (तथा २५-२७) अध्याय को बाद का प्रक्षिप्त अंश मानते हैं। इसके पक्ष में उनके प्रमाण भी सबल हैं। प्रथमतः, इन अध्यायों में रहस्य व्रत का विवेचन है जो इसी धर्मसूत्र में पहले भी आया है। दोनो विवेचनों में अन्तर है। अध्याय २५-२८ अपनी शैली से भी पूर्ववर्ती अंशों से भिन्न है। इसमें सूत्र न होकर केवल पद्य ही हैं। इन चार अध्यायों की भाषा भी प्राचीनता के लक्षणों से रहित है और कुछ अंश पूर्वविवेचित विषय की आवृत्ति मात्र है। निष्कर्ष के रूप में डॉ० ब्यूह्लेर ने इन अध्यायों को 'किसी न किसी कारण से पुनर्व्यवस्थित' माना है।

वसिष्ठधर्मसूत्र के विवादास्पद स्वरूप का कारण यह है कि पाण्डुलिपियों का उद्धार करने वाले पण्डितों ने द्वारा बीच-बीच में अपनी ओर से अंश जोड़कर पाठ को पूरा करने की प्रवृत्ति है। इन पण्डितों ने उन पद्यों का उपयोग किया जो खण्डशः उपलब्ध हुए और बड़ी चतुराई से अवशिष्ट अंश को मनुस्मृति, अन्य स्मृतियों, महाभारत तथा पुराणों के ज्ञान के आधार पर पूरा किया।[३] उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि वसिष्ठधर्मसूत्र गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और हारीत के धर्मसूत्रों के बाद का है। व ध सू में कोई ऐसा तथ्य नहीं मिलता जिसके आधार पर इसे बहुत बाद का माना जा सके। डॉ० ब्यूह्लेर ने १८।४ में आये हुए 'रोमक' शब्द के आधार पर रोमन लोगों का अर्थ लेना असंगत माना है। वस्तुतः यह शब्द 'रामक' होना चाहिए, जो कई पाण्डुलिपियों में उपलब्ध भी है।[४] वसिष्ठधर्मसूत्र में लिखित प्रमाण को साक्ष्य

१- जॉली,से बु ई, खण्ड ७,विष्णुस्मृति की भूमिका,पृ० १६

"A clumsy versification of the original prose version preserved in this work."

२- तत्रैव, पृ० १८ ३- ब्यूह्लेर, से बु ई,खण्ड १४, भूमिका, पृ० २५

४- 'वैश्येन ब्राह्मण्यामुत्पन्नो रामको भवतीत्याहुः'।- व १८।४

माना गया है। इससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह रचना बाद के समय की है। परन्तु दूसरी ओर वसिष्ठ ध सू के अनेक नियम इसकी प्राचीनता का संकेत करते हैं। इसमें अवैध पुत्रों को भी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना गया है[१] और बालविधवा के पुनर्विवाह को विहित किया गया है।[२] वयस्का विधवा को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति भी इस धर्मसूत्र में दी गयी है। यद्यपि इन विषयों पर बाद के धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में विवाद है, तथापि वसिष्ठधर्मसूत्र में ये प्रश्न बहुत पहले उठाये गये प्रतीत होते हैं। म०म० काणे के अनुसार विश्वरूप, मेधातिथि आदि व्याख्याकारों ने वसिष्ठ ध सू से उद्धरण दिये हैं और तीवरदेव के रागिम ताम्रपत्र में भी इस धर्मसूत्र का उद्धरण है। इस ताम्रपत्र का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। अतः वसिष्ठधर्मसूत्र का समय ३००-१०० ई० पू० के बीच माना जा सकता है।[३]

वसिष्ठ के धर्मसूत्र के अतिरिक्त वृद्धवसिष्ठ के मतों का भी उल्लेख मिलता है।[४] अन्यत्र भी वृद्धवसिष्ठ के उद्धरण मिलते हैं।[५]

डॉ० ब्यूह्लेर ने वसिष्ठधर्मसूत्र से संबद्ध वैदिक शाखा का स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार यह सूत्र उत्तर भारत में स्थित सूत्रचरण में प्रचलित था। इसके समर्थन में यह उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्र में विन्ध्य के उत्तरी भारत को और विशेषतः उत्तरी-पश्चिमी भाग को पवित्र लोगों का प्रदेश कहा गया है।[६] इसके अतिरिक्त इस सूत्र में उन्हीं रचनाओं के उद्धरण दिये गये हैं, जो उत्तर भारत में प्रचलित थे यथा काठक, वाजसनेयी शाखा, मनु तथा हारीत के धर्मसूत्र।

१- व १७।२३-२५

२- पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हतीति।।- व १७।७४

३- पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड १, पृ० ५६

४- याज्ञवल्क्यस्मृति १।१६ पर विश्वरूप की टीका तथा २।६१ पर विज्ञानेश्वर की टीका मिताक्षरा 'तथान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वसिष्ठेनोक्तम्-
यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम्।।

५- पी०वी० काणे, तत्रैव ।

६- व , १।८।१६

५- विष्णुधर्मसूत्र

विष्णुधर्मसूत्र भी एक प्राचीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ है। सामान्यतः इसे विष्णुस्मृति अथवा वैष्णवधर्मशास्त्र नाम से अभिहित किया गया है। यह धर्मसूत्र १०० अध्यायों में है, यद्यपि इनमें से बहुत से अध्याय तो दस सूत्रों से भी कम के हैं[१] और पाँच अध्यायों में केवल दो-दो सूत्र या पद्य हैं।[२] अध्यायों के विभाजन में कोई विषयगत आधार भी नहीं दिखायी पड़ता है, अतः जैसा कि डॉ० रामगोपाल का अनुमान है, अध्यायों का यह विभाजन स्पष्टतः जान-बूझ कर सौ संख्या तक पहुँचाने के लिए किया गया है और इस प्रकार अध्याय ९८ में गिनाये गये विष्णु के नामों की सौ संख्या के साथ सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न किया गया है।[३] इस धर्मसूत्र के कई संस्करण प्रकाशित हैं। सर्वप्रथम इसका प्रकाशन जीवानन्द के धर्मशास्त्रसंग्रह में १८७६ ई० में हुआ और उसके बाद बंगाल एशियाटिक सोसाइटी तथा डॉ० जॉली द्वारा सम्पादित संस्करण भी प्रकाशित हुए।

जॉली के संस्करण में नन्द पण्डित की वैजयन्ती टीका के उद्धरण भी दिये गये हैं।[४] डॉ० जॉलीने इस धर्मसूत्र की पाँच पाण्डुलिपियों तथा कलकत्ता से मुद्रित दो संस्करणों का निर्देश किया है।[५]

१- अध्याय १२, १३, २६,३३, ३४, ३५, ३६, ३९, ४०, ४१, ४२, ५३, ६३, ७२, ७४, ७५, ७६, ७७, ८४, ८८, ८९, १००

२- अध्याय ३४, ३९, ४०, ४२, ७६

३- डॉ० रामगोपाल, तदेव, पृ० ६१

"The number of chapters seems to have been purposely brought to the round figure of a hundred to coincide with number of Vishnu's names enumerated in Chapter XCVIII."

४- द्र० पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० ६०

प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ० जूलियस जॉली द्वारा सम्पादित, १८८१ में एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित तथा १९६२ में चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी द्वारा पुनमुर्द्रित संस्करण का उपयोग किया गया है।

५- विष्णुस्मृति की भूमिका, पृ० १-२

विष्णुधर्मसूत्र और काठकगृह्यसूत्र

विष्णुधर्मसूत्र का संबन्ध किस वैदिक शाखा से है यह एक विवादास्पद विषय है। वैजयन्ती टीका के अनुसार यह यजुर्वेद की कठ शाखा के विद्यार्थियों के लिए अभिप्रेत था ।[1] इस धर्मसूत्र के यजुर्वेद से संबन्ध निर्धारित करने के लिए डॉ० जाली ने इसमें आये हुए वैदिक रचनाओं के उद्धरणों की परीक्षा की है। संक्षेप में उनका तर्क इस प्रकार है-

अनेक अध्यायों में उद्धृत मन्त्र ऐसे हैं जो सभी वेदों से हैं और अध्याय ५६, जिसमें कई पावन मन्त्र निर्दिष्ट हैं, वसिष्ठधर्मसूत्र से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। डॉ० जाली ने इस धर्मसूत्र में ऐसे बारह मन्त्र पाये हैं, जो चारायणीय, कठ, काठकसंहिता में आते हैं।[2] श्राद्धकर्म और वृषोत्सर्ग के मन्त्रों के अतिरिक्त अध्याय ६७ में मन्त्रों को जिस क्रम में गिनाया गया है उसी क्रम में वे चारायणीय काठकगृह्यसूत्र में भी आये हैं, और काठकगृह्यसूत्र में मन्त्रों के साथ वे सूत्र भी हैं। विष्णुस्मृति और काठकगृह्यसूत्र में अनेक अंश समान रूप से पाये जाते हैं। काठकगृह्यसूत्र में विष्णु० ७४ भी उपलब्ध होता है। दोनो में अत्यधिक समानता है और जहाँ अन्तर है वह वि ध सू के विस्तार की शैली के कारण है।[3]

इस सन्दर्भ में डॉ० जॉली[4], डॉ० ब्यूह्लेर के इस मत से पूर्णतः सहमत हैं कि 'तथाकथित विष्णुस्मृति का अधिकांश वस्तुतः कृष्णयजुर्वेद की चारायणीय काठक शाखा का प्राचीन धर्मसूत्र है। अन्य धर्मसूत्रों के समान यह भी अपनी शाखा के गृह्य तथा श्रौतसूत्रों की कोटि में स्थित है, जिनमें यद्यपि श्रौतसूत्र इस समय लुप्त हो गया है, तथापि गृह्यसूत्र में अनेक स्थलों पर इसका स्पष्टतः संकेत किया गया है।[5] फिर भी विष्णुधर्मसूत्र का रचयिता काठक गृह्यसूत्र और संभावित श्रौतसूत्र के रचयिता को नहीं

१- हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० ६०
२- से बु ई, खण्ड ७,भूमिका, पृ० ११
३- तदेव, पृ० १२
४- जॉली, वि ध सू की भूमिका, पृ० १२
५- जॉली, वि ध सू की भूमिका, पृ० १२

माना जा सकता, क्योंकि गृह्यसूत्र के साथ इसका सभी विषयों में तालमेल नहीं है। इनमें एक एक दूसरे के सन्दर्भ का भी निर्देश नहीं मिलता है, जैसा आपस्तम्ब के धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र में मिलता है। एक संभावना यह भी की गयी है कि विष्णुधर्मसूत्र को वर्तमान रूप देने वालों ने इसमें आये हुए सन्दर्भों को सावधानी के साथ निकाल दिया हो। इसके विपरीत डॉ० रामगोपाल ने[१] काठकगृह्यसूत्र और विष्णुधर्मसूत्र के पारस्परिक संबन्धों के सन्दर्भ में डॉ० ब्यूह्लेर, डा० जॉली और महामहोपाध्याय काणे के मतों की आलोचना की है। उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि जहाँ समानता है वहाँ वि ध सू का विवेचन अधिक विस्तृत है। वह सामान्य सूत्रों तक सीमित नहीं है, जैसे श्राद्ध और वैश्वदेव के प्रकरण में। विष्णुधर्मसूत्र के कई सूत्र शांखायन और कौषीतकिगृह्यसूत्र में मिलते हैं और कई बातों में इसमें काठकगृह्यसूत्र से भिन्नता है, अतएव विष्णुधर्मसूत्र को मूलतः कठ शाखा का धर्मसूत्र मानना आपत्तिजनक है।[२] डॉ० रामगोपाल के तर्क पुष्ट प्रतीत होते हैं और वस्तुतः विष्णुधर्मसूत्र का अकेले काठक-गृह्यसूत्र के प्रति पक्षपात नहीं है। इसमें उल्लिखित मन्त्र ऋग्वेद के हैं और विष्णुधर्मसूत्र ने काठकगृह्यसूत्र से भी वैसे ही उद्धरण लिये हैं जैसे अन्य गृह्य एवं धर्मसूत्रों से। यथार्थतः यह एक स्वतन्त्र धर्मशास्त्रीय रचना है, जो प्राचीन विचारों का एक संशोधित संकलन है और बाद में काठकगृह्यसूत्र के साथ कतिपय समानताएँ देखकर इसे टीकाकारों ने कठ शाखा के साथ संबद्ध मान लिया होगा।

विष्णुधर्मसूत्र का अन्य धर्मसूत्रों से संबन्ध

गौतमधर्मसूत्र के कई सूत्र वि ध सू में मिलते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि इन्हें विष्णुधर्मसूत्र ने ग्रहण किया है।[३] वि ध सू के कई अंश वसिष्ठधर्मसूत्र के सूत्रों से

१- इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ६४

२- डा० रामगोपाल, तत्रैव।

३- डॉ० जॉली ने विष्णुधर्मसूत्र के मूल में जो विष्णुस्मृति नाम से प्रकाशित है, तथा उसके अंग्रेजी अनुवाद में (से बु ई, खण्ड ७) ऐसे अनेक स्थलों का अपनी टिप्पणियों में निर्देश किया है। - द्र०डॉ० रामगोपाल, तदेव, पृ० ६३-६४

मिलते-जुलते हैं। अध्याय १५ के नियम, जिनमें बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख है, प्रायः सम्पूर्ण रूप में वसिष्ठधर्मसूत्र १७।१३-३८ के समान है और यहाँ भी विष्णु ध सू ने ही वसिष्ठधर्मसूत्र से सामग्री ग्रहण की है, क्योंकि वसिष्ठधर्मसूत्र के सूत्र छोटे हैं, जबकि विष्णुधर्मसूत्र में उसे स्पष्ट बनाने के प्रयोजन से कुछ विस्तृत कर दिया गया है तथा वसिष्ठधर्मसूत्र द्वारा उद्धृत श्लोकों को स्थान नहीं दिया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र में शुनःशेप के प्राचीन आख्यान का भी उद्धरण है और इसकी शैली अधिक प्राचीन है, जबकि विष्णुधर्मसूत्र में पुत्रों की गणना ही प्रधान लक्ष्य दिखायी पड़ता है। विधि-सम्बन्धी अध्यायों में आये हुए तीन त्रिष्टुप् छन्द भी वसिष्ठधर्मसूत्र में उपलब्ध होते हैं और कई उक्तियाँ समान दिखायी पड़ती हैं।[1]

विष्णुधर्मसूत्र का अध्याय ४८ भी बौधायनधर्मसूत्र के तृतीय प्रश्न से मिलता-जुलता है। इस समानता के विषय में डॉ० जॉली का मत है कि वसिष्ठ और बौधायन ने इस अंश को वि ध सू के किसी प्राचीन पाठ से ग्रहण किया होगा।[2]

विष्णुधर्मसूत्र और मनुस्मृति

मनुस्मृति के साथ भी इस धर्मसूत्र का विचित्र सम्बन्ध है। प्रायः १६० पद्य ऐसे हैं, जो मनुस्मृति में भी उपलब्ध होते हैं और अनेक सूत्रों का कथ्य मनुस्मृति के पद्यों में मिल जाता है। डॉ० जॉली विष्णुधर्मसूत्र को मनु से पहले मानने के पक्ष में हैं। इसके समर्थन में वे भौगोलिक उल्लेखों को आधार मानते हैं, जैसे विष्णुधर्मसूत्र में दक्षिणभारतीय जातियों का उल्लेख नहीं है और योग तथा सांख्य के अतिरिक्त दर्शन के किसी अन्य सम्प्रदाय की चर्चा नहीं है। किन्तु यह तर्क सबल नहीं है। दक्षिणभारत से परिचय के आधार पर मनुस्मृति को बाद का सिद्ध करने का औचित्य नहीं है, क्योंकि जैसा कि डॉ० रामगोपाल ने उदाहरण दिया है, ऐतरेयब्राह्मण (७।१८) में दक्षिणभारतीय जातियों का उल्लेख है और स्वयं विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ८५) में दक्षिण भारत के तीर्थों के नाम आये हैं।

१- व २।८ = वि २६।६; व २।१० = वि ३०।४८;
व २८।१५ = वि ५६।२७

२- डॉ० जॉली, तदेव, पृ० २०

वि ध सू में ऐसे कई पद्य हैं जिनमें कुछ परिवर्तन कर लिये गये हैं।[१] इन सभी सन्दर्भों में वि ध सू के पाठ बाद के सिद्ध होते हैं और इन सूत्रों के रचयिता ने मनु के पद्यों को ही बदल कर रख लिया है।[२] वि ध सू और मनुस्मृति में आयी हुई पारस्परिक समानताओं के कारण एक यह भी संभावना की गयी है कि दोनो का संबन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। एक कठ शाखा का है, तो दूसरा मानव शाखा का। चरणव्यूह में इन दोनो को मैत्रायणीय शाखा की ६ या ५ शाखाओं में रखा गया है।[३] डॉ० जॉली यह भी स्वीकार करते हैं कि अनेक स्थलों पर वि ध सू के नियम मनु के समान नियमों की तुलना में कम प्राचीन हैं, न केवल श्लोकों में, अपितु सूत्रों में भी।[३] उनके शब्दों में 'यद्यपि मनु बहुत से विषयों पर दूसरे धर्मशास्त्रकारों से सहमत हैं तथापि उतना अधिक किसी से सहमत नहीं हैं जितना विष्णु से।'[४]

विष्णुधर्मसूत्र और याज्ञवल्क्यस्मृति

विष्णुधर्मसूत्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में भी अनेक समानताएँ मिलती हैं। याज्ञवल्क्य ३।८४-१०४ वि ध सू ६४। ४३-६६ के समान है। याज्ञ०१।८०, २८५ में नक्षत्र विद्या एवं ज्योतिष के उल्लेख, गणेश और ग्रहों की पूजा (याज्ञ० १।३४६-५०) वि ध सू में नहीं मिलता और यह याज्ञवल्क्यस्मृति के परवर्ती होने का प्रमाण है। याज्ञ० १।५७ में शूद्रा पत्नी का निषेध है, जबकि वि ध सू २४। १-४ में अनुमति दी गयी है। इससे भी वि ध सू का पूर्ववर्ती होना सिद्ध है। वि ध सू और

१- वि ध सू ५१।६४ में मनुस्मृति के पाठ में 'अब्रवीन्मनुः' के स्थान पर 'कथञ्चन' रख दिया है। इसी प्रकार २३।५० में भी मनु का नाम हटा दिया गया है।

२- डॉ० रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ६२ "Even a cursory examination of Vishnu's sutras agreeing in substances with the verses of Manu would show that the author of these sutras is merely paraphrasing the verses of the Manusmrti."

३- द्र० जॉली, से बु ई, खण्ड ७, भूमिका, पृ० २६

३- द्र० जाली, तदेव, पृ० २४ "It is true, on the other hand, that in many cases Vishnu's rules have a less archaic character than the corresponding precepts of Manu, not only in the Slokas but in the Sutra part as well."

४- तत्रैव, पृ० २२

याज्ञवल्क्य में कपटलेख के दण्ड के विषय में दो श्लोक समान हैं किन्तु याज्ञवल्क्य में 'नाणक' शब्द का प्रयोग है, जबकि विष्णुधर्मसूत्र में नहीं। इसे भी विष्णुधर्मसूत्र की प्राचीनता का प्रमाण माना गया है। डॉ० रामगोपाल ने इस विषय को इस पूर्वाग्रह से देखा है कि विष्णुधर्मसूत्र याज्ञवल्क्य के भी बाद का है और इसने सभी से सामग्री ग्रहण की है। किन्तु ऐसा सोचना संगत नहीं है। विष्णुधर्मसूत्र में बहुत से सूत्र प्राचीन भी हो सकते हैं और बहुत से बाद के भी। इसके विपरीत डॉ० जॉली विष्णुधर्मसूत्र की सभी प्रकार से प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और यह मानते हैं कि विष्णुधर्मसूत्र ने उसी सामान्य स्रोत से सामग्री ग्रहण की है जहाँ से अन्य धर्मसूत्रों और स्मृतियों ने।[1] दोनो ही मत आंशिक सत्य हैं, परन्तु कोई भी पूर्णतः मान्य नहीं हो सकता। इसका कारण है विष्णुधर्मसूत्र में प्राचीन और नवीन सामग्री का सम्मिश्रण। किन्तु यदि डॉ० रामगोपाल के अनुसार विष्णुधर्मसूत्र को प्राचीन धर्मशास्त्रीय रचनाओं के उद्धरणों का संकलन मात्र है[2] तो उसे याज्ञवल्क्य के भी बहुत बाद का मानना होगा और इसका धर्मसूत्रों के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्व शून्य होगा। वस्तुतः यह मानना अधिक समीचीन होगा कि प्राचीन सूत्रों को आरम्भ और अन्त में कल्पित कथानक जोड़कर और बीच-बीच में मनु आदि के अंश लेकर रचयिता या संकलनकर्ता ने एक नवीन रूप प्रदान कर दिया है और इनमें प्राचीन सूत्रों को ढूँढना एक कठिन कार्य है।

विष्णुधर्मसूत्र में भगवद्गीता के भी उद्धरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ ९६।९७,९८ इन दोनो पद्यों में वि ध सू में वैसे ही शब्दों में परिवर्तन कर लिया गया है जैसे उपर्युक्त मनु के श्लोकों में।[3] डॉ० जॉली ने भी अध्याय २० के अन्त में आये हुए

१- से बु ई, खण्ड ७, भूमिका, पृ० १८

"As it is meeting with analogous passages now in one work and then in another, one cannot but suppose that the author of this work has everywhere drawn from the same source as the other Sutrakaras, viz. from ancient traditions that were common to all the Vedic schools."

२- इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़ , पृ०६५

३- इदं शरीरं वसुधे क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः सर्वक्षेत्रेषु भाविनि ॥
क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भाविनि। क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानं ज्ञेयं नित्यं मुमुक्षुणा ॥
यहाँ प्रथम श्लोक में गीता (१३।१) के 'कौन्तेय' के स्थान पर 'वसुधे' और द्वितीय में गीता (१३।२) के 'भारत' के स्थान पर 'भाविनि' कर दिया गया है।

अधिकांश श्लोकों को प्रामाणिक नहीं माना है और ४३। ३२-४५ को भी मौलिक नहीं माना है। १६।२२-२३ तथा २३। ५७-६१ को भी, जिनमें गौ और ब्राह्मण की महत्ता वर्णित है, उन्होंने अनावश्यक माना है।[१]

इस धर्मसूत्र की कतिपय विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। इसमें अर्वाचीन सप्ताह के दिनों के उल्लेख हैं।[२] विधवाओं के सती होने का भी वर्णन है।[३] बौद्ध एवं पाशुपत सम्प्रदायों का भी उल्लेख है।[४]

विष्णुधर्मसूत्र का रचनाकाल

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विष्णुधर्मसूत्र का समयनिर्धारण कठिन कार्य है। सम्पूर्ण रचना को किसी वैष्णवमतावलम्बी ने अन्तिम रूप प्रदान किया है, इसे ब्यूह्लेर ने भी स्वीकार किया है।[५] आरम्भ के अध्यायों की शैली अन्य अध्यायों से भिन्न है। अनेक अध्यायों में विष्णु के नामों के उल्लेख हैं और विष्णु की पूजा को प्रधानता दी गयी है। इन अंशों को बाद का मानना ही उचित है। सांख्य के सिद्धान्तों का संकेत[६] तथा महत्पति कपिल, सांख्याचार्य नामों का विष्णु के लिए प्रयोग रचयिता का सांख्य की ओर झुकाव तथा परिचय सूचित करता है। जॉली ने सप्ताहों के नाम वाले, विधवा के सम्पत्ति के अधिकार (१७।४) वाले और काषायी, प्रव्रजित मलिन (६३।३६) का निर्देश करने वाले अंशों को भी बाद का माना है । दक्षिण भारत के तीर्थों की गणना वाले अंश भी प्राचीन धर्मसूत्रों में नहीं पाये जाते हैं और ये तीर्थस्थान धर्मसूत्रों में वर्णित आर्यावर्त की सीमा के बाहर के हैं अतः वे अंश परवर्ती माने जाते हैं। इसी प्रकार अध्याय ९० में विवेचित विषय अन्य धर्मसूत्रों में न होने से परवर्ती

१- से बु ई, खण्ड ७, भूमिका, पृ० १८ आदि।

२- वि०७८।२- ७ 'सौभाग्यं चान्द्रे', समरविजयं कौजे, सर्वान्कामान्बौधे। विद्यामभीष्टां जैवे। धनं शौक्रे। जीवितं शनैश्चरे।'

३- वि २५।१४, मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।

४- वि ६३।३६ 'काषायिप्रव्रजितमलिनांश्च।'

५- द्र० आपस्तम्बधर्मसूत्र की भूमिका, से बु ई, खण्ड २, पृ० ४३

६- वि , अ० ९७

काल का जोड़ा गया अंश है।

विष्णुधर्मसूत्र की प्राचीनता के समर्थक डॉ० जॉली ने स्वयं इस धर्मसूत्र में बहुत अधिक अंश को बाद में जोड़ा गया माना है और वस्तुतः इस धर्मसूत्र में प्राचीन अंश अपेक्षाकृत कम हैं। अपनी भाषा और शैली की दृष्टि से विष्णुधर्मसूत्र मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति के बहुत निकट है। अन्तिम रूप में इस धर्मसूत्र का संकलन तीसरी या चौथी शताब्दी ई० के पहले का नहीं हो सकता।[१] विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा में विष्णुधर्मसूत्र ध सू के उद्धरण होने के कारण यह रचना ११ वीं शताब्दी के पहले की है। संभवतः, इस रचना का समय वर्तमान मनुस्मृति के आस-पास (दूसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई०) माना जा सकता है।[२] प्राचीन तथा परवर्ती अंशों का मिलाजुला समय २०० ई० पू० से ३०० ई० के बीच मानना असंगत न होगा। महामहोपाध्याय काणे ने इसके प्राचीन भागों का काल ३०० ई० पू० से १०० ई० के बीच माना है किन्तु यह अनुमान मात्र ही है।

६- *हिरण्यकेशिधर्मसूत्र*

धर्मसूत्रों में हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र आपस्तम्बधर्मसूत्र से बहुत भिन्न नहीं है, तथापि इसका एक पृथक् अस्तित्व है। हिरण्यकेशि-कल्प सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है और यह धर्मसूत्र इस कल्प के २६ वें एवं २७ वें प्रश्न के रूप में आया है। आनन्दाश्रम ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित सत्याषाढ-श्रौतसूत्र में इन दोनो प्रश्नों के अन्त में इनको 'धर्मसूत्रापरपर्याय' उल्लिखित किया गया है। इन पर महादेव दीक्षित की उज्ज्वला नाम की व्याख्या भी है जो हरदत्त की आपस्तम्ब-धर्मसूत्र पर लिखित उज्ज्वला व्याख्या से सभी प्रकार मिलती-जुलती है। इसमें आपस्तम्बधर्मसूत्र से सैकड़ों सूत्र ले लिये गये हैं। यह धर्मसूत्र आपस्तम्ब से इतना मिलता-जुलता है कि इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि हिरण्यकेशी ने या उनके वंशजों ने आपस्तम्ब-धर्मसूत्र

१- डॉ० जॉली, से बु ई, खण्ड ७, भूमिका, पृ० ३२

२- द्र० पी० वी०काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ६६

को अपनी शाखा का बना लिया है। डॉ० ब्यूह्लेर का ऐसा ही मत है।[1] डॉ० रामगोपाल[2] के शब्दों में 'हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु आपस्तम्बधर्मसूत्र के पाठ का निर्धारण करने में उपयोगी हो सकता है।' जैसा काणे ने संकेत किया है हिरण्यकेशी तैत्तिरीय शाखा के खाण्डिकेय चरण से संबद्ध है और यह शाखा आपस्तम्ब की शाखा से परवर्ती काल की है। उनके अनुसार 'कोंगू राजाओं के एक दानपत्र (४५४ ई०) में हिरण्यकेशिशाखा के ब्राह्मणों की चर्चा है। चरणव्यूह के भाष्य में उद्धृत *महार्णव* के अनुसार हिरण्यकेशी लोग सह्य पर्वत तथा परशुराम क्षेत्र (अर्थात् कोंकण) के निकट के समुद्र तट से दक्षिण-पश्चिम दिशा में पाये जाते थे। आज के रत्नगिरि जिले के बहुत से ब्राह्मण अपने को हिरण्यकेशी कहते हैं।[3]

७- वैखानसधर्मसूत्र

वैखानसधर्मसूत्र अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण अन्य धर्मसूत्रों से भिन्न है। इसमें मुख्यतः वर्णों और आश्रमों के नियमों का विवेचन है और वानप्रस्थ गृहस्थ और संन्यास आश्रमों के अनेक भेद-प्रभेद गिनाये गये हैं। अन्य धर्मसूत्रों में इस प्रकार के वर्गीकरण नहीं दिखायी देते। अनेक वर्णसंकरों की भी गणना इस धर्मसूत्र में हुई है, विशेषतः संन्यास के नियम विपुल विस्तार से दिये गये हैं। इस धर्मसूत्र की एक विशेषता, जिसकी ओर डॉ० रामगोपाल ने संकेत किया है, यह है कि इसके अनेक अंश मनुस्मृति से मिलते-जुलते हैं और मनुस्मृति के लगभग चार दर्जन पद्यों के भाव इस सूत्र में देखे जा सकते हैं।[4]

१- से बु ई, खण्ड २, भूमिका, पृ० २३ ।

२- The Hiranyakeshi Dharmasutra is of little value for historical purpose. It may, however, be of some help in checking the readings of the Ap.D.S."
इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ५८

३- पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र,खण्ड १, पृ० ४८ ।

४- इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़,पृ० ६१
"Another important feature of this Sutra is that a number of rules contained in it clearly agree with those of Manu and correspond to nearly four dozen verses of the Manusmrti."

हिरण्यकेशि-श्रौतसूत्र के व्याख्याकार महादेव ने वैखानस शाखा के सूत्रों को तैत्तिरीय शाखा के सबसे अन्त के सूत्रों में माना है। प्रो० कैलेण्ड ने भी वैखानस गृह्यसूत्र की भाषा एवं शैली को विवेचित करते हुए इसी मत की पुष्टि की है। वैखानस-धर्मसूत्र वैखानस-स्मार्तसूत्र के प्रश्न ८-१० के रूप में आता है। इस स्मार्तसूत्र का सम्पादन तथा अनुवाद डॉ० कैलेण्ड ने किया है। गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र एक ही व्यक्ति की रचना है और दूसरी ओर स्मार्तसूत्र तथा श्रौतसूत्र में भी घनिष्ठ संबन्ध है।[1] स्मार्तसूत्र श्रौतसूत्र से प्राचीन है इसके पक्ष में कई प्रमाण हैं यथा स्मार्तसूत्र ३।६ में आया हुआ 'उदक्याशुच्यादिसंसर्गे च विधानं यज्ञप्रायश्चित्तैर्वक्ष्यामः' श्रौतसूत्र २०।४ की ओर संकेत करता है।

स्मार्तसूत्र ४।५-६ में पिण्डपितृयज्ञ का विस्तार से वर्णन किया गया है जब कि श्रौतसूत्र ३।६ में केवल उसका उल्लेख है। श्रौतसूत्र २०।२२ में भी 'अपि वाकृति-दहनम् कुर्युः तद् व्याख्यातम्' है और यह वर्णन स्मार्तसूत्र ५।१२ में आया है। इससे स्मार्तसूत्र के वैखानस-श्रौतसूत्र की अपेक्षा प्राचीन होना प्रमाणित होता है। डॉ० कैलेण्ड पाण्डुलिपियों की परम्परा का उल्लेख करते हुए इसकी पुष्टि करते हैं। मद्रास और तेलेगु की पाण्डुलिपियों में वस्तुतः स्मार्तसूत्रों को पहले और श्रौतसूत्रों को बाद में रखा गया है।[2]

डॉ० कैलेण्ड के अनुसार वैखानस शाखा वैष्णव शाखा है और इसका वैष्णवों से बहुत कम अन्तर है।[3] इस सन्दर्भ में डॉ० कैलेण्ड ने आकुलमन्नाडु के पण्डित पार्थसारथि आयंगार का कथन उद्धृत किया है। उसके अनुसार वैखानस सूत्र सम्पूर्णतः

१- वैखानसश्रौतसूत्र, सं० कैलेण्ड, भूमिका, पृ० २२ आदि।

२- डॉ० कैलेण्ड ने *तात्पर्यचिन्तामणि* का निम्नलिखित वाक्य भी प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है- 'वैखानसस्य विखनसा प्रणीतस्य सूत्रस्य द्वात्रिंशत् प्रश्नात्मकस्य कृत्स्नस्य सूत्ररत्नस्य तच्च सूत्रं स्मार्तधर्मश्रौतशुल्बादिनामभिर्बहुधा प्रतिपाद्यविषयभेदेन विभक्तं सद् व्यह्नियते।'

३- कैलेण्ड, वैखानस-श्रौतसूत्र की भूमिका, पृ० २८
The Vaikhanasas appear to have been but little different from the Vaisnavas especially so called; at least Anandagiri has not particularized the difference, they worshipped Narayana as supreme God and wore his marks."

स्वतन्त्र है। इसके लिए किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं होती और इसमें विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य देवता को स्थान नहीं दिया गया है।

वैखानससूत्रों की उत्पत्ति का सम्बन्ध चतुरानन ब्रह्मा से जोड़ा गया है। चतुरानन ब्रह्मा ने विशिष्टाद्वैत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विखनस ऋषि के रूप में अवतार लिया और उन्होंने नैमिषारण्य में तपस्या की। उनकी तपस्या से विष्णु अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वैष्णव सूत्र का उपदेश किया। इस प्रकार इस कल्पसूत्र की दैवी उत्पत्ति कही गयी है जो वस्तुतः ग्रन्थ की महत्ता बढ़ाने के लिए कल्पना मात्र है।

वैखानस सम्प्रदाय के ब्राह्मण आज भी दक्षिण भारत के कृष्णा गोण्टूर और गोदावरी के आन्ध्र जिलों में अधिक संख्या में पाये जाते हैं।[1] तन्जौर चिन्गुलपट्टी और चितूर जिलों में भी उनकी संख्या अधिक है। किन्तु उत्तरी भारत में वैखानस शाखा के अनुयायी नहीं पाये जाते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में भी वैखानस एक अल्पसंख्यक रूप में ही आते हैं और ये अपने को अन्य वैष्णवों से भिन्न रखते हैं।

वैखानसधर्मसूत्र का रचनाकाल

जहाँ तक वैखानससूत्रों के रचनाकाल का प्रश्न है, डॉ० कैलेण्ड ने वैखानस० ६।१३ में आये हुए ताम्बूल के उल्लेख को एक तर्क के रूप में प्रयुक्त किया है। एच० केर्न और स्पेयर के मतों की समीक्षा करते हुए कैलेण्ड ने ताम्बूल सेवन की प्रथा का समय चतुर्थ शताब्दी ई०पू० के बाद माना है और सूत्र में आये हुए नक्षत्रों के क्रम तथा नक्षत्रों के आधार पर दिनों के नाम होने से भी इसका समय तीसरी शताब्दी के बाद का हो सकता है।[2] वैखानस-स्मार्तसूत्र का जो वर्तमान रूप है वह परवर्ती है, किन्तु इसके कतिपय सूत्र प्राचीन हैं, इसमें सन्देह नहीं।[3]

१- कैलेण्ड, तदेव, पृ० ३०।

२- कैलेण्ड, वैखानसगृह्यसूत्र की भूमिका, पृ० १५-१६

३- द्र० डॉ० रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ०७६ "We see no reason to dispute the view that the Vaikhanasa Smartasutra in its present form is a very late work. But certain rules of this Sutra appear to have been derived fom an earlier work ascribed to the renowned teacher Vaikhanasa."

डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी ने[1] इस धर्मसूत्र की तिथि पर प्रकाश डालने वाले कई तथ्य दिये हैं। इस धर्मसूत्र में कई सूत्र बहुत छोटे हैं और पद्यों का नितान्त अभाव है। इसकी भाषा शुद्ध लौकिक संस्कृत है और व्याकरण के दोष भी स्वल्प हैं। इसमें अधिक संख्या में वर्णसंकर जातियों के उल्लेख से भी वे इसे बाद के समय की रचना मानते हैं। इसमें विष्णु के प्रति जो पक्षपात है उससे भी यह धर्मसूत्र परवर्ती सिद्ध होता है। वैखानस का नाम चरणव्यूह में नहीं है और कुमारिल ने भी अपने *तन्त्रवार्त्तिक* में इसका उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि डॉ० कैलेण्ड इसको बहुत बाद का और उस समय का मानते हैं जब संस्कृत भाषा बोली नहीं जाती थी।[2] डॉ० बनर्जी के अनुसार इसे मनुस्मृति के बाद का मानने पर इसका समय द्वितीय शताब्दी के बाद का होना चाहिए।[3]

वैखानसस्मार्त्तसूत्र के कई नियम मनुस्मृति से मिलते-जुलते हैं। इसके सम्बन्ध में दो संभावनाएँ की सकती हैं। प्रथमतः, जैसा कि डॉ० कैलेण्ड का विचार है, मनुस्मृति ने वैखानसस्मार्त्तसूत्र से इन नियमों को ग्रहण किया है। डॉ० रामगोपाल इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार अपने वर्तमान रूप में वैखानस-स्मार्त्तसूत्र मनुस्मृति से पहले का नहीं हो सकता।[4] यह भी सम्भव है कि इन दोनो रचनाओं ने प्राचीन वैखानस आचार्य की मूल रचना से सामग्री ग्रहण की है और वह मूल रचना कालान्तर में संशोधित होकर उपलब्ध वैखानसस्मार्त्तसूत्र के रूप में आ गयी हो। इस धर्मसूत्र को विखनस द्वारा प्रोक्त कहा जाता है। गौतम ३।२ के मस्करी भाष्य में स्पष्ट कहा गया है- 'वैखानसा प्रोक्तं शास्त्रं वैखानसम्।' हरदत्त ने इस आचार्य का नाम वैखानस बताया है। श्रौतसूत्र के व्याख्याकार वेंकटेश ने विखनस नाम से रचयिता को प्रणाम किया है।

१- धर्मसूत्राज़- ओरि० एण्ड डेवलपमेण्ट, पृ० ३३

२- वैखानसस्मार्तसूत्र, अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, पृ० १५

"When Sanskrit was no longer a living and spoken language, but a dead one."

३- डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी, तदेव, पृ० ३५

४- द्र० डॉ०रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ३४

"It is, however, entirely gratuitous to assume on the basis of a few agreements that the Manusmrti is later than the Vaikhanasa Smartasutra in its present form."

८- शंख-लिखित-धर्मसूत्र

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा से सम्बद्ध एक धर्मसूत्र है शंखलिखितधर्मसूत्र। शंखलिखित का उल्लेख महाभारत[1], याज्ञवल्क्यस्मृति[2] तथा पराशरस्मृति[3] में आया है। शंखलिखित के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि यह धर्मसूत्र प्राचीन धर्मसूत्र था, क्योंकि इसके उद्धरण अधिकांशतः गद्य में हैं। शंखलिखित के १८ अध्याय प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त शंखस्मृति नाम से ३३० तथा लिखितस्मृति नाम से ९३ श्लोक भी मिलते हैं।[4] शंखलिखितधर्मसूत्र के भाष्य का भी उल्लेख मिलता है।[5]

शंखलिखितधर्मसूत्र गौतम तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों के बहुत निकट है। तुलनात्मक दृष्टि से यह उन दोनों के बाद का है। याज्ञवल्क्यस्मृति में शंखलिखित का उल्लेख होने के कारण इसका समय आपस्तम्बधर्मसूत्र और याज्ञवल्क्यस्मृति के बीच माना जा सकता है। पी० वी० काणे इसे ई० पू० ३०० से लेकर १०० ई० के बीच मानते हैं।[6]

९- हारीतधर्मसूत्र

हारीतधर्मसूत्र पूर्णतः उपलब्ध नहीं है। हारीत का उल्लेख कई धर्मसूत्रों में हुआ है। सर्वप्रथम बौधायनधर्मसूत्र में हारीत का नाम मिलता है।[7] हारीत के मतों का

१- महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३०

२- याज्ञवल्क्यस्मृति,१।५ पराशरव्यासशंखलिखितदक्षगौतमौ।

३- पराशरस्मृति, १।२४

४- आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ४८ में शंखलिखितस्मृति इससे आरम्भ होता है-

वासुदेवं नमस्कृत्य शंखस्य लिखितस्य च।
धर्मशास्त्रं प्रवक्ष्यामि दध्नि चैव घृतं यथा।।

५- महामहोपाध्याय काणे के अनुसार कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के मन्त्री लक्ष्मीधर ने कल्पतरु में इस धर्मसूत्र के भाष्य का उल्लेख किया है। विवादरत्नाकर और विवादचिन्तामणि में भी इसका उल्लेख है। द्र० धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ० २७

६- तदेव, पृ० २५

७- बौधायनधर्मसूत्र, २।१।२।११

उल्लेख आपस्तम्बधर्मसूत्र में कई स्थानों पर किया गया है।[1] आपस्तम्बधर्मसूत्र में उद्धृत हारीत के विचार अधिकांशतः कठोर नियम के पक्षपाती हैं। आपस्तम्ब और बौधायन दोनों ने हारीत के उस कथन का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार स्त्रियाँ यज्ञिय दधिधानी पात्र के समान होती हैं। जिस प्रकार दधिधानी में अशुद्ध दूध को मथने पर शिष्ट लोग उसका प्रयोग धर्मकार्यों में नहीं करते हैं, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपवित्र वीर्य से उत्पन्न होता है उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।[2] वसिष्ठ ने भी हारीत का प्रमाण के रूप में उद्धरण दिया है। इससे यह अनुमान तर्कसंगत प्रतीत होता है कि हारीत धर्मशास्त्र एक विस्तृत तथा पर्याप्त प्रचलित धर्मसूत्र था। भाषा की दृष्टि से यह धर्मसूत्र प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें गद्य तथा पद्य अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग था। हारीत के कतिपय विचार अन्य धर्मसूत्रों से भिन्न दिखायी पड़ते हैं, जैसे 'स्मृतिचन्द्रिका' में उद्धृत हारीत के मतानुसार प्राचीनकाल में स्त्रियों का भी उपनयनसंस्कार होता था[3] और ऐसी स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। हारीत का धर्मसूत्र विषय की दृष्टि से निःसन्देह पूर्ण रहा होगा और इसे गौतमधर्मसूत्र के आसपास का मानना असंगत नहीं होगा। इस धर्मसूत्र में कश्मीरी शब्द 'कफेल्ला' का प्रयोग होने के कारण हारीत के कश्मीर निवासी होने का संकेत मिलता है।[4]

आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली (संख्या ४८) 'स्मृतीनां समुच्चयः' में हारीतस्मृति तथा लघुहारीतस्मृति का संकलन है। इसमें विशेषतः ब्राह्मण के ही कर्त्तव्यों का वर्णन है। लघुहारीत में ११७ श्लोक हैं और यह शुद्धि तथा प्रायश्चित्त के निर्देशों से आरम्भ होता है। हारीतस्तृति में सात अध्याय हैं। यह प्रश्न विचारणीय है कि हारीतधर्मसूत्र के साथ उपलब्ध हारीतस्मृति का इससे क्या सम्बन्ध है।

१- आप , प्रश्न १ में ४।१३।११, ६।१६।१२, १०।२८।१,५,१६; १०।२६।१२

२- बौ , २।१।२।११ 'मिथ्येतदिति हारीतो दधिधानीसधर्माः स्त्रियस्स्युर्यो हि दधिधान्यामप्रयतं आतच्य मन्थति न तच्छिष्टाः धर्मकृत्येषूपयोजयन्ति।'

३- द्विविधाः स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्याः। - स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० २४

४- 'पालंकया-नालिका-पौतीक-शिशु-सृसुक-वार्ताकमूस्तृण-कफेल्ल- माष-मयूर-कृतलवणानि च श्राद्धे न दद्यात्।- द्र० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड १, पृ० ७१

मानवधर्मसूत्र का विवाद

उपलब्ध धर्मसूत्रों की यह परिचयात्मक समीक्षा समाप्त करने से पहले मानवधर्मसूत्र के अस्तित्व के विषय में विद्वानों के परस्पर विरोधी मतों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। प्रो० माक्स म्यूल्लेर तथा डॉ० ब्यूह्लेर मानवधर्मसूत्र के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और वर्तमान मनुस्मृति को उसी मानवधर्मसूत्र का कालान्तर में पद्यबद्ध किया गया रूप मानते हैं। उनके अनुसार यह मानवधर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा था। चूँकि इस शाखा के मानवश्रौतसूत्र, मानवगृह्यसूत्र और शुल्बसूत्र उपलब्ध हैं, अतः यह संभावना स्वाभाविक है कि इस शाखा का सम्पूर्ण कल्प रहा होगा और उसके अंग के रूप में मानवधर्मसूत्र भी रहा हो। ऊपर वसिष्ठधर्मसूत्र और मनुस्मृति के आपसी संबन्धों का विवेचन करते समय डॉ० ब्यूह्लेर के मत का निर्देश किया गया है। उनका मत मुख्यतः वसिष्ठधर्मसूत्र में आये हुए उद्धरणों पर आश्रित है। वसिष्ठधर्मसूत्र में मनु से अनेक उद्धरण हैं और दो स्थलों पर 'मानवम्' कहकर उद्धरण दिये गये हैं।[1] इनमें प्रथम गद्यांश है जिसके कारण इस संभावना को अधिक बल मिलता है कि मानवधर्मसूत्र में गद्य और पद्य दोनों ही थे।[2] इसके अतिरिक्त वसिष्ठधर्मसूत्र में डॉ० ब्यूह्लेर को ३६ ऐसे पद्य मिले हैं जो मनुस्मृति में हैं और चार पद्य हारीत तथा यम के नाम से उद्धृत हैं किन्तु मनुस्मृति में मिलते हैं। वसिष्ठ में इतनी अधिक संख्या में आये हुए मनु के उद्धरणों तथा उनके पूर्ववर्ती गौतम द्वारा मनु का नाम लिये जाने से यही सिद्ध होता है कि मनु अत्यन्त प्राचीन काल से ही श्रद्धेय थे और धर्मशास्त्र के महान् आचार्य थे। यह स्थिति उनके द्वारा प्रणीत प्राचीन मानवधर्मसूत्र के अस्तित्व के पक्ष में जाती है। उनका धर्मसूत्र भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी रहा होगा। मनु के नाम के बाद की अन्य रचनाओं में उद्धृत अनेक अंश वर्तमान मनुस्मृति में नहीं मिलते हैं। इससे भी यह संभावना की गयी है कि मनु के नाम से कोई और ग्रन्थ रहा होगा।

१- वसिष्ठधर्मसूत्र, ४।५ तथा १६।३६

२- ब यूह्लेर, व ध सू की भूमिका, से बु ई, १४,पृ० २०

"It seems indisputable that the author of the Vasistha Dharmasutra knew a treatise attributed to a teacher called Manu, which like all other Dharmasutras, was partly written in aphoristic prose and partly in verse."

विरोधी मत

जहाँ तक वसिष्ठधर्मसूत्र में आये हुए 'मानव' नाम से उल्लिखित अंशों का प्रश्न है, ब्यूह्लेर वसिष्ठधर्मसूत्र ४।५-८ को समग्र रूप में उद्धरण मानते हैं, किन्तु 'इति' का प्रयोग ८ वें सूत्र के अन्त में ही नहीं, ५ वें और ६ ठें सूत्रों के अन्त में भी हुआ है। इससे सभी अलग-अलग उद्धरण हो सकते हैं। इसके साथ आया हुआ 'मानवम्' का अर्थ 'मनु का मत' हो सकता है, जैसा कि भाष्यकार कृष्णपण्डित ने निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि 'इति मानवम्' शब्द का प्रयोग पद्य के पहले है, बाद में नहीं, जबकि उद्धरण के अन्त में 'इति' का प्रयोग होना चाहिए।[१] अपरञ्च, उपर्युक्त उद्धरण की प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध है, क्योंकि कई संस्करणों में यह नहीं पाया जाता, जैसे वसिष्ठसंहिता में। वसिष्ठधर्मसूत्र के पाठ पर भी पूर्णतः विश्वास नहीं किया जा सकता और उसे आधार मान कर कोई निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत नहीं हो सकता।[२]

कामन्दकीय नीतिशास्त्र में भी 'मानवाः' नाम से दो बार उद्धरण आये हैं। इससे भी मानवधर्मसूत्रके अस्तित्व की जो संभावना की गयी है वह तथ्य से परे है, क्योंकि कामन्दकीय नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र पर आधारित है और अर्थशास्त्र में 'मानवाः' नाम से आये हुए उद्धरणों की शैली ही उसमें अपनायी गयी है। अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'मानवाः' का संबन्ध मानवधर्मसूत्र या मानवशाखा से जोड़ना भी संभव नहीं है।[३]

गौतमधर्मसूत्र और शांखायनगृह्यसूत्र जैसी प्राचीन रचनाओं में मनु के जो उद्धरण आते हैं उनसे वर्तमान मनुस्मृति की अपेक्षा प्राचीन मानवधर्मसूत्र का निर्देश होना भी निश्चित नहीं माना जा सकता। बौधायनधर्मसूत्र में आये हुए उद्धरण भी अधिकांशतः उस प्रश्न में हैं, जिन्हें बाद में जोड़ा गया माना गया है, अर्थात् चतुर्थ प्रश्न

१- द्र० सुरेशचन्द्र बनर्जी, धर्मसूत्राज़,ओरि० एण्ड डेव०, पृ० ४०

२- तत्रैव ।

३- डॉ० रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ४६

में । डॉ० रामगोपाल ने मानवधर्मसूत्र के अस्तित्व के विरोध में यह भी तर्क दिया है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र ने कहीं भी मनु के विचारों का उद्धरण नहीं दिया है, जबकि अन्य आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं। यदि मानवधर्मसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का अस्तित्व रहा होता, तो आपस्तम्ब ने उससे निश्चय ही उद्धरण दिये होते।[१] अपरं च, वसिष्ठधर्मसूत्र में मनु के नाम से जो पद्य उद्धृत हैं उनका मानवश्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र के साथ तुलनात्मक परीक्षण करने पर कोई संगति नहीं मिलती है।

मानवधर्मसूत्र की कल्पना का एक आकर्षक आधार बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी शाखा के सम्पूर्ण कल्प का पाया जाना है। किन्तु इस सादृश्य के आधार पर निष्कर्ष निकालना पूर्णतः विश्वसनीय नहीं हो सकता, क्योंकि सभी सूत्रचरणों के कल्पों में सभी प्रकार के सूत्र उपलब्ध नहीं हैं ओर यह आवश्यक नहीं था कि सभी चरणों के अपने पृथक् धर्मसूत्र हों। इसका कारण यह था कि धर्मसूत्र सामान्य व्यावहारिक नियमों से संबद्ध होते थे ओर उनमें भेद की गुंजाइश कम थी। वर्णों, आश्रमों, राजा के कर्त्तव्य, न्याय, दण्डविधि तथा उत्तराधिकार के नियमों में सूत्रचरण के भेद होने मात्र से भिन्नता होनी आवश्यक नहीं थी। ये नियम सार्वजनीन थे और इनके लिए पृथक् धर्मसूत्र की आवश्यकता नहीं रही होगी। धर्मसूत्रों में विवेचित सामान्य नियमों से उस समय के आर्य परिचित थे और उनके लिए अनेक धर्मसूत्रों की रचना व्यर्थ थी।

डॉ० रामगोपाल ने महामहोपाध्याय काणे के इस मत की उचित रूप में ही आलोचना की है कि धर्मसूत्रों का विकास दक्षिण भारत में हुआ, उत्तर भारत में उसकी आवश्यकता नहीं थी।[२] वस्तुतः, यह विश्वसनीय नहीं है कि देश की संस्कृति के केन्द्र-स्थल में सांस्कृतिक ग्रन्थों की रचना न होकर दूर और अलग-थलग स्थानों में हुई हो।[३] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानवधर्मसूत्र का अस्तित्व प्रमाणित करने के

१- शांखायनगृह्यसूत्र, २।१६।१

२- द्र० डा० रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ५०

"Apastamba's silence on the contribution of Manava school to Smarta Dharma seems to go aginst the existence of Manavasutra."

३- तदेव, पृ० ५२

लिए दिये गये तर्क सबल एवं पर्याप्त नहीं हैं और जब तक इसके लिए पर्याप्त सामग्री या पाण्डुलिपियाँ नहीं प्राप्त होतीं तब तक यह विवाद बना रहेगा।

अध्याय २

धर्मसूत्रों में धर्म और दर्शन

'बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दूरनुगा गतिः'।

- बौधायनधर्मसूत्र, १।१।१३

धर्मससूत्रों के परिप्रेक्ष्य में धर्म की व्याख्या करना सरल नहीं है। हिन्दू संस्कृति में धर्म अत्यन्त व्यापक अर्थ का अभिव्यंजक है। यह केवल मनुष्य की ईश्वर या परम सत्ता के प्रति संबन्धों की स्थापना करने वाली प्रक्रिया ही नहीं है, अपितु उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व, क्रियाओं, आकांक्षाओं और भावनाओं को दिशा देने वाली व्यावहारिक व्यवस्था भी है। धर्म का आध्यात्मिक पक्ष के साथ-साथ लौकिक पक्ष भी है और व्यक्तिगत पक्ष के साथ-साथ सामाजिक पक्ष भी है। इस प्रकार धर्म का संबन्ध व्यक्ति के लोक और परलोक दोनो से है। धर्म की प्रचलित परिभाषाओं से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है।

धर्म शब्द धृ धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है धारण करना, बनाये रखना, पुष्ट करना। यह व्यक्ति और विश्व को धारण करने वाला गुण है। धर्म किसी भी विद्यमान वस्तु का मूल तत्त्व भी है।[१] सामाजिक दृष्टि से धर्म मनुष्यों को संगठित

१- धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
द्र० डॉ०राधाकृष्णन् - "Every form of life, every group of men has its dharma, which is the law of being."- Hindu View of Life, p. 78.

करने वाली एक शक्ति भी है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में 'सभी सामाजिक संगठनों के मूल में कहीं न कहीं धर्म नाम की अद्‌भुत शक्ति काम करती है तथा अब तक मानवता की विभिन्न इकाइयों को संगठित करने वाली सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा इसी शक्ति से प्राप्त होती है।'[१] प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुर्खीम भी धर्म को विश्वासों और आचारों की ऐसी एकीकृत व्यवस्था मानते हैं जो एक समुदाय को परस्पर बाँधती है।[२] मालिनोविस्की नाम के विद्वान् ने धर्म को आस्थाओं की परम्परा मानने के साथ-साथ इसे वैयक्तिक अनुभव की भी संज्ञा दी है।[३]

डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'धर्म परम मूल्यों में विश्वास का और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक है।[४] उनके अनुसार दर्शन के समान ही धर्म हमारे समग्र अनुभवों की व्याख्या का एक प्रयास है और ये अनुभव विविध प्रकार के होते हैं, सम्पूर्ण जगत् से, प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा अधीत प्रकृति से, व्यक्तियों से, उनके विचारों से, अनुभवों , इच्छाओं और निर्णयों से संबद्ध होते हैं, उनके संबन्ध मनोविज्ञान और इतिहास से होते हैं।[५]

जिज्ञासा मनुष्य का स्वभाव है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में 'मनुष्य प्रकृति की विशाल दृश्यावली के पीछे कार्यरत शक्ति को समझना चाहता है।[६] वह इन्द्रियों की सीमा से बाहर जाना चाहता है। वह इन्द्रियों से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह इनसे भी परे जाना चाहता है।' इस प्रकार धर्म का एक पारलौकिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी है। परम सत्ता, ईश्वर या देवों के विषय में आस्था तथा उसके अनुकूल आचरण सर्वत्र

१- धर्मतत्त्व, रामकृष्णशिवानन्दस्मृतिग्रन्थमाला, सं० ७०, पृ० १

२- Religion is the unified system of beliefs and practices relative to sacred things which unite into one single moral community ...
- Emile Durkheim, *The Elementary Forms of the Religious Life*, p.47

३- Religion is a mode of action as well as system of beliefs, and a sociological phenomena as well as a personal experience.
Magic, Science and Religion and other Essays p . 24

४- धर्म और समाज, पृ० १६

५- डॉ० राधाकृष्णन्, रिकवरी ऑफ फेथ, पृ० ७५

६- धर्मतत्त्व, पृ० ५

धर्म का प्रमुख अंग है। कतिपय विद्वानों ने धर्म को अतिमानवीय शक्तियों में विश्वास और उसके अनुकूल आचरण की प्रणाली के रूप में ग्रहण किया है।[१] जेम्स फ्रेजर धर्म से ऐसी शक्तियों के प्रसाधन और संराधन का अर्थ लेते हैं, जिनके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति के घटनाक्रम तथा मनुष्य के जीवन का निर्देशन तथा शासन करती हैं।[२] किन्तु धर्मसूत्रों के सन्दर्भ में धर्म की उपर्युक्त परिभाषाएँ एकांगी सिद्ध होती हैं, यह आगे आने वाले विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

वैदिक साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'धर्म' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न कालों में परिबृंहित होता गया है। ऋग्वेद से लेकर धर्मसूत्रों तक इस शब्द के अर्थविकास का एक लम्बा इतिहास है। महामहोपाध्याय काणे ने अपने प्रख्यात धर्मशास्त्र के इतिहास के आरम्भ में इस अर्थविकास की रूपरेखा प्रस्तुत की है। संक्षेप में, ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग विशेषण और संज्ञा के रूप में , प्रायः नपुंसकलिङ्ग में 'धर्मन्' के रूप में हुआ है।[३] कुछ स्थलों पर पुल्लिङ्ग में भी इसका प्रयोग है।[४] सामान्यतः इसका अर्थ धार्मिक विधि या कर्मकाण्ड है। विशेषतः यज्ञ की विधियों या व्यवस्थाओं की ओर 'धर्म' शब्द द्वारा इंगित किया गया है।[५] 'प्रथमा धर्मा' (ऋ०३।१७।१) तथा 'सनता धर्माणि' (ऋ०३।३।१) भी इसी अर्थ के व्यंजक प्रतीत होते हैं। वाजसनेयिसंहिता में भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्रायः इन्हीं अर्थो में हुआ है।

अथर्ववेद[६] में 'धर्म' शब्द पुण्यफल या 'धार्मिक क्रियाओं से अर्जित गुण' के

१- "A religion is a more or less coherent system of beliefs and practices concerning a supernatural order of being, forces, places or other entities." – Johnson, *A Systematic Introduction to Sociology, p.392*

२- "By religion . . . I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of human life." -Frazer, *Golden Bough, p. 450.*

३- म०म० काणे के अनुसार इसका प्रयोग ऋग्वेद में ५६ बार हुआ है।
- हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड १, पृ०१

४- जैसे ऋ० १।१८७।१, १०।६२।२ , १०।२१।३

५- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। - ऋ० १०।६०।१६

६- ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। - अथर्ववेद, ६।६।१७

अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार धर्म का यह अर्थ प्रभाकर के मतानुसार प्रचलित परिभाषा 'कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयस हेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः'[1] के निकट है। ऐतरेयब्राह्मण इसका प्रयोग कर्तव्यों के अर्थ में करता है।[2] उपनिषदों के काल तक धर्म शब्द का अर्थ वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों एवम् आचारों के सन्निकट पहुँच जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में [3] 'धर्म' शब्द से आश्रमों के धर्म का अभिप्राय है-

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।'

तैत्तिरीयोपनिषद् जब 'धर्मं चर' का उपदेश देता है, तो उसका भी तात्पर्य आचार-नियमों और कर्तव्यों से ही है।[4]

आचार्य जैमिनि ने पूर्वमीमांसासूत्र[5] में धर्म की यह प्रख्यात परिभाषा दी है- 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् वेद में निर्दिष्ट प्रेरक नियमों का आचरण ही धर्म है। इस प्रकार धर्म का आधार वेद है और इसकी प्रमुख विशेषता है वेद द्वारा विहित होने से प्रेरक होना। वैशेषिकसूत्र के आरम्भ में धर्म की व्याख्या के प्रसंग में कहा गया है- 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे जीवन में आनन्द और निःश्रेयस् की प्राप्ति हो वह धर्म है।

धर्मसूत्रों की दृष्टि में धर्म आचरण की वस्तु है और उसका संबन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। आपस्तम्ब के शब्दों में 'वेद के अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लेने

१- द्र० गौ ध सू १।१।१ की व्याख्या में हरदत्त।

२- धर्मस्य गोप्ताऽजनीति तमध्युत्कृष्टमेवं विदमिषेक्ष्यन्नेतयार्चाभिमन्त्रयेत।
-ऐतरेयब्राह्मण, ७।१७

३- छान्दोग्योपनिषद् २।२३

४- तैत्तिरीयोपनिषद्, १।११ 'धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनम्'- शङ्कराचार्य।

५- जैमिनि, पूर्वमीमांसासूत्र, १।१।२

से ही धर्म का बोध करना कठिन है, किन्तु वेद द्वारा लक्षित कर्मों के आचरण से धर्म का पालन सरलता से होता है।[१] यह परिभाषा स्पष्टतः पूर्वमीमांसासूत्र की उपर्युक्त परिभाषा के निकट है। वसिष्ठ के अनुसार 'धर्म द्वारा जिन क्रियाओं का विधान किया जाता है वे ऐसी हैं कि उनका कारण नहीं दिखायी पड़ता।'[२] दूसरी ओर धर्म के लौकिक और पारलौकिक फलों का संकेत करते हुए आपस्तम्बधर्मसूत्र में[३] कहा गया है: 'जिस प्रकार फल के लिए आम का पेड़ लगाया जाता है, किन्तु उससे छाया तथा सुगन्धि भी प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर लौकिक फल भी गौण रूप से उत्पन्न होते हैं। यदि धर्मों के आचरण से लौकिक फल नहीं भी उत्पन्न होते तो भी धर्म की हानि नहीं होती।' बौधायन ने धर्म के चार भेदों का उल्लेख कर उनसे यज्ञक्रिया का ही अर्थ लिया है, अर्थात् ऐष्टिक, पशुयज्ञ, सोमयज्ञ और दर्वीहोम।[४]

धर्म के प्रयोजन के विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र यह चेतावनी देता है कि 'धर्म का आचरण केवल सांसारिक उद्देश्य से अर्थात् यश, लाभ, सम्मान के लिए नहीं करना चाहिए, अन्यथा धर्म फल देने के समय निष्फल हो जाता है।[५] धर्मसूत्र धर्म के आचरण से पुण्य या स्वर्ग की प्राप्ति और उवके उल्लंघन या अधर्माचरण से नरक में पतन का बार-बार उल्लेख करते हैं।[६] धर्म ही मनुष्य का सच्चा साथी है। मनुष्य कहीं भी जाये धर्म ही उसके पीछे जाता है।[७]

१- कृच्छा धर्मसमाप्तिस्समाम्नानेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते।
-आपस्तम्बधर्मसूत्र,२।२६।१२

२- अगृह्यमाणकारणो धर्मः। - वसिष्ठधर्मसूत्र, १।७

३- तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते।
नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति। - आपस्तम्बधर्मसूत्र,१।२७।३-४

४- तस्य ह वा एतस्य धर्मस्य चतुर्धा भेदमेक आहुरदृष्टत्वात् ये चत्वार इति कर्मवादः।
ऐष्टिक पाशुकसौमिकदार्वीहोमाणाम्। - बौ २।११।११-१२

५- नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत्। निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति। -आप, १।२०।१,२

६- आप १।१३।४, १।२१।११, २।२।२

७- धर्म एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचनगामिनम्।
नन्वसारे नृलोकेऽस्मिन् धर्मं कुरुत माचिरम्।। - विष्णुधर्मसूत्र, २०।४०

धर्मसूत्र धर्म को हिन्दू जीवनदर्शन के चार पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- में प्रधान मानते हैं। वे धर्म के अनुसार ही अर्थोपार्जन का उपदेश करते हैं[१] और उन्हीं सुखों के भोग को विहित करते हैं जो धर्म द्वारा निषिद्ध नहीं हैं।[२] धर्मसूत्रों की दृष्टि में धर्म एक अनुशासन है, एक ऐसे जीवन का विधायक है जो मनुष्य को लौकिक जीवन में निरन्तर असद् से सद् की ओर प्रेरित करता है, मर्त्यता से अमरत्व की ओर उन्मुख करता है और उसमें वैयक्तिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन में अपने और दूसरों के कल्याण के लिए कर्म करने की प्रवृत्ति जगाता है। धर्मसूत्रों में धर्म का अर्थ व्यापक है यह आगे आने वाले विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

धर्मसूत्रों के अनुसार धर्म के स्रोत

सभी धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों ने धर्म के मूल अथवा स्रोत या उपादान का उल्लेख किया है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेद धर्म के मूल अथवा प्रमाण हैं और उन वेदों के ज्ञाता मनु आदि की स्मृति तथा धर्मानुकूल आचरण भी प्रमाण हैं।[३] बौधायनधर्मसूत्र यह निर्देश देता है कि धर्मों का उपदेश वेद की प्रत्येक शाखा में किया गया हैं, इस धर्मसूत्र का लक्ष्य वेदप्रतिपादित धर्म की व्याख्या करना है। स्मृति में प्रतिपादित धर्म द्वितीय स्थान पर आता है और उसके अनन्तर तीसरे प्रकार का धर्म शिष्टागम अर्थात् शिष्ट जनों का आचरण है।[४] सामयाचारिक धर्मों की व्याख्या करते हुए आपस्तम्ब धर्मज्ञों के समय अर्थात् व्यवस्था को तथा वेदों को प्रमाण मानते है। वे वेद को धर्मज्ञों के लिए भी प्रमाण मानकर अन्य पुरुषों के लिए धर्मज्ञों को प्रमाण मानते हैं, और इस प्रकार धर्म का मूल स्रोत वेद ही है।[५] वसिष्ठधर्मसूत्र[६] में भी श्रुति, स्मृति

१- योक्ता च धर्मयुक्तेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च।- आप २।२०।१८

२- भोक्ता च धर्मविप्रतिषिद्धान् भोगान्।- आप २।२०।२२

३- वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। - गौ, १।१।१-२

४- उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्। तस्याऽनुव्याख्यास्यामः। स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः। - बौ , १।१।१-४

५- आप , १।१।२-३

६- श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। - व , १।४-५

और शिष्ट जन के आचरण को प्रमाण या धर्म का स्रोत कहा गया है। प्रथमतः श्रुति प्रमाण है, उसके अभाव में स्मृति और इन दोनो के अभाव में शिष्टाचार प्रमाण है। हिरण्यकेशिधर्मसूत्र में आपस्तम्ब के ही शब्दों में वेद को प्रमाण कहा गया है।[1] हारीत भी धर्म को श्रुतिप्रमाणक मानते हैं।[2] इस प्रकार धर्मसूत्रों की दृष्टि में धर्म के उपादान वेद, स्मृति और शिष्ट जन के आचार हैं।

वेद

हिन्दू धर्म का मूल आधार वेद है। अपौरुषेय वेद को आश्रित कर ही सभी प्रकार की धारणाएँ विकसित हुई हैं। धर्म के प्रमाण के रूप में वेद सर्वोपरि है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सभी आस्तिक दर्शनों ने वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की है और अनेक सम्प्रदायों ने प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ आगम को प्रमाण माना है । आगम के अन्तर्गत भी वेद प्रधान है। मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद के अन्तर्गत देवों की स्तुतियाँ और यज्ञक्रियाएँ ही प्रमुख रूप में विवेचित हैं और मनुष्य को परमात्मा एवं परलोक की ओर ही अधिक उन्मुख किया गया है। आरण्यकों और उपनिषदों का दर्शन परम तत्त्व के अन्वेषण को ही प्रमुख विषय बनाता है, किन्तु उनमें भी मनुष्य के यथार्थ एवं नीतिशास्त्रीय पक्ष को प्रचुर आलोक मिला है तथा वेदों में मनुष्य के लौकिक कर्त्तव्यों को लक्ष्य कर कहे गये वचन ही धर्मसूत्रों में विवेचित व्यापक धर्म का स्वरूप ग्रहण करते हैं।

पवित्र धर्मग्रन्थों या ईश्वरप्रकाशित ज्ञान में आस्था प्रायः सभी धर्मों का प्रमुख तत्त्व है। धर्म का संबन्ध तर्क से नहीं, आस्था से है। कतिपय परम्पराएँ, मान्यताएँ धर्म का रूप ग्रहण कर लेती हैं। जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन् का[3] कथन है, अनैतिहासिक आधार या आध्यात्मिक यथार्थता से शून्य विश्वासों में धर्म की जड़ें रहती हैं। यदि किसी धर्म को इस तथ्य का ज्ञान हो जाय तो वह अपना अस्तित्व नहीं बचा सकता।

१- धर्मज्ञसमयः। प्रमाणं वेदाः।- सत्या० (हिरण्य०) २६।१।२-३

२- श्रुतिप्रमाणको धर्मः। - हारीत ।

३- डॉ० राधाकृष्णन्, डिस्कवरी आफ फेथ, पृ० १७

रूढि, परम्परा और मिथक से विहीन कर देने पर धर्म खाली हो जाता है।

गौतमधर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त ने इस सन्दर्भ में यह और भी स्पष्ट किया है कि चारो वेद प्रमाण हैं। वेद पर आश्रित उपनयनादि ही धर्म हैं।[१] गोविन्दस्वामी के शब्दों में अतीन्द्रिय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले नित्य ग्रन्थराशि का नाम वेद है। उसके प्रतिपाद्य को धर्म कहा गया है।[२] आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।३ की व्याख्या में हरदत्त का कथन है कि वेद ही धर्म और अधर्म का मूल प्रमाण है। वेद नित्य और निर्दोष है। उसके विषय में उपालम्भ संभव नहीं है। शब्द स्वतः प्रमाण है।[३]

भारतीय दर्शनसम्प्रदायों में विशेषतः मीमांसा ने शब्द की नित्यता पर विशेष बल दिया है, किन्तु नैयायिक आप्त के प्रामाण्य के कारण ही वेद का प्रामाण्य मानते हैं।[४] सांख्यदर्शन भी वेद को अपौरुषेय और स्वतःप्रमाण मानता है। वेदान्तदर्शन ब्रह्म को वेद की योनि मानता है।[५] ब्रह्म वेद का कर्त्ता नहीं है, किन्तु वेद विना किसी प्रयत्न के ब्रह्म से उद्‌भूत है। ऋषियों में वेद की वाणी प्रविष्ट हुई और वे उस ज्ञान के द्रष्टा मात्र हैं। ऋष् गमनार्थक धातु से औणादिक इन् प्रत्यय से निष्पन्न 'ऋषि' शब्द का अर्थ है 'मन्त्रद्रष्टा'। ऋषियों की इसी मन्त्र-दृष्टि की ओर संकेत करते हुए यास्क कहते हैं- 'साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः'।[६] स्वयं ऋग्वेद में ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी का

१- वेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः। --- चत्वारो वेदा ऋग्यजुःसामात्मकास्त एव धर्मे प्रमाणम्। न योगिप्रत्यक्षं नानुमानं नार्थापत्तिर्न शाक्याागमः। तेन तन्मूला एवोपनयनादयो धर्मा वक्ष्यन्ते। - गौ , १।१।१ की व्याख्या ।

२- अतीन्द्रियार्थप्रतिपादको नित्या ग्रन्थराशिर्वेदः। तत्प्रतिपाद्यो धर्मः।' बौ १।१।१ की व्याख्या।

३- वेदा एव मूलप्रमाणं धर्माधर्मयोः। न च नित्यनिर्दोषेषु वेदेषूक्तोपालम्भसम्भवः। स्वतः प्रमाणस्य हि शब्दस्य न वक्तृदोषनिबन्धनमप्रामाण्यम्। - आप १।१।३ की हरदत्त की व्याख्या।

४- तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।- न्यायसूत्र, २।१।६८

५- शास्त्रयोनित्वात्।- ब्रह्मसूत्र, १।१।२

६- निरुक्त, १।६।२०

दूसरों द्वारा प्राप्त किया जाना उल्लिखित है[१] और वेद स्वयं भी अपनी नित्यता का प्रमाण प्रस्तुत करता है-

'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्।।

- ऋ०८।७५।६

तैत्तिरीयब्राह्मण के शब्दों में 'वाक् परमेश्वर का अविनाशी रूप है, यज्ञ का प्रथम निर्माण करने वाली, वेदों की माता तथा अमृत की नाभि है।[२]

ऋषियों के द्रष्टा होने का उल्लेख करते हुए योगिराज अरविन्द ने उनके द्वारा दृष्ट ज्ञान को शाश्वत, सत्य और अवैयक्तिक कहा है। वेद या श्रुति दैवी शब्द है, जो अनन्त से स्पन्दित होता हुआ मानव के अन्तःश्रोत्र में सुना जाता है और वह भी ऐसे मनुष्य के अन्तःश्रोत्र में जिसने स्वयं को उस ज्ञान के प्राप्तियोग्य बनाया है।[३] दृष्टि और श्रुति दोनो ही अन्तःस्फूर्ति से उद्भूत ईश्वरप्रकाशित ज्ञान के वाचक हैं। स्वामी विवेकानन्द[४] हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के मूल तत्त्वों में प्रथम तत्त्व वेदविषयक आस्था को स्वीकार करते हैं। वेद की नित्यता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं- 'वेद का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगाने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्यजाति

१- यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्याव्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते।।- ऋ० १०।७१।३

२- वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः। - तैत्तिरीयब्राह्मण, २।८।५

३- The Rishi was not the individual composer of the hymn, but the seer (drsta) of an eternal truth and an impersonal knowledge. The language of Veda itself is sruti, a rhythm not composed by the intellect but heard, a divine word that came vibrating out of the Infinite to the inner audience of the man who had previously made himself fit for the impersonal knowledge." - Sri Aurobindo, *On the Veda, p. 9*

४- हिन्दूधर्म, श्री रामकृष्णशिवानन्द-स्मृति-ग्रन्थमाला, सं० १७, रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० ८४

उसे भूल भी जाये तो भी वह नियम अपना कार्य करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् को चलाने वाले नियमों के संबन्ध में भी है।[१]

धर्मसूत्रों में वेदज्ञान की बार-बार प्रशंसा की गयी है। गौतम ध सू वेद को धर्म और श्रुति का मूल बताते हुए[२] अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद को जानने वाले श्रोत्रिय के वचन भी प्रमाण मानता है।[३] वसिष्ठ का भी कथन है कि वेदों का पूर्ण ज्ञान रखने वाले तीन या चार ब्राह्मण जो कुछ कहें वही धर्म समझना चाहिए।[४] बौधायनधर्मसूत्र में वेद के पारायण को अत्यन्त पवित्र करने वाला घोषित किया गया है।[५] किसी एक वेद का तीन बार विधिपूर्वक अध्ययन करने से पवित्रता प्राप्त होती है। आपस्तम्ब के अनुसार धर्म और अधर्म का ज्ञान वेद से ही होता है। ये दोनो स्वयं आकर अपना परिचय नहीं देते, देवता, गन्धर्व और पितृगण भी धर्माधर्म का उपदेश नहीं करते।[६] वेद से ही यह ज्ञान प्राप्त होता है, जो नित्य निर्दोष है। आप ध सू तो स्पष्ट शब्दों में उसी कर्मकाण्ड को प्रामाणिक और करणीय मानता है जिसका वेद में विधान है, उससे भिन्न को नहीं : 'तीन प्रकार की विद्याओं से सम्पन्न विद्वानों का मत है कि वेद ही परम प्रमाण हैं । इस कारण वेदों में व्रीहि, यव, यज्ञ-पशु, आज्य, दुग्ध, कपाल से तथा पत्नी के साथ, उच्च या मन्द स्वर से मन्त्रों का पाठ करते हुए जिन कर्मों के करने का विधान है उन्हें ही करना चाहिए और इस कारण उनके विपरीत आचरण का निर्देश करने वाले नियम प्रमाण नहीं हैं।'[७] वेदोक्त नियमों के अनुसार कर्म करने वाला पुत्र ही प्रशंसनीय है। वह

१- तदेव, पृ० २

२- तन्मूलत्वाद्धर्मस्य श्रुतेश्च ।- गौ , १।६।२०

३- असंभवे त्वेतेषां श्रोत्रियो वेदविच्छिष्टो विप्रतिपत्तौ यदाह। - तदेव ३।१०।४८

४- चत्वारो वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः।। - वसिष्ठधर्मसूत्र, ३।७

५- ऋग्यजुस्सामवेदानां वेदस्याऽन्यतमस्य वा।
पारायणं त्रिरभ्यस्येदनश्नन् सोऽतिपावनः।। -बौ , ४।५।२६

६-- न धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति ,
न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति।- आप० १।२०।६

७- आप , २।२३।६ त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते व्रीहियवपश्वाज्यपयःकपालपत्नीसम्बन्धान्युच्चैर्नीचैः कार्यमिति तैर्विरुद्ध आचारोऽप्रमाणमिति मन्यन्ते।।

अपने दिवंगत पूर्वजों के यज्ञ तथा सुख की वृद्धि करता है।[१] वसिष्ठधर्मसूत्र के २७ वें अध्याय में अनेक पद्यों में वेदज्ञान की प्रशंसा की गयी है- 'जैसे जलती हुई अग्नि हरे वृक्षों को भी जला देती है उसी प्रकार वेद की अग्नि दुष्कर्मों के पाप नष्ट कर देती है।[२] वेदज्ञान की पावन करने वाली शक्ति सौ से भी अधिक पापों का प्रभाव वैसे ही नष्ट कर देती है, जेसे अग्नि ईंधन को जला देती है। जिस ब्राह्मण को ऋग्वेद कण्ठस्थ है वह पापयुक्त नहीं होता, भले ही उसने तीनो लोकों का नाश कर दिया हो और सभी प्रकार के व्यक्तियों का अन्न खा लिया हो।[३] वसिष्ठ का यह विश्वास है कि वेद का ज्ञान होने पर अथवा वेद की शक्ति पर आस्था होने पर मनुष्य को पापकर्मों में किसी प्रकार का सुख नहीं मिल सकता।[४] वेदविहित नियमों के पालन को परम सुख का साधन बताते हुए अन्यत्र कहा गया हैः 'विना थके उन नियमों को करे, जिनका विधान वेद करते हैं, क्योंकि यदि उनका पालन सामर्थ्य के अनुसार करता है तो परम सुख की अवस्था प्राप्त करेगा।'[५]

धर्मसूत्र न केवल वेद को धर्म का मूल या प्रमाण मानते हैं, अपितु वेद की अलौकिक, पावन करने वाली तथा पापों को नष्ट करने वाली शक्ति के प्रति भी अत्यन्त आस्थावान् हैं। मन्त्रों में विद्यमान अद्भुत क्षमता तथा अदृष्ट फल के प्रति उन्हें कहीं सन्देह नहीं है। धर्मसूत्र पद-पद पर प्रत्येक क्रिया के साथ मन्त्रों का विधान तो करते ही हैं, उनमे जादुई शक्ति का एक प्रधान साधन मानते हैं। सभी धर्मसूत्रों ने वैदिक

१- ते शिष्टेषु कर्मसु वर्तमानाः पूर्वेषां साम्परायेण कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति।- आप , २।२४।३

२- यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदाग्निः कर्मजं दोषमात्मनः।।- व २७।२

३-- यद्यकार्यशतं साग्रं कृतं वेदश्च धार्यते।
सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम्।। - व, २७।१
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् भुञ्जानोऽपि यतस्ततः।
ऋग्वेदं पारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन।। - व २७।३

४- न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत्। - व, २७।४

५- वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्त्या प्राप्नोति परमां गतिम्।।- व , २७।८

मन्त्रों के जप को परम कल्याणकारी माना है, विशेषतः ॐकार तथा गायत्री का जप[१] सभी प्रकार के पाप का विनाश करने वाला माना गया है। बौधायन के अनुसार : 'जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर सविता देवता के गायत्री मन्त्र के प्रत्येक चरण का अलग-अलग , अर्द्धर्च-अर्द्धर्च का अलग-अलग और फिर सम्पूर्ण मन्त्र का तीन बार पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। जो ओंकार का ही तीन बार उच्चारण करता है, सह सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[२] ॐ अक्षर ब्रह्म है। ब्रह्म ही यह ज्योति है।[३] प्रणव ही ब्रह्म है। प्रणव का ही ध्यान करे।[४] वेद प्रणव से ही आरम्भ होते हैं। उनका अन्त भी प्रणव अर्थात् ॐ से होता है। प्रणव और व्याहृतियाँ नित्य तथा सनातन ब्रह्म हैं जो व्यक्ति नित्य ही ओंकार, सात व्याहृतियों तथा त्रिपदा गायत्री के उच्चारण में रत है, उसके लिए कोई भय नहीं रह जाता।[५] यही उक्ति आपस्तम्ब की भी है- 'ओंकार स्वर्ग का द्वार हे, अतः वेदाध्ययन ॐकार से आरम्भ करना चाहिए।'[६]

वसिष्ठधर्मसूत्र में ॐकार को वेद का सर्वोत्तम अंश, सर्वाधिक पवित्र करने वाला मन्त्र कहा गया है।[७] प्रतिदिन वेद का अध्ययन तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार महायज्ञों का अनुष्ठान शीघ्र ही घोर पापों को भी नष्ट कर देता है।[८] वेद की एक ऋचा

१- अपि वा सावित्रीं पच्छशोऽर्द्धर्चशस्ततः समस्तामित्येतामृचं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात् प्रमुच्यते। अपि वा व्याहृतीर्व्यस्ताः समस्ताश्चेतित्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात् पापात् प्रमुच्यते। -बौ , ४।४।६,७

२- अपि वा प्रणवमेव त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते।- बौ , ४।४।८

३- ओमिति ब्रह्म ब्रह्म वा एष ज्योतिः य एष ज्योतिः य एष तर्पयत्येष वेदा स एव तर्पयति वेद्यमेवैतद्य एष तर्पयति एवमेवैष आत्मानं तर्पयत्यात्मने नमस्करोत्यात्मा ब्रह्माऽऽत्मा ज्योतिः। - बौ , २।१७।३६

४- प्रणवात्मको वेदः। प्रणवो ब्रह्म प्रणवं ध्यायेत।- बौ , २।१८।३१,३२

५- बौ , ४।१।२७, व० २५।६, २५।१०

६- ओंकारस्वर्गद्वार तस्मात् ब्रह्माऽध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्येत।- आप १।१३।६

७- एकाक्षरं परं ब्रह्म पावनं परमं स्मृतम्।- व , २५।११।२

८- वेदाभ्यासोन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रियाक्रमः। नाशयत्याशु पापानि महापातकनान्यपि। - व २७।७

का उच्चारण भी तपस्या के समान माना गया है। वसिष्ठ के शब्दों में 'यदि कोई संन्यासी फल, मूल खाकर वन में तप करता है और गृहस्थ एक ऋचा का ही उच्चारण करता है तो दोनो कर्मों का पुण्य समान होता है।[१] गायत्री-जप के पुण्य की भी धर्मसूत्रों में प्रशंसा की गयी है। बौधायन के अनुसार जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर सविता देवता के गायत्री मन्त्र के प्रत्येक चरण का अलग-अलग , अर्द्धर्च-अर्द्धर्च का अलग-अलग और फिर सम्पूर्ण मन्त्र का तीन बार पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[२] वसिष्ठ के अनुसार यदि सभी पापों का दोष एक व्यक्ति पर आ पड़े तो दस हजार बार गायत्री मन्त्र का जप करने से शुद्धि हो जाती है।[३] सभी धर्मसूत्रों ने प्रायश्चित्त के प्रकरण में विभिन्न वेदों के मन्त्रों को पापमुक्त करने वाला बताया है और इन मन्त्रों के जप का विधान किया है। वेद के अध्ययन के प्रति धर्मसूत्रों का विशेष आग्रह है। न केवल ब्रह्मचर्य अपितु गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम में भी स्वाध्याय का विधान किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम इस वेद के ज्ञान की आधारशिला के रूप में था, तो गृहस्थाश्रम उसके व्यवहार और आचरण का जीवन था। वानप्रस्थ्य और संन्यास पूर्णतः वेदज्ञान के परम प्रयोजन को सिद्ध करने का जीवन था। अतएव धर्मसूत्रीय व्यवस्था का आधार और केन्द्र वेद ही हैं।

उपर्युक्त विवेचनों से धर्मसूत्रों की दृष्टि में वेद का महत्त्व तीन प्रकार से दिखायी पड़ता है:-

१- वेद धर्म का मूल है, प्रमाण है और आदि स्रोत है। सभी धार्मिक क्रियाएँ वेद से विकसित हैं और वेद के मन्त्र द्वारा की गयी धर्मक्रियाएँ ही प्रामाणिक हैं।
२- वेद का ज्ञान प्राप्त करने वाले धर्म के ज्ञान से सम्पन्न होते हैं और आचार-विषयक प्रश्नों पर उनके वेदज्ञान पर आधारित निर्णय मानने चाहिए।

१- तपस्तपति योऽरण्ये मुनिर्मूलफलाशनः।
ऋचमेकां च योऽधीते तच्च तानि च तत्समम्।। -व २७।५

२- बौ ४।४।६

३- सर्वेषामेव पापानां सङ्करे समुपस्थिते।
अभ्यासो दशसाहस्रः सावित्र्याः शोधनं महत्।। - व २५।१२

३- वेद के मन्त्रों का अदृष्ट फल होता है। वेद स्वतः पवित्र करने वाला है। उसके जप से अलौकिक आत्मशक्ति मिलती है और दुष्कर्म के पाप नष्ट हो जाते हैं। वैदिक मन्त्रों का जप और स्वाध्याय दैनिक कर्त्तव्य है। वेदमन्त्र अद्‌भुत शक्ति से सम्पन्न हैं।

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म पूर्णतः वैदिक है। प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने वैदिक ऋचाओं, मन्त्रों या ब्राह्मण वाक्यों के उद्धरण दिये हैं। धर्मसूत्र का कर्मकाण्ड साक्षात् वैदिक विधानों पर आश्रित है। उसकी दृष्टि में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन भी एक यज्ञ है, जो गृह्याग्नि की वेदि के चारो ओर सम्पन्न होता है। धर्मसूत्रों के लिए वेद का सर्वोच्च महत्त्व है। श्रुति से विहित कर्म ही सर्वोपरि हैं। श्रुति से जो समर्थित नहीं वह धर्म नहीं है। वेद की अकुण्ठित शक्ति पर धर्मसूत्रों को पूर्ण आस्था है। इनमें विवेचित धर्मनियमों को वेद के धरातल से अलग करना असंभव है।

स्मृति

धर्म का दूसरा प्रमुख स्रोत स्मृति है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं, 'स्मृति' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है और यह एक ओर श्रुति से भिन्न वाङ्मय का बोधक है तो दूसरी ओर धर्मशास्त्र का पर्यायवाची है। स्मृति परम्परा से चले आने वाला ज्ञान है जो वेद पर ही आधृत है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेद के विद्वान् मनु आदि की स्मृति प्रमाण है।[1] बौधायनधर्मसूत्र के भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने स्मृति पर आधारित धर्म को पाँच प्रकार का बताया है- वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म और निमित्तधर्म। इस प्रकार स्मार्त धर्म सीधे धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म ही है। वस्तुतः वे स्मृति नाम के ग्रन्थ में उपदिष्ट धर्म का ही विवेचन करते हैं।[2] डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'स्मृति का शब्दार्थ उस वस्तु की ओर

१- तद्विदां वेदविदां मन्वादीनां या स्मृतिस्तत्प्रणीतं धर्मशास्त्रं यच्च तेषां शीलमनुष्ठानं ते स्मृतिशीले अस्मदादीनां प्रमाणम्। - हरदत्त, गौ १।१२ का भाष्य ।

२- अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। तदभिव्यंजको ग्रन्थः स्मृतिशब्देनोपचर्यते। स्मार्तः स्मृत्युपदिष्टः। - स च स्मार्तो धर्मः पञ्चविधो भवति। वर्णधर्मः आश्रमधर्मः वर्णाश्रमधर्मः गुणधर्मः निमित्तधर्मश्चेति। - बौ १।१।३ की व्याख्या।

संकेत करता है, जो वेदों में निष्णात ऋषियों को याद रह गयी थी। स्मृति का कोई नियम जिसके लिए कोई वैदिक शब्द ढूँढा जा सके, वेद की भाँति प्रामाणिक बन जाता है। यदि कहीं श्रुति और स्मृति में विरोध हो तो वहाँ श्रुति को प्रामाणिक स्वीकार किया जायगा।[१] स्मृतियों का प्रामाण्य वेद के अधीन है इसका उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : 'ये ऋषिलिखित ग्रन्थ है, पर इनका प्रामाण्य वेदान्त के अधीन है, क्योंकि ये हमारे लिए वैसे ही हैं, जैसे दूसरे धर्म वालों के लिए उनके शास्त्र। हम यह मानते हैं कि विशेष ऋषियों ने ये स्मृतियाँ रची हैं। इस दृष्टि से अन्यान्य धर्मों के शास्त्रों का जैसा प्रामाण्य है, स्मृतियों का भी वैसा ही है, पर स्मृतियाँ हमारा चरम प्रमाण नहीं। यदि स्मृतियों का कोई अंश वेदान्त का विरोधी हो तो उसे त्यागना पड़ेगा, उसका कोई प्रामाण्य नहीं रहेगा।[२]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में श्रुति और स्मृति के विरोध होने पर श्रुति का प्रमाण ही प्रबल माना गया है।[३] सभी धर्मसूत्र दूसरे धर्मशास्त्रकारों को प्रमाण के रूप में उद्धृत भी करते हैं। गौतम ने अन्य आचार्यों का उल्लेख 'एकेषाम्'[४] या 'एके'[५] या 'आचार्याः'[६] कहकर दिया है। बौधायनधर्मसूत्र औपजंघनि, कात्य, काश्यप, प्रजापति, मनु, मौद्गल्य और हारीत का निर्देश करता है, तो आपस्तम्बधर्मसूत्र दस आचार्यों के नाम गिनाता है- एक, कण्व,काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु एवं हारीत। अनेक धर्मसूत्रों में दूसरे धर्मशास्त्रकारों के पद्य भी 'अथाप्युदाहरन्ति'

१- द्र० डॉ० राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, अनु० विराज़, पृ० १२६।
इस प्रसंग में डॉ० राधाकृष्णन् ने कुमारिल के मत का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार ये स्मृतियाँ मानवीय रचयिताओं से निःसृत हैं और वेदों की भाँति शाश्वत नहीं हैं, इसलिए उन्हें स्वतःप्रमाण नहीं माना जा सकता।

२- स्वामी विवेकानन्द, हिन्दूधर्म, पृ० २६,
द्र० गौ १।१।५ 'तुल्यबलविरोधे विकल्पः' तथा जाबालि -
'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा।।' - हरदत्त द्वारा गौ १।१।५ के भाष्य में उद्धृत।

३- विप्रतिषेधे श्रुतिलक्षणं बलीयः।- आप० १।६।३०।६

४- गौ ३।१०।१७, ३८

५- गौ १।२।१५, १।३।१, १।४।१७, १।७।२३

६- गौ १।३।३५, १।४।१८

कहकर उद्धृत किये गये हैं और इस प्रकार धर्मसूत्र स्मृति से, परम्पराप्राप्त, लोक-प्रचलित एवं सर्वमान्य विपुल धर्मज्ञानराशि से प्रचुर सामग्री ग्रहण करते हैं। धर्मसूत्रों का 'स्मार्त' नाम स्पष्टतः इस तथ्य का निर्देश करता है कि ये स्मृति पर आधृत हैं। वस्तुतः मानव से संबद्ध धर्म का यथार्थ पक्ष स्मृति के धर्म का ही विकसित रूप है और यह जीवन के सभी पक्षों को समाविष्ट करता है। स्मृति और वेद के पारस्परिक संबन्ध को स्पष्ट करते हुए डॉ० काणे कहते है। : ' कालान्तर में धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतलायी गयीं उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप में पाया जाता हैं। धर्मशास्त्रों ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है वह उचित ही कहा हैं किन्तु यह सत्य है कि वेद धर्मसंबन्धी निबन्ध नहीं हैं। वहाँ तो धर्मसम्बन्धी बातें प्रसंगवश आती गयी हैं। वास्तव में धर्मशास्त्र-संबन्धी विषयों के यथातथ्य एवं नियमनिष्ठ विवेचन के लिए हमें स्मृतियों की ओर ही झुकना पड़ता है।'[1] महामहोपाध्याय काणे का यह कथन पूर्णतः संगत नहीं है कि वेद में धर्मसम्बन्धी निबन्ध नहीं है, कारण हिन्दू धर्म अत्यन्त व्यापक है और वेद एवं स्मृति में विवेचित धर्मों को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन है। स्मृति वेद के धर्म के एक पक्ष को प्रस्तुत करती है और उसका मूल भी वेद ही है। आपस्तम्बधर्मसूत्र आरम्भ में ही सामयाचारिक धर्मों के रूप में स्मृति की ओर निर्देश करता है। पुरुषकृत व्यवस्था को समय कहा गया है।[2] उसको आश्रित कर जिन आचारों का विधान किया गया है वे सामयाचारिक धर्म हैं। यह पौरुषेयी व्यवस्था स्मृतिकारों की ही व्यवस्था है, इसे स्पष्ट करते हुए आपस्तम्ब ने कहा है- 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' अर्थात् धर्म के ज्ञाताओं मनु आदि की व्यवस्थाएँ इन आचारों के लिए प्रमाण हैं।[3]

हारीतस्मृति में श्रुति और स्मृति को ब्राह्मणों के लिए दो देवनिर्मित नेत्र कहा गया है। इनमें से एक से रहित काना और दोनो से हीन व्यक्ति अन्धा होता है-

श्रुतिस्मृती च विप्राणां चक्षुषी देवनिर्मिते।
काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः।।-हारीतस्मृति, १।२४

१- धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० ७

२- पौरुषेयी व्यवस्था समयः।-- - समयमूला आचारास्समयाचाराः, तेषु भवाः सामयाचारिकाः।
- हरदत्त, आप १।१।१ की टीका।

३- आप १।१।२

शिष्टाचार

शिष्टजनों का आचार भी धर्म का प्रमाण या स्रोत है और सभी धर्मसूत्रों ने इसे मान्यता दी है। श्रेष्ठ और शिष्ट मनुष्य स्वभाव, संस्कार एवं वेदाध्ययन के प्रभाव से धर्मात्मा होते हैं। उनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर उन्मुख होती है। वे लोक के लिए आदर्श बन जाते हैं। ऐसे महापुरुषों का आचरण भी धर्म का स्रोत है किन्तु यह आवश्यक है कि वह आचरण शास्त्रों के उपदेश के अनुकूल हो। इस प्रकार के शिष्टजन समाज में अपने आचार द्वारा अधिक जीवन्त रूप में धर्म के प्रेरक होते हैं। शिष्टाचार धर्म के नितान्त व्यावहारिक पक्ष का प्रेरक स्रोत है, क्योंकि धर्म आचरण पर बल देता है, विश्वास मात्र पर नहीं।[१] धर्मसूत्रों में भी वेद के ज्ञान को भी तब तक व्यर्थ माना गया है जब तक उसका आचरण न हो।[२] महाभारत के एक प्रख्यात श्लोक में तो वेदों और स्मृतियों की अपेक्षा शिष्टजनों के आचार को अधिक विश्वसनीय बताया गया है।[३]

धर्मसूत्रों में शिष्ट जन का लक्षण विस्तार से दिया गया है। बौधायन के अनुसार 'शिष्ट वे हैं जो दूसरों के गुणों से द्वेष न करते हों, अहंकारहीन हों, जो कुम्भीधान्य (दस दिन के लिए अन्न का संग्रह करने वाले) हों, अलोलुप हों और दम्भ, दर्प, लोभ, मोह और क्रोधादि दुर्गुणों से मुक्त हों।[४] जिन्होंने इतिहास, पुराण आदि प्रभेदों के साथ वेद का अध्ययन तथा अर्थ का बोध धर्मानुसार प्राप्त किया है, जो श्रुति को ही धर्म का प्रत्यक्ष हेतु मानते हैं और स्मृति एवं सदाचार को श्रुति के अनुमान के रूप में

१- Religions, at their best, insist on behaviour more than on belief."
- Dr. Radhakrishnan, *Recovery of Faith ,p.26*

२- व ६।३, ४

३- तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

४- शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहंकाराः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः
दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः। - बौ १।१।५

कुम्भीधान्य का भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने ६ दिन, एक वर्ष, छः मास के भोजन योग्य अन्न का संचय करने वाला अर्थ लिया है। द्र० बौ चौखम्बा संस्करण, पृ० ३ की टिप्पणी।

ग्रहण करते हैं, वे शिष्ट जन हैं।[१] शिष्ट वचन के अनुसार कार्य करने वाले के सभी पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे पत्थर के ऊपर एकत्र जल को वायु और सूर्य सुखाकर नष्ट कर देते हैं।[२] शिष्ट जनों के आचरण की महत्ता प्रदर्शित करते हुए बौधायन- धर्मसूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि धर्मशास्त्र रूपी रथ पर चलनेवाले द्विज अर्थात् शिष्ट जन खेल में ही जो कुछ कह दें वह परम धर्म माना जाता है-

धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः।
क्रीडार्थमपि यद् ब्रूयुस्स धर्मः परमः स्मृतः।।

इस कथन का तात्पर्य यही है कि शिष्ट जनों के आचार दूसरों के लिए अत्यन्त प्रभावकारी होते हैं ओर ऐसे शिष्टों के कथन पर आस्था रखनी चाहिए।

वसिष्ठधर्मसूत्र 'शिष्ट' उस व्यक्ति को कहता है जिसकी आत्मा निष्काम हो ('शिष्टः पुनरकामात्मा')।[३] 'निष्काम' शब्द के द्वारा ही मनुष्य के सभी श्रेष्ठ गुणों की अभिव्यंजना हो जाती है। परम धर्मात्मा एवं ब्रह्म ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति में ही निष्काम होने का महान् गुण संभव हो सकता है। अपरंच, शिष्ट वे ब्राह्मण भी हैं[४] जिनके कुल में वेद और वेदाङ्ग का परम्परा से अध्ययन होता है और जो श्रुति के प्रत्यक्ष प्रमाण करने में समर्थ हैं। शिष्ट को ही दूसरे शब्दों में धार्मिक कहा गया है। धार्मिक व्यक्ति वह है जो धर्म जानता है और स्वयं आचरण करता है।[५] इस प्रकार का व्यक्ति इस लोक में प्रशंसा का पात्र होता है और मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्त करता है।[६] इस प्रकार शिष्ट के लिए धर्म का ज्ञान ही नहीं आचरण भी आवश्यक है। आचार के साथ धर्मज्ञता ही प्रमाण हो सकती है।

१- धर्मेणाऽधिगतो येषां वेदस्सपरिबृंहणः।
शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।।- बौ १।१।६

२- यथाऽश्मनि स्थितं तोयं मारुतोऽर्कः प्रणाशयेत्।
तद्वत्कर्तरि यत्पापं जलवत् सं प्रलीयते।।-बौ १।१।१५

३- व १।६

४- पारंपर्यगतो येषां वेदः सपरिबृहंणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।। - ब ६।४३

५- ज्ञात्वा चानुतिष्ठन् धार्मिकः।- व १।२

६- प्रशस्यतमो भवति लोके प्रेत्य च स्वर्गलोकं समश्नुते।- व १।३

आपस्तम्बधर्मसूत्र भी व्यक्ति को अपना आचरण उसी के अनुरूप बनाने का उपदेश देता है जो सभी देशों में एकमत से निरन्तर विनयशील, वृद्ध, जितेन्द्रिय, लोभहीन, दम्भहीन आर्यों के द्वारा स्वीकार किया गया है। इस प्रकार का आचरण करने पर लोक और परलोक दोनो की प्राप्ति होती है।[१] गौतमधर्मसूत्र ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि वेद और स्मृति के ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषों के उन्हीं आचरणों को प्रमाण मानना चाहिए जो धर्म के अनकूल हों, क्योंकि महान् पुरुषों के साहस कर्म भी धर्म के व्यतिक्रम के रूप में देखे जाते हैं।[२] यथा उचथ्य और भारद्वाज का व्यत्य की पत्नी से व्यभिचार, वसिष्ठ का चाण्डाली अक्षमाला से संबन्ध, प्रजापति की अपनी पुत्री के प्रति कामवासना, परशुराम का अपनी माता की ग्रीवा काटने का कर्म। महापुरुषों के इस प्रकार के आचरण को धर्म मानकर स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस संबन्ध में आपस्तम्ब ने यह स्पष्ट किया है कि प्राचीन ऋषियों में तेज अधिक था, अतः उनके धर्मोल्लंघन से पाप नहीं हुआ, किन्तु इस समय जो व्यक्ति उन पूर्वजों के उदाहरण का अनुगमन करता है वह पापी होता है।[३] गौतम भी अवरकोटि के लोगों द्वारा दुर्बलता के कारण महापुरुषों के धर्मविरुद्ध आचरण का अनुकरण विपत्तिजनक मानते हैं।[४] इस प्रकार शिष्ट जनों के धर्मानुकूल आचरण ही प्रमाण हैं।

परिषद्

श्रुति, स्मृति और शिष्टाचार को धर्म का प्रमुख प्रमाण या स्रोत मानते हुए भी धर्मसूत्रों ने धर्म के कतिपय अन्य स्रोतों या प्रमाणों का भी उल्लेख किया है। सभी प्रमुख धर्मसूत्र धर्मविषयक विवाद की स्थिति में परिषद् का निर्णय प्रामाणिक स्वीकारते हैं। गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि 'जिस विषय में किसी नियम का विधान नहीं

१- सर्वजनपदेष्वेकान्तसमाहितमार्याणां वृत्तं सम्यविनीतानां वृद्धानामात्मवतामलोलुपाना-मदाम्भिकानां वृत्तसादृश्यं भजेत। एवमुभौ लोकावभिजयति। - आप १।२०।८,६

२ - दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्।- गौ १।१।३
दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसं च पूर्वेषाम्।- आप २।१३।७

३- तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानस्सीदत्यवरः। - आप २।१३,८,६

४- अवरदौर्बल्यात्।- गौ १।१।४

है, उसके संबन्ध में वही करना चाहिए जो कम से कम दस विद्वान्, विवेकी और लोभहीन ब्राह्मण कहें।[1] परिषद् में कम से कम दस सदस्य हों - चार वेदों के पूर्ण ज्ञाता चार व्यक्ति, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु तथा पृथक्-पृथक् धर्मशास्त्रों के ज्ञाता तीन व्यक्ति।[2]

बौधायनधर्मसूत्र में भी शिष्ट के जो लक्षण बताये गये हैं उन लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति का अभाव होने पर कम से कम दस सदस्यों की परिषद् को धर्म के विषय में प्रामाणिक माना गया है।[3] उद्धरण द्वारा बौधायन ने परिषद् का लक्षण इस प्रकार बताया है- ' चार वेदों के ज्ञाता चार व्यक्ति, एक विकल्पी अर्थात् मीमांसक, वेद के अङ्गों का ज्ञाता, धर्मशास्त्र का पाठ करने वाला, तीन विभिन्न आश्रमों के तीन ब्राह्मण- इनकी दस सदस्यों वाली परिषद् होती है।[4] टीकाकार गोविन्दस्वामी ने वानप्रस्थों के वन में निवास करने के कारण उन्हें परिषद् का सदस्य होने योग्य नहीं माना है, जबकि संन्यासी जो भिक्षा के लिए ग्राम में आता जाता रहता है परिषद् का सदस्य हो सकता है।[5] बौधायन ने पाँच या तीन सदस्यों की परिषद् का भी उल्लेख किया है। यहाँ तक कि पातक आदि दोषों से मुक्त एक श्रेष्ठ आचरण वाला व्यक्ति भी

१- अनाज्ञाते दशावरैः शिष्टैरूहविद्भिरलुब्धैः प्रशस्तं कार्यम्।-गौ ३।१०।४६

२- चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमात्त्रय आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एताान्दशावरान्परिषदित्याचक्षते।- गौ ३।१०।४७

३- तदभावे दशावरा परिषत्।- बौ १।१।७

४- अथाप्युदाहरन्ति-
चातुर्वैद्यं विकल्पी च अंगविद्धर्मपाठकः।
आश्रमस्थास्त्रयो विप्राः पर्षदेषा दशावरा।।- बौ १।१।८, व ३।२०

५- वानप्रस्थानां पुनर्वनाधिवासत्वादनधिकारो धर्मोपदेशस्य। परिव्राजकोऽपि भिक्षार्थी ग्राममियादेव।- बौ १।१।८ का भाष्य।

याज्ञवल्क्य और मनु ने भी परिषत् का उल्लेख किया है-

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मस्स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः।। याज्ञवल्क्य० १।६
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्सा दशावरा।। मनु० १२।१११

धर्म के विषय में निर्णय दे सकता है, किन्तु उससे भिन्न आचरण वाले पातकादि दोषयुक्त सहस्रों व्यक्तियों के समूह को भी धर्म के विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता।[१] जो व्यक्ति व्रत का आचरण नहीं करते, जिन्होंने मन्त्र नहीं ग्रहण किया है, और जो केवल जाति के नाम पर जीविका निर्वाह करते हैं ऐसे सहस्र व्यक्तियों का समूह भी परिषद् नहीं हो सकता।[२]

यदि अज्ञानी और पाखण्डी धर्म के उपदेश का या किसी पाप के प्रायश्चित्त का विधान करते हैं तो वह पाप सौ गुना होकर[३] उसी के ऊपर आ पड़ता है। अतः धर्म के उपदेश का अधिकार आचारवान् ज्ञानी व्यक्ति को ही है और जिस कार्य को आर्य लोग अर्थात् तीन उच्च वर्णों के लोग उत्तम कहते हैं वह धर्म है और जिसकी वे निन्दा करते हैं वह अधर्म है।[४] वसिष्ठ के अनुसार 'जिन धार्मिक कर्मों को तीनो वेदों के ज्ञाता तथा धर्म के विद्वान् धर्म कहते हैं वे क्रियाएँ स्वयं को और दूसरों को पवित्र करने वाली होती हैं। वे ही धर्म हैं इसमें संशय नहीं।[५]

सद्गुणी श्रोत्रिय

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्मसूत्र विवाद की स्थिति में परिषत् के निर्णय को मान्य ठहराते हैं। परिषत् दस, पाँच या तीन सदस्यों की कही गयी है। एक सदस्य की परिषद् सच्चे अर्थों में परिषद् नहीं है और उसे बहुसंख्यक परिषत् के अभाव में ही माना गया है। गौतमधर्मसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि दशावरा परिषत् के अनेक व्यक्तियों के न होने पर अङ्गों के साथ सम्पूर्ण वेद का ज्ञाता श्रोत्रिय ही अकेला

१- पञ्च वा स्युस्त्रयो वा स्युरेको वा स्यादनिन्दितः।
प्रतिवक्ता तु धर्मस्य नेतरे तु सहस्रशः।।- बौ १।१।६

२- अव्रतानामन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशस्समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते।।- बौ १।१।१०

३- बौ १।१।१२ तथा व ३।६

४- यं त्वाचार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।- आप १।२०।७

५- त्रैविद्यवृद्धा यं ब्रूयुर्धर्मं धर्मविदो जनाः।
पवने पावने चैव स धर्मो नात्र संशय इति।।- व १।१६

पर्याप्त होता है। उसके वचन इस कारण मान्य होते हैं कि वह प्राणियों के प्रति हिंसा और अनुग्रह की स्थितियों में दण्ड और प्रायश्चित्त का कारण नहीं होता है।[1] हरदत्त इस कथन को यह कहकर और स्पष्ट करते हैं कि ऐसा व्यक्ति शास्त्रनिरपेक्ष होकर कोई निर्णय नहीं देता। इसलिए उसका वचन अनुष्ठेय होता है।[2]

यद्यपि बौधायनधर्मसूत्र में एक स्थल पर 'एको वा स्यादनिन्दितः' कहकर एक धर्मज्ञाता के वचन को भी परिषत् के वचन के समान प्रामाणिक माना गया है, तथापि अन्यत्र कहा गया है '(श्रुति, स्मृति, सदाचार आदि प्रमाणों पर आश्रित) धर्म के अनेक द्वार हैं। उनका मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है। इसलिए संशय होने पर एक व्यक्ति को अकेले निर्णय नही देना चाहिए, भले ही वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता हो।[3]

परिषत् की जिस प्रकार की संघटना बतायी गयी है उससे यही सिद्ध होता है कि धर्म के विषय में कोई भी शंका उपस्थित होने पर विद्वानों एवं धर्मपालन में रत विभिन्न वर्ग के प्रतिनिधियों की एक लघु समिति धर्म के विषय में विचार करती थी। प्रत्येक सदस्य अपना-अपना मत प्रस्तुत करता और तब 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के न्याय से धर्म का सिद्धान्त गृहीत होता था। यह एक उत्तम गणतन्त्रीय व्यवस्था थी और धर्माचरण से संबद्ध प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधित्व से कोई अहित की संभावना नहीं रहती होगी। विकल्पी या तार्किक विद्वान् संभवतः तर्क द्वारा सबके विचारों का विश्लेषण करता रहा होगा और सभा के शास्त्रार्थ का संचालन करता रहा होगा। सुविधानुसार दस, पाँच या तीन सदस्यों की परिषद् बना दी जाती थी। इस परिषद् के अभाव में ही विद्वान् श्रोत्रिय, जो वेद से संबद्ध सभी विषयों में निष्णात होता था, प्रमाण माना जाता था और उसका निर्णय सावधानी से स्वीकार किया जाता था। सर्वगुणसम्पन्न श्रोत्रिय से यह आशा की जाती थी कि उसका निर्देश वेद एवं धर्मशास्त्र

१- असंभवे त्वेतेषां श्रोत्रियो वेदविच्छिष्टो विप्रतिपत्तौ यदाह ।
यतोऽयमप्रभवो भूतानां हिंसानुग्रहयोगेषु।- गौ ३।१०।४८ ४६

२- न ह्यसौ शस्त्रनिरपेक्षः स्वतन्त्रः किंचिदनुगृह्णाति निगृह्णाति वा।
तस्मादस्य वचनमनुष्ठेयम्। - गौ ३।१०।४६ की टीका में हरदत्त ।

३- बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः।
तस्मान्न वाच्यो ह्येकेन बहुज्ञेनाऽपि संशये।। - बौ १।१।१३

के ज्ञान से समर्थित हो, ऐसा न होने पर वह प्रमाण नहीं होता था। धर्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर उसका आचरण करने वाले ऐसे धार्मिक व्यक्ति की प्रशंसा गौतम (३।१०।५०) ने इन शब्दों में की है-

'धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविदाप्नोति ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम्'

अर्थात् धार्मिक व्यक्तियों में धर्म को जानने वाला व्यक्ति ज्ञान और उसके अनुष्ठान द्वारा विशेष रूप से स्वर्ग लोक प्राप्त करता है।

प्रादेशिक आचार

धर्म का सम्बन्ध मनुष्य और उसके समाज से है। धर्मसूत्रों ने उसे व्यक्ति और उसके सामाजिक संबन्धों की दृष्टि से ही देखा है। अतः प्रादेशिक आचारों, नियमों और लौकिक परम्पराओं को मान्यता देना भी अनिवार्य हो जाता है। धर्म के आचार सर्वत्र सभी देशों में एक रूप से व्यवहृत नहीं होते, अतः प्रदेश के आचार भी धर्म के, जैसा वह धर्मसूत्रों में विवेचित है, स्रोत बने हुए हैं। प्रदेश वस्तुतः है क्या? एक प्रकार के आचार, विचार और संस्कारों का अनुगमन करने वाले मनुष्यों का समूह ही प्रदेश है, जो अपनी आचार-विषयक समानताओं के कारण एक भौगोलिक सीमा में समाहित रहता है। डॉ०राधाकृष्णन् के शब्दों में धर्म और सामाजिक जीवन में स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। सामाजिक संस्थाएँ अन्ततः मनुष्यों के निर्णयों पर आधृत होती हैं, जिसके अनुसार वे मनुष्य और उनके अनुयायी आचरण करते हैं। धर्म एक सामाजिक बन्धन का कार्य करता है।[१]

धर्मशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि आर्यों के आचार से भिन्न प्रकार के आचार का पालन करने वाले भी हैं और इस कारण उन्होंने यह स्पष्ट करना उचित

१- "We cannot draw a sharp line of distinction between religion and social life. Social organization rests ultimately on a series of decisions taken by human beings as to the manner in which they and their followers should live... Religion is a social cement, a way in which men express their aspirations and find solace for their frustrations." *-Recovery of Faith, p. 27*

समझा कि आर्यों के प्रदेश में प्रचलित धर्म ही वास्तविक धर्म है। संभवतः इसका कारण यही था कि ये प्रादेशिक नियम श्रुति-स्मृति-विहित थे। आर्यावर्त का निर्देश करते हुए बौधायनधर्मसूत्र में कहा गया है- 'सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से पूर्व की ओर, कालकवन नाम के वन से पश्चिम, हिमालय पर्वत के दक्षिण और पारियात्र पर्वत से उत्तर का भूभाग आर्यावर्त है। इस भूभाग में जो आचार-विचार प्रचलित हैं वे ही प्रमाण हैं।[१] कुछ आचार्यों के अनुसार गंगा और यमुना नदियों के बीच का प्रदेश आर्यावर्त है।[२] वसिष्ठ ने भी आर्यावर्त के धर्मो की प्रामाणिकता की घोषणा करते हुए कहा है: 'आर्यावर्त में जो धर्म और आचार मान्य हैं, उन्हीं को सर्वत्र प्रामाणिक मानना चाहिए। जो नियम विपरीत आचरण वाले प्रदेशों में प्रचलित हैं उनका आचरण नहीं करना चाहिए।[३] आर्यावर्त के विषय में बौधायन तथा वसिष्ठ दोनो ने ही भाल्लविं शाखा की गाथा का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार जहाँ तक कृष्ण मृग पाये जाते हैं वहाँ तक ब्रह्मतेज व्याप्त होता है।[४]

प्रादेशिक आचारों की प्रामाणिकता का विवेचन करते हुए बौधायन ने दक्षिण और उत्तर के आचारों के अन्तर की ओर ध्यान दिया है। दक्षिण और उत्तर से उनका क्या तात्पर्य है यह विवादास्पद है। ये दोनो भाग आर्यावर्त के भी हो सकते हैं, अथवा जैसा कि भाष्यकार गोविन्दस्वामी का मत है दक्षिण से नर्मदा और विन्ध्य के बीच का प्रदेश और उत्तर से विन्ध्य से हिमालय तक का प्रदेश हो सकता है।[५] दक्षिण और उत्तर

१- प्रागदर्शनात् प्रत्यक्कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्त तस्मिन् य आचारस्स प्रमाणम्।- बौ १।२।१०
व १।८,६ में भी आर्यावर्त की यही सीमा बतायी गयी है।

२- गङ्गायमुनयोरन्तरमित्येके। - बौ १।२।११

३- तस्मिन् देशे ये धर्मा ये चाचारास्ते सर्वत्र प्रत्येतव्याः न त्वन्ये प्रतिलोमकधर्माणाम्। - व १।१०

४- पश्चात् सिन्धुर्विसरणी सूर्यस्योदयनं पुरः।
यावत् कृष्णो विधावति तावद्ध ब्रह्मवर्चसमिति।।
- बौ १।२।१३, द्र० व १।१४-१५, हारीतस्मृति १।१६

५- दक्षिणेन नर्मदामुत्तरेण कन्यातीर्थम्। उत्तरस्तु दक्षिणेन हिमवन्तमुदग्विन्ध्यस्य। एतद्देशप्रसूतानां शिष्टानां परस्परं पञ्चधा विप्रतिपत्तिः विसंवादः। - बौ १।२।१ का भाष्य।

में उनके अनुसार पाँच विषयों में विरोध है। दक्षिण के विशिष्ट आचार हैं- ' जिनका यज्ञोपवीत नहीं हुआ है उनके साथ भोजन, पत्नी के साथ भोजन, बासी अन्न का भोजन, मामा की पुत्री से विवाह, बुआ की पुत्री से विवाह।' इसके विपरीत बौधायन के अनुसार, उत्तर के विशिष्ट आचार हैं- 'ऊन का विक्रय, मदिरापान, ऊपर और नीचे दाँतों वाले पशुओं का विक्रय, अस्त्र-शस्त्र का व्यापार और समुद्रयात्रा।'[1]

इन आचारों के विषय में एक व्यवस्था यह है कि जिस प्रदेश में जो आचरण प्रचलित है उससे भिन्न प्रदेश में उसे करने से दोष उत्पन्न होता है। दक्षिण के जो नियम हैं उन्हें दक्षिण के लोगों के सम्पर्क में और उत्तर के जो आचार हैं उन्हें उत्तर के लोगों के सम्पर्क में करने चाहिए।[2] जैसा कि गोविन्दस्वामी[3] का कथन है ये विशिष्ट आचार उस प्रकार से सबके द्वारा स्वीकार्य नहीं होते जैसे बौधायनधर्मसूत्र एक चरण के अन्तर्गत पढ़े जाने पर भी सबके द्वारा स्वीकार्य है।[4] बौधायन के अनुसार[5] विशिष्ट आचारनियम उसी विशिष्ट प्रदेश में प्रमाण होते हैं।

अनेक आचार्यों ने विशिष्ट प्रादेशिक आचारों की प्रामाणिकता का खण्डन किया है। बौधायन ने[6] गौतम के मत का उद्धरण दिया है। गौतम आदि आचार्य प्रादेशिक आचारों में उन्हीं को मान्यता देते प्रतीत होते हैं जो श्रुति और स्मृति पर आधृत हैं। उपर्युक्त विशिष्ट आचारों को अनेक स्मृतिकारों ने प्रायश्चित्त-योग्य पाप माना है। शिष्ट और स्मृति के विरुद्ध होने से इन विशिष्ट आचरणों को वर्जित भी

१- पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतः। यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामः। यथैतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजनं पर्युषितभोजनं मातुलपितृष्वसृदुहितृगमनमिति। अथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः शीधुपानमुभयतोदद्भिर्व्यवहारः आयुधीयकं समुद्रसंयानमिति। बौ १।२।१-४

२- बौ १।२।५ गोविन्दस्वामी 'तस्मादनुपेतेन सह भोजनादीनि दाक्षिणात्यैश्शिष्टै-राचर्यमाणत्वात् दोषाभावाच्च तैरेव कर्तव्यानि। ऊर्णाविक्रयादीनि चोदीच्यैरेव।'

३- बौ १।२।५ की टीका ।

४- तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्।- बौ १।२।६

५- बौ १।२।७

किया गया है।[१] प्रादेशिक आचारों को सर्वसम्मत तथा शिष्ट-स्मृति-विहित न होने के कारण ही धर्मसूत्र कई प्रदेशों की निन्दा भी करते हैं। बौधायन के अनुसार अवन्ति, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत, सिन्धु देशों के निवासी सौवीर संकीर्णयोनि अर्थात् मिश्रित उत्पत्ति वाले होते हैं।[२] इसका भाव यही है कि इन प्रदेशों के आचार बौधायन की दृष्टि से धर्मसम्मत नहीं होते। गोविन्दस्वामी का कथन है कि इन प्रदेशों में स्त्रियों में व्यवस्था नहीं है, अतः ये प्रदेश निन्दित हैं।[३] आचार की भिन्नता के आधार पर ही कई प्रदेशों में यात्रा करने का प्रायश्चित्त भी विहित है। आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वंग, कलिंग, प्रानून् की यात्रा करने पर पुनस्तोम या सर्वपृष्ठा इष्टि करने का विधान है।[४] धर्मसूत्रकारों के ये वचन संकीर्ण धार्मिक कट्टरता के ही परिणाम हो सकते हैं। अपने प्रादेशिक नियमों से भिन्नता देखकर उसे धर्मशास्त्रकार सहन नहीं करते और इस कारण वे स्पष्ट निन्दा एवं भर्त्सना करने में भी संकोच नहीं रखते । इतना स्पष्ट है कि प्रादेशिक आचारों को भी प्रमाण मानने वाला धर्मसूत्रकारों का एक वर्ग अवश्य था। वेदविहित धर्मग्रन्थ के अभाव में देश, जाति और कुल विशेष के धर्म प्रामाणिक होते थे इसका मनु के मत का उद्धरण देते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र में भी समर्थन किया गया है- 'देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः'।[५]

गौतमधर्मसूत्र ने तो कृषक, व्यापारी, गोपालक, महाजन और शिल्पी को अपने- अपने वर्ग के नियम की व्यवस्था के लिए प्रमाण माना है और राजा को निर्देश दिया है कि वह न्याय करते समय इनसे विशिष्ट नियमों को समझकर ही धर्म की व्यवस्था करे।[६]

१- उभयं चैव नाद्रियेत। शिष्टसमृतिविरोधदर्शनात् शिष्टागमविरोधदर्शनाच्च।-बौ १।२।८-६

२- अवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः।। - बौ १।२।१४

३- स्त्रीषु व्यवस्था नाऽस्तीति यावत्। अवन्त्यादिषु कल्याणाचारो नाऽस्ति ।
- बौ १।२।१४ की टीका।

४- बौ १।२।१५ ५- व १।१७

६- गौ २।२।२१ कर्षकवणिक्पशुपाकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे। मनु का कथन है-
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्। पाषाण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन् उक्तवान्मनुः॥
- मनु० १।११८)

स्त्रियों की विद्या

धर्म के अन्तर्गत सामाजिक और कुलपरम्परा के ऐसे अनेक नियम होते हैं जिनका स्त्रियों को ज्ञान होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने स्त्रियों और शूद्र वर्ण के लोगों की विद्या को ज्ञान की अन्तिम सीमा मानी है। इनका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही सभी विद्याओं का ज्ञान पूरा होता है।[1] उनकी क्रियाएँ अथर्ववेद के ज्ञान का परिशिष्ट मानी गयी हैं। कुछ आचार्यों ने यह भी मत व्यक्त किया है कि जिन नियमों का धर्मशास्त्रों में विधान नहीं किया गया है उनका ज्ञान स्त्रियों से तथा सभी वर्ण के पुरुषों से प्राप्त करना चाहिए।[2]

आत्मसन्तुष्टि

धर्मशास्त्र में व्यक्ति के विवेकपूर्ण अन्तःकरण और आत्मा की तुष्टि को भी धर्म का एक स्रोत स्वीकार किया गया है। याज्ञवल्क्य ने अपने आप को प्रिय लगने वाले आचार को भी प्रमाण माना है। अपनी आत्मा के अनुकूल उत्तम कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न इच्छा भी धर्म के मूल हैं।[3] मनुष्य को प्रिय लगने वाले आचार को अथवा अन्तःकरण की तुष्टि को प्रमाण मानते समय ऐसे अनुशासित व्यक्ति को ध्यान में रखा गया है जो विवेकपूर्ण निर्णय करने में समर्थ हो। वस्तुतः धर्मसूत्र व्यक्ति के जीवन को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और प्राणसंकट की स्थिति में सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग करने की भी स्पष्ट अनुमति देते हैं। सभी धर्मसूत्रों में आपद्धर्म का विधान किया गया है। गौतम (१।६।३४) ने कहा भी है- 'सभी उपायों से अपनी रक्षा करनी चाहिए' - सर्वतः एवाऽऽत्मानं गोपायेत्।

१- सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु।- आप २।२६।११

२- आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति।
स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येके।-आप २।२६।१२,१६

३- श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।। -याज्ञवल्क्यस्मृति,१।७
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। - मनुस्मृति, २।६

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म का क्षेत्र व्यक्ति के स्वपरक और सामाजिक आचार हैं। यह धर्म सामाजिक जीवन का ही अभिन्न रूप बन गया है। जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों को उद्धृत करते हुए हमने पहले स्पष्ट किया है धर्म और सामाजिक जीवन में कोई पार्थक्य नहीं किया जा सकता।[१] यह कथन उस स्थिति में और भी संगत प्रतीत होता है जब हम इस तथ्य पर ध्यान देते हैं कि धर्मसूत्रों का विकास विशिष्ट शाखाओं और चरणों में हुआ है और वे आर्यावर्त के आर्यों के लिए विहित आचार-नियम हैं। कतिपय प्रदेशवासियों के आचारों की निन्दा भी इसी ओर संकेत करती है कि धर्मसूत्रों के समक्ष मनुष्यों का एक विशिष्ट समाज है, जिसके आचार और व्यवहार के नियम निर्धारित करना ही उनका प्रयोजन है, किन्तु धर्मसूत्र इस धर्म को एक संकुचित रूप में न देखकर उसे सार्वभौम तथा शाश्वत विधान मानकर निर्दिष्ट करते हैं।

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म की परिभाषा दुष्कर है। इस धर्म को किसी एक शब्द से अभिहित करना भी कठिन है। धर्मसूत्रों को हम उसी समय की रचना मानते हैं, जब 'रिलीजन', 'वर्च्यू', 'ला' और 'ड्यूटी' के अर्थ एक साथ धर्म में समाहित थे।[२]

वस्तुतः, हिन्दू धर्म के विविध पक्षों में इतना घनिष्ठ और अनयोन्याश्रित संबन्ध है कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त और यथार्थ का, दर्शन एवम् आचार का, ईश्वर और मनुष्य का जैसा संबन्ध इस धर्म में है वैसा अन्यत्र

१- द्र० पीछे, पृ०११४

२- द्र० जॉन मैकेन्जी, हिन्दू एथिक्स, पृ० ३८

"In India in those days no clear distinction was drawn between moral and religious duty, usage, customary observances and law and dharma was the term which was applied to the whole complex forms of conduct that were settled or established."

द्र० पी०एस० शिवस्वामी अय्यर, इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू मारल्स, पृ० १३

"It is used in the sense of nature, law, justice, virtue, merit, duty and morality."

नहीं है। धर्मसूत्र धर्म की इन्हीं विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं। वे मनुष्य के लिए अनुशासित जीवन की ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं जो उसे पूर्णता तक पहुँचा सके, जो उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य बना सके और इस लोक तथा परलोक में सुख एवं कल्याण का हेतु बन सके। धर्म के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म की इसी विशेषता को इन शब्दों में व्यक्त किया है[१] : 'धर्म की धारणा के अन्तर्गत हिन्दू उन सब अनुष्ठानों और गतिविधियों को ले आता है, जो मानवीय जीवन को गढ़ती और बनाये रखती हैं। हमारे पृथक्-पृथक् हित होते हैं, विभिन्न इच्छाएँ होती हैं और विरोधी आवश्यकताएँ होती हैं, जो बढ़ने की दशा में ही परिवर्तित भी हो जाती हैं। उन सबको घेरघारकर एक समूचे रूप में प्रस्तुत कर देना धर्म का प्रयोजन है।

धर्म के स्रोत या उपादान का विवेचन करते हुए हमने यह स्पष्ट देखा है कि धर्मसूत्र न केवल वेद, स्मृति और शिष्टाचार पर आधारित धर्म का विधान करते हैं, अपितु ज्ञानी मनुष्यों की परिषत् के निर्णयों, देश और कुल के आचारों को भी मान्यता देते हैं। वस्तुतः वेद में उपदिष्ट धर्म को ही धर्मसूत्र प्रथम कोटि का मानता है और उससे अविरुद्ध स्मार्त नियम को दूसरे स्थान पर तथा शिष्ट जनों द्वारा आचरित धर्म को तीसरे स्थान पर रखता है।[२] 'वेदो धर्ममूलम्' कहकर जिस धर्म का उल्लेख किया गया है वह धर्म वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की विचारधारा के अनुरूप की जाने वाली क्रियाओं, आचारों और व्यवहारों का समूह ही है। प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने हिन्दू धर्म के इस व्यापक स्वरूप को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है : 'प्राचीन भारतवासियों के लिए सबसे पहले धर्म अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, यह सबका आत्मार्पण करने वाली रुचि थी। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी, परन्तु वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता, कानून और शासन कहते हैं- सभी धर्म से व्याप्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके लिए एक धर्म था और दूसरी बातें मानों इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिए निर्मित थीं।[३] धर्मसूत्रों

१- धर्म और समाज, अनुवादक- विराज, पृ० १२१

२- उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्। तस्यानु व्याख्यास्यामः। स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः। - बौ १।१।१-४

३ माक्स म्यूल्लेर, ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०७

में विवेचित हिन्दू धर्म की यह स्पष्ट व्याख्या है। हिन्दू धर्म में लोक और परलोक की धारणाएँ एक साथ जुड़ी हुई हैं। यह जीवन अपने आप में अपृक्त न होकर अनेक जन्मों से संबद्ध है और इसी प्रकार व्यक्ति के श्रेयस् के लिए समग्र कर्म, सम्पूर्ण चिन्तन, आस्था, विश्वास और व्यवहार को ही धर्म कहना संगत है। स्वयं धर्मसूत्रों में जिस धर्म का प्रतिपादन किया गया है उसकी समीक्षा से यह और भी स्पष्ट हो जायगा। बौधायनधर्मसूत्र के भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने स्मार्त धर्म का विश्लेषण करते हुए धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म को ही स्पष्ट किया है। उनके अनुसार यह धर्म पाँच प्रकार का है - वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म और निमित्त धर्म। इन पाँचों में भी प्रत्येक के दो-दो भेद हैं- साधारण और विशिष्ट धर्म।[१] उदाहरणार्थ वर्ण के आधार पर कुछ सामान्य नियम होते हैं और कुछ वर्गविशेष के लिए ही विहित होते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र सामयाचारिक धर्मों के अन्तर्गत तीन प्रकार के समय या पौरुषेयी व्यवस्था का समावेश करता है- विधि, नियम और प्रतिषेध। इनमें विधि प्रवृत्ति के लिए होता है और नियम तथा प्रतिषेध निवृत्ति के लिए।[२]

गोविन्दस्वामी ने धर्म के जिन उपर्युक्त पाँच भेदों का उल्लेख किया है उन्हीं पाँच भेदों का निर्देश मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि[३] तथा गौतम धर्मसूत्र के वृत्तिकार हरदत्त भी करते हैं।[४] याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर धर्म का एक छठा भेद साधारणधर्म भी मानते हैं[५] जिसके अन्तर्गत अहिंसा आदि धर्म आते हैं। धर्म के ये पाँच या छः भेद धर्मसूत्रों में विवेचित विविध नियमों का ही उल्लेख करते हैं। डॉ० रामगोपाल ने भेदों में केवल तीन को ही प्रमुख माना है, क्योंकि उनका मानना

१- स च स्मार्तो धर्मः पञ्चविधो भवति- वर्णधर्मः आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः निमित्तधर्मश्चेति। तत्रापि साधारणविशिष्टधर्मभेदेन द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्।
- बौ १।१।३ की व्याख्या में गोविन्दस्वामी।

२- पौरुषेयी व्यवस्था समयः। स च त्रिविधः विधिर्नियमः प्रतिषेधश्चेति। तत्र प्रवृत्ति प्रयोजनो विधिः। -- निवृत्तिप्रयोजनावितरौ। - आप १।१।१ की हरदत्त की व्याख्या में।

३- मनुस्मृति, २।२५

४- गौ ३।१।१ की वृत्ति में हरदत्त - पञ्चविधो धर्मः वर्णधर्मः आश्रमधर्म उभयधर्मो गुणधर्मो नैमित्तिकधर्मश्चेति।

५- याज्ञवल्क्यस्मृति १।१ की विज्ञानेश्वर कृत व्याख्या।

है कि इन तीन के अन्तर्गत ही सभी विषय आ जाते हैं।[1] वे गुणधर्म को जो राजा के कर्त्तव्यों, न्याय एवं दण्डव्यवस्था का विधान करता है, वर्णधर्म के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं और क्षत्रिय के ही धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। किन्तु हमारी दृष्टि से धर्मसूत्र राजा के विविध कर्त्तव्यों का प्रतिपादन विशेष महत्त्व देकर करते हैं और राजा के कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में नियमों की इतनी विस्तृत शृङ्खला प्रस्तुत करते हैं कि उन नियमों को एक भिन्न वर्ग - गुण धर्म- के अन्तर्गत रखना ही उचित है। वर्ण धर्म मुख्यतः व्यक्तिगत और आचारपरक है, जबकि गुणधर्म की सामाजिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि भी विद्यमान है। साधारण धर्म का एक स्वतन्त्र वर्ग भी समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि यह वर्ग वर्ण और आश्रम के बन्धनों में बद्ध न होकर सर्वसाधारण के लिए विहित नियमों का समूह है, जो सदैव व्यक्ति के लिए कल्याणकारी और आचरणीय है। साधारण धर्म के अन्तर्गत आने वाले नियम वस्तुतः धर्म के शाश्वत व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं ओर वे सार्वभौम तथा मौलिक धर्मतत्त्व पर आधारित हैं। इस प्रकार धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म को हम पाँच वर्गों में रख सकते हैं[2] - वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म, गुणधर्म और साधारणधर्म।

वर्णाश्रमधर्म ऐसे नियमों को कहा गया है जो वर्ण और आश्रम दोनो से संबद्ध हैं जेसे 'ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड पलाश का होना चाहिए' इस नियम का संबन्ध ब्राह्मण वर्ण से और ब्रह्मचर्याश्रम से भी है।[3] किन्तु ऐसे नियमों को वर्ण धर्म या आश्रमधर्म में से किसी एक भेद के अन्तर्गत मान लेने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए, यथा उपर्युक्त नियम ब्रह्मचर्याश्रम से अधिक संबद्ध है और इस कारण आश्रमधर्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार धर्मसूत्रों में उपर्युक्त पञ्चविध धर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। आगे के अध्यायों में हम इन्हीं पञ्चविध विषयों की समीक्षा विस्तार से करेंगे। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा।

१- इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ४४

२- डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी ने चार वर्ग माने हैं- आचार, प्रायश्चित्त, व्यवहार और राजधर्म।
- धर्मसूत्राज़, स्टडी इन देयर ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेण्ट, पृ० ४

३- उभयप्रयुक्त उभयधर्मो ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः पालाशो दण्डः इत्यादि।
- गौ ३।१।१ की व्याख्या में हरदत्त।

विभिन्न वर्णों के लिए नियम (वर्णधर्म)

धर्मसूत्रों की सामाजिक व्यवस्था में वर्णधर्म को सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त हुआ है। उनका समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल के वर्गों में तथा अनेक उपजातियों में विभक्त है। सबके लिए अलग-अलग प्रकार के आचार का विधान करना और वर्णव्यवस्था को कठोर रूप में बनाये रखना ही धर्मसूत्रों का प्रमुख लक्ष्य है। इस कारण धर्मसूत्र स्वधर्मपालन पर अत्यन्त बल देते हैं और घोर विपत्ति की स्थिति में ही आपद्धर्म की अनुमति देते हैं। वस्तुतः, धर्मसूत्रों के धर्म में वर्ण के धर्म को इतना अधिक गौरव दिया गया कि शनैः शनैः वही प्रमुख व्यावहारिक धर्म बन गया तथा अन्य प्रकार के धर्म यथा आश्रमधर्म प्रायः लुप्त होते गये। वर्णधर्म के ऊपर धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के विशेष ध्यान देने के परिणामस्वरूप आज भी उनका अस्तित्व बना हुआ है, जबकि धर्म के अधिक उदात्त पक्ष आश्रमधर्म का लोप होता गया है। वर्णधर्म ने समाज में उच्च और निम्न वर्ग की भावना को परम प्रश्रय दिया है। वस्तुतः, धर्मसूत्रों के नियम चार वर्णों के लिए ही हैं और आपस्तम्ब ने[१] सामयाचारिक धर्मों का अधिकार अनुलोम विवाह-संबन्धों से उत्पन्न वर्णों के लिए ही , और वह भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए ही स्वीकार किया है। गौतम ने प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को धर्महीन ठहराया है।[२]

चार आश्रमों के आचार एवं गृह्य यज्ञ

धर्मसूत्रों का अधिकांश भाग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म आचार-नियम और कर्मकाण्ड-संबन्धी विधियों में लगाया गया है। ब्रह्मचर्य के संबन्ध में ही शिक्षा की प्रणाली तथा विद्यार्थी एवं गुरु के संबन्धों का दर्शन मिलता है। स्वाध्याय और अनध्याय के नियम भी इसी प्रसंग में विवेचित हैं। उपनयन

१- आप १।१।४ व्याख्या- ब्राह्मणाद्याश्चत्वारो वर्णसंज्ञिकाः। ते च सामयाचारिकैः धर्मैरधिक्रियन्ते चतुर्णामेवोपदेशेऽपि पुरश्चतुर्ग्रहणं यथाकथञ्चित् चतुर्ष्वन्तर्भूतानामपि ग्रहणार्थम्। ततश्च - - -अनुलोमादीनामप्यत्र ग्रहणं मतम्।

२- गौ १।४।२० 'प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः'। गौतम ने वर्णाश्रमधर्म से हीन व्यक्तियों को 'म्लेच्छ' कहा है। 'न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत।' हरदत्त इसकी व्याख्या में कहते हैं- वर्णाश्रमधर्मरहिते देशे सिंहलद्वीपादौ ये वसन्ति ते म्लेच्छाः।

और समावर्तन जैसे संस्कारों की विवेचना भी ब्रह्मचर्य के सन्दर्भ में ही धर्मसूत्रों में हुई है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद स्नातक की स्थिति को भी धर्मसूत्रों ने बहुत गौरव प्रदान किया है। धर्मसूत्रों में सर्वाधिक महत्त्व गृहस्थाश्रम को दिया गया है, जो व्यावहारिक कारणों से स्वभाविक भी है। सभी दूसरे आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ पर ही आश्रित होते हैं और गृहस्थ ही सभी संस्कारों का अनुष्ठान करने, पुत्रोत्पत्ति, पितृगण के श्राद्ध और पञ्च महायज्ञ करने तथा प्राणियों एवं मनुष्यों की सेवा करने में समर्थ होता है। गृहस्थ समाज का मेरुदण्ड है, उसकी मौलिक ईकाई है। वानप्रस्थ्य एवं संन्यास सक्रिय जीवन से शनैः शनैः विरक्ति तथा वेदविहित तत्त्वचिन्तन की ओर उन्मुख करते हैं। विविध प्रकार के वानप्रस्थों और संन्यासी के पवित्र, निष्काम, परोपकारी एवं परम नैतिक जीवन का धर्मसूत्र बड़े सम्मान के साथ वर्णन करते हैं। आश्रमों की यह व्यवस्था तीन उच्च वर्णों - ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही विहित है और प्राचीन आर्य के वैयक्तिक जीवन के महान् आदर्शों , जीवनदर्शन एवं पवित्र सन्तुलित धार्मिक व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करती है। धर्मसूत्रों में जो दार्शनिक चिन्तन - आत्मा, मोक्ष, योग, पुनर्जन्म आदि - आया है, उसे भी संन्यासाश्रम से सीधे संबद्ध होने के कारण हम इसी वर्ग में रखना उचित समझते हैं।

शुद्धि के नियम, पाप और प्रायश्चित्त (नैमित्तिक धर्म)

नैमित्तिक धर्म के अन्तर्गत धर्मसू ॉ उन आचार नियमों की व्याख्या करते हैं जो किसी निमित्त से करने होते हैं, यथा ब्रह्महत्यादि पाप करने पर उसके लिए किया जाने वाला प्रायश्चित्त,[१] अथवा विहित कर्म को न करने तथाा प्रतिषिद्ध कर्म करने के कारण किया जाने वाला प्रायश्चित्त।[२] मृत्यु या जन्मविषयक आशौच में पालन किये जाने वाले शुद्धिसम्बन्धी नियमों का भी इसी वर्ग में समावेश किया गया है। भोजन के विषय में भोज्य-अभोज्य, पेय-अपेय का विधान भी धर्मसूत्रों में अनिवार्यतः किया गया है और अभोज्य- भक्षण, अपेयपान के प्रायश्चित्त भी वर्णित हैं। ये धर्म पुरुष मात्र के

१- ब्रह्महत्यादौ निमित्ते कर्त्तव्यो नैमित्तिको धर्मः प्रायश्चित्तः।
- गौ ३।१।१ की हरदत्तकृत व्याख्या।

२- निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्।
- याज्ञवल्क्यस्मृति १।१ की व्याख्या में विज्ञानेश्वर।

लिए होते हैं और प्रतिलोमज भी इसके अधिकारी होते हैं।[१]

न्याय, दण्डव्यवस्था तथा करग्रहण (गुणधर्म)

अभिषेक-गुणयुक्त राजा के प्रजापालन आदि कर्त्तव्यों को गुणधर्म की संज्ञा दी गयी है।[२] राज्यव्यवस्था को धर्म का अनिवार्य अङ्ग मानकर सभी धर्मसूत्रों में उसका विस्तार से विवेचन किया गया है। यद्यपि यह विषय अर्थशास्त्र या राजनीतिशास्त्र का है, तथापि हिन्दू धर्म की व्यापक सीमा में इसका समावेश आश्चर्यजनक नहीं। सामाजिक अपराधों के लिए दण्ड देना, आर्थिक मामलों के विवाद में न्याय करना, राज्य की रक्षा के लिए सेना संगठित कर शत्रुओं एवं आततायियों से युद्ध करना, प्रजा से करग्रहण करना, विविध वर्णों के आपसी व्यवहार, व्यवसाय आदि के विवादों में हस्तक्षेप कर नीतियाँ निर्धारित करना - ये सभी राजा के कर्त्तव्य हैं। धर्मसूत्र धर्म का पालन कराने में राजा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व मानते हैं। उसे प्रजा में होने वाले अधर्म का अपराधी घोषित करते हैं और उससे यह अपेक्षा रखते हैं कि वह अपराधों का पता लगाकर उसे रोकने के लिए यथोचित दण्ड दे। धर्म की रक्षा के लिए राजा की जो भूमिका निर्धारित की गयी है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सामान्य नीतिविषयक आचार (साधारण धर्म)

धर्मसूत्रों में ऐसे अनेक नियम हैं जो मानवसमाज के लिए विहित हैं। इन नियमों में धर्मसूत्रों का नीतिबोध स्पष्ट दिखायी पड़ता है। अनेक सामाजिक आचार ऐसे हैं जो वर्ण और आश्रम के लिए ही विहित न होकर सभी के लिए उपयोगी हैं। धर्मसूत्र आत्मा के गुणों, अक्रोध, अलोभ, कामभावना के नियमन, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, अस्तेय आदि का विधान सभी के लिए करते हैं।[३] आगे धर्मसूत्रों में नैतिक

१- वक्ष्यमाणस्तु पुरुषमात्रधर्मः। - - - प्रतिलोमानामपि प्रायश्चित्तेष्वधिकारः सिद्धो भवति।
- गौ ३।१।१ की व्याख्या में हरदत्त।

२- अभिषेकगुणयुक्तस्य राज्ञो रक्षणं गुणधर्मः। - गौ ३।१।१ की व्याख्या में हरदत्त।
'अभिषेकगुणयुक्तस्य राज्ञो रक्षणं गुणधर्मः। - बौ १।१।३ की व्याख्या में गोविन्दस्वामी-
'गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनादिः।' याज्ञ० स्मृति १।१ पर विज्ञानेश्वर।

३- यथा, वसिष्ठधर्मसूत्र, ४।४ 'सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजननं च ।'

मूल्यों का अध्ययन करते समय हम साधारणधर्म में अन्तर्भूत नैतिक सद्‌गुणों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से धर्मसूत्रों के धर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। धर्मसूत्र वस्तुतः सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक विषयों में मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म ही सम्पूर्ण धर्म नहीं है। वह तो धर्म का एक पक्ष मात्र है, जिसके विषय में स्वयं धर्मसूत्र स्मार्त धर्म या 'सामयाचारिक धर्म' नाम देकर सन्देह के लिए स्थान नहीं छोड़ते।

धर्मसूत्रों में दार्शनिक विचार

हिन्दू धर्म को दर्शन से पृथक् करना कठिन है। वस्तुतः, धर्म और दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। भारत में दार्शनिक सिद्धान्त ही धार्मिक जीवन के आधार हैं और धर्म दर्शन का ही व्यावहारिक पक्ष है जो मुख्यतः मनुष्य की क्रियाओं से संबद्ध है। दर्शन में सिद्धान्त, चिन्तन और तर्क की प्रधानता रहती है, तो धर्म में व्यवहार, आस्था और भावना प्रमुख होती है। जहाँ तक हिन्दू जीवन का प्रश्न है, वह आध्यात्मिक और नीतिशास्त्रीय दर्शन का मूर्त्त रूप है।[१] जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है, भारतीय दर्शन का श्रेष्ठ रूप वेदान्त भी सार्वभौम और गम्भीरतम अर्थ में धर्म ही है।[२]

यद्यपि धर्मसूत्रों का प्रमुख संबन्ध वर्णों और आश्रमों के व्यावहारिक आचार-नियमों से है, तथापि इनकी पृष्ठभूमि दार्शनिक है तथा प्रसंगानुसार दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन भी हुए हैं। धर्मसूत्र उपनिषदों में विवेचित दार्शनिक विचारों का ही ऋणी है। यह सम्भव है कि धर्मसूत्रों के कतिपय परवर्ती अंशों में बाद के दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त भी ग्रहण किये गये हैं। विष्णुधर्मसूत्र और वैखानसधर्मसूत्र इस प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। विष्णुधर्मसूत्र में वासुदेव की पूजा के अनेक

१- डॉ०राधाकृष्णन्, दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० ७७ "Hinduism insists not on religious conformity but on spiritual and ethical outlook in life."

२- तदेव, पृ० २३ "The Vedanta is not a religion, but religion itself in its most universal and deepest significance."

निर्देशों के साथ-साथ पुराणों में वर्णित भक्ति का और श्रीमद्भगवद्गीता के आत्मासंबन्धी उक्तियों का प्रभाव द्रष्टव्य है। वैखानसधर्मसूत्र भी वैष्णव सम्प्रदाय के विचारों से प्रभावित है।

वैदिक साहित्य की रचनाओं में कर्मकाण्ड के साथ ज्ञानकाण्ड का भी समावेश किया गया है और ब्राह्मण ग्रन्थों की विशुद्ध यज्ञपरक विवेचना में भी आत्मा, सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विमर्श मिल जाता है। प्रतीकों की भाषा में दार्शनिक चिन्तन की अभिव्यक्ति भी ब्राह्मण ग्रन्थों में कम नहीं है। इसी प्रकार धर्मसूत्र में भी आत्मा, परमात्मा, आत्मा की प्राप्ति, मोक्ष तथा योगदर्शन के विद्धान्त विशेषतः संन्यास आश्रम के नियमों के सन्दर्भ में विवेचित हैं।

सांसारिक सुख की नश्वरता

सांसारिक सुख की नश्वरता का बोध जीवन का पूर्वार्द्ध समाप्त होने पर स्वाभाविक रूप में होने लगता है और इसीलिए वसिष्ठधर्मसूत्र संन्यासी के जीवन की व्यवस्था करते हुए कहता है: ' यह विचार करना चाहिए कि आत्मा के निरन्तर अनेक योनियों में भटकते रहने पर किसी भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। जिसे कष्ट के अभाव के कारण सुख कहा जाता है वह भी क्षणभंगुर होता है। जो व्यक्ति रोग आदि के कारण भौतिक सुखों का भोग करने में असमर्थ है उसे भी कष्ट और उद्वेग का ही अनुभव होता है।'[1] यह शरीर सात धातुओं- वसा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र से निर्मित है, चर्म से बँधा हुआ, दुर्गन्धयुक्त, मल का घर, सैकड़ों सुखों से घिरा हुआ भी विकार को प्राप्त होने वाला, प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखे जाने पर भी विनाशी तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य का स्थान है।[2] विष्णुधर्मसूत्र ने शरीर के मोह तथा आकर्षण को मिथ्या बताते हुए और प्रवृत्ति से निवृत्ति की प्रेरणा देते हुए शरीर की आन्तरिक संरचना का भी वर्णन किया है।[3]

मृत्यु एक ध्रुव तथ्य है और मृत्युविषयक जिज्ञासा दार्शनिक तत्त्वचिन्तन के उत्कर्ष की ओर ले जाने वाली यात्रा का आरम्भ है। विष्णुधर्मसूत्र मृत्यु की अनिवार्यता

१- वि ९६।४०-४२

२- वि ९६। ४३-५०   ३- तदेव, ९६।५२-९२

की घोषणा करता हुआ कहता है- 'सैकड़ों प्रकार की सावधानी रखने पर भी आने वाली विपत्ति को टाला नहीं जा सकता, अतः मृत्युविषयक शोक व्यर्थ है।'[१] मृत्यु का समय निश्चित है, जिसकी मृत्यु का समय नहीं आया है, वह मर नहीं सकता, भले ही वह सहस्रों बाणों से विद्ध हो और जिसका समय हो गया है वह बच नहीं सकता, भले ही वह कुश के अग्रभाग से स्पृष्ट हुआ हो।[२] जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है, जो मृत है उसका जन्म निश्चित है। यह दुष्परिहार्य है। इस पथ पर कोई भी अपना सहायक नहीं होता।[३] इच्छाओं का अन्त नहीं होता। वृद्ध होने वाले मनुष्य के केश वार्धक्य के चिह्न होते हैं, वृद्ध होने वाले व्यक्ति के दाँत वार्धक्य का लक्षण प्रकट करते हैं, किन्तु वृद्धावस्था की ओर बढ़ते हुए मनुष्य की भी जीवन और धन की इच्छा कम नहीं होती।[४] इसी प्रसंग में विष्णुधर्मसूत्र काल की अनन्तता और महत्ता का उल्लेख करता है। काल अनादि और अनन्त है। इस काल में कोई वस्तु स्थिर नहीं है।[५] सूर्य, चन्द्र आदि जो इस जगत् में सृष्टि की उत्पत्ति और संहार के कारण हैं वे भी काल द्वारा विनष्ट होते हैं। काल का अतिक्रमण कठिन है। काल प्रत्येक प्राणीपर आक्रमण कर उसे दूसरे लोक को खींच ले जाता है।[६]

१- आगामिनमनर्थं हि प्रविधानशतैरपि।
न निवारयितुं शक्तस्तत्र का परिदेवना।।- वि २०।४६

२- नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि।
कुशाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति।।- वि २०।४४

३- जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
अर्थे दुष्परिहार्येऽस्मिन्नास्ति लोके सहायता।। - वि २०।२६

४- जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। जीवनाशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति।।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। यासौ प्राणान्तिको व्याधिस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्।।
- व ३०।६-१०

५- अनाद्यनन्तत्वात्कालस्य। एवमस्मिन्निरालम्बे काले सततयायिनि।
न तद्भूतं प्रपश्यामि स्थितिर्यस्य भवेद्ध्रुवा।।- वि २०।२१-२२

६- ये समर्था जगत्यस्मिन्सृष्टिसंहारकारणे। तेऽपि कालेन लीयन्ते कालो हि दुरतिक्रमः।।
आक्रम्य सर्वः कालेन परलोकं च नीयते। कर्मपाशवशो जन्तुस्तत्र का परिदेवना।।
- वि २०।२७,२८

कर्मफल और पुनर्जन्म

धर्मसूत्रों का सम्पूर्ण जीवनदर्शन कर्म के सिद्धान्त का समर्थन करता है। पापकर्म और पुण्यकर्म के तदनुकूल फल मनुष्य को भोगने होते हैं यह सिद्धान्त धर्मसूत्र की व्यवस्था का आधार है। विष्णुधर्मसूत्र का कथन है कि व्यक्ति के उत्तम और बुरे कर्म दोनो ही मृत्यु के बाद उसके साथ जाते हैं, अतः उसके संबन्धी शोक करें या न करें उससे कोई अन्तर नहीं होता।[१] जैसे बछड़ा सहस्रों गायों में अपनी माँ को ढूँढ लेता है वैसे ही पहले किया गया कर्म अपने कर्ता को निश्चित रूप से प्राप्त करता है-

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारं विन्दते ध्रुवम्।।[२]

भगवद्गीता के पुनर्जन्म-विषयक सिद्धान्तों को विष्णुस्मृति ने प्रायः उन्हीं शब्दों में ग्रहण किया है। इस शरीर में कौमार्य, युवावस्था और वृद्धावस्था जिस प्रकार होती है उसी प्रकार दूसरे शरीर की प्राप्ति भी होती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा नवीन शरीर प्राप्त करता है। वि ध सू में पाप कर्मो के आधार पर दूसरे जन्म में भिन्न-भिन्न योनि प्राप्त करने का विस्तार से वर्णन किया गया है और पूर्व जन्म के दुष्कर्मों के इस जन्म में दिखायी पड़ने वाले दुर्लक्षणों का भी निर्देश किया गया है।[३] आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी पाप कर्मों के कारण पापी व्यक्ति के वर्णच्युत होकर भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होने का वर्णन है।[४] पुण्यफल के विषय में प्रजापति के श्लोकों को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि तीनो वेदों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, सन्तानोत्पत्ति, श्रद्धा, तप, यज्ञ और दान करने वाले प्रजापति का लोक प्राप्त करते हैं।[५]

१- सुकृतं दुष्कृतं चोभौ सहायौ यस्य गच्छतः।
बान्धवैस्तस्य किं कार्यं शोचद्भिरथवा न वा।।- वि २०।३१

२- वि २०।४७

३- विष्णुधर्मसूत्र, अध्याय ४३ और ४४।

४- स्तेनोऽभिशस्तो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा परस्मिँल्लोकेऽपरिमिते निरये वृत्ते जायते चण्डालो ब्राह्मणः पौल्कसो राजन्यो वैणो वैश्यः।- आप २।२।६-७

५- अथाऽपि प्रजापतेर्वचनम्- त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम्। य एतानिकुर्वते तैरित्सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत्प्रशंसन्।-आप २।२४।७-८

वस्तुतः धर्मसूत्रों की नैतिक व्यवस्था पुनर्जन्म और कर्मफल से प्रेरित है। इस सिद्धान्त का नीतिशास्त्र से घनिष्ठ संबन्ध है। इसकी समीक्षा नैतिक मूल्यों का अनुशीलन करते हुए की जायगी।

ओम् का महत्त्व

उपनिषदों में ॐकार की अक्षर ब्रह्म के रूप में महत्ता प्रदर्शित की गयी है। प्रायः उपनिषदों की शैली में ही धर्मसूत्र भी अक्षर ब्रह्म का उल्लेख करते हैं: ओम् अक्षर ब्रह्म है। ब्रह्म ही यह ज्योति है।[१] वेद रूपी वृक्ष का मूल प्रणव है, वेद की आत्मा प्रणव ही है, प्रणव ही ब्रह्म है, अतः प्रणव का ध्यान करे।[२] प्रणव ही ब्रह्म के साथ ऐक्य सिद्ध करता है।[३] बौधायनधर्मसूत्र मे ओंकार की महत्ता इतनी अधिक बतायी गयी है कि तीन बार उच्चारण से ही सभी पापों से मुक्ति होने का उल्लेख किया गया है।[४] विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में 'प्रजापति ने अकार, उकार तथा मकार को तथा भूः, भुवः, स्वः को तीन वेदों से दुहकर निकाला है।[५] एकाक्षर ॐ परमब्रह्म है, प्राणायाम परम तप है, सावित्री मन्त्र से बढ़कर कुछ भी नहीं है, और मौन से सत्य बढ़कर है। सभी वैदिक कर्म हवन यज्ञ आदि की क्रियाएँ और उनसे उत्पन्न फल नष्ट होते हैं, किन्तु ॐ अक्षर अविनाशी है, क्योंकि यह स्वयं ब्रह्म तथा प्रजापति हैं।[६]

१- ओमिति ब्रह्म ब्रह्म वा एष ज्योतिः य एष ज्योतिः य एष तर्पत्येष वेदा य एव तर्पयति वेद्यमेवेतद्य एष तर्पयति एवमेवैष आत्मानं तर्पयत्यात्मने नमस्करोत्यात्मा ब्रह्मऽऽत्मा ज्योतिः। -बौ २।१७।३६

२- वेदो वृक्षः तस्य मूलं प्रणवः। प्रणवात्मको वेदः। प्रणवो ब्रह्म, प्रणवं ध्यायेत्।- बौ २।१८।३०-३२

३- बौ २।१८।३३ प्रणवो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति होवाच प्रजापतिः।

४- अपि वा प्रणवमेव त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते। - बौ ४।४।८

५- अकारं चाप्युपकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीनि च ॥- वि ५५।१०

६- एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परंतपः।
सावित्र्यास्तु परं नान्यन्मौनात्सत्यं विशिष्यते॥- वि ५५।१७

आत्मा और उसका ज्ञान

आपस्तम्ब के शब्दों में आत्मा के ज्ञान के लाभ से बढ़कर कोई अन्य लाभ नहीं है।[1] इस धर्मसूत्र के प्रथम प्रश्नान्तर्गत आठवें पटल को अध्यात्म-पटल कहा गया है और इसमें आत्मा तथा मोक्ष का विवेचन करने वाले अनेक उपनिषद्वाक्यों को संकलित किया गया है।[2] 'सभी जीवित प्राणियों का शरीर उस आत्मा का निवासस्थान है,[3] जो बुद्धिरूपी गुफा में शयन करता है, जो पापरहित है, जरा, रोग आदि सभी दोषों से मुक्त है, अमर है। जो व्यक्ति उस अचल तथा चंचल प्राण शरीर में विद्यमान आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह अमर हो जाता है। संन्यासी के लिए यह विधान किया गया है कि वह सत्य और असत्य का, सुख-दुःख का, वेदों का तथा लोक-परलोक का परित्याग कर परमात्मा का ही चिन्तन करे। आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[4]

विष्णुधर्मसूत्र में इस आत्मा या परमतत्त्व को पुरुष नाम से अभिहित किया गया है। उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है : 'पुरुष नित्य, अतीन्द्रिय, गुणातीत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से परे है, सर्वत्र और अति स्थूल है, सर्वत्र गमन करने वाला तथा अतिसूक्ष्म है। उसके हाथ-पैर सर्वत्र व्याप्त हैं, उसका मुख सभी ओर है, जो सभी इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न है, इस प्रकार के पुरुष का ध्यान करे।[5] वह सम्पूर्ण विश्व (पुर) को सभी ओर से व्याप्त कर शयन करता है[6] इस कारण

क्षरन्ति सर्ववैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्मा चैव प्रजापतिः।। वि ५५।१७,१८

१- आत्मलाभान्न परं विद्यते।-आ १।२२।२   २- आप १।२२।४-१०

३- पूः प्राणिनः सर्व एव गृहाशयस्याऽहन्यमानस्य विकल्मषस्याऽचलं चलनिकेतनं
येऽनुतिष्ठन्ति तेऽमृताः।- आप १।२२।४

४- सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्। बुद्धेः क्षेमप्रापणम्।
- आप २।२१।१३-१४

५- वि ९७।२-५, सत्याषाढ, २६।६।६

६- पुरमाक्रम्य सकलं शेते यस्मान्महाप्रभुः।
तस्मात्पुरुष इत्येष प्रोच्यते तत्त्वचिन्तकैः।। - वि ९७।१५

पुरुष कहलाता है। विष्णुधर्मसूत्र पुरुष को निर्गुण कहने के साथ-साथ पच्चीसवाँ तत्त्व कहता है, जो सभी तत्त्वों से परे है, इन्द्रियातीत, असक्त, सबको धारण करने वाला तथा गुणों के फल का भोक्ता भी है।[१] परमात्मा के समष्टि और व्यष्टि रूपों का उल्लेख करते हुए इसी धर्मसूत्र में कहा गया है: 'वह भूतों के बाहर और भीतर भी विद्यमान है, वह चर और अचर के रूप में है। सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है, दूरस्थ है, तथापि हृदय में स्थित होने के कारण अत्यन्त निकट है। वह भूतों से भिन्न नहीं है, तथापि बाह्यतः भिन्न है। वह भूत, भव्य और भवत् रूप वाले संसार को उत्पन्न तथा विनष्ट करने वाला है। वह ज्योतियों में भी बढ़कर ज्योति है और अन्धकार अर्थात् अज्ञान का शत्रु है। वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है और सबके हृदय में स्थित है।[२]

मोक्ष तथा योगाभ्यास

वसिष्ठ का कथन है कि निरन्तर वन में निवास करने वाला संन्यासी निश्चय ही पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है। जिसने अपनी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को वश में किया है, जिसने सभी इन्द्रिय-सुखों का त्याग कर दिया है, जिसका मन परमात्मा के ध्यान में बद्ध है और जो सुख-दुःख के प्रति समान भाव रखता है वह मोक्ष लाभ करता है।[३] योग की प्रशंसा में कहा गया है: 'कठोर तप, दैनिक स्वाध्याय तथा यज्ञों द्वारा भी द्विज उस अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकता जो योग के अभ्यास से प्राप्त होती है। योग के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, योग धर्म का मूल है। योग का अभ्यास परम तप है।[४]

१- प्राग्रान्नपररात्रेषु योगी नित्यमतन्द्रितः। ध्यायेत पुरुषं विष्णुं निर्गुणं पञ्चविंशकम्।।
तत्त्वात्मानमगम्यं च सर्वतत्त्वविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।
-वि ९७।१६-१७

२- ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्याधिष्ठितम्।। - वि ९७।१८-१९ एवं ९७।२०

३- व १०।१७, सत्याषाढ०२७।१।१०१

४- न तां तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ताः योगात्संप्राप्नुवन्ति याम्।।
योगात्संप्राज्ञयते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपो नित्यं तस्माद्युक्तः सदा भवेत्।। - व २४।७-८

सदैव योग की साधना करे। आपस्तमबधर्मसूत्र के उपर्युक्त अध्यात्मपटल में भी योग के अनुष्ठान का उपदेश है।[१] अन्यत्र कहा गया है कि जो मन से, वाणी से, प्राण, नेत्रों, कानों, त्वचा, शिश्न, उदर से विषयों के उपभोग का पूर्णतः वर्जन करता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।[२]

प्राणायाम और ध्यान

प्राणायाम का विधान पापों से मुक्ति के साधन के रूप में किया गया है। श्वास रोककर व्याहृतियों एवं ॐकार सहित तीन बार गायत्री का जप शिरस् मन्त्र के साथ करने पर एक प्राणायाम होता है।[३] सन्ध्याकालीन प्राणायाम द्वारा दिन में किये गये कर्म, विचार और वाणी के पाप दूर होते हैं और प्रातःकाल सन्ध्यावन्दन के समय तीन बार प्राणायाम करने से रात्रि मे कर्म, मन और वाणी से किये गये पापों से मुक्ति होती है।[४] तीन बार निरन्तर प्राणायाम करने से दिन और रात्रि में किये गये सभी पापों से मुक्ति हो जाती है।

विष्णुधर्मसूत्र में ध्यान की कई विधियाँ बतायी गयी हैं। प्रथमतः, आसन लगाकर जिह्वा को तालु से सटाकर, दाँतों को खोले हुए, दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर कर किसी भी दिशा में न देखते हुए समाहित होकर प्रशान्त मन से चौबीस तत्त्वों से परे स्थित पुरुष का ध्यान करने का विधान है। यदि संन्यासी परमात्मा का ध्यान न कर सके तो क्रमशः पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, जीवात्मा तथा अव्यक्त का ध्यान करे और अभ्यास हो जाने पर उन्हें छोड़कर पुरुष का ध्यान करे। ऐसा भी न कर सकने पर पुरुष का ध्यान हृदयरूपी कमल में चमकते हुए दीपक के रूप में

१- अध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेन्न्यायसंहितानेश्चारिकान्।- आप १।२२।१

२- मनसा वाचा प्राणेन चक्षुषा श्रोत्रेण त्वक्छिश्नोदरारम्भणानास्रावान् परीवृञ्जानोऽमृतत्वाय कल्पते। - आप २।५।१८

३- सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते।।
- व २५।१३, वि ५५।८

४- व ३६।१-३

करे।[१] निराकार पुरुष या ब्रह्म का ध्यान करने में समर्थ न होने पर साकार विष्णु के ध्यान का स्वरूप भी इस धर्मसूत्र में बताया गया है।[२] कहा गया है कि 'मनुष्य जिसका ध्यान करता है उसे ही दूसरे जन्म में प्राप्त करता है, अतः सभी नश्वर वस्तुओं को छोड़कर अक्षर का ही ध्यान करना चाहिए। पुरुष के अतिरिक्त और कुछ भी अक्षर नहीं है। पुरुष को प्राप्त करने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है।[३]

वसिष्ठधर्मसूत्र एवं विष्णुधर्मसूत्र में तप की महत्ता विस्तार से वर्णित है।[४] विद्या और तप के संयोग को ही सार्थक माना गया है।[५] वसिष्ठ का कथन है : 'जैसे मधु के साथ मिला हुआ अन्न या अन्न के साथ मिला हुआ मधु शक्तिशाली होता है वैसे ही तप और विद्या भी मिलने पर शक्तिशाली होते हैं-

यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु वान्नेन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्।।
- वसिष्ठधर्मसूत्र, २६।१८

१- वि ९७।१-६

२- तत्राप्यसमर्थो भगवन्तं वासुदेवं किरीटिनं कुण्डलिनमङ्गदिनं श्रीवत्साङ्कं वनमालाविभूषितोरस्कं सौम्यरूपं चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापद्मधरं चरणमध्यगतभुवं ध्यायेत्।
- वि ९७।१०

३- वि ९७।११-१४

४- वि ९७। १६-१७

५- यथाश्वा रथहीनाः स्यु रथो वाश्वैर्विना यथा।
एवं तपस्त्वविद्यस्य विद्या वाप्यतपस्विनः।। - व २६।१७

किया है।[1] गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम में पत्नी को पति के सभी धार्मिक कर्मों में सहयोग देने का अधिकार एवं गौरव प्राप्त था इससे पति-पत्नी का सम्पूर्ण जीवन एक पवित्र अटूट संबन्ध का रूप धारण करता था और पत्नी अपने पति के वर्त्तमान जीवन के साथ ही नहीं, अपितु परलोक में भी इस सम्बन्ध के बने रहने की कल्पना कर उसके धार्मिक कर्मों में तत्पर रहती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति भी एक पूर्ण धार्मिक कर्त्तव्य बन गये थे और चूँकि स्त्री इस कर्त्तव्यपालन में अपरिहार्य थी इसलिए उसका एक विशेष महत्त्व बना रहा। वसिष्ठ ने[2] गृहस्थ के जिन तीन कर्मों स्वाध्याय, यज्ञ एवं प्रजनन का उल्लेख किया है उनमें सन्तानोत्पत्ति में विशेषतः स्त्री का महत्त्व स्पष्ट है। प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने पुत्र का माहात्म्य वर्णित किया है। अन्ततः, नारी का कुछ महत्त्व यदि उसके मातृत्व के कारण ही सुरक्षित दिखायी पड़ता है तो उसका श्रेय प्रकृति या ईश्वर के विधान को है जिसने उसे यह विशिष्टता प्रदान की है।

गृहिणी के रूप में नारी की प्रशंसा धर्मसूत्रों में भी उपलब्ध होती है। यद्यपि इस रूप में नारी एक संकुचित दायरे में अवरुद्ध प्रतीत होती है तथापि सम्पूर्ण परिवार की सुख और शान्ति का दायित्व वहन करने का महान् कर्त्तव्य करती है। इस पारिवारिक शान्ति के अभाव में कोई भी धाार्मिक या आर्थिक प्रगति नहीं सम्भव हो सकती थी। गृहस्थी की वस्तुओं को सुरक्षित और स्वच्छ रखना तथा अपव्यय न करना गृहिणी के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत निर्दिष्ट है।[3] विष्णुधर्मसूत्र ने परदे की प्रथा को पसन्द किया है और घर के द्वार या खिड़कियों पर स्त्रियों का खड़ा होना अनुचित माना है।[4] इससे यह सन्देह नहीं रह जाता कि धर्मसूत्रकाल के अन्त में स्त्री अधिकाधिक घर की दीवालों के भीतर सीमित हो चली थी। घर के भीतर उसे पति के मनोनुकूल सभी कार्य

१- आप ध सू २।१।१ 'पाणिग्रहणादधिगृहमेधिनोर्व्रतम्' में गृहमेधिनोः के द्विवचन से स्पष्ट है कि गृह्यकर्म दोनो में से किसी एक के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकते थे। वैश्वदेव बलि विधुर भी कर सकता था। - द्र० हरदत्त की वृत्ति।

२- युक्तः स्वाध्याये यज्ञे प्रजनने च।- व ८।११

३- सुसंस्कृतोपस्करता। अमुक्तहस्तता। सुगुप्तभाण्डता।- वि २५।४-६

४- द्वारदेशगवाक्षेष्वनवस्थानम्।- वि २५।११

करने होते थे। अतिथिसत्कार में तत्पर रहना और परिवार के सदस्यों के भोजन की व्यवस्था करना - ये ही उसके प्रमुख कार्यक्षेत्र थे और उसकी स्थिति गौण हो गयी थी। पति को सुखी एवं चिन्तामुक्त रखना उसका परम धर्म था। धार्मिक क्रिया में भी शनैःशनैः पुरुष का प्राधान्य स्थापित हो गया और स्त्री की भूमिका नाम मात्र की रह गयी।

पातिव्रत्य के आदर्श ने नारी की स्थिति और भी संकुचित कर दी। धर्मसूत्रों की निम्नलिखित उक्तियाँ स्त्री की तत्कालीन अवस्था पर्याप्त स्पष्ट कर देती हैं- 'स्त्री का यह धर्म है कि वह अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य का मन से भी चिन्तन न करे।[१] जो स्त्रियाँ पति के सुख हेतु सतत प्रयत्नशील रहती हैं वे स्वर्गलोक प्राप्त करती हैं।[२] पति के अनुकूल व्रत का आचरण करना सास, श्वशुर, गुरुजन, देवता तथा अतिथि की पूजा ही नारी का धर्म है।[३] सौभाग्यवती के लिए कोई अन्य व्रत या उपवास नहीं है। जो स्त्री अपने पति के जीवित रहते उपवास का व्रत करती है वह अपने पति की आयु को क्षीण करती है और मृत्यु के बाद नरक प्राप्त करती है।[४] वानप्रस्थाश्रम में भी प्रायः पत्नी अपने पति का अनुसरण करती थी और वन में उसके साथ रहकर आश्रमधर्म के पालन में सहयोगिनी होती थी। ऐसी भी स्थिति होती थी जब पति के वानप्रस्थाश्र में प्रवेश करने पर पत्नी अपने पुत्रों के साथ ही रहती थी और उनके परिवार की व्यवस्था में योगदान देती थी।[५] इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन त्यागमय एवं दूसरों - पति एवं पुत्रों - के कल्याण हेतु समर्पित था।

स्त्री के प्रति कतिपय अधिक उदारतापूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी धर्मसूत्रों में उपलब्ध होती हैं। सामान्यतः स्त्री के प्रति सम्मान का व्यवहार उत्तम माना गया है। आपस्तम्ब ने यह आदेश दिया है कि यदि कोई स्त्री वन में अथवा किसी निर्जन स्थान

१- नातिचरेद् भर्तारम्।- गौ २।६।२

२- भर्तृहिते यतमानास्स्वर्गं लोकं जयेरन्।- बौ २।३।४८

३- भर्तुः समानव्रतचारित्वम्। श्वश्रूश्वसुरगुरुदेवतातिथिपूजनम्।- वि २५।२-३

४- वि २५।१६

५- शंखलिखित ने भी पतिपूजन को ही नारी के लिए स्वर्गहेतु माना है।(५।

में दिखायी पड़े तो उसे सम्मानपूर्वक संबोधित कर यह जानना चाहिए कि उसे कोई कष्ट तो नहीं है और अपेक्षित होने पर उसकी यथोचित सहायता करनी चाहिए।[१] धर्मसूत्रों ने नारी के लिए उन अपराधों में भी वध का दण्ड नहीं बताया है जिनमें पुरुष अपराधी वध्य होता है। सामान्यतः वह अवध्या है। प्रायश्चित्त एवं तिरस्कार ही उसके लिए कठोर दण्ड हैं। बहनों एवे पुत्रियों को पहले भोजन कराने की प्रशंसा करते हुए गौतमधर्मसूत्र ने नारी के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[२] धर्मसूत्रकाल में स्त्रियों से कोई कर नहीं लिया जाता था।[३] इस काल में भी नारी को समाज और परिवार में अपने पति के वर्ण एवं वयस् के अनुसार ही सम्मान मिलता था। विवाहिता स्त्रियों का अभिवादन उनके पति की आयु के अनुसार करने का नियम आपस्तम्बधर्मसूत्र में स्पष्टतः उल्लिखित है, किन्तु यहाँ भी नारी के प्रति यह भेद किया गया है उसका अभिवादन करते समय अपने नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए, अपितु अपने लिए सर्वनाम का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु आपस्तम्ब माता तथा आचार्यपत्नी के अभिवादन में उपर्युक्त नियम का पालन उचित नहीं मानते हैं।[४]

माता के रूप में नारी परम सम्मान और श्रद्धा की अधिकारिणी घोषित की गयी है। कुछ आचार्यों ने उसका स्थान आचार्य से भी श्रेष्ठ माना है।[५] आपस्तम्ब का निर्देश है कि माता के पतिता हो जाने पर भी उसकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वह पुत्र के लिए अनेक प्रकार के कर्म करती है।[६] गौतम ने भी किसी भी स्थिति में माता के साथ अनुचित व्यवहार न करने का आदेश दिया है।[७] प्रत्येक स्थिति में माता का भरण-पोषण करना पुत्र का कर्त्तव्य माना गया है।[८] माता के महत्त्व का उल्लेख करते

१- अरण्ये वा स्त्रियम्।-आप १।१४।२८ द्र० हरदत्त की भाष्य।

२- भोजयेत् पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थविराञ्जघन्यांश्च।-गौ १।५।२३

३- आप २।२६।११ सर्ववर्णानां च स्त्रियः। द्र० सत्या० २७।५।२०६

४- सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यौ च न नाम्ना। मातरमाचार्यदारं चेत्येके।-आप १।१४।२०,२१

५- आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके।- गौ १।२।५६

६- मातापुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि।-आप १।२८।६

७- न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः।- गौ ३।३।१५

८- पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः।- बौ २।३।४३, तुलनीय- व १६।३०

हुए वसिष्ठधर्मसूत्र ने यह उद्धरण भी दिया है कि आचार्य उपाध्याय से दस गुना अधिक पूज्य होता है, आचार्य की अपेक्षा पिता सौ गुना और पिता की अपेक्षा माता सहस्र गुना अधिक पूजनीया होती है।[१]

आचार्यपत्नी का भी धर्मसूत्रों के समाज में विशिष्ट सम्मानपूर्ण स्थान था। वह आचार्य के समान ही पूज्या थी।[२] आचार्यपत्नी के प्रति भी वे सभी सेवाकार्य विहित किये गये हैं, जो आचार्य के प्रति हैं, केवल उनका चरणस्पर्श और उच्छिष्टभक्षण वर्जित है।[३] युवती पूज्या स्त्रियों के प्रति व्यवहार में कुछ मर्यादा निर्धारित कर दी गयी थी, जिसका प्रयोजन कामभावना का वर्जन मात्र ही था। युवती गुरुपत्नी तथा भ्रातृजाया का युवक पुरुष द्वारा चरणस्पर्श किये जाने का निषेध इसी प्रकार की मर्यादा का उदाहरण है।[४] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्यपत्नी भी यदि आचार्य से निम्नवर्ण की होती थी तो उसे दूर से ही अभिवादन किया जाता था।[५]

नारी के प्रति धर्मसूत्रों की एक चिन्तनीय दृष्टि उन स्थलों पर दिखायी पड़ती है जहाँ उसे शूद्र के समकक्ष बना दिया गया है। चान्द्रायण आदि व्रतों में स्त्री और शूद्र से भाषण निषिद्ध है।[६] स्त्री और शूद्र का आचमन-नियम समान बताया गया है।[७] शूद्र और स्त्री के साथ यात्रा ही वर्जित की गयी है।[८] इसी प्रकार स्त्री के वध का प्रायश्चित्त

१- अथाप्युदाहरन्ति-उपाध्यायद्दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता।
पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते॥- व १३।४८

२- तद्भार्यापुत्रेषु चैवम्।- गौ १।२।३७

३- अन्यत्रोपसंग्रहणादुच्छिष्टाशनाच्चाऽऽचार्यवदाचार्यदारे वृत्तिः।- आप १।७।२७
प्रसाधनोच्छादनस्नापनोच्छिष्टवर्जं च तत्पत्न्याम्।-बौ १।३।३८, तुलना० वि ३२।५-६

४- नोपंग्रहणं भ्रातृभार्याणां स्वसृणाम्।-गौ १।६।८
द्र० गौ १।२।४० नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन।
बौ १।३।३४ भ्रातृपत्नीनां युवतीनां च गुरुपत्नीनां जातवीर्यः।

५- हीनवर्णानां गुरुपतनीनां दूरादभिवादनं न पादोपसंस्पर्शनम्।- वि ३२।५

६- स्त्रीशूद्रैर्नाऽभिभाषेत मूत्रपुरीषे नाऽवेक्षेत।- बौ ३।८।२२ द्र० वि ४६।२५
स्त्रीशूद्रपतितानां च वर्जयेच्चाभिभाषणम्। पवित्राणि जपेन्नित्यं जुहुयाच्चैव शक्तितः॥

७- सकृदुभयं स्त्रियाश्शूद्रस्य च।- बौ १।८।१७

८- न पतितैर्न स्त्रिया न शूद्रेण।- बौ २।६।२२

भी शूद्रपुरुष के वध के समान कहा गया है।[१] धर्मसूत्रों की दृष्टि में स्त्री यज्ञ की भी अधिकारिणी नहीं है। गौतम ने स्त्री के लिए यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने योग्य भी नहीं माना है।[२] आपस्तम्ब ने भी स्त्री द्वारा अन्न का हवन वर्जित किया है।[३] इससे भी अधिक आश्चर्यजनक व्यवहार का उदाहरण धर्मसूत्रों के उन वाक्यों में मिलते है, जिनमें पति और पत्नी का एक साथ भोजन करना निन्दित है।[४] वसिष्ठधर्मसूत्र में वाजसनेयक का यह मत भी उल्लिखित है कि पति और पत्नी के एक साथ भोजन करने पर उनकी सन्तान पौरुषहीन होती है।[५] जब विष्णुधर्मसूत्र किसी विवाद में स्त्री के लेख की प्रामाणिकता अस्वीकार करता है तब वह स्पष्ट ही धर्मसूत्रकाल की नारी की गिरी हुई सामाजिक प्रतिष्ठा का ही संकेत करता है। नारी की निकृष्ट सामाजिक स्थिति का उदाहरण दासी और शूद्र वर्ण की स्त्री है। धर्मसूत्रों के समाज में दासियों से स्वेच्छया यौनसम्बन्ध हो सकते थे और उन्हें बन्धक रखा जा सकता था। यदि एक व्यक्ति के यहाँ नियुक्त दासी को कोई दूसरा व्यक्ति कुछ काल तक ही अपनी सेवा में (जिसमें निश्चय ही यौनसंबन्ध भी सम्मिलित था) लगाने में समर्थ होता था, तो उस दासी पर उसका अधिकार मान्य होता था।[६] इन स्थितियों में नारी एक चल सम्पत्ति बनी हुई थी। ऋग्वेद में भी ऐसे वाक्य उपलब्ध हैं जिनमें नारी की इस निकृष्ट स्थिति का संकेत है।[७] अक्षसूक्त से तो यह स्पष्ट ही है कि स्त्री को जुए के दाँव पर लगाना भी अस्वाभाविक नहीं था। प्रो० इन्द्र ने भारतीय नारी की स्थिति के विषय में ठीक ही कहा है कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का ह्रास किसी एक विशेष काल से आरम्भ नहीं हुआ, अपितु इस प्रकार के पतन के चिह्न भारतीय इतिहास के सभी

१- शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातः।- बौ १।१६।३

२- गौ २।१६।१५ न भोजयेत... स्त्रीग्रामयाजकाजापाल...।

३- आप २।१५।१७, सत्या० २७।३।५१ न स्त्री जुहुयात्।

४- गौ १।६।३२, वि ६८।४६, वैखा०१०।१

५- भार्यया सह नाश्नीयादवीर्यवदपत्यं भवतीति वाजसनेयके विज्ञायते।

६- गौ २।३।३६ द्र० हरदत्त की वृत्ति 'कथमन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुंजान उपेक्षते, कथं वा बहुफलारामं, कथं वा दासीं यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम्।

७- ऋ० ७।२६।३

कालों में पाये जा सकते हैं, यद्यपि बाद के युगों में यह अधोगति अधिक स्पष्ट और त्वरित हो गयी है।[१] धर्मसूत्रों में तत्कालीन यौनजीवन का जो चित्र उपलब्ध होता है उससे नारी की हीन स्थिति पर और प्रकाश पड़ता है। आगे आने वाले पृष्ठों में इस पर पुनः दृष्टि डाली जायगी।

सम्पत्ति के अधिकार की दृष्टि से भी धर्मसूत्रकाल में नारी की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। बौधायन ने श्रुति का यह वचन उद्धृत किया है कि स्त्रियाँ शक्तिहीना होती हैं और सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं।[२] सामान्यतः, पति के जीवित रहते पत्नी के किसी भी प्रकार के आर्थिक अधिकार का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उनमें कोई विभाजन नहीं होता, वे सभी कार्यों में विवाहकाल से ही सहभागी होते हैं।[३] पति की मृत्यु पर गौतमधर्मसूत्र के अनुसार[४] पुत्र, पुत्रिकापुत्र, सपिण्ड, सगोत्र के अभाव में ही पत्नी सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी, किन्तु विष्णुधर्मसूत्र के काल तक इस अधिकार में यह उल्लेखनीय अन्तर आ गया था कि पति की मृत्यु के बाद पत्नी और पत्नी के अभाव में पुत्री उत्तराधिकारिणी[५] मानी जाती थी। आपस्तम्ब ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री को दाय की अधिकारिणी माना है।[६] संयुक्त परिवार में एक भाई की मृत्यु पर उसका धन दूसरे भाई को मिल जाता था। विधवा स्त्री वहाँ भी इस अधिकार से वञ्चित हो जाती थी।[७] दायविभाग के प्रसंग में विष्णुधर्मसूत्र ने विधवा स्त्री को अपने पुत्रों को प्राप्य भाग के अनुसार अंश देने का उल्लेख किया है।[८]

१- "It appears that the deterioration of the status of women did not begin from any specific point of time. The traces of such degradation can be found in all periods of Indian history, though in the later ages degradation is much more marked and still more rapid.
-The Status of Women in Ancinet India, p.10

२: निरिद्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः।- बौ २।३।४७

३- जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु।- आप २।१४।१६,१७

४- पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य।- गौ ३।१०।१६

५- द्र० वि १७।४-५ अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि।

६- दुहिता वा।-आप २।१५।४

७- गौ ३।१०।२५,२६ असंसृष्टिविभागः प्रेतानां ज्येष्ठस्य। संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्।

८- वि १८।३४ मातरः पुत्रभागानुसारेण भागापहारिण्यः।

स्त्री के विशेष धन 'स्त्रीधन' का उल्लेख सभी धर्मसूत्रों ने किया है। यह मुख्यतः स्त्री को विवाह के समय उपहारस्वरूप प्राप्त आभूषण आदि के रूप में होता था। माता की मृत्यु पर यह धन सामान्यतः पुत्रियों को मिलता था।[१] कभी- कभी यह धन पति को या उस स्त्री के पिता को भी प्राप्त होता था।[२] विष्णुधर्मसूत्र में अविवाहिता पुत्रियों को भी पुत्रों के समान अंश देने की बात कही गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री के उपर्युक्त आर्थिक अधिकार व्यावहारिक दृष्टि से उतने संरक्षित नहीं थे, जितने सिद्धान्त रूप में स्वीकृत थे। इसका मुख्य कारण नारी की हीन एवं पुरुषाश्रित सामाजिक स्थिति थी।

स्त्रीहिंसा के निमित्त से धर्मसूत्रों ने जिस प्रकार के दण्ड एवं प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है उससे भी नारी की हीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण वर्ण की स्त्री के वध का प्रायश्चित्त क्षत्रिय पुरुष के वध के समान होता था।[३] आत्रेयी (ऋतुस्नाता ब्राह्मण स्त्री) के वध का अधिक दोष माना गया है। इसका कारण संभवतः यही था कि इस प्रकार की स्त्री ब्राह्मण सन्तान उत्पन्न कर सकती थी।[४] क्षत्रिय वर्ण की स्त्री के वध का प्रायश्चित्त वैश्य पुरुष के तथा वैश्य स्त्री के वध का प्रायश्चित्त शूद्र वर्ण के पुरुष के वध के समान विहित है।[५] बौधायन के अनुसार तो ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण की स्त्री का वध करने पर शूद्र पुरुष या गौ के वध के समान ही प्रायश्चित्त होना चाहिए।[६]

धर्मसूत्रों में नारी की अपवित्रता और पवित्रता के विषय में भी अनेक बातें कही गयी हैं। स्त्री-जाति के साथ यह विडम्बना दिखायी पड़ती है कि जिस निमित्त से

१- स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च।- गौ ३।१०।२२; मातुरलङ्कारं दुहितस्साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा।- बौ २।३।४४; मातुः पारिणेयं स्त्रियो विभजेरन्।- व १७।४६

२- वि १७।१६,२० ब्राह्म आदि चार उत्तम विवाहों में पति को और अन्य चार में पिता को।

३- व २०।३७ अनात्रेयी राजन्यहिंसायाम्।

४- व २०।२६; आप १।२४।६; बौ १।१६।१७; गौ ३।३।८, ३।४।१२

५- राजन्यां वैश्यहिंसायाम्। वैश्यां शूद्रहिंसायाम्।- व २०।३८,३६

६- बौ १।१६।३ शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातः।
द्र० बौ २।१।१०, गौ ३।४।१७

वह मातृत्व और पत्नीत्व के योग्य होती है एवं गृहस्थाश्रम में सम्मानित होती है उसी निमित्त से वह अपवित्र और वर्जनीया भी मानी गयी है। स्त्री का मासिक धर्म उसकी प्रकृतिरचित विशेषता है। इसके अभाव में वह सन्तान उत्पन्न करने में अक्षम होती है, किन्तु इस अवस्था में धर्मसूत्र उसे पूर्णतः निर्वासिता एवं अपराधिनी-जैसा जीवन व्यतीत करने को बाध्य करते हैं। रजस्वला स्त्री का स्पर्श तो वर्जित ही किया गया है,[1] उसको देखना एवं उससे भाषण करना भी निषिद्ध किया गया है।[2] इसी प्रकार रजस्वला का अन्न अभक्ष्य घोषित किया गया है[3] और अंजन एवं लेप की वस्तुएँ भी अग्राह्य बतायी गयी हैं।[4] विष्णुधर्मसूत्र में रजस्वला स्त्री द्वारा स्पृष्ट अन्न का भक्षण कर लेने पर सात रात्रि तक उपवास का कठोर प्रायश्चित्त विहित है।[5] वसिष्ठधर्मसूत्र एक पग और आगे बढ़कर कहता है कि जिन ब्राह्मणों के घर में रजस्वला स्त्रियाँ होती हैं वे शूद्रतुल्य होते है।।[6] वसिष्ठधर्मसूत्र ने ऐसी अवस्था में स्त्री के लिए जो आचार विहित किये हैं उनसे यही प्रतीत होता है मानो वह कोई प्रायश्चित्त करने के लिए बाध्य हो।[7] नारी की अपवित्रता के विषय में यदि इस प्रकार की विरक्तिपूर्ण धारणाओं ने भी उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को संकुचित करने में योगदान दिया हो तो आश्चर्य नहीं।

यह बात कुछ असंगत प्रतीत होती है कि यौनसंबन्ध के प्रयोजन से नारी की उपर्युक्त अपवित्रता ही पवित्रता का साधन मान ली गयी है। यदि किसी स्त्री के साथ व्यभिचार हुआ हो तो धर्मसूत्र के अनुसार मासिक धर्म से वह पवित्र हो जाती है। इस

१- गौ २।५।८, बौ १।११।३२ ऋतुमत्यां च।

२- वि ८१।६-६, ७१।५८; द्रष्टव्य- आप १।६।१३ ब्रह्माध्येष्यमाणो मलवद्वाससेच्छन् सम्भाषितुं ब्राह्मणेन सम्भाष्य तया सम्भाषेत। सम्भाष्य तु ब्राह्मणेनैव सम्भाष्याऽधीयीत।

३- रजस्वलाकृष्णशकुनिपदोपहतम्।- गौ २।८।१०
द्र० वि ५१।१६ रजस्वलासहोपपतिवेश्मनां च।

४- तदाहुः। अञ्जनाभ्यञ्जनमेवास्या न प्रतिग्राह्यं तद्धि स्त्रिया अन्नमिति। तस्मात्तस्यै च तत्र च बीभत्सन्ते मेयमुपागादिति।

५- वि ५१।१७-१८

६- उदक्यास्त्वासते येषां ये च केचिदनग्नयः।
कुलं चाश्रोत्रियं येषां सर्वे ते शूद्रधर्मिण इति।- व ५।१०

७- व ५।७

वर्ष में निर्धारित की है।[1] वसन्त में ब्राह्मण बालक का, ग्रीष्म में क्षत्रिय एवं शरद् ऋतु में वैश्य का उपनयन करना चाहिए।[2] वर्णक्रमानुसार गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती मन्त्रों से उपनयन करना चाहिए।[3]

उपनयन में वर्ण के आधार पर विभिन्न प्रकार की मेखला भी विहित की गयी है। ब्राह्मण वर्ण के लिए मूँज की , क्षत्रिय के लिए धनुष् की डोरी तथा वैश्य के लिए सन की मेखला का निर्देश किया गया है।[4] आपस्तम्बधर्मसूत्र ने वैश्य के लिए ऊन के धागे की मेखला का नियम दिया है। कुछ आचार्यों ने वैश्य के लिए तमाल की छाल से बटी गयी रस्सी अथवा बैलों की जुए में जोड़ने वाली रस्सी को मेखला के लिए उल्लिखित किया है।[5] ब्राह्मण के लिए कौपीन वस्त्र सन का, अतसी का अथवा किसी पवित्र पशु का चर्म हो। कुछ आचार्य ब्राह्मण का अधोवस्त्र काषाय रंग का विहित करते हैं। क्षत्रिय ब्रह्मचारी का वस्त्र मंजीठ से रंगा हुआ हो। वैश्य का वस्त्र हल्दी से रंगा हुआ हो अथवा सभी वर्णों का तन्तु का बना हुआ विना रंगा हुआ वस्त्र भी हो सकता है।[6] ब्राह्मण द्वारा धारण किया जाने वाला चर्म हरिण का अथवा काले रंग की मृगी का हो, क्षत्रिय उत्तरीय के रूप में रुरु मृग का चर्म धारण करे और वैश्य बकरे का चर्म धारण करे।[7] इन उत्तरीय चर्मों के न प्राप्त होने पर आपस्तम्बधर्मसूत्र ने सभी वर्णों के लिए भेड़ के ऊन का विधान किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में कृष्णमृगचर्म का उपयोग

व ११।४६-५१; बौ १।३।८-१० ; वि २७।१५-१७ ;
गौ १।१।६-८ उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे। नवमे पञ्चमे वा काम्यम्।गर्भादिः संख्या वर्षाणाम्।

१- एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः। -गौ १।१।१२

२- वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णानुपूर्व्येण- बौ धसू १।३।११; आप १।१।१६

३- गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीभिर्यथाक्रमम्। -बौ १।३।१२; व ४।३

४- मौञ्जी धनुर्ज्या शाणीति मेखलाः। - बौ १।३।१४ ; आप १।२।३३-३५;
गौ १।१।१५ ; वि २७।१८ ; व ध सू ११।५८-६०

५- आवीसूत्रं वैश्यस्य। सैरी तामली वेत्येके ।- आप १।२।३६-३७ ; गौ १।१।१५ सूत की मेखला बतायी गयी है। बौ १।३।१४ में वैश्य के लिए पटसन की मेखला विहित है।

६- आप १।२।३८- १।३।१-२; गौ १।१।१७-२०; व ११।६४-६७

७- कृष्णरुरुबस्ताजिनान्यजिनानि। - बौ १।३।१५; गौ १।१।१६;
आप १।३।३।५-७; व ध सू ११।६१-६३

बैठने एवं सोने के लिए निषिद्ध है। इसमें स्पष्टतः काले मृग के चर्म को उत्तरीय के रूप में धारण करने का निर्देश किया गया है।[१]

ब्रह्मचारी के लिए दण्ड भी वर्णानुसार विहित किया गया है। ब्राह्मण का दण्ड बिल्व या पलाश का होना चाहिए। इसका उल्लेख सभी धर्मसूत्रों में मिलता है।[२] आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में क्षत्रिय के लिए न्यग्रोध वृक्ष की नीचे की ओर से निकलने वाली शाखा का तथा गौतम ने पीपल या पीलू के दण्ड का आदेश किया है।[३] विष्णुधर्मसूत्र ने खदिर का दण्ड विहित किया है।[११] वैश्य ब्रह्मचारी के दण्ड के विषय में भी विभिन्न मत हैं, जैसे आपस्तम्ब, विष्णु एवं वसिष्ठ ने वैश्य के लिए बदर या उदुम्बर का एवं गौतम ने पीपल या पीलू का ही दण्ड बताया है।[४] उनके उपलब्ध न होने पर सभी वर्णों के लिए याज्ञिक वृक्षों के दण्ड का विधान सभी धर्मसूत्रकारों ने एक मत से किया है।[५] विभिन्न वर्णों के लिए जिस प्रकार अलग-अलग दण्डों का विधान किया गया है उसी प्रकार उनकी विशिष्ट ऊँचाई भी निर्धारित की गयी है, यथा ब्राह्मण के दण्ड की ऊँचाई सिर तक, क्षत्रिय के दण्ड की ऊँचाई ललाट तक एवं वैश्य के दण्ड की ऊँचाई नासिका के अग्रभाग तक होनी चाहिए।[६] दण्ड कैसा हो इस विषय में गौतम ने बताया है कि वह कीड़ों आदि से घुना न हो, उसका ऊपरी भाग यज्ञ के खूँटे की तरह टेढ़ा हो एवं छाल से युक्त हो। ऐसा दण्ड सभी वर्णों के लिए व्यवहार्य होता है।[७]

ब्रह्मचर्य की अवधि

ब्रह्मचर्य की अवधि के विषय में प्रायः सभी धर्मसूत्रकार एकमत हैं।

१- कृष्णं चेदनुपस्तीर्णासनशायी स्यात्। आप १।३।४; गौ १।१।१६,

२- पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य। आप १।२।३८; बौ १।३।१६;
वैल्वपालाशौ ब्राह्मणदण्डौ। गौ १।१।२१, व ११।५२; वि २७।२१

३- आप १।२।३८; गौ १।१।२२; व ११।५३ ४- वि २७।२१

५- आप १।२।३८; व ११।५४; वि २७।२१; गौ १।१।२२

६- मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणाः।-गौ १।१।२५; बौ १।३।१६ व ११।५५-५७;
वि २७।२२

७- अपीडिता यूपवक्राः सशल्काः। - गौ १।१।२४; वि २७।२४

उनका विचार है कि जब तक विद्या का पूर्ण ज्ञान न हो जाये ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम नियमों का पालन करना चाहिए। आपस्तम्ब ने अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचर्य का स्पष्ट निर्देश किया है, विद्या से चाहे सम्पन्न हो या न हो।[१] कुछ ऐसा ही विचार बौधायनधर्मसूत्र में भी दृष्टिगत होता है, किन्तु आगे के सूत्रों में बौधायन ने ब्रह्मचारी के विद्याग्रहण की इच्छा को ध्यान में रखकर प्रत्येक वेद के अध्ययन का अलग-अलग समय निर्धारित किया है। बौधायन का मत है कि प्रत्येक वेद के लिए चौबीस या बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य का आचरण करे या प्रत्येक काण्ड के लिए एक वर्ष का ब्रह्मचर्य रखे अथवा जब तक वेद का ग्रहण न कर ले तब तक ब्रह्मचर्य का आचरण करे।[२] इस विषय में बौधायन ने गौतम के ही मत का समर्थन किया है कि ब्रह्मचारी एक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का आचरण करे।[३] किन्तु साथ ही गौतम यह भी निर्देश करते हैं कि ब्रह्मचारी जितने समय में एक, दो, तीन या चारो वेदों का ग्रहण कर सके उतने समय तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहे।[४] इस पर विचार करते हुए बौधायन स्पष्टतः कहते हैं कि चूँकि मनुष्य का जीवन अनिश्चित है, अतः ब्रह्मचर्य की अवधि बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिए। यदि अवधि लम्बी होगी जो उसके पास अग्निष्टोम आदि अनेक कर्मों के लिए समय नहीं रह जायगा। अपने इस विचार का समर्थन उन्होंने श्रुति द्वारा भी किया है।[५]

उपनयन में किया जाने वाला गायत्री मन्त्र का अध्ययन सभी वेदों के अध्ययन के प्रयोजन से किया जाता है, अतः विभिन्न वेदों के अध्ययन के लिए अलग-अलग उपनयन की आवश्यकता नहीं होती।[६] उपनयन के समय के विषय में

१- तथा व्रतेनाऽष्टाचत्वारिंशत्परीमाणेन। -आप १।३०।२ ; आप १।२।१२-१६

२- बौ १।३।१ अष्टाचत्वारिंद्वर्षाणि पौराणं वेदब्रह्मचर्यम्।
गौ १।२।५२ प्रतिद्वादश वा सर्वेषु।

३- द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत्।-गौ १।२।५१; तुलना- बौ १।३।१-३
आप १।३०।३ विद्याव्रतेन चेत्येके।

४- ग्रहणान्तं वा। -गौ १।२।५३; बौ १।३।४

५- जीवितस्याऽस्थिरत्वात्। कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेति श्रुतिः। -बौ १।३।५-६

६- सर्वेभ्यो वै वेदेभ्यस्सावित्र्यनूच्यत इति हि ब्राह्मणम्।- आप १।१।१०

विभिन्न कामनाओं का भी महत्त्व है। ब्रह्मवर्चस्, आयु, तेज, अन्न, इन्द्रियों की शक्ति तथा पशु की कामना के लिए भिन्न-भिन्न वर्षों में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।[1] गुरुओं की उपासना के समय, श्रेष्ठ व्यक्तियों अथवा अतिथियों का सम्मान करते समय, होम करते समय तथा दैनिक वेदाध्ययन के समय यज्ञोपवीती हो ऐसा विधान किया गया है।[2] बौधायनधर्मसूत्र में भी सदा यज्ञोपवीत धारण करने की प्रशंसा की गयी है।[3]

ब्रह्मचर्याश्रम का महत्त्व

द्विजाति के लिएं ब्रह्मचर्याश्रम का सर्वाधिक महत्त्व था। उपनयन के पूर्व बालक शूद्र के समान माना जाता था।[4] उपनयन द्वारा बालक का दूसरा जन्म होता था, जिसमें सावित्री मन्त्र को माता और आचार्य को पिता[5] कहा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में बालक के जीवन को पूर्णतः संयत एवं अनुशासित बना दिया जाता था। इस आश्रम के बाद ही मनुष्यों के आपसी सामाजिक व्यवहार मान्य होते थे अन्यथा उससे कोई सामाजिक संबन्ध नहीं रखा जाता था। उपनयन के बाद ही वह सभी प्रकार के धार्मिक कार्यों को करने का अधिकारी माना जाता था। इसके बाद ही वेद मन्त्र का उच्चारण करने का नियम है। उपनयन संस्कार के समय ही बालक वेद के नियमों के अनुसार धार्मिक कृत्य करने का अधिकारी हो जाता है। यह संस्कार जीवन-यात्रा का वह स्थल होता था जहाँ से धार्मिक कर्तव्य आरम्भ होते थे।[6] ब्रह्मचर्याश्रम एक प्रकार का यज्ञ होता था। उद्धरण द्वारा बौधायन ने इसका संकेत भी किया है कि जो ब्रह्मचर्य आरम्भ

१- आप १।१।२१-२६

२- आप १।१५।१ उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्।

३- बौ २।३।१ नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी वृषलान्नवर्जी।
ऋतौ च गच्छन् विधिवच्च जुह्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्।

४- प्राङ्मौञ्जीबन्धनाद् द्विजः शूद्रसमो भवति ।- वि २८।४०

५- वि २८।३७-३९

६- अत्र ह्यधिकारश्शास्त्रैर्भवति। सा निष्ठा। - आप २।१५।२३-२४

करता है वह दीर्घसत्र आरम्भ करता है।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम वेद के अध्ययन का काल होता था और इस अवधि में विद्यार्थी सभी ओर से अपना ध्यान हटाकर संयम के साथ वेदमन्त्रों तथा क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करता था। यही कर्म उसको अपने भावी जीवन में करने होते थे । एक प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम धार्मिक जीवन के अनुशासनपूर्ण प्रशिक्षण का समय होता था, जिसमें व्यक्ति को वेदविहित कर्त्तव्यों के मार्ग पर चलने की योग्यता अर्जित करनी होती थी। ब्रह्मचर्याश्रम सम्पूर्ण जीवन की नींव के समान था। अन्य आश्रमों की उपेक्षा की जा सकती थी, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम की उपेक्षा करने पर व्यक्ति सभी प्रकार से अयोग्य माना जाता था।

ब्रह्मचारी के गुण

ब्रह्मचर्याश्रम सभी प्रकार के नैतिक गुणों को अर्जित करने के लिए की गयी व्यवस्था के रूप में था। इसमें विद्यार्थी सभी प्रकार से स्वयं को पवित्र बनाये रखने का संकल्प लेता था और धर्म के मौलिक नियमों का अपने व्यवहार में कठोरता के साथ अभ्यास करता था। धर्मसूत्रों के अनुसार ब्रह्मचारी को सत्यभाषी, लज्जाशील तथा अहंकारहीन होना चाहिए।[2] जिस व्यक्ति का उपनयन हो चुका हो उसे सदा सत्य ही बोलना चाहिए।[3] क्षमा और सरलता उसका मुख्य गुण होना चाहिए। इन गुणों से युक्त ब्रह्मचारी ही सिद्धि प्राप्त करता है।[4] आपस्तम्ब के शब्दों में ब्रह्मचारी को क्षमाशील तथा मृदु स्वभाव का होना चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों को अनुचित विषयों से नियन्त्रित रखना चाहिए। उसे अपने कर्त्तव्यपालन में तत्पर रहना चाहिए और लज्जाशील होना चाहिए।[5] ब्रह्मचारी को धैर्य तथा आत्मसंयम से युक्त होना चाहिए। उसे उत्साहसंपन्न होना चाहिए। किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिए। दूसरे के अभ्युदय पर जलना नहीं

१- दीर्घसत्रं ह वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।- बौ १।४।७

२- सत्यवादी ह्रीमाननहङ्कारः।-बौ १।३।२१

३- सत्यवचनम्।-गौ १।३।१३

४- आप १।५।११

५- आप १।३।१७-२० मृदुः। शान्तः। दान्तः। ह्रीमान्।

चाहिए।[१] ऐसे ही विचार विष्णुधर्मसूत्र के भी हैं।[२] स्वाध्याय को धारण करने वाला, धर्म अर्थात् नियमों का पालन करने वाला, तपस्वी, सरल तथा क्षमावान् ब्रह्मचारी सिद्धि प्राप्त करता है।[३] मन की एकाग्रता ब्रह्मचारी के लिए परम आवश्यक गुण है। इसके अभाव में वेदाध्ययन सम्भव नहीं हो सकता, अतः आपस्तम्ब का निर्देश है कि वह पूरे दिन मन को समाहित रखे, अन्यत्र ध्यान न रखे। अध्ययन के समय मन कहीं अन्यत्र न रखे, अध्ययन पर ही पूर्ण ध्यान रखे।[४] उसे काम, क्रोध, मोह तथा परनिन्दा का त्याग करना चाहिए।[५] उसे किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जुआ खेलना, निम्न जाति के व्यक्ति की सेवा करना, अदत्त वस्तु का ग्रहण भी निषिद्ध किया गया है।[६] गौतमधर्मसूत्र ने इसी प्रसंग में वाणी से दूसरों को कष्ट देने[७] वाले वचन का भी निषेध किया है। नैतिक गुणों की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम का महत्त्व और भी अधिक है। इस आश्रम में बाल्यावस्था से ही उत्तम गुणों एवं संस्कारों से युक्त होकर व्यक्ति जीवन के आदर्शों तथा धर्म के पालन की ओर उन्मुख होता था।

ब्रह्मचारी के आचार-नियम

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी को कठोर आचरण- नियमों का पालन करना होता था। आपस्तम्ब ने ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों को मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा है-(१) गुरु को प्रसन्न करने वाले कर्म, (२) कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा (३) वेद का परिश्रमपूर्वक अभ्यास।[८] उपनयन के समय से ही गुरुकुल में निवास करना सभी ब्रह्मचारियों का समान रूप से कर्त्तव्य होता था।[९] उपनयन के समय से ही होमकर्म तथा वैदिक यज्ञ की

१- आप १।३।२१-२४ २- वि २८।१-१०

३- स्वाध्यायधृग्धर्मरुचिस्तपस्व्यृजुर्मृदुस्सिद्ध्यति ब्रह्मचारी।- आप १।५।११

४- सर्वाह्णं सुयुक्तोऽध्ययनादनन्तरोऽध्याये।-आप १।५।२३

५- द्र० गौ १।२।१९

६- द्यूतं हीनसेवामदत्तादानं हिंसाम्।- गौ १।२।२३

७- शुक्लवाचो मद्यं नित्यं ब्राह्मणः।- गौ १।२।२५

८- गुरुप्रसादनीयानि कर्माणि स्वस्त्ययनमध्ययनसंवृत्तिरिति। -आप १।५।९

९- सर्वेषामुपनयनप्रभृति समान आचार्यकुले वासः।- आप २।२१।३

क्रियाएँ आरम्भ हो जाती थीं।[१] अग्नि का आधान अनिवार्य कर्त्तव्य होता था और ब्राह्मण को अवश्य ही अग्नि की स्थापना करनी होती थी।[२] ब्रह्मचारी को वन से समिध् लाकर उनका अग्नि पर आधान करना होता था।[३] बौधायन के अनुसार ब्रह्मचारी जिस रात्रि को समिदाहरण कर्म नहीं करता उस रात्रि को अपनी आयु से काटकर निकाल देता है।[४] अग्नि का परित्याग कर देने पर ब्रह्मचर्य-भंग का प्रायश्चित्त तक विहित किया गया है।[५] यज्ञकर्म को मनुष्य के लिए ऋण बताया गया है। इस कारण यज्ञक्रिया ब्रह्मचर्याश्रम से ही आरम्भ हो जाती थी।[६] ब्रह्मचारी के लिए सायं एवं प्रातः सन्ध्या करना भी अनिवार्य कर्त्तव्य बताया गया है[७] और उसके लिए यह नियम निर्दिष्ट है कि देवों की प्रार्थना के समय दिन में खड़ा रहे और रात्रि में बैठा रहे।[८]

ब्रह्मचारी के लिए दिन के चौथे, छठें या आठवें प्रहर में भोजन करने का नियम दिया गया है।[९] उसके लिए श्राद्ध का अन्न, लवणयुक्त भोजन, खट्टा और बासी अन्न, मधु तथा मांस का प्रयोग वर्जित था।[१०] ब्रह्मचारी के लिए भिक्षाटन एक धार्मिक कर्त्तव्य था।[११] भिक्षा माँगने के लिए भी विशेष विधि वर्ण के अनुसार विहित की गयी है।[१२] भिक्षा में प्राप्त अन्न गुरु के समक्ष रखकर उनकी आज्ञा से ही भक्षण करने का

१- अग्नीन्धनभैक्षचरणे।-गौ १।२।१२
२- अवश्यं ब्राह्मणोऽग्नीमादधीत।- व ११।४५
३- सदाऽरण्यात्समिध आहृत्याऽऽदध्यात्।- बौ १।३।२०
४- तस्माद् ब्रह्मचारी यां रात्रिं समिधं नाऽऽहरति आयुष एव तामवदाय वसति।- बौ १।४।५
५- वि २८।५२
६- नैयमिकं ह्येतदृणसंस्तुतं च।- व ११।४७
७- बहिःसंध्यत्वं च।-गौ १।२।१६
८- तिष्ठेदहनि रात्रावासीत।- व ७।१६
९- चतुर्थषष्ठाष्टमकालभोजी।- व ७।८
१०- वि २८।११
११- भैक्षमाचरेत्।- व ७।६
१२- ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य 'भवति' शब्द का क्रमशः आरम्भ, मध्य और अन्त में प्रयोग करते हुए भिक्षा माँगते हैं।

नियम था।[1] ब्रह्मचारी के लिए भी नियम है कि वह केवल अपने ही लिए भिक्षा न माँगे। पहले गुरु को या यदि गुरु सपरिवार कहीं गये हों तो दूसरे वेद के विद्वान् को, और यदि कोई न हो तो कुछ अंश अग्नि में अर्पित कर भक्षण करे।[2] ब्रह्मचारी को भिक्षा न देने पर दान एवं हवन से उत्पन्न पुण्य, प्रजा, पशु, कुल की विद्या तथा अन्न नष्ट हो जाता है। ब्रह्मचारी को भिक्षा देना स्त्री का कर्त्तव्य माना गया है।[3] ब्रह्मचारी के लिए नीचे शयन करने का नियम है। उसे गुरु के जगने से पहले सोकर उठना होता था और उनके सोने के बाद सोना होता था।[4] उसके लिए दिन में शयन और सुगन्धित वस्तुओं का सेवन भी निषिद्ध था।[5]

ब्रह्मचारी के लिए भी सभी सुखदायी वस्तुओं का निषेध किया गया है। यहाँ तक कि शारीरिक स्वच्छता भी वर्जित की गयी है। वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचारी चारपाई पर न सोये, दाँतों की सफाई न करे, सुख की इच्छा से शरीर का प्रक्षालन न करे। आँखों में अंजन न लगाये, शरीर में लेप न करे, जूता और छाता न धारण करे।[6] आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी विद्यार्थी ब्रह्मचारी के लिए स्वच्छता के सामान्य नियमों की भी उपेक्षा का उल्लेख है। इसमें किसी ब्राह्मण ग्रन्थ से उद्धरण भी दिया गया है कि ब्रह्मचारी शरीर को मैला रखे, दाँतों की सफाई न करे, और सत्यभाषण करे।[7] ब्रह्मचारी के लिए दिन में तीन बार स्नान करने का नियम है।[8] किन्तु उसे जल में क्रीडा करते हुए स्नान नहीं करना चाहिए।[9] उसे डण्डे के समान स्नान करना होता है।[10] ब्रह्मचारी सम्पूर्ण केशों का पाश बनाकर रखता था अथवा शिखा को छोड़कर शेष

१- सर्वं लब्धं निवेद्य तदनुज्ञया भुञ्जीत।-व ७।१४; आप १।३।२५
२- आप १।३।३१-३५ ३ - आप १।३।२६
४- वि २८।१२-१३ ५- आप १।२।२३-२४
६- खट्वाशयनदन्तधावनप्रक्षालनाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी।- व ७।१५; द्र० आप १।२।२६-२८
७- रजस्वलो रक्तदन्सत्यवादी स्यादिति हि ब्राह्मणम्।-आप १।७।११
८- त्रिरह्नोभ्युपेयादप इति। - व ७।१७
९- नाऽप्सु श्लघमानस्स्नायात्। - बौ १।३।४०
१०- अप्सु दण्डवन्मज्जनम्।- वि २८।५

केशों का मुण्डन कराता था।[1]

ब्रह्मचारी के लिए यौनसुख, आत्मसुख, मनोरंजन तथा शृङ्गार की वस्तुओं का पूर्णतः निषेध किया गया है। उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह का सर्वथा त्याग करना होता था।[2] इस अवस्था में यौनसुख तथा कामभावना का इतना अधिक वर्जन होता था कि ब्रह्मचर्य का अर्थ ही काम का अभाव माना जाने लगा है। प्रायः सभी धर्मसूत्रों में ब्रह्मचारी के नृत्य, गीत, वादन, सुगन्धित द्रव्य के प्रयोग, माला, जूते, छाते, अंजन का निषेध किया गया है। उसे मुस्कराने का भी वर्जन करना होता था । यदि वह मुस्कराता था तो मुख ढँककर।[3] ब्रह्मचारी को स्त्रियों से दूर रहने के कठोरतापूर्ण नियम प्रायः सभी धर्मसूत्रों में दिये गये हैं यथा आपस्तम्ब ने यह निर्देश दिया है कि ब्रह्मचारी नग्न स्त्री को न देखे, सुगन्धयुक्त स्त्री के मुख को न सूँघे, मन से किसी स्त्री की प्राप्ति की कामना न करे और विना कारण किसी स्त्री का स्पर्श न करे।[4] वह स्त्रियों से उतनी ही बात करे जितना प्रयोजन हो।[5] हरदत्त के अनुसार ऐसा नियम इस कारण है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ अत्यन्त बलवान् होती हैं और वे विद्वान् को भी अपने वश में कर लेती हैं किन्तु अत्यन्त बालिका और अत्यन्त वृद्धा के साथ वार्तालाप में दोष नहीं माना गया है, क्योंकि उनके प्रति कामुकतापूर्ण भावना की शंका नहीं होती।[6] गौतम ने इसी सन्दर्भ में निर्देश दिया है कि जब कामुकतापूर्ण दृष्टिपात होने की संभावना हो तब ब्रह्मचारी किसी स्त्री की ओर न देखे और न उसका स्पर्श करे। इस प्रकार ब्रह्मचारी को प्रयत्नपूर्वक ऐसी स्थितियों से दूर रहना होता था जिन स्थितियों में कामभावना का उदय होने की रंचमात्र भी सम्भावना होती है।[7]

१- जटिलः शिखाजटो वा। - व ७।११
२- गौ १।२।१६
३- न स्मयेत।-आप १।७।६
४- न प्रेक्षेत नग्नां स्त्रियम्।- आप १।७।३ ; नोपजिघ्रेत स्त्रियं मुखेन। न हृदयेन प्रार्थयेत् नाकारणादुपस्पृशेत्।-आप १।७।८-१०
५- स्त्रीभिर्यावदर्थसम्भाषी।-आप १।३।१६ तुलना बौ १।३।२४
६- आप १।३।१६ की टीका।
७- स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम्।- गौ १।२।२२

ब्रह्मचर्य के नियमों के उल्लंघन के लिए अनेक प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार अनजान में निद्रावस्था में वीर्यस्खलन होने पर ब्राह्मण ब्रह्मचारी दूसरे दिन प्रातः स्नान करे, सूर्य की (धूप-चन्दन द्वारा) पूजा करे और तीन बार 'माम्' आदि ऋचा का जप करे। यदि धर्म के नियम की उपेक्षा कर जानबूझकर ब्रह्मचारी सूर्योदय होने के बाद तक अथवा सूर्यास्त हो जाने पर सोया रहे तो एक दिन उपवास करे तथा (एक सहस्र आठ बार गायत्री का) जप करे।[१] बौधायन ने भी ब्रह्मचारी के मांसभक्षण, स्त्री-संभोग तथा व्रतभंग करने वाले कर्मों का प्रायश्चित्त, विविध प्रकार का होम, स्नान, मन्त्र का जप तथा प्राणायाम बताया है।[२] किसी स्त्री से ब्रह्मचारी के मैथुन करने पर उसे अवकीर्णी कहा जाता था और अवकीर्णी को गर्दभ की बलि निर्ऋति देवी, उक्षोदेवता तथा यम के लिए करनी होती थी। प्रायश्चित्त करने वाले को गर्दभ के शिश्न के प्राशित्र का भक्षण करना होता था। इसके विकल्प के रूप में होमकर्म का विधान किया गया है।[३] विष्णुधर्मसूत्र में इसका प्रायश्चित्त इस प्रकार उल्लिखित है- ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाले ब्राह्मण बालक द्वारा जानबूझकर वीर्यस्खलन (स्त्री-संभोग द्वारा) वेद के विद्वानों एवं धर्मज्ञों द्वारा व्रत का भंग माना गया है। इस पाप से युक्त होकर ब्रह्मचारी केवल गर्दभ का चर्म धारण कर तथा अपने पाप की घोषणा करते हुए सात घरों से भिक्षा माँगे। इन घरों से प्राप्त भिक्षा में से केवल एक बार भोजन करने और तीन सवनों में(प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान करते हुए एक वर्ष के बाद पाप से मुक्त होता है।[४]

वेदाध्ययन तथा अनध्याय

ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य कर्त्तव्य वेद का अध्ययन और विद्याग्रहण होता था। सभी प्रकार के संयम और आचार-नियम इसी कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए किये जाते थे। विद्या का परित्याग न करना सभी का कर्त्तव्य बताया गया है।[५]

१- वि २८।५१,५३
२- बौ ३।३।१-८
३- बौ २।१।२६-३४
४- वि २८।४८-५०
५- आप २।२१।४ सर्वेषामनूत्सर्गो विद्यायाः।

वेद के अध्ययन का महत्त्व बतलाते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है : 'जो वेद का अध्ययन न कर किसी अन्य प्रकार का अध्ययन करता है वह स्वयं को पतित बना देता है और अपनी सन्तानों के साथ शूद्र की स्थिति में पहुँचता है। जो ऋग्वेद का अध्ययन करता है वह पितरों को घृत अर्पित करता है, जो यजुष् मन्त्र का अध्ययन करता है वह मधु अर्पित करता है। जो साम का अध्ययन करता है वह मांस अर्पित करता है। जो पुराणों, इतिहास, वेदाङ्ग तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन करता है वह पितरों को चावल खिलाता है।[१] इस प्रकार विद्याप्राप्ति धार्मिक कर्म होता था और इसकी उपेक्षा करने पर समाज में भी कोई सम्मान नहीं मिल पाता था। विद्या के अभाव में उच्च्व कुल में उत्पन्न ब्राह्मण भी तिरस्कार का पात्र होता था।

धर्मसूत्र के अनुसार विद्या अर्जित कर उसका जीविका के लिए प्रयोग करना परलोक में कोई फल नहीं देता। इसी प्रकार दूसरे की कीर्ति को नष्ट करने के लिए विद्या का उपयोग भी निन्दित है।[२] स्वाध्याय सम्पूर्ण जीवन का ऐसा कर्तव्य था जिससे तप के समान फल प्राप्त होता था।[३] विद्याग्रहण करने के विषय में भी धर्मसूत्रों में अनेक प्रकार के नियम दिये गये हैं। गुरु की आज्ञा के विना किसी दूसरे से जो स्वयम् अध्ययन कर रहा हो, विद्या ग्रहण न करे। इस प्रकार विद्या प्राप्त करना वेद को चुराने के समान है, इससे नरक प्राप्त होता है।[४] श्रावण की पूर्णिमा को अथवा भाद्र की पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद ब्रह्मचारी उसके बाद के दो दिन अनध्याय रखे और फिर साढ़े चार मास अध्ययन करे।[५] उसके बाद गुरु उन शिष्यों के नगर से बाहर उत्सर्ग की शिक्षा लिए प्रदान करे, किन्तु जिन्होंने उपाकर्म नहीं किया है उनके लिए उत्सर्ग कर्म न करे।[६]

सभी धर्मसूत्रों में वेदाध्ययन के नियम के साथ-साथ अनध्याय के विषय में भी विस्तृत विचार किया गया है और उन अवसरों का निर्देश किया गया है जब

१- वि २८।२६, ३०।३४-३८
२- वि ३०।३६-४०
३- आप १।१२।१
४- वि ३०।४१-४२
५- तदेव ३०।१
६- तदेव ३०।२

वेदाध्ययन एक निश्चित अवधि के लिए स्थगित करना होता था।[1] इन नियमों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक विकार, प्राकृतिक उत्पात, अपवित्रता या आशौच का संबन्ध तथा श्राद्धकर्म अनध्याय का प्रमुख कारण होता था। गौतम ने प्राकृतिक उत्पात होने पर अध्ययन का निषेध किया है जैसे दिन में धूलभरी वायु बहनेपर, प्रबल वायु के चलने की ध्वनि सुनाई पड़ने पर रात्रि को अध्ययन नहीं करना चाहिए। आकाश के लोहित वर्ण का होने, इन्द्रधनुष् दिखलाई पड़ने पर तथा ओस गिरते रहने के समय तक, वर्षा ऋतु के अतिरिक्त किसी अन्य ऋतु में मेघ दिखायी पड़ने पर, वर्षा होते रहने पर अथवा वर्षा की धारा के घर की छत के किनारों से गिरते रहने तक, वर्षा ऋतु में या असमय में विद्युत् चमकने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।[2] वज्रपात होने पर, भूकम्प होने पर, राहु के दिखायी पड़ने पर एवं आकाश से उल्कापात होने पर, कुहरा छाये रहने पर अनध्याय का विधान किया गया है।[3] जब बृहस्पति और शुक्र नक्षत्रों पर घेरा-सा दृष्टिगोचर हो अथवा जब सूर्य और चन्द्र के चारो ओर घेरा दिखायी पड़ता हो, तब अनध्याय का विधान किया गया है।[4] सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण लगने पर वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।[5] अमावस्या को दिन और रात्रि में अथवा दो दिन, कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ मासों की पौर्णमासी को दिन-रात्रि में, आग्रहायणी आदि तीन अष्टका तिथियों को तीन दिन रात्रि को, अथवा केवल अन्तिम अष्टका के अवसर पर, श्रवणादि वार्षिकोत्सव के समय, उसके पूर्व और पश्चात् उपाकरण एवं उत्सर्जन के दिनों सहित तीन दिन का अनध्याय का विधान किया गया है।[6] प्रदोष काल में मेघ गर्जन होने पर अथवा न होने पर भी नये

१- द्र० गौ २।७; बौ १।२१।६-१४, १।११।१७-१६; आप १।६;
वि ३०, व ११।८-४३

२- गौ २।७।५,६,६-१०, १३-१४ द्र० आप १।११।८,२१,२३-२८;
आप १।६।२०-२४, वि ३०।७-६

३- आकालिका निर्घातभूमिकम्पराहुदर्शनोल्काः- गौ २।७।२२,
द्र० आप १।११।२७

४- गौ २।७।१५-१६ आचार्यपरिवेषणे। ज्योतिषोश्च; द्र० आप १।११।२७

५- आप १।११।२६

६- गौ २।७।३५-४०; द्र० आप १।११।७,३१; १।१०।१

छन्द का अध्ययन नहीं करना चाहिए।[१] मध्यरात्रि को, सन्ध्या समय अर्थात् दोनो गोधूलि वेलाओं में अनध्याय का निर्देश किया गया है।[२] आपस्तम्ब ने आषाढ मास (इन्द्रोत्सव) में और वसन्त के उत्सव के समय अनध्याय उचित माना है।[३] अनेक कुत्तों, शृगालों और गर्दभों के एक साथ बोलने पर,[४] वीणा, भेरी, मृदंग, रथ और दुःखी व्यक्ति के विलाप का स्वर सुनाई पड़ने पर[५] अध्ययन का निषेध किया गया है। मूत्र या पुरीष का त्याग करने की आवश्यकता का अनुभव होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।[६] इसी प्रकार खट्टी डकार आने पर[७] और सामगान की ध्वनि सुनाई पड़ते रहने पर[८] वेद का अध्ययन निषिद्ध है। मध्यरात्रि को, जल में खड़ा होकर, भयभीत होने पर,अश्व आदि यान पर चढ़कर, सोकर, एक पैर को दूसरे पैर पर रखकर अथवा आसन इत्यादि पर पैर रखकर अध्ययन न करने का विधान किया गया है।[९] गाँव में चोरों आदि का उपद्रव होने पर, आग लग जाने पर, एक वेद का अध्ययन पूरा कर लेने पर, उल्टी होने पर एक दिन और रात तक अध्ययन का निषेध किया गया है।[१०] यदि एक साथ अध्ययन करने वालों में से कोई शिष्य बाहर गया हो और अन्य गुरु के साथ हों तो भी जब तक वह शिष्य लौटकर पुनः न आ जाये तब अध्ययन नहीं करना चाहिए।[११] उपनयन आदि उत्सव में भोजन कर लेने के बाद उस दिन तथा उपाकर्म के बाद रात्रि में चार मुहूर्त्त तक अनध्याय का विधान किया गया है।[१२]

१- गौ २।७।२६ तथा आप १।११।३२
२- गौ २।७।१२; आप १।११।१३
३- आप १।११।१६
४- गौ २।७।८ एवं आप १।११।२६, १।१०।१६
५- गौ २।७।७; आप १।१०।१६
६- गौ २।७।११
७- गौ २।७।२०; आप १।१०।२५
८- गौ २।७।२१; आप १।१०।२१
९- गौ २।७।१२,१७ आप १।६।२
१०- गौ २।७।३४
११- गौ २।७।३३; आप १।११।६
१२- गौ २।७।४३-४४

श्मशान में, ग्राम की सीमा पर, महापथ में, जहाँ दुर्गन्ध हो वहाँ, जिस ग्राम के भीतर शव या चाण्डाल हो उस ग्राम में तथा नगर में भी कदापि वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।[१] आपस्तम्ब के मतानुसार रात्रि में, किसी ऐसे वन में अध्ययन नहीं करना चाहिए जहाँ अग्नि या स्वर्ण न पाया जाता हो।[२] अपने सुख के समय में (जैसे स्वयं को सुख देने वाले कर्म हैं- हाथ धोना, दबाना या खुजलाना आदि ऐसे समय में) अध्ययन करना निषिद्ध किया गया है।[३] वृक्ष पर चढ़कर, नदी में प्रवेश कर और रात्रि में द्वार खोलकर एवं दिन में द्वार बन्द कर अध्ययन न करने का नियम दिया गया है।[४] वमन इत्यादि होने पर सोकर उठने के बाद तक अनध्याय का विधान है।[५] यदि शूद्रा स्त्री को देख रहा हो और वह भी उसे देख रही हो तो उस समय अध्ययन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जब विद्यार्थी तथा अपने से नीच वर्ण के पुरुष के साथ यौनसंबन्धवाली स्त्री की एक दूसरे पर दृष्टि पड़ रही हो तब भी अध्ययन वर्जित होता था। शूद्र वर्ण तथा पतित व्यक्ति के समीप अथवा शूद्र या पतित के उसी भवन में रहते समय भी अध्ययन निषिद्ध होता था।[६] वेद का अध्ययन करने का व्रत लेने वाला विद्यार्थी यदि किसी रजस्वला से बोलना चाहे तो उससे पहले किसी ब्राह्मण से भाषण करे, तब रजस्वला से भाषण करे और तदनन्तर ब्राह्मण से संभाषण करने के बाद ही अध्ययन करे। इस प्रकार करने पर रजस्वला स्त्री के सन्तान का अभ्युदय होगा ऐसा विश्वास किया गया है।[७] यदि उग्र, निषाद, चाण्डाल आदि बहिष्कृत जाति के लोग गाँव में आ गये हों तो उस दिन अध्ययन नहीं करना चाहिए।[८] जब दस्युओं आदि द्वारा गायों को ग्राम में अवरुद्ध कर दिया गया हो[९] और जब वध के योग्य चोर आदि का वध किया जा रहा हो तो उतने समय तक अध्ययन निषिद्ध किया गया है।[१०]

१- गौ २।७।१८-१९, ४५; आप १।११।९, १।९।६-८, १४-१७,२४
२- आप १।११।३०
३- आप १।११।१०-१२
४- आप १।११।१४-१५
५- आप १।१०।२२
६- आप १।९।६-१२
७- आप १।९।१३
८- तदेव १।९।१८
९- तदेव १।९।२५
१०- तदेव १।९।२६

जहाँ ब्रह्मचारी निवास कर रहा हो वहाँ के राजा की मृत्यु होने पर दिन भर का अनध्याय होता है।[1] श्वसुर आदि गुरुजन की मृत्यु पर उत्सर्ग अथवा वेदाध्ययन के विराम के समय, अष्टका श्राद्ध के अवसर पर तथा उपाकर्म के समय, निकट संबन्धियों जैसे भाई, भतीजा, चाचा आदि के निधन पर तीन दिन के लिए तथा माता, पिता एवं आचार्य की मृत्यु पर बारह दिन का अनध्याय विहित किया गया है।[2] श्रोत्रिय अर्थात् विद्वान् वेदज्ञ की मृत्यु का समाचार एक वर्ष के भीतर सुनने पर केवल एक दिन और रात्रि का[3] तथा अपने ही गुरु से विद्या ग्रहण किये हुए सतीर्थ के मरने पर एक दिन और रात्रि का अनध्याय विहित किया गया है।[4]

वसिष्ठधर्मसूत्र में भी इस प्रकार अनध्याय के नियम दिये गये हैं- सन्ध्या को गर्जन होने पर, सन्ध्याकाल को जिस नगर में शव हो वहाँ, श्मशान के निकट, लेटकर, श्राद्ध भोजन करने पर, वृक्ष पर चढ़कर , नौका में, सेना में, भोजन के बाद गीले हाथ होने पर, बाण का शब्द होने पर ,चतुर्दशी, अमावस्या, अष्टमी को, पैर फैलाकर, किसी वस्तु का सहारा लेकर, गुरु के बहुत निकट बैठकर, रात में (गृहस्थ द्वारा) मैथुन के बाद मैथुन के वस्त्र पहने हुए, गाँव के किनारे, मूत्रत्याग करने पर, अजीर्ण होने पर, बिजली गिरने पर, भूकम्प, चन्द्र या सूर्य का ग्रहण होने पर, आकाश में घोर शब्द होने पर, शिला के गिरने पर, पत्थरों की वर्षा होने पर, बालू का झोंका आने पर, वेद का अध्ययन निषिद्ध होता था।[5]

अशुद्धि और श्राद्धसम्बन्धी अन्न का भक्षण करने पर अनध्याय का नियम दिया गया है। श्राद्ध करने वाले के लिए दूसरे दिन उसी समय तक अध्ययन निषिद्ध है। श्राद्ध के समय यदि पका हुआ अन्न दिया जाय तब भी अनध्याय विहित है।[6] आपस्तम्ब के अनुसार यदि रात्रि में पहले प्राप्त चावल या कच्चा मांस दूसरे दिन

१- गौ २।७।३२
२- आप १।१०।२-३ मातरि पितर्याचार्य इति द्वादशाहाः।
३- आप १।१०।११
४- बौ १।२१।६
५- व १३।८-३७
६- गौ २।७।४६-४८

बनाकर भक्षण करे तो अनध्याय नहीं होता और श्राद्ध से संबद्ध लताओं और वृक्षों का फल-मूल खाने पर भी अनध्याय नहीं होता।[३] वेद के नये काण्ड का आरम्भ करते समय मातृहीन व्यक्ति द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करने पर और काण्ड समाप्त करने पर पितृहीन व्यक्ति द्वारा दिया गया अन्न ग्रहण करने पर एक दिन तथा सन्ध्या को अनध्याय का नियम बताया गया है। कुछ आचार्यों ने देवों के यज्ञ से संबद्ध अन्न ग्रहण करने पर भी अनध्याय का विधान किया है। काण्ड आरम्भ करने की तिथि पर अथवा अनुवाक का अध्ययन करते समय उस काण्ड का उस दिन और रात्रि को अध्ययन नहीं किया जाता था। अनेक वेदों का अध्ययन करने वाला वेद के पारायण या उपाकरण और उत्सर्जन करने के दिन उस वेद का अध्ययन न करे।[४] विद्या और चरित्र के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्राम में आने पर भी अनध्याय का नियम होता था।[५] अनध्याय के नियमों पर धर्मसूत्रों ने पर्याप्त महत्त्व दिया है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार जब अध्ययन स्थगित करने का काल उपस्थित हो जाये तब गुरु द्वारा कोई प्रश्न उठाये जाने पर भी अध्ययन न करे। निषिद्ध दिनों पर अध्ययन करना गुरु और शिष्य दोनो की आयु क्षीण करता है।[१] अतएव जो गुरु ब्रह्म का लोक प्राप्त करना चाहता है वह निषिद्ध दिनों का वर्जन करे और उचित दिन को गुणवान् शिष्य में ज्ञान के बीज का वपन करे।[२]

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी का एकमात्र संबन्ध आचार्य से होता था। आचार्य उसका धर्मपिता होता था। वसिष्ठ ने वेद प्रदान करने के कारण ही आचार्य को पिता कहा है।[३] शिष्य आचार्य का मानसपुत्र होता है इस विषय में वसिष्ठ ने इस प्रकार का

१- आप १।११।४-५
२- तदेव १।११।१-३,६,७
३- तदेव १।६।१६
४- वि ३०।२६
५- तदेव ३०।३६-३१
६- वेदप्रदानात्पितेत्याचार्यमाचक्षते।- ब २।४

उद्धरण दिया हैः 'मनुष्य के दो प्रकार के वीर्य हैं। जो नाभि के ऊपर है उससे उस प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती है जिसका वह अध्यापन और यज्ञ करता है। जो नाभि के नीचे है उससे उसकी औरस सन्तान उत्पन्न होती है।'[१] आपस्तम्ब ने आचार्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिससे उपनीत बालक धर्म का चयन करता है उसे आचार्य कहा गया है।[२] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार जो उपनयन कराकर, व्रत का उपदेश देकर वेद एवं वेदाङ्ग का अध्यापन करे उसे आचार्य कहते हैं।[३] इसके विपरीत जो दूसरे द्वारा उपनीत ब्रह्मचारी को दक्षिणा लेकर वेद की एक शाखा का अध्यापन करे उसे उपाध्याय कहते हैं।[४]

आचार्य का स्थान सभी गुरुजनों में श्रेष्ठ बताया गया है। कुछ विद्वानों ने माता को भी सबसे अधिक पूज्य माना है।[५] अतः माता और पिता के प्रति भी आचार्य के समान शुश्रूषा का उपदेश दिया गया है।[६] माता-पिता और आचार्य इन तीनो को अतिगुरु तथा अत्यन्त सम्माननीय बताया गया है।[७] आचार्य के महत्त्व का कारण निर्दिष्ट करते हुए धर्मसूत्रों में कहा गया है कि आचार्य से कभी द्रोह न करे। आचार्य बालक को विद्या से उत्पन्न करता है। विद्या से जो जन्म होता है वह श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह स्वर्गसुख तथा मोक्ष का हेतु है। माता और पिता शरीर मात्र को उत्पन्न करते हैं, किन्तु आचार्य का स्थान इन दोनो से बढ़कर है, क्योंकि वह मनुष्य को सभी पुरुषार्थों के लिए समर्थ बनाकर उत्पन्न करता है।[८] वेदों के ज्ञाता गुरु उपनयन की

१- व २।५ द्वयमु ह वै पुरुषस्य रेतो ब्राह्मणस्योर्ध्वं नाभेरधस्तादवाचीनमन्यत्तद्यदूर्ध्वं नाभेस्तेन हैतत्प्रजापायते यद्ब्राह्मणानुपनयति यदध्यापयति यद्याजयति यत्साधुकरोति। अथ यदवाचीनं नाभेस्तेनेहास्यौरसी प्रजा जायते। तस्माच्छ्रोत्रियमनूचानमप्रजोसीति न वदन्तीति।

२- यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः।- आप १।१।१४

३- यस्तूपनीय व्रतादेशं कृत्वा वेदमध्यापयेत्तमाचार्यं विद्यात्।- वि २९।१

४- यस्त्वेनं मूल्येनाध्यापयेत् तमुपाध्यायमेकदेशं वा।-वि २९।१२

५- आचार्यः श्रेष्ठः गुरूणां मातेत्येके।-गौ १।२।५६

६- मातरि पितर्याचार्यवच्छुश्रूषा। -आप १।१४।५

७- वि ३१।१-२ त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। पिता माता आचार्यश्च।

८- आप १।१।१५-१८ तस्मै न द्रुह्येत्कदाचनं स हि विद्यातस्तं जनयति।

विधियों के अनुसार जो जन्म गायत्री माता से देते हैं वही यथार्थ जीवन है, वह जीवन जरा और मृत्यु से भी परे है। जो कानों को सत्य से भरपूर करता है, वह व्यक्ति को (इस लोक और परलोक के) दुःखों से मुक्त करता है, और उसे अमरत्व प्रदान करता है, विद्यार्थी उसे ही अपना पिता और माता समझे । उसके उपकारों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहे और कभी उससे द्रोह न करे। स्वाभाविक उत्पन्न करने वाले तथा वेद का ज्ञान देने वाले गुरु में वेद का प्रदाता गुरु पिता से अधिक पूज्य होता है, क्योंकि वेद में दीक्षा द्वारा उससे प्राप्त दूसरा जन्म ही इस जीवन तथा परलोक के जीवन में शाश्वत रहता है। माता और पिता दोनो कामवश व्यक्ति को उत्पन्न करते हैं, अतः माता-पिता द्वारा दिया गया जन्म मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मात्र ही है।[१] ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही सर्वश्रेष्ठ होता था इस कारण यह नियम दिया गया है कि आचार्य के आदेश के विना वह अपने गुरुजनों को भी प्रणाम न करे।[२] वसिष्ठधर्मसूत्र में भी आचार्य की प्रशंसा में पाँच पद्य उद्धृत किये गये हैं।[३]

ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य और शिष्य का संबन्ध इतना घनिष्ठ था कि शिष्य प्रत्येक कार्य को गुरु से बताता था और उससे कुछ भी छिपाता नहीं था।[४] विद्याग्रहण करने वाले ब्रह्मचारी का नियम है कि वह एक दिन के लिए भी किसी दूसरे के साथ निवास न करे, केवल गुरु के समीप ही रहे।[५] किन्तु दो गुरुओं से विद्या प्राप्त करने पर प्रथम गुरु की विद्या की अल्पता का उल्लेख करना ब्रह्मचारी को अन्तेवासी की योग्यता से वञ्चित कर देता था।[६] ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य है कि वह आचार्य के सभी आदेशों का पालन करे, किन्तु उन आदेशों का पालन न करे जिनके करने से पतन होता हो।[७]

१- वि ३०।४४-४७

२- तदेव २८।३० अनिर्दिष्टश्च गुरुणा स्वान् गुरूनाभिवादयेत्।

३- व २।८-१२ ४- कर्म विज्ञाप्याऽऽख्याय।- गौ १।२।३४

५- आप १।२।१७ न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य परोपवासोऽस्ति।

६- आप १।८।२७ अन्तेवास्यनन्तेवासी भवति विनिहितात्मा गुरावनैपुणमापद्यमानः।

७- आचार्याधीनस्स्यादन्यत्र पतनीयेभ्यः।- आप १।२।१९;
तुल० बौ १।३।२३ सर्वथाऽप्रतिहतगुरुवाक्योऽन्यत्र पातकात्।
व ७।१० गुर्वधीनः।

वह आचार्य का निरन्तर भला करे और वाणी से उनका विरोध न करे।[1] आचार्य के बुलाने पर ही ब्रह्मचारी अध्ययन करने जाये, स्वयं गुरु से न कहे।[2] विद्यार्थी उस व्यक्ति से द्रोह न करे जिससे उसने लौकिक ज्ञान, वैदिक ज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया हो।[3]

आचार्य को प्रणाम करने के लिए भी धर्मसूत्रों में पादोपसंग्रहण की विधि का निर्देश करते हुए कहा गया है कि यदि दीर्घ आयु और स्वर्ग की इच्छा हो तो आचार्य के दाहिने पैर को दाहिने हाथ से तथा बायें पैर को बायें हाथ से स्पर्श करता हुआ प्रणाम करे।[4] इस प्रकार घुटनों से नीचे पैरों तक के भाग का स्पर्श करना होता था।[5] प्रणाम के विषय में यह भी नियम बताया गया है कि ब्रह्मचारी स्वयं बैठे हुए अथवा बैठे हुए गुरु को, स्वयं लेटे हुए या लेटे हुए गुरु को, स्वयं अपवित्र रहने पर या गुरु के अपवित्र रहने पर उनको प्रणाम न करे। ब्रह्मचारी यदि चाहे तो गुरु की आज्ञा से अन्य उत्तम आचरण वाले विद्वान् के चरणों का स्पर्श कर सकता है।[6] गुरुजनों के अभिवादन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों के अभिवादन से ब्रह्मचारी स्वर्ग तथा दीर्घ आयु प्राप्त करता है।[7]

आचार्य के प्रति सम्मानप्रदर्शन हेतु ब्रह्मचारी के लिए अनेक प्रकार के आचार-नियमों का विधान किया गया है। जब ब्रह्मचारी स्वयं खड़ा हो, बैठा हो, लेटा हो, भोजन कर रहा हो या दूसरी ओर मुख फेरे हुए हो तब गुरु से भाषण न करे। यदि गुरु बैठे हों तो ब्रह्मचारी खड़ा रहे, यदि वे चल रहे हों तो उनकी ओर चलकर, यदि निकट आ रहे हों तो उनकी ओर बढ़कर, यदि वे दौड़ रहे हों तो उनके पीछे दौड़कर

१- हितकारी गुरोरप्रतिलोमयन् वाचा।- आप १।२।२०

२- आहूताध्यायी।-व ७।१३

३- लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव वा।
आददीत यतो ज्ञानं न तं द्रुह्येत्कदाचन।। - वि ३०।४३

४- बौ १।३।२६ दक्षिणं दक्षिणेन सव्यं सव्येन चोपसंगृह्णीयाद्दीर्घमायुः स्वर्गं चेच्छन्।

५- बौ १।३।२८ अधस्ताज्जान्वोरा पद्भ्याम्। द्र० वि २८।१४-१७

६- बौ १।३।२९-३०

७- आप १।५।१५ स्वर्गमायुश्चेप्सन्।

उनसे भाषण करे। यदि गुरु का मुख दूसरी ओर हो तो उनके मुख की ओर आकर भाषण करे। यदि कुछ दूरी पर हों तो निकट जाकर, यदि लेटे हुए हों तो झुककर भाषण करे। गुरु की दृष्टि के सामने असावधानी से न बैठे। गुरु के केवल नाम का 'श्री' आदि लगाये विना उच्चारण न करे। उनके चलने के ढंग या वाणी की नकल न उतारे। जहाँ आचार्य की निन्दा हो रही हो या उनके विषय में मिथ्या बातें कहीं जा रही हों वहाँ न रुके। आचार्य के साथ एक ही आसन पर न बैठे, किन्तु शिला, लकड़ी के मंच, नौका और गाड़ी में बैठ सकता है।[१]

ब्रह्मचारी के लिए यह नियम है कि गुरु से पहले सोकर उठे और उनके सोने के बाद शयन करे।[२] आचार्य के दौड़ते रहने पर उनके पीछे दौड़े, चलते रहने पर पीछे चले, खड़े रहने पर उनके पीछे खड़ा रहे।[३] विद्यार्थी आचार्य के प्रसाधन, उच्छादन, छत्रधारण तथा स्नान कराने का कार्य करे तथा उनके उच्छिष्ट का भोजन करे। ब्रह्मचारी आचार्य को खिलाकर जो उच्छिष्ट बचे उसका भोजन करे। यह उच्छिष्ट यज्ञ की हवि का उच्छिष्ट ही माना जाता है।[४] यदि ब्रह्मचारी किसी रोग से पीडित हो तो वह औषधि के लिए गुरु के प्रयोग से उच्छिष्ट सभी प्रकार की वस्तुएँ खा सकता है।[५]

आचार्य की पत्नी के प्रति भी आचार्य के समान ही सम्मानपूर्ण व्यवहार विहित किया गया है, किन्तु उनका चरणस्पर्श, उच्छिष्टभक्षण, प्रसाधन, उच्छादन तथा स्नापन वर्जित है।[६] गौतम ने भी युवती गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध का नियम उल्लिखित किया है।[७] बौधायन के अनुसार[८] युवावस्था प्राप्त करने पर भाई की युवती

१- वि २८।१८-२८ द्र० बौ १।३।३५

२- बौ १।३।२२, पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी।
द्र० गौ १।२।२६ अधःशय्यासनी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी।

३- बौ १।३।३६ धावन्तमुपधावेत् गच्छन्तमनुगच्छेत्तिष्ठतमनुतिष्ठेत्।
द्र० व ७।१२ गुरुं गच्छन्तमुपगच्छेदासीनश्चेत्तिष्ठेच्छयानश्यचेदासीन उपासीत।

४- यदुच्छिष्टं प्राश्नाति। हविररुच्छिष्टमेव तत्।-आप १।४।१-२

५- बौ २।१।२५ स चेद् व्याधीयीत कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राश्नीयात्।

६- आप १।७।२७ अन्यत्रोपसङ्ग्रहणादुचिछष्टाशनाच्चाऽऽचार्यवदाचार्यदारे वृत्तिः।

७- नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन। - गौ १।२।४०

८- बौ १।३।३४ भ्रातृपत्नीनां युवतीनां च गुरुपत्नीनां जातवीर्यः।

पत्नी या गुरु की युवती पत्नी का चरणस्पर्श कर अभिवादन न करे। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यदि शिष्य बीस वर्ष की आयु तक पहुँच चुका हो तथा उसे अच्छे-बुरे का ज्ञान हो गया हो तो गुरु की युवती पत्नियों का चरणस्पर्श न करे। यदि चाहे तो पृथ्वी पर 'असौ अहम्' कहते हुए दोनों हाथ फैलाकर युवती गुरु-पत्नियों को भी प्रणाम कर सकता है।[१]

आचार्य के पुत्र के प्रति भी उनके समान ही व्यवहार करने का निर्देश किया गया है। वसिष्ठ ने वेद के कथन का उल्लेख करते हुए इसकी पुष्टि की है।[२] बौधायन के अनुसार ब्रह्मचारी आचार्य के भ्राता, पुत्र तथा अन्य शिष्यों के प्रति भी अध्ययन काल तक सेवा करे[३] यदि आचार्य का पुत्र अनूचान अर्थात् वेद की एक शाखा का अंगों सहित अध्ययन कर चुका हो, तो उसकी भी सेवा करे, किन्तु उसके उच्छिष्ट का भक्षण न करे।[४]

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध अपने आप में पवित्र माना गया है। इस कारण यदि अपने से निम्न वर्ण के आचार्य से विद्या ग्रहण की जाती है तो उसमें कोई अधर्म नहीं होता। बौधायन के अनुसार शिष्य और उपाध्याय का सम्बन्ध स्वतः वर्ण के व्यतिक्रम के दोष को पवित्र करने वाला होता है।[५] बौधायन ने अल्प आयु के आचार्य द्वारा विद्या का उपदेश दोषरहित बताया है और मनुस्मृति २।१५ की उस कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार शिशु आङ्गिरस ने अपने पिता को वेद पढ़ाया तथा उनको 'पुत्रकाः' कहकर संबोधित किया।[६] आपत्तिकाल में ब्राह्मण से भिन्न वर्ण के गुरु

१- गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः। पूर्णे विंशतिवर्षे च गुणदोषौ विजानता।।
कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि। विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्।।
-वि ३२।१३-१४

२- गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिरिष्यते।
गुरुवद्गुरुपुत्रस्य वर्तितव्यमिति श्रुतिः।।- व १३।५४

३- बौ १।३।४५ भ्रातृपुत्रशिष्येषु चैवम्।

४- उच्छिष्टवर्जं तत्पुत्रेऽनूचाने वा - बौ १।३।३७, द्र० आप १।७।३०

५- तयोस्तदेव पावनम्।- बौ १।३।४४

६- शिशावाङ्गिरसे दर्शनात्।- बौ १।३।४८

से भी विद्या ग्रहण की जा सकती थी,[1] किन्तु जब तक अध्ययन करे तभी तक ऐसे आचार्य की प्रसाधन आदि सेवा करे यह भी नियम था।

धर्मसूत्रों में आचार्य या अध्यापन करने वाले गुरु के लिए भी अनेक नियम दिये गये हैं। जहाँ एक ओर विद्यार्थी को गुरु के प्रति सभी प्रकार से विनम्र, श्रद्धालु तथा आज्ञाकारी होने का उपदेश दिया गया है, वहाँ दूसरी ओर आचार्य के शिष्य के प्रति कर्त्तव्यों पर भी बल दिया गया है। आपस्तम्ब का निर्देश है कि आचार्य शिष्य को पुत्र के समान मानते हुए उसकी उन्नति की कामना के साथ ध्यान देकर सभी धर्मों का विना कुछ गुप्त रखते हुए उपदेश दे।[2] विद्या प्रदान करते समय इस प्रकार सावधान होकर विद्या प्रदान करे कि शिष्य को पाठ और अर्थ का बोध हो जाय। आचार्य अध्यापन करते समय गृहस्थ के नियमों का कठोरता से पालन करे। इस प्रकार आचरण करने वाला आचार्य स्वयं स्वर्ग का सुख प्राप्त करता है और उसके वंशज तथा पूर्वज भी कल्याण के भागी होते हैं।[3]

किसी ब्रह्मचारी को अध्यापन के लिए अपने पास रखते समय आचार्य द्वारा उसका परीक्षण किया जाता था। अतएव विष्णुधर्मसूत्र का यह नियम है कि आचार्य विना परीक्षा लिए अध्यापन न करे और ऐसे व्यक्ति का उपनयन भी न कराये। यदि किसी शिष्य को विद्या का उपदेश देने से पुण्य न मिले और शिष्य भी गुरु के वचनों पर पर्याप्त ध्यान न देता हो तो ऐसे शिष्य को विद्या नहीं देनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करना ऊसर में बीज बोने के समान है।[4] इसी प्रकार समय अर्थात् शुश्रूषा के विना किसी अपठित कठिन ग्रन्थ का अध्ययन एवं अध्यापन भी न करे। हारीत का मत है कि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन व्रतपूर्वक करना चाहिए, जब तक कि उसके विषय में किसी

१- अब्राह्मण से शूद्र का अर्थ नहीं ग्रहण किया जा सकता।- गोविन्दस्वामी, बौ १।३।४३ की टीका- 'अब्राह्मणग्रहणात् त्रैवर्णिका गृह्यन्ते। ततश्च न कदाचिच्छूद्राल्लौकिक्यपि विद्या ग्रहीतव्या।'

२- पुत्रमिवैनमनुकाङ्क्षन् सर्वधर्मेष्वनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत्। - आप १।८।२५

३- यथायथं शिष्येभ्यो विद्यासम्प्रदाने नियमेषु च युक्तः स्यादेवं वर्तमानः पूर्वापरान् सम्बन्धानात्मानं च क्षेमे युनक्ति।- आप २।५।१७

४- वि २६। ५-६,८

प्रकार की जिज्ञासा बनी हुई हो।[1] यदि अध्ययन के लिए आया हुआ शिष्य अपने को उत्तम कुल तथा उत्तम आचार का बतावे, तो गुरु, अग्नि, वायु, आदित्य को साक्षी बनाकर अध्यापन करे।[2] यदि अध्ययन के लिए आये हुए शिष्य में कोई दोष न हो तो उसे अवश्य विद्या का उपदेश देना चाहिए।[3] बौधायन का निर्देश है 'यदि धर्म या अर्थ की उपलब्धि न हो अथवा शिष्य में उचित सेवाभाव न हो तो उस विद्या के साथ आचार्य का मर जाना श्रेयस्कर है, किन्तु उसे ऊसर में बोना नहीं चाहिए अर्थात् अयोग्य, सेवाभावहीन शिष्य को नहीं प्रदान करनी चाहिए। जिज्ञासा कर प्राप्त वेद अनादृत होने पर अध्येता को उसी प्रकार भस्म कर देता है जिस प्रकार अग्नि घर को।[4] अध्यापन करनेवाले आचार्य के लिए शुद्धता और पवित्रता के भी कई नियम विहित हैं। वह दिन में या रात में लेटकर न पढ़ाये। उस शय्या पर भी आसीन होकर अध्यापन न करे जिस पर रात्रि में पत्नीसहित शयन करता हो।[5] वह माला आदि से सजाकर या लेपसहित अपने शरीर को प्रदर्शित न करे, किन्तु रात्रि में अपनी पत्नी के उपगमन के लिए सदैव माला, सुगन्धित लेप आदि से अपना अलंकरण करे।[6] उसे आधी रात के बाद जागते हुए रहना चाहिए। आधी रात को अध्यापन या अध्ययन न करे, किन्तु शिष्यों को कर्त्तव्य के विषय में उपदेश दिया जा सकता है अथवा अपने आप अध्ययन किया जा सकता है।[7]

१- आप १।१३।१०,११ नाऽसमयेन कृच्छ्रं कुर्वीत त्रिःश्रावणं त्रिस्सहवचनमिति परिहाप्य।अविचिकित्सा यावद्ब्रह्म निगन्तव्यमिति हारीतः।

२- तदेव,२।६।२ साधुतां चेत्प्रतिजानीतेऽग्निरुपद्रष्टा वायुरुपश्रोताऽऽदित्योऽऽनु ख्याता साधुतां चेत्प्रतिजानीते साध्वस्मा अस्तु वितथ एष एनस इत्युक्त्वा शास्तुं प्रतिपद्यते।

३- तदेव, १।१४।२,३ अध्ययनार्थेन यं चोदयेन्न चैनं प्रत्याचक्षीत। न चास्मिन् दोषं पश्येत्।

४- धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।विद्यया सह मर्तव्यं न चेनामूषरे वपेत्।। अग्निरिव कक्षं दहति ब्रह्मपृष्ठमनादृतम्। तस्माद्वै शक्यं न ब्रूयात् ब्रह्म मानमकुर्वताम्।। -बौ १।४।१,२

५- आप १।३२।३,४ शयानश्चाऽध्यापनं वर्जयेत्। न च तस्यां शय्यायामध्यापयेद्यस्यां शयीत।

६- तदेव १।३२।५,६

७- तदेव १।३२।११-१३ आ निशाया जागरणम्।अनध्यायो निशायामन्यत्र धर्मोपदेशाच्छिष्येभ्यः। मनसा वा स्वयम्।

आचार्य का यह कर्त्तव्य होता था कि वह आपत्ति के समय को छोड़कर किसी अन्य समय में शिष्य के अध्ययन में विघ्न पहुँचाकर उसे अपने किसी कार्य में न लगाये।[१] शिष्य को सुधारने के लिए आचार्य डराकर, भोजन बन्द कर, ठंढे जल से नहलाकर, अपने समीप आना निषिद्ध कर दण्ड देता था।[२] किन्तु क्रोध में शिष्य को अधिक मारने पर आचार्य भी दण्डनीय होता था।[३] आपस्तम्ब के अनुसार, गुरु के प्रमादवश या अनजान में किसी नियम का उल्लंघन करने पर शिष्य भी उन्हें एकान्त में उलाहना दे सकता है औरं उनका ध्यान आकृष्ट कर सकता है।[४]

ब्रह्मचर्य नियम का महत्त्व

ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन को धर्मसूत्रों ने बहुत महत्त्व दिया है। आपस्तम्ब के अनुसार यदि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन कर वेदाध्ययन आदि करता है तो वह अपने वेदाध्ययन के पुण्य को तथा अपने पुत्रों के भी वेदाध्ययन के पुण्य को नष्ट कर देता है।[५] आपस्तम्ब के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का उल्लंघन करने के कारण ही नरक की प्राप्ति होती है, आयु कम हो जाती है और आजकल कलियुग में ऋषि नहीं उत्पन्न होते हैं। पूर्वजन्म के कर्मफल के कारण ही कुछ लोग वेदाध्ययन की क्षमता प्राप्त करते हैं।[६] ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन पर जोर देने के लिए अपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि नियमों का महत्त्व इतना अधिक है कि मनुष्य जो कुछ भी संकल्प कर सोचता है, अभिव्यक्त करता है वह वैसा ही हो जाता है।[७] स्वाध्याय को धारण करने वाला, नियमों का पालन करने वाला, तपस्वी, सरल तथा

१- न चैनमध्ययनविघ्नेनाऽत्मार्थेषूपरुन्ध्यादनापत्सु।-आप १।८।२६

२- अभित्रास उपवास उदकोपस्पर्शनमदर्शनमिति दण्डा यथामात्रमानिवृत्तेः।- तदेव,१।८।३०

३- अन्येन घ्नन् राज्ञा शस्यः।- गौ १।२।५०

४- प्रमादादाचार्यस्य बुद्धिपूर्वं वा नियमातिक्रमं रहसि बोधयेत्।- आप १।४।२५

५- तदतिक्रमे विद्याकर्म निःस्रवति ब्रह्म सहापत्यादेतस्मात्।- आप १।५।२

६- कर्तपत्यमनायुष्यं च। तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्।श्रुतर्षयस्तु भवन्ति केचित्कर्मफलशेषेण पुनस्सम्भवे।- तत्रैव ३-५

७- अथो यत्किञ्च मनसा वाचा चक्षुषा वा सङ्कल्पयन् ध्यायत्याहाऽभिविपश्यति वा तथैव तद्भवतीत्युपदिशन्ति। - तत्रैव, ८

क्षमावान् ब्रह्मचारी सिद्धि प्राप्त करता है।[१] बौधायनधर्मसूत्र के शब्दों में ब्रह्मचर्य धारण करने वाला अग्नि, मृत्यु, आचार्य और आत्मा में प्रवेश करता है और इनसे वह विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्य सम्पन्न कर स्वयं को मुक्त करता है।[२]

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि चमकती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम के अन्त में स्नान करने वाला चमकता है, ऐसा ब्राह्मणवाक्य भी बौधायन ने उद्धृत किया है।[३] ब्रह्मचर्याश्रम की प्रशंसा करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में भी कहा गया है: 'जो ब्राह्मण इस प्रकार से अपनी ब्रह्मचर्यावस्था व्यतीत करता है, वह अपनी मृत्यु के बाद परम स्वर्ग को प्राप्त करेगा और पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेगा।[४]

नैष्ठिक ब्रह्मचारी

धर्मसूत्र-काल में ब्रह्मचारी के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। वह सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए गुरुकुल में भी निवास कर सकता था।[५] ऐसे ब्रह्मचारी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। वह मृत्युपर्यन्त गुरु की सेवा करता था और गुरु की मृत्यु होने पर उनके अग्नि की परिचर्या करते हुए जीवन व्यतीत करता था।[६] ऐसे व्यक्ति को जीवन के अन्त तक ब्रह्मचारी के लिए विहित नियमों का पालन करना होता था और वह आचार्यकुल में ही शरीर छोड़ता था।[७] नैष्ठिक ब्रह्मचारी की प्रशंसा धर्मसूत्रों में अनेक स्थानों पर की गयी है।

१- स्वाध्यायधृग्धर्मरुचिस्तपस्व्यृजुर्मृदुस्सिद्ध्यति ब्रह्मचारी।- आप १।५।११

२- बौ १।४।६

३- बौ १।४।१०

४- एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमतन्द्रितः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेहाजायते पुनः।।-वि २८।४७

५- तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते।-गौ १।३।१, तु० वि २८।४३

६- ब्रह्मचारीगुरुशुश्रूष्यामरणात्।- बौ २।११।१५ द्र० व ७।४-५
ब्रह्मचार्याचार्यं परिचरेदाशरीरविमोक्षणात्। आचार्ये च प्रेतेऽग्निं परिचरेत्।

७- आप २।२१।६ यथा विद्यार्थस्य नियम एतेनैवान्तमनूपसीदत आचार्यकुले शरीरन्यासो ब्रह्मचारिणः।

गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि जितेन्द्रिय नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मलोक प्राप्त करता है।[१] आपस्तम्ब के अनुसार जो ब्रह्मचारी अपने मन को आचार्य के कुल में ही लगाता है वह ब्रह्मचर्याश्रम में ही उन सभी पुण्यफल वाले कर्मों को कर लेता है जो गृहस्थाश्रम में किये जाते हैं।[२] आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि[३] अस्सी हजार ऋषि जो सन्तान के इच्छुक नहीं थे, सूर्य के उत्तर के मार्ग से गये और उन्होंने अमरत्व प्राप्त किया। ऊर्ध्वरेतस् तपस्वियों की इच्छाएँ उनके संकल्प से ही सिद्ध हो जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग गृहस्थाश्रम से विमुख होकर आजीवन ब्रह्मचर्य और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे किन्तु सामान्यतः ब्रह्मचर्याश्रम के बाद स्नातक होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का ही नियम था।

स्नातक के कर्त्तव्य

आचार्य के यहाँ नियमपूर्वक निवास एवं विद्याध्ययन की निश्चित अवधि पूरा कर ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार होता था और वह स्नातक कहलाता था। स्नातक के भी तीन भेद किये जाते थे- विद्यास्नातक, व्रतस्नातक एवं विद्याव्रतस्नातक।[४] स्नातक की एक विशेष स्थिति होती थी। उसकी अवस्था ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में संक्रमण की अवस्था होती थी। स्नातक के लिए भी धर्मसूत्रों में शिष्टाचार के अनेक नियम दिये गये हैं। शिष्य जब ब्रह्मचर्य का व्रत पूरा कर लेता था तब आचार्य उसे दूसरे आश्रम के कर्त्तव्यों में रत होने के लिए अपना आशीर्वाद देकर विदा करता था।[५]

समावर्तन के बाद भी स्नातक को ब्रह्मचारी के समान आचरण की शुद्धता बनाये रखनी होती थी।[६] आपस्तम्ब ने समावर्तन के बाद भी शारीरिक स्वच्छता के

१- एवं वृत्तो ब्रह्मलोकमवाप्नोति जितेन्द्रियः।-गौ १।३।८

२- आप १।४।२६

३- आप २।२३।४,६ अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेषिर ऋषयः।
उत्तरेणाऽर्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते।।अथापि संकल्पसिद्धयो भवन्ति।।

४- सत्या० २६।८।१-३

५- निवृत्तं चरितब्रह्मचर्यमन्येभ्यो धर्मेभ्योऽनन्तरो भवेत्यतिसृजेत्।- आप १।८।३१

६- आप १।८।१ 'यथा ब्रह्मचारिणो वृत्तम्।'

कार्यों का वर्जन किया है। किन्तु वसिष्ठ ने स्नातक के लिए मलिन वस्त्रवालों के साथ रहने का निषेध किया है।[१] अध्ययन समाप्त कर लेने पर आचार्य के यहाँ से तत्काल प्रस्थान करना उचित नहीं माना गया है।[२] समावर्तन संस्कार के बाद गुरु शिष्य को पहले के समान आदेश नहीं देता था,[३] किन्तु गुरु की पूजा सदैव की जाती थी। धर्मसूत्र का निर्देश है कि समावर्तन के बाद भी यदि पहले के आचार्य घर आवें, तो उनकी ओर बढ़कर उनका स्वागत करे, उनके चरण का स्पर्श करे और उसके बाद घृणा प्रदर्शित करते हुए स्नान न करे। उन्हें आगे-आगे करके घर में प्रवेश करे और सत्कार की वस्तुएँ जुटाकर उनका सत्कार करे।[४]

स्नातक के सामान्य आचारों के अन्तर्गत धर्मसूत्रों ने निम्नलिखित नियमों के विधान किये हैं। उसे कभी भूखा नहीं रहना चाहिए।[५] राजा और शिष्य को छोड़कर किसी भी व्यक्ति से याचना न करे, किन्तु क्षुधापीडित होने पर खेत, गाय, भेड़, सुवर्ण, अन्न या भोजन की याचना कर सकता है।[६] वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और रथकार से विना पका हुआ भोजन माँगे अथवा अनेक व्यक्तियों से भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करे। भिक्षाचरण के समय मौन रहे। उस अन्न से देव, पितृगण के लिए पाकयज्ञ करे। इससे आयु बढ़ती है और कल्याण होता है।[७] स्नातक के लिए भी अतिथिसत्कार का नियम विहित है। वह सायं तथा प्रातःकाल जो कुछ भी भोजन हो उसके एक अंश से वैश्वदेव तथा बलिकर्म करे और अपनी शक्ति के अनुसार सभी वर्णों के अतिथियों का

१- आप १।८।५ किन्तु वि ७१।८८ के अनुसार माला, चन्दनद्वारा अलंकरण करने का नियम है। 'अलंकृतश्च तिष्ठेत्।' व १२।५ न मलिनवाससा सह संवसेत्।

२- आप २।५।२

३- न समावृत्ते समादेशो विद्यते।- आप १।१३।५

४- हरदत्त के अनुसार यदि आचार्य का चाण्डाल द्वारा स्पर्श किया जाना ज्ञात हो अथवा उनके चरण धूलिधूसरित हों, तब भी उनके चरणों को विना घृणा प्रदर्शित किये हुए स्पर्श करे। - आप २।५।४ की टीका।

५- व १२।४ न तु स्नातकः क्षुधावसीदेदित्युपदेशः।

६- न च कंचिद्याचेतान्यत्र राजान्तेवासिभ्यः। क्षुधापरीतस्तु किञ्चिदेव याचेत कृतमकृतं वा क्षेत्रं गामजाविकमन्ततो हिरण्यं धान्यमन्नं वा।- व १२।२-३

७- बौ १।५।२ देवतास्तर्पयित्वा पितृतर्पणम्।

सत्कार करे। यदि अनेक व्यक्तियों को भोजन न दे सके तो एक ही सद्‌गुणी को भोजन कराये।[१]

स्नातक के लिए रजस्वला स्त्री से भाषण करना निषिद्ध होता था।[२] वह निरन्तर घर के भीतर निवास करता था। अधोवस्त्र एवं उत्तरीय धारण करता था। वह दो यज्ञोपवीत, दण्ड और जल से भरा पात्र लेकर चलता था।[३] वृक्ष पर चढ़ना, कुएँ में उतरना, अग्नि को मुख से फूँकना, अग्नि और ब्राह्मण के बीच से जाना, दो अग्नियों अथवा दो ब्राह्मणों के बीच से जाना भी स्नातक के लिए वर्जित था और यह सामान्य नियम था।[४] बौधायनधर्मसूत्र में स्नातक के लिए दो वस्त्र धारण करने, जल से युक्त कमण्डलु, दो यज्ञोपवीत, उष्णीष, अजिन का उत्तरीय, जूता तथा छत्र धारण करने, दर्शपूर्णमास और स्थालीपाक की क्रियाएँ करने, पर्वों पर केश, दाढ़ी, मूँछ और लोम कटवाने के नियम दिये गये हैं।[५] स्नातक कानों में सोने का कुण्डल भी धारण करता था। स्नातक के लिए कमण्डलु का विशेष महत्त्व होता था। कमण्डलु टूट जानेपर व्याहृतियों का जप करते हुए सौ बार हवन करना होता था।[६] विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों से कमण्डलु ग्रहण करने पर गायत्री जप का भी निर्देश किया गया हैं शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण से कमण्डलु ग्रहण करने पर क्रमशः सौ, पचास, पच्चीस तथा दस बार गायत्री जप करने का विधान है।[७]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में स्नातक के नियमों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि वह प्रातः तथा सायं ग्राम से बाहर रहे। सभी प्रकार के रंगीन, कृष्ण वर्ण के, चमकीले, भद्दे तथा गन्दे वस्त्रों का परित्याग करे।[८] स्नातक की पूजा का फल विशिष्ट कर्त्तव्यनिष्ठा तथा विशेष अध्ययन के अनुसार ही मिलता है।[९]

१- यदि बहूनां न शक्नुयादेकस्मै गुणवते दद्यात्।- बौ ३।५।१२

२- व १२।६-७ , वि ७१।५८

३- व १२।८,१५

४- व १२।२५-३०

५- सभा समवायांश्च वर्जयेत्।- व १२।४०,४१

६- बौ १।५।१-६,७, तुलना वि ७१।१३-१६

७- बौ १।६।६

८- तदेव, १।६।१०

९- आप १।३०।८, सत्या० २६।८।५

विष्णुधर्मसूत्र ने स्नातक को निर्देश दिया है कि वह उगते हुए अथवा डूबते हुए सूर्य को न देखे, वितान के ऊपर से चमकते हुए या दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य को न देखे और न मध्याह्न सूर्य की ओर दृष्टिपात करे।[१] वह शूद्र को सलाह न दे और न अपने भोजन का उच्छिष्ट दे और न हवि का अवशिष्ट अंश दे। व्यक्तिगत सेवक को दे सकता है। शूद्र को तिलदान, धर्म या व्रत का उपदेश भी वर्जित था।[२] वह पवित्र अग्नि, मूर्ति या ब्राह्मण के निकट होने पर अपना दाहिना हाथ ऊपर कर ले।[३] यदि कोई गाय किसी का खेत चर रही हो तो खेत के मालिक से न कहे। यदि बछड़ा गाय का दूध पी रहा हो तो गाय के स्वामी को न बतावे।[४] बछड़े की रस्सी के ऊपर पैर रखकर न चले।[५] देवता, सुन्दर राजा, गौ, दक्षिणा तथा कुमारियों की निन्दा न करे।[६] उद्धत व्यक्तियों को प्रसन्न करने की चेष्टा न करे।[७] स्नातक के लिए वाणी के द्वारा शुभ का उल्लेख करना ही विहित था। उसे बछड़ा न देने वाली धेनु को धेनुभव्या कहना चाहिए। इन्द्रधनु को मणिधनु, तथा भद्र को मद्र कहना चाहिए। उसे किसी को अपना शत्रु नहीं कहना चाहिए।[८] उसे झूलों के बीच नहीं जाना चाहिए।[९]

स्नातक का महत्त्व इतना अधिक था कि राजा और स्नातक के मार्ग पर एक दूसरे के सामने होने पर राजा भी स्नातक के लिए मार्ग छोड़ देता था।[१०] स्नातक मधुपर्क का अधिकारी होता था और उसका जीवन एक आदर्श जीवन माना जाता था। इसी कारण धर्मसूत्रों में स्नातक के लिए नियमों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

१- वि ७१।१७-२१, सत्या० २६।८।३७
२- वि ७!४८-५२ 		३- वि ७१।६०
४- वि ७१।६१-६२, सत्या० २६।८।२८
५- सत्या० २६।८।२७
६- सत्या० २६।८।२६
७- वि ७१।६३
८- सत्या०२६।८।३०-३३
९- सत्या०२६।८।३०
१०- राजास्नातकयोः समागमे राज्ञा स्नातकाय देयः।- व १३।५६

२- गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था की गयी है। सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि गृहस्थाश्रम ही उत्पत्ति का स्थान है और अन्य आश्रमों में सन्तानोत्पत्ति की व्यवस्था नहीं है।[1] आचार्यों ने गृहस्थाश्रम को ही एकमात्र एवं प्रधान आश्रम माना है, क्योंकि वह सभी का उपजीव्य है।[2] गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है कि गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है, अतः गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठ है। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में आश्रय पाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम में आश्रय पाते हैं। जैसे सभी प्राणी माता के पोषण से जीवित होते हैं उसी प्रकार सभी भिक्षुक गृहस्थों पर आश्रित होते हैं।[3] विष्णुधर्मसूत्र में भी तीन यज्ञों में गृहस्थाश्रम की महत्ता बतायी गयी है- 'गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तपस्या करता है, और गृहस्थ ही दान देता है। इस कारण वह सबसे श्रेष्ठ है। ऋषि, पितृगण, देवता, प्राणी और अतिथि गृहस्थ से ही भोजन की आशा करते हैं। इस कारण गृहस्थ सबसे श्रेष्ठ है। धर्म, अर्थ, काम की सेवा, निरन्तर अन्न का दान, देवों की पूजा, ब्राह्मणों का सत्कार, स्वाध्याय तथा पितृगण के लिए तर्पण कर गृहस्थ इन्द्र का पद प्राप्त करता है।[4] ब्राह्मण तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है- ऋषि ऋण, देव- ऋण तथा पितृ- ऋण।[5] वह

१- तेषां गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्।-गौ १।३।३

२- ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य।- बौ १।३।३५
तुलना- ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्।- बौ २।११।२६

३- गृहस्थ एक यजते गृहस्थस्तप्यते तपः। चतुर्णामाश्रमाणां तु गृहस्थश्च विशिष्यते।।
यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः।। - व ८।१४-१६

४- वि ५६।२८-३०

५- जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य इति। एवमृणसंयोगादीन्यसंख्येयानि भवन्ति। - बौ २।११।३६

ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषियों के ऋण से, यज्ञ द्वारा देवों के ऋण से तथा पुत्र उत्पन्न कर पितरों के ऋण से मुक्त होता है। गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पत्ति तथा पञ्च महायज्ञ प्रधान कर्त्तव्य होते हैं। वसिष्ठ ने गृहस्थ के कर्मों का निर्देश करते हुए कहा हैः 'युक्तः स्वाध्याये यज्ञे प्रजनने च।'[१]

विवाह का महत्त्व

गृहस्थाश्रम का आरम्भ विवाह संस्कार से होता था। पत्नी गृहस्थाश्रम के कर्मों में सहधर्मिणी तथा सहयोगिनी होती थी और सन्तान की उत्पत्ति के लिए भी विवाह आवश्यक था। सभी गृह्य कर्म विवाह से ही आरम्भ होते थे और इसी समय गार्हपत्य अग्नि का आधान किया जाता था।[२] पाणिग्रहण के बाद ही पति और पत्नी दोनो गृहस्थाश्रम के कर्मों का संपादन करते थे।[३] अग्निहोत्र की अग्नि के आधान के समय से ही पत्नी धार्मिक कार्यो में संबद्ध होती थी । इस प्रकार धर्मकार्य तथा यज्ञक्रिया के लिए विवाह अनिवार्य माना गया है।

धर्मसूत्रों की दृष्टि में विवाह का एक प्रमुख प्रयोजन सन्तान की उत्पत्ति है। उत्तम विवाह से उत्पन्न पुत्र ही कुल को पवित्र करते हैं।[४] इस कारण धर्मसूत्र विवाह की उत्तमता पर बल देते हैं और प्रतिलोम विवाहों की निन्दा करते हैं।[५] विवाह-सम्बन्ध पिता के पक्ष में सात पीढ़ी तथा माता के पक्ष में पाँच पीढ़ी में उत्पन्न स्त्री-पुरुष में वर्जित था, क्योंकि इन पीढ़ियों में सपिण्डता मानी गयी है।[६] विवाहिता स्त्रियों के लिए

१- व ८।११

२- वैवाह्यमग्निमिन्धीत।- व ८।३

३- पाणिग्रहणादधि गृहमेधिनोर्व्रतम्- आप २।१।१, सत्या २७।१।१ इस सूत्र के अनुसार पवित्र अग्नि का आधान पाणिग्रहण के समय से ही होता है। 'गृहमेधिनोः' में द्विवचन है, जिससे यह स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम के कर्म पति और पत्नी दोनो को करने होते हैं। किसी एक के न होने पर ये कर्म सम्पादित नहीं होते। वैश्वदेव विधुर भी कर सकता है।

४- पुनन्ति साधवः पुत्राः।- गौ १।४।२४

५- प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः।- गौ १।४।२०

६- गौ १।४।३, वि २२।५, व ४।७, वि २५।१०

पहले और बाद की तीन-तीन पीढ़ियों तक सपिण्डता मानी गयी है।[१] अपने ही गोत्र की कन्या से विवाह भी निषिद्ध किया गया है।[२] इसी प्रकार एक समान प्रवर में विवाह-सम्बन्ध भी वर्जित है।[३]

विवाह के भेदों का उल्लेख प्रायः सभी धर्मसूत्रों में किया गया है।[४] ये विवाह निम्नलिखित हैं- १-ब्राह्मविवाह, २- प्राजापत्यविवाह, ३- आर्षविवाह, ४- दैवविवाह, ५- गान्धर्वविवाह, ६- आसुर विवाह, ७- राक्षसविवाह एवं ८- पैशाच विवाह ।

इन विवाहों में गौतम, बौधायन तथा विष्णुधर्मसूत्र ने चार विवाहों- ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा दैव - को और आपस्तम्ब ने तीन - ब्राह्म, आर्ष तथा दैव को धर्मसम्मत एवं ब्राह्मण के लिए उचित माना है।[५] गौतम ने कुछ स्मृतिकारों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि छः प्रकार के विवाह अर्थात् उपर्युक्त चार एवं गान्धर्व तथा आसुर विवाह भी धर्मानुकूल हैं।[६] गान्धर्व विवाह के औचित्य का निर्देश बौधायनधर्मसूत्र में भी किया गया है।[७] उत्तम प्रकार के विवाह पर बल देने का कारण यह है कि विवाह के गुण के अनुसार ही सन्तान के गुण भी होते हैं।[८] बौधायन ने उत्तम विवाहों से उत्पन्न पुत्रों की प्रशंसा करते हुए कहा है कि आर्ष विवाह से उत्पन्न उत्तम चरित्र वाला पुत्र तीन पुरुषों को, दैव विवाह से उत्पन्न पुत्र दस पुरुषों को, प्राजापत्य विवाह से उत्पन्न पुत्र दस को तथा ब्राह्मविवाह से उत्पन्न पुत्र अपने पहले के दस तथा बाद के दस एवं स्वयं को भी पवित्र करता है। इन्हीं चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न

१- प्रत्तानां च स्त्रीणां त्रिपुरुषं विज्ञायते।- व ४।१८
२- आ २।११।१५, वि २४।६
३- असमानप्रवरैर्विवाहः।- गौ १।४।२
४- गौ १।४।४-११, बौ १।२०।१-६, आप २।११।१७- २।१२।३
व १।२८-३५, वि २४।१८-२५
विस्तृत विवेचन हेतु द्र० अध्याय ६
५- गौ १।४।१२, आप २।१२।३, बौ १।२०।१०, वि २४।२७-२८
६- गौ १।४।१३ षडित्येके।
७- गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्।- बौ १।२०।१६
८- यथायुक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा भवति।- आप २।१२।४ इस प्रसंग में हरदत्त ने मनु० ३।३६-४१ उद्धृत किया है। तुलना- बौ १।२१।१

पुत्रों में वेद ग्रहण करने की क्षमता होती है, ऐसा भी माना गया है।[1] विष्णुधर्मसूत्र में भी कहा गया है कि ब्राह्मविवाह से उत्पन्न पुत्र २१ पुरुषों को पवित्र करता है (या स्वर्ग भेजता है) - दस पूर्वजों को, दस बाद के पुरुषों को तथा कन्यादान करने वाले को। दैवविवाह से उत्पन्न पुत्र १४ पुरुषों को, आर्षविवाह से उत्पन्न पुत्र सात पुरुषों को तथा प्राजापत्य विवाह से उत्पन्न पुत्र चार पुरुषों को पवित्र करने वाला बताया गया है।[2] इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मविवाह से कन्या को ब्रह्मलोक, दैव विवाह से स्वर्ग, आर्ष विवाह से विष्णु का लोक और प्राजापत्य विवाह से देवलोक प्राप्त होता है तथा इन विवाहों में कन्यादान करनेवाला भी इन्हीं लोकों को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति गान्धर्व रीति से विवाह करता है वह मृत्यु के बाद गन्धर्वों का लोक प्राप्त करता है।[3] गान्धर्व विवाह को भी पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया था इसकी ओर बौधायन ने संकेत किया है[4] किन्तु उन्होंने गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच को ब्राह्मण से भिन्न वर्णों के लिए उचित माना है।[5]

विवाह में कन्या के कुल के विषय में विशेष ध्यान देने का निर्देश दिया गया है और कहा गया है कि निम्नकुल की (यथा खेत जोतने वाले, राजकुल में सेवक का कार्य करनेवाले कुल की) कन्या से विवाह न करे।[6] वसिष्ठधर्मसूत्र में आये हुए एक उद्धरण में कहा गया है : 'नष्ट हुई विद्या पुनः मिल जाती है, लेकिन कुल नष्ट होने पर सर्वनाश हो जाता है। एक घोड़ा भी अपनी नस्ल के कारण अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेता है। इस कारण कुलीना स्त्रियों से ही विवाह करे।'[7] इसी प्रकार भ्रातृहीना कन्या से

१- बौ १।२१।२-३

२- वि २४।२६-३२, तुलना- गौ १।४।२७ दश पूर्वान्दश परानात्मानं च ब्राह्मीपुत्रः।

३- वि २४।३३-३७

४- बौ १।२०।१६ गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्।

५- बौ १।२०।१०-११ तेषां चत्वारः पूर्वे ब्राह्मणस्य तेष्वपि पूर्वः पूर्वश्श्रेयान्।
उत्तरेषामुत्तरोत्तरः पापीयान्।

६- वि २४।११

७- विद्या प्रनष्टा पुनरभ्युपैति कुलप्रणाशे त्विह सर्वनाशः।
कुलापदेशेन हयोपि पूज्यस्तत्कुलीनां स्त्रियमुद्वहन्तीति।।- व १।३८

विवाह को भी उत्तम नहीं कहा गया है, क्योंकि वह पुनः अपने पिता के कुल मे लौट जाती है और पुत्रिकापुत्र उत्पन्न करती है तथा उससे उत्पन्न पुत्र का संबन्ध पिता से न होकर मातामह से होता है।[१]

कन्या की शारीरिक निर्दोषता तथा सुन्दरता पर भी धर्मसूत्रों ने बल दिया है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार रोगी, शरीर में अधिक अंगवाली (यथा छः अंगुली वाली), हीन अंगों वाली, लाल रंग के केशों वाली, अधिक मुखर कन्या से विवाह न करे।[२] गौतम और वसिष्ठ ने अपने से कम अवस्था की, जाति और कुल में समान, वाग्दान द्वारा किसी को न दी गयी कन्या से विवाह का उपदेश दिया है।[३]

धर्मसूत्रों के काल में बहुविवाह को मान्यता दी गयी थी और ब्राह्मण की वर्ण के अनुसार तीन पत्नियाँ, क्षत्रिय की दो तथा वैश्य एवं शूद्र की एक-एक पत्नी हो सकती थी। कुछ आचार्यों का विचार है कि द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की एक शूद्रा पत्नी भी हो सकती है, लेकिन उसके लिए मन्त्रों का प्रयोग वर्जित था।[४] किन्तु दूसरी ओर एक विवाह से धर्मकार्य का सम्पादन तथा सन्तानोत्पत्ति होने पर दूसरे विवाहों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया है।[५]

गृहस्थ के विवाहित जीवन में संयम को महत्त्व दिया गया है। वह ऋतुकाल में ही पत्नी से संबन्ध करता था,[६] किन्तु शास्त्रोक्त नियम का पालन करते हुए ऋतुकालों के मध्य के समय में भी सकाम होने पर या पत्नी की इच्छा देख कर संभोग कर सकता था।[७] धर्मसूत्र में ऋतुस्नाता पत्नी के साथ सन्तान की कामना से संबन्ध न करना

१- व १७।१६,१७

२- वि २४।१२-१६

३- गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्। - गौ १।४।१
गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणानुज्ञातः स्नात्वासमानार्षेयामस्पृष्टमैथुनामवरवयसीं सदृशीं विन्देत।- व ८।१

४- व १।२४-२५

५- आप २।११।१२

६- व १२।२१,२२ ऋतौ च सन्निपातो दारेणाऽनुव्रतम्।-आप २।१।१७

७- अन्तरालेऽपि दार एव। -आप २।१।१८

अनुचित माना गया है। देवल ने इसे भ्रूणहत्या के बराबर पाप माना है, किन्तु साथ ही पत्नी के संबन्ध में संयम का नियम नहीं है। प्रतिषिद्ध दिनों और अवस्थाओं को छोड़कर कभी भी उससे संबन्ध विहित किया गया है।[१] गृहस्थ के लिए अमावस्या तथा पौर्णमासी को भूमि पर शयन करने का नियम देते हुए पर्वों पर मैथुन का निषेध किया गया है।[२] इसी प्रकार दिन में भी पत्नीगमन निषिद्ध है[३] और इसका उल्लंघन होने पर मन्त्र के जप का प्रायश्चित्त विहित है।[४] पत्नीगमन के आचार भी विहित किये गये हैं और गृहस्थ के लिए यह नियम दिया गया है कि पत्नीगमन के समय वह स्त्रीवास ही धारण करे और उस वस्त्र का उपयोग किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य में नहीं किया जाना चाहिए।[५]

पुत्र का महत्त्व

सन्तानोत्पत्ति गृहस्थाश्रम का एक प्रमुख कर्त्तव्य होने के कारण सभी धर्मसूत्रों ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों एवं सम्पत्ति के उत्तराधिकार के प्रसंग में पुत्रोत्पत्ति की महत्ता तथा अनेक प्रकार के पुत्रों का विस्तरेण उल्लेख किया है। पुत्र के माध्यम से मनुष्य का पुनः जन्म होता है और वह पुत्र के रूप में उत्पन्न होकर अमरत्व प्राप्त करता है, इस विषय में वेदवचन का निर्देश करते हुए आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है : 'हे मरणधर्मा मनुष्यों, तुम अपनी सन्तान में पुनः उत्पन्न होते हो। अतः सन्तान ही तुम्हारे लिए अमरत्व है।[६] पिता ही दूसरा रूप धारण कर पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। उन दोनो में सारूप्य होता है, केवल शरीर ही भिन्न होता है।[७] धर्मसूत्र में यह माना गया है कि

१- गौ १।५।१-२ ऋतावुपेयात्। सर्वत्र वाप्रतिषिद्धवर्जम्।

२- आप २।१।८,९

३- अहन्यसंवेशनम्।- आप २।१।१६

४- बौ २।१।२८ दिवा रेतस्सिक्तवा त्रिरपोहृदयंगमाः पिबेद्रेतस्याभिः।

५- आप २।१।२० स्त्रीवाससैव सन्निपातस्स्यात्।

६- अथाप्यस्य प्रजातिममृतमाम्नाय आह- प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्याऽमृतमिति। -आप २।२४।१

७- अथाऽपि स एवाऽयं विरूढः पृथक्प्रत्यक्षेणोपलभ्यते दृश्यते चाऽपि सारूप्यं देहत्वमेवाऽन्यत्।- आप २।२४।२

प्रत्येक अगली पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के पुरुषों का सुख और यश बढ़ाती है और सन्तानोत्पत्ति प्रजापति का लोक प्रदान करने वाला एक पवित्र कर्म है।[१] दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि पुत्र के दुष्कर्मो का उसके पूर्वजों पर कोई प्रभाव नहीं होता। जो पुत्र पापकर्म करते हैं केवल वे ही नष्ट होते हैं। उनके पिता आदि दूसरे व्यक्ति नष्ट नहीं होते हैं, जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को ही कीड़े नष्ट करते हैं, वृक्ष या शाखा को नहीं। इस लोक में व्यक्ति का अपने वंश में उत्पन्न पुत्रों द्वारा किये गये कर्मों के साथ कोई संबन्ध नहीं होता है।[२] बौधायन के अनुसार 'जो व्यक्ति उत्तम पुत्र प्राप्त करता है वह अपने बाद की सात पीढ़ी के पुरुषों को तथा पहले की सात पीढी के पुरुषों को, छः अन्य पुरुषों को और सातवें स्वयं को पाप के भय से मुक्त कर देता है।[३] वसिष्ठ के शब्दों में सन्तान की वृद्धि करने वाले पितृकर्मरत, देव तथा ब्राह्मण की पूजा करने वाले पुत्र की पूर्वज प्रशंसा करते हैं।[४]

धर्मसूत्रों ने सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थ को प्रेरणा दी है। बौधायनधर्मसूत्र में कहा गया है कि गृहस्थ आयु और तप को बढ़ाने वाली क्रियाएँ करते हुए स्वाध्याय तथा यज्ञ में तत्पर रहते हुए और अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए विधिपूर्वक अपने वंश में अर्थात् अपने वर्ण की पत्नी से सन्तान उत्पन्न करे।[५] पुत्र उत्पन्न करने से ही प्रसिद्धि मिलती है[६] और यह भी श्रुति में कहा गया है कि पुत्र की उत्पत्ति से पुरुष इन लोकों को जीत लेता है, पौत्र की उत्पत्ति से अमृत प्राप्त करता है और प्रपौत्र का मुख देखकर परम स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। वसिष्ठधर्मसूत्र में भी पुत्रोत्पत्ति के महत्त्व की

१- आप २।२४।४,८

२- आप २।२४।६-१० तत्र ये पापकृतस्त एव ध्वंसन्ति यथा पर्णं वनस्पतेर्न परान् हिंसन्ति। नाऽस्याऽस्मिंल्लोके कर्मभिस्सम्बन्धो विद्यते तथा परस्मिन् कर्मफलैः।

३- सप्ताऽवरान् सप्तपूर्वान् षडन्यानात्मसप्तान्।
सत्पुत्रमधिगच्छानः तारयत्येनसो भयात्।।- बौ २।१६।६

४- सन्तानवर्द्धनं पुत्रमुक्तं पितृकर्मणि।
देवब्राह्मणसंपन्नमभिनन्दन्ति पूर्वजाः।।- व ११।४१

५- आयुषा तपसा युक्त स्स्वाध्यायेज्यापरायणः।
प्रजामुत्पादयेद्युक्तस्स्वे स्वे वंशे जितेन्द्रियः।। बौ २।१६।३

६- बौ २।१६।२ प्रजननिमित्ता समाख्येत्यश्विनावूचतुः।

घोषणा करते हुए कहा गया है कि पिता जीवित पुत्र का मुख देखने पर अपने सभी ऋण उस पर छोड़कर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। पुत्रवान् को अनन्त लोकों की प्राप्ति होती है।[1] पुत्रहीन को कोई लोक नहीं प्राप्त होता ऐसा वेद में कहा गया है। वेद में शत्रुओं को पुत्रहीन होने का शाप दिया गया है तथा अग्नि से पुत्र द्वारा अमरत्व प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है।[2] इस कारण धर्मसूत्र में यह निर्देश दिया गया है कि गृहस्थ यत्नपूर्वक पुत्र उत्पन्न करे। इसके लिए औषधि तथा मन्त्रों का भी प्रयोग करे।[3]

धर्मसूत्रों नें उत्तराधिकार के प्रसंग में पुत्रों के अनेक भेद बताये हैं। किन्तु अपने ही वर्ण की विवाहिता पत्नी से स्वयं उत्पादित औरस पुत्र को ही प्रधानता दी है। सन्तान अपनी ही उत्पन्न हो इसी ध्येय से धर्मसूत्रों में स्त्री की सुरक्षा पर बल दिया गया है। पुत्र उसी व्यक्ति का माना गया है जो उत्पन्न करता है। आस्तम्बधर्मसूत्र में एक गाथा उद्धृत करते हुए बताया गया है कि मृत्यु के बाद वीर्य देने वाला पिता पुत्र को लेकर यम के घर जाता है। इस कारण दूसरे के वीर्य पड़ने की आशंका से ही पत्नियों की सावधानी से रक्षा की जाती है।[4] बौधायनधर्मसूत्र में[5] औपजंघनि आचार्य के जनक के प्रति कथन का उल्लेख है जिसमें औरस पुत्र को ही वास्तविक पुत्र मानते हुए पत्नी की ईर्ष्यापूर्वक रक्षा करने को कहा गया है, क्योंकि यम के भवन में मृत्यु के बाद पुत्र उत्पन्न करनेवाले का होता है। बौधायनधर्मसूत्र में जनक के इस उपदेश का भी उद्धरण दिया गया है कि सावधानी के साथ सन्तान की उत्पत्ति सुरक्षित रखो, कहीं तुम्हारे क्षेत्र में किसी दूसरे के बीज न पड़े।[6] मृत्यु के बाद पुत्र उत्पन्न करने वाले का होता है और पति सन्तान की उत्पत्ति को निष्फल कर देता है। दूसरे व्यक्ति की

१- पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणामृतमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाऽधिरोहतीति।।
- बौ २।१६।६, तु० व १७।५ - - अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्।।

२- व १७।१-४

३- तस्माद्यत्नवान् प्रजामुत्पादयेत्। औषधमन्त्रसंयोगेन।-बौ २।१६।११-१२

४- आप २।१३।६

५- रेतोधा पुत्रं नयति परेत्य यमसादने। तस्माद्भार्या रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः।।
- बौ २।३।३४ यह आप २।१३।६ में भी आया है।

६- अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वप्सुः । जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति।- बौ २।३।३६

विवाहिता, अविवाहिता तथा भिन्न वर्ण की स्त्री से उत्पन्न सन्तान को दोषयुक्त माना गया है।[१] अपना औरस पुत्र न होने पर भी सहोदर भाई के पुत्र से भी मनुष्य पुत्रवान् होने का सुख प्राप्त कर लेता है, इसका निर्देश करते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है: 'यदि एक ही पिता से उत्पन्न भाइयों में से किसी एक का भी पुत्र होता है तो सभी भाई पुत्रवान् हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि किसी पुरुष की कई पत्नियों में किसी एक के पुत्र होता है तो सभी पुत्रवती हो जाती हैं।[२]

पञ्च महायज्ञ

गृहस्थ के धार्मिक कर्त्तव्यों को पञ्चमहायज्ञ की संज्ञा दी गयी है। ये पञ्चमहायज्ञ हैं - देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ।[३]

देवयज्ञ

प्रतिदिन देवताओं के लिए 'स्वाहा' शब्द के साथ हवन करना, समिध् अर्पित करना देवयज्ञ है। देवयज्ञ के अन्तर्गत वैश्वदेव बलि और होम इत्यादि[४] अग्निकार्य सम्मिलित हैं। वैश्वदेव कर्म में तीन उच्च वर्णों के आर्य अन्न पकाते हैं। भोजन पकाने वाले का मुख जब तक अन्न की ओर रहता है तब तक बोलने और खांसने का वर्जन करना होता है तथा शुद्धता का अत्यधिक ध्यान रखना होता है।[५] आपस्तम्ब ने अन्न बनाने में शूद्र का उपयोग भी उचित माना है, किन्तु उसके लिए विशेष स्वच्छता का विधान किया गया है।[६] भोजन के अंश लेकर अलग-अलग स्थान पर देवों के लिए बलि

१- आप २।१३।४ पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः।

२- व १७।१०-११

३- अथेमे पञ्च महायज्ञास्तान्येव महासत्राणि देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। - बौ २।११।१ गौ में ब्रह्मयज्ञ को ऋषियज्ञ कहा गया है

४- 'देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः'।- गौ १।५।३ द्र० हरदत्त की व्याख्या-

४- तत्र देवपूजावैश्वदेवसकलहोमाद्यग्निकार्यं च।- गौ १।५।३

५- आर्याः प्रयताः वैश्वदेवेऽन्नसंस्कारकर्तारः स्युः। भाषां कासं क्षवधुमित्यभिमुखेऽन्नं वर्जयेत्। केशमङ्गवासश्चाऽऽलभ्याऽप उपस्पृशेत्।- आप २।३।१-३

६- आर्याधिष्ठिता वा शूद्रास्संस्कर्तारः स्युः।- आप २।३।४

रखा जाता है और उसके चारो ओर जल छिड़का जाता है। वैश्वदेव बलि की आहुति भोजन बनाने की अग्नि में अथवा गृह्य अग्नि में डाली जाती है।[१] इन बलियों को देवयजन बलि कहते हैं। इसके बाद दो बलियाँ अग्नि के पूर्व में रखी जाती हैं और नवें मन्त्र से जलपात्र के निकट बलि रखी जाती है। उसके बाद दो बलियाँ घर के मध्य और चार बलियाँ घर के उत्तर पूर्व, एक बलि शय्या के निकट, एक बलि देहली पर और एक बलि द्वार के किवाड़ के पास अर्पित की जाती है।[२] दस मन्त्रों से ब्रह्मसदन नाम के स्थान में बलि अर्पित की जाती है फिर दक्षिण की ओर प्राचीनावीती होकर पितरों के लिए, उत्तर की ओर रुद्र के लिए और रात्रि में भूतों के लिए बलि फेंकी जाती है।

वैश्वदेव बलि की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो गृहस्थ ध्यान देकर बलि और होमकर्म नियम के अनुसार करता है वह स्वर्ग तथा समृद्धि प्राप्त करता है। इसी प्रकार वैश्वदेव कर्म में गृहस्थ और उसकी पत्नी के लिए जो भोजन होता है उसका होम तथा बलि करना स्वर्ग तथा समृद्धि प्रदान करता है।[३] वैश्वदेव कर्म समाप्त होने पर याचकों को, कुत्तों और चाण्डालों को भोजन का अंश दिया जाता है, किन्तु कुछ आचार्य चाण्डाल आदि अयोग्य पात्रों को कुछ न देने का निर्देश करते हैं।[४] अग्नि में हवन करने के लिए नमक से युक्त या बिगड़ा हुआ अन्न वर्जित है।[५] इस प्रकार गृहस्थ प्रतिदिन प्रातः सायं बने हुए भोजन का अंश गृह्याग्नि में विश्वेदेवों के लिए अर्पित करता था।[६] आस्थावान्, लोभरहित और अग्न्याधेय के लिए पर्याप्त सम्पत्ति से युक्त गृहस्थ के लिए अग्निहोत्री होना कर्त्तव्य था और जिस गृहस्थ के पास सोमयज्ञ करने के लिए धन होता था वह सोमयज्ञ करता था।[७] विष्णुधर्मसूत्र में गृहस्थ के दैनिक देवपूजा

१- इसके मन्त्र निम्नलिखित हैं- अग्नये स्वाहा,सोमाय स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्स्वाहा, ध्रुवाय भौमाय स्वाहा, ध्रुवक्षितये स्वाहा, अच्युतक्षितये स्वाहा।- आप २।३।१६

२- इनके मन्त्र हैं- धर्माय स्वाहा, अधर्माय-, अद्भ्यः-, ओषधिवनस्पतिभ्यः-, रक्षोदेव - जनेभ्यः-, गृह्याभ्यः०, अवसानेभ्यः०, सर्वभूतेभ्यः ०, कामाय०,अन्तरिक्षाय ०,यदेजति जगति यच्च चेष्टति नाम्नो भागो यन्नाम्ने स्वाहा।- आप २।३।२०-२३, २।४।१-३

३- य एतानव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च।- आप २।४।६ , २।३।१२

४- तदेव, २।६।५,६ ५- तदेव २।१५।१४,१५ ६- व ध सू ११।३ ७- तदेव,८।६,१०

का विधान करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ स्नान के बाद देवों और पितरों के लिए तर्पण करे, उसके बाद वस्त्र को धोये, आचमन करे तथा स्नान के बाद मन्त्रों का, गायत्री और पुरुषसूक्त का जप करे। इन दोनो से बढ़कर कुछ भी नहीं है। स्नान के समय पितरों के लिए पुरुषसूक्त के प्रत्येक मन्त्र के साथ पुष्प अर्पित करे और जल की एक अञ्जलि दे। पुनः देवों के लिए देवतीर्थ से, पितरों के लिए पित्र्य तीर्थ से पुष्प अर्पित करे। फिर अपने वंश के पूर्व पुरुषों के लिए तर्पण करे। संबन्धियों एवं मृत मित्रों के लिए तर्पण करे। इस प्रकार गृहस्थ प्रतिदिन स्नान के साथ पूजन एवं तर्पण करे।[१]

ब्रह्मयज्ञ

वेद का स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। बौधायनधर्मसूत्र में स्वाध्याय-रूपी ब्रह्मयज्ञ में वाणी को जुहू कहा गया है, मन को उपभृत्, चक्षु को ध्रुवा, मेधा को स्रुवा, सत्य को अवभृथ और स्वर्ग लोक को उदयन या यज्ञ की परिसमाप्ति कहा गया है। जितना स्वर्गफल धनधान्य से पूर्ण पृथ्वी का दान करने से प्राप्त होता है उससे अधिक फल स्वाध्याय करने वाला प्राप्त करता है और मृत्यु को जीत लेता है।[२] यह ब्रह्मयज्ञ प्रणव से आरम्भ होता है। स्वाध्याय में जिस-जिस यज्ञ के मन्त्र का अध्ययन किया जाता है उस मन्त्र से व्यक्ति उस यज्ञ के उत्तम फल को प्राप्त करता है।[३] नित्य स्वाध्याय की प्रशंसा करते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है कि जो प्रतिदिन स्वाध्याय करते हैं, जो निरन्तर संयम रखते हैं, जो जप और यज्ञ करते हैं उनका कभी नाश नहीं होता।[४] गृहस्थ भी कुछ समय तक वेदाध्ययन कर सकता था और वर्ष में दो मास आचार्यकुल में भी निवास कर सकता था ऐसा श्वेतकेतु का मत आपस्तम्बधर्मसूत्र में उद्धृत है, किन्तु स्वयं आपस्तम्ब ने इसे शास्त्रविरुद्ध माना है। उनके अनुसार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद वेद के अनुसार दैनिक जीवन के कर्त्तव्यों का सम्पादन करना चाहिए।[५]

१- वि ६४।२४-३६
२- बौ २।११।८
३- तदेव २।११।१०
४- व २६।१४
५- आप १।१३।१९,२०

भूतयज्ञ

प्रतिदिन प्राणियों के लिए पुष्प इत्यादि के साथ श्रद्धा व्यक्त करते हुए सत्कार करना भूतयज्ञ कहा गया है।[१] गोविन्दस्वामी ने देव, पितृ तथा भूतयज्ञ का सम्पादन वैश्वदेव बलिहरण से ही माना है।[२] हरदत्त ने भी बलिहरण को ही भूतपूजा कहा है।[३]

पितृयज्ञ

प्रतिदिन पितरों के लिए 'स्वधा' के साथ जल से भरा हुआ पात्र अर्पित करना पितृयज्ञ होता है। गौतम ने भी निर्देश दिया है कि पितरों के लिए जल और शक्ति के अनुसार अन्य पदार्थ अर्थात् भोजन तथा फल इत्यादि प्रदान करे।[४] श्राद्धकर्म भी गृहस्थ का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

मनुष्ययज्ञ

प्रतिदिन ब्राह्मणों के लिए फल, मूल और शाक इत्यादि अर्पित करना मनुष्ययज्ञ है।[५] अतिथिसत्कार को ही मनुष्ययज्ञ कहा गया है।[६] वसिष्ठधर्मसूत्र में गृहस्थ के लिए यह नियम दिया गया है कि वह प्रतिदिन किसी वेद के विद्वान् अथवा ब्रह्मचारी को अन्न का अंश प्रदान करे। उसके बाद पितरों को अन्न दे।[७]

अतिथिसत्कार

प्राचीन काल से ही गृहस्थ के कर्त्तव्यों में अतिथिसत्कार का प्रमुख स्थान रहा है। धर्मसूत्रों में अतिथिसत्कार की बार-बार प्रशंसा की गयी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में

१- अहरहर्नमस्कुर्यादा पुष्पेभ्यस्तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति। - बौ २।११।४
२- एते त्रयो महायज्ञाः वैश्वदेवबलिहरणैरेव सम्पादिता इति।- बौ २।११।४ की टीका।
३- भूतपूजा बलिहरणम्।- गौ १।५।३ की टीका।
४- पितृभ्यश्चोदकदानं यथोत्साहमन्यत्।- गौ १।५।५
५- अहरहर्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादा मूलफलशाकेभ्यस्तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। - बौ २।११।५
६- नृयज्ञश्चातिथिपूजनम्।- वि ५६।२५ तथा हरदत्त 'मनुष्यपूजाऽतिथिपूजा।'
७- व ११।५, श्रोत्रियायाग्रभागं दत्त्वा ब्रह्मचारिणे वानन्तरं पितृभ्यो दद्यात्।

कहा गया है कि जो गृहस्थ-दम्पती अतिथियों को खाली नहीं लौटाते, वे अनन्त लोक प्राप्त करते हैं।[१] अतिथि अग्नि के समान जलता हुआ घर में प्रवेश करता है।[२] अतिथिसत्कार को नित्य किया जाने वाला प्राजापत्य यज्ञ बताते हुए कहा गया है कि जो अग्नि अतिथियों के उदर में होती है वह आहवनीय अग्नि है, जो पवित्र गृह्य अग्नि होती है वह गार्हपत्य है और जिस अग्नि पर भोजन पकाया जाता है वह दक्षिणाग्नि है। अतिथि के भोजन करने से पहले भोजन करने वाला अपने कुल के अन्न, समृद्धि, सन्तान, पशु और पुण्यफल का भक्षण कर लेता है। अतिथि को जो दूध से मिश्रित अन्न दिया जाता है, वह अग्निष्टोम का, मधु से युक्त भोजन अतिरात्र का, मांस-युक्त भोजन द्वादशाह का फल देता है तथा अन्न और जल सन्तान एवं दीर्घ जीवन देने वाले होते हैं।[३] जो अतिथि को तीन कालों में भोजन की वस्तुएँ दी जाती हैं वे इस प्राजापत्य यज्ञ के तीन सवन हैं।[४] प्रस्थान के लिए उद्यत अतिथि के पीछे उठना उदवसानीया इष्टि का रूप होता है। उससे मधुर भाषण करना यज्ञ की दक्षिणा है , प्रस्थान करते हुए अतिथि के पीछे चलना विष्णुक्रम है और अतिथि को पहुँचाकर लौटना अवभृथ स्नान ही है।[५]

अतिथिसत्कार की प्रेरणा देने के लिए धर्मसूत्रों में उसके अलौकिक फलों का भी उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, यदि उसका सम्मानपूर्वक सत्कार किया जाता है तो वह स्वर्ग लोक पहुँचाता है।[६] अतिथि को एक रात्रि के लिए घर में स्थान देने वाला पृथ्वी के सुखों को, दूसरी रात्रि स्थान देने वाला अन्तरिक्ष लोकों को, तीसरी रात्रि स्थान देने वाला स्वर्गीय लोकों को तथा चौथी रात्रि ठहराने वाला असीम आनन्द का लोक प्राप्त करता है। जो अनेक रात्रियों तक अतिथि को अपने घर में स्थान देता है वह असीम सुखों को प्राप्त करता है।[७] किन्तु यदि

१- एवं वृत्तावन्तलोको भवतः।- आप २।४।१५
२- अग्निरिव ज्वलन्नतिथिरभ्यागच्छति।- आप २।६।३
३- आप २।७।१-४ ४- तदेव, २।७।६
५- तदेव २।७।७-१०
६- प्रिया अप्रियाश्चाऽतिथयः स्वर्गं लोकं गमयन्तीति विज्ञायते।- आप २।७।५
७- तदेव, २।७।१६

गृहस्थ के घर आश्रय लेने वाला ब्राह्मण भोजन नहीं पाता, तो वह जाते समय गृहस्थ का तेज लेता जाता है।[1] अतिथि का लक्षण बताते हुए गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि दूसरे ग्राम में निवास करने वाले, केवल एक रात्रि रुकने वाले, वृक्षों के ऊपर सूर्य के अधिष्ठित रहने की वेला में अर्थात् मध्याह्न या सायंकाल आने वाले को अतिथि कहते हैं।[2] वसिष्ठ के शब्दों में 'जो ब्राह्मण केवल एक रात्रि रुकता है वही अतिथि है, क्योंकि अतिथि शब्द की व्युत्पत्ति यही है 'जो थोड़ी देर रहे''।[3] एक ही ग्राम में रहने वाला ब्राह्मण, व्यापार या आनन्द हेतु आया हुआ व्यक्ति अतिथि नहीं होता। किन्तु कोई अतिथि चाहे भोजन का समय रहने या बीतने पर आये, विना भोजन किये घर में निवास न करे।[4] सायंकाल आये हुए अतिथि को लौटाना नहीं चाहिए। घर में कोई अतिथि विना भोजन किये न रहे इस पर गृहस्थ को विशेष ध्यान देने का निर्देश है।[5]

गृहस्थ के लिए अतिथिसत्कार का नियम देते हुए कहा गया है कि अतिथि के आने पर उठकर उसकी अगवानी करे। अवस्था के अनुसार आदर करे और उसे आसन प्रदान करे तथा प्रेमपूर्वक उसकी प्रशंसा करते हुए वार्तालाप करे।[6] अतिथि का चरण धोना भी विहित है। यदि स्वयं न धो सके तो दो शूद्रों द्वारा धुलवाये।[7] किन्तु जिस अतिथि का समावर्तन न हुआ हो उसके लिए स्वयं जल ले जाना निषिद्ध है।[8] गुरु के लिए तथा उत्तम गुणों से सम्पन्न अतिथि के लिए आचमन के निमित्त जल देना चाहिए।[9] अतिथि से स्नेहपूर्वक भाषण करते हुए उसे दूध, अन्य पेय पदार्थ और खाद्य

१- यस्य नाश्नाति वासार्थी ब्राह्मणो गृहमागतः।
सुकृतं तस्य यत्किंचित्सर्वमादाय गच्छति।।- व ८।६, वि ६७।३३

२- असमानग्रामोऽतिथिरैकरात्रिकोऽधिवृक्षसूर्योपस्थायी।- गौ १।५।३६

३- एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथि उच्यते।।
- व ८।७

४- व ८।८, तुलना वि ६७।३५

५- सायमागतमतिथिं नापरुन्ध्यात्। नास्यानश्नन्गृहे वसेत्।- व ८।४-५

६- आप २६।७, व ८।१२

७- आप २।६।६

८- आप २।६।१२

९- तदेव २।५।६-७

पदार्थ से तृप्त करे। इन वस्तुओं के अभाव में कम से कम जल देकर ही उसे सन्तुष्ट करे। अतिथि को रहने के लिए स्थान तथा विश्राम के लिए शय्या , चटाई, तकिया, चादर तथा अंजन इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करे।[१] परिवार के सभी सदस्यों के भोजन कर लेने पर यदि अतिथि का आगमन हो तो रसोई बनाने वाले को पुनः बुलाकर भोजन बनवाये[२] और इसी प्रकार वैश्वदेव बलिकर्म पूरा हो चुकने के बाद आने वाले अतिथि के लिए विशेष रूप से उत्तम भोजन बनवाये।[३]

यदि राजा के यहाँ भी अतिथि आता था तो उसे अतिथि का अपनी अपेक्षा अधिक सुख-सुविधा प्रदान कर सत्कार करना होता था। इसी प्रकार अग्निहोत्री के लिए निर्देश दिया गया है कि यदि उसके यहाँ अतिथि आता है तो वह स्वयं उसकी अगवानी करे और अग्निह्मेत्र-होम करते समय उसे अग्नि के उत्तर में बैठाकर उसकी इच्छा के अनुसार होमकर्म करे तथा उसकी आज्ञा लेकर ही हवन करे।[४] वसिष्ठधर्मसूत्र ने अतिथिसत्कार में ब्राह्मण या क्षत्रिय अतिथि के लिए जवान बछड़े या जवान बकरे का वध भी विहित किया है।[५] आपस्तम्ब का यह दृष्टिकोण भी दिखायी पड़ता है कि अतिथि चाहे जैसा भी हो उसका सत्कार होना चाहिए। यदि कोई विद्यारहित व्यक्ति अतिथि कहलाने का ढोंग रचकर आवे, तो उसका भी इस प्रकार सत्कार करना चाहिए जैसे श्रोत्रिय का। ऐसा करने से उसके सत्कार का पुण्य अधिक होता है।[६]

एक दिन से अधिक समय तक रहने वाले अतिथि के प्रति सामान्य अभिवादन का नियम विहित है।[७] गृहस्थ अतिथियों के भोजन कर लेने के बाद ही अन्न ग्रहण करता था और उसके लिए दूध आदि पदार्थों को बचाकर रखता था।[८] आपस्तम्बधर्मसूत्र में यह निर्देश दिया गया है कि यदि कोई अतिथि विना सत्कार के लौट गया हो तो इसके प्रायश्चित्त के रूप में गृहस्थ उस दिन उपवास करे और दूसरे

१- आप २।६।१४,१५ द्र० वि ६७।४५-४६
२- आप २।६।१८
३- व ११।१२
४- आप २।७।१२-१५
५- व ४।८
६- आप २।७।१७
७- तदेव, २।८।१
८- तदेव २।८।२,३

दिन अतिथि को ढूँढकर उसे भोजन कराकर तृप्त करे। उसके प्रस्थान करते समय उसके पीछे गमन करे।[1] अतिथि को विदा करते समय उसके पीछे ग्राम की सीमा तक जाये और उसके लौटाने पर ही लौटे।[2] यदि अतिथि के पास कोई यान हो तो जहाँ वह यान पर चढ़े उस स्थान तक पहुँचाने जाना चाहिए।[3]

धर्मसूत्रों में अतिथियों में भी उनकी योग्यता और विद्या के अनुसार श्रेणी-विभाजन किया गया है। योग्यता के क्रम में ही उनकी भोजन कराने का नियम भी है।[4]अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करने वाले अतिथि के लिए गौ की दक्षिणा तथा मधुपर्क विशेष रूप से अर्पित किया जाता था।[5] गौतमधर्मसूत्र में भी श्रोत्रिय अतिथि के लिए जल, अर्घ्य, विशिष्ट अन्न, स्वादयुक्त भोजन देकर उत्तम कोटि के सत्कार का विधान किया गया है।[6] इसी प्रकार विद्यारहित किन्तु सदाचारी अतिथि के लिए मध्यम कोटि का भोजन और विद्यारहित आचरणहीन अतिथि के लिए तृण, जल, निवास के लिए स्थान तथा स्वागत के वचन द्वारा सत्कार करना गृहस्थ का कर्त्तव्य माना गया है। विद्या एवं व्यवसाय में अपने समान अथवा अपने से अधिक स्तर वाले तथा अपने से कुछ हीन अतिथि के लिए भी अपने समान शय्या, आसन तथा निवासस्थान देने का निर्देश किया गया है।[7]

गौतमधर्मसूत्र में अतिथिसत्कार के प्रसंग में वर्ण का भी विचार किया गया है और कहा गया है कि ब्राह्मण का अतिथि अब्राह्मण नहीं हो सकता। अतएव अब्राह्मण के आने पर ब्राह्मण उसकी अतिथि-पूजा न करे। उसे जल एवं भोजन ही प्रदान करे।[8] आपस्तम्ब ने भी वैश्य और शूद्र के आने पर उनका उठकर सम्मान करना ब्राह्मण के

१- आप २।८।१४, २।६।१ २- व ११।१४-१५, आप २।६।३-४

३- आप २।६।२

४- ततोऽतिथिं भोजयेच्छ्रेयांसं श्रेयांसमानुपूर्व्येण।- व ११।६

५- आप २।८।५

६- श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्नविशेषांश्च प्रकारयेत्। नित्यं वा संस्कारविशिष्टम्।
- गौ १।५।३०-३१

७- गौ १।५।३२-३५

८- ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मणः।- गौ १।५।३६

लिए वर्जित किया है।[1] किन्तु यज्ञ के समय बुलाये गये अब्राह्मण का अतिथि के समान सत्कार किया जाता था।[2] क्षत्रिय तथा वैश्य अतिथियों को ब्राह्मणों के भोजन करने के बाद भोजन देने का नियम विहित है।[3] आतिथ्य के समय आये हुए शूद्र को दयापूर्वक अपने सेवकों के साथ भोजन कराना गृहस्थ का कर्त्तव्य माना गया है।[4] किन्तु आपस्तम्ब ने ऐसे शूद्र से कुछ कार्य कराने और कार्य के बाद भोजन देने का निर्देश किया है।[5] इस प्रकार अतिथि-सत्कार गृहस्थ का अत्यन्त पवित्र कर्त्तव्य था, जो धार्मिक विचारों के साथ-साथ मानवीय भावनाओं से ओतप्रोत था। विष्णुधर्मसूत्र में अतिथिसत्कार की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय, अग्निहोत्र, यज्ञ और तप से गृहस्थ उन लोकों को नहीं प्राप्त कर पाता, जिन्हें वह अतिथिपूजा से प्राप्त कर लेता है।[6]

गृहस्थ के लिए भोजनविषक नियम

गृहस्थ का यह कर्त्तव्य था कि सभी को भोजन देने के बाद भोजन करे तथा सभी प्राणियों को अपनी शक्ति के अनुसार अन्न देकर सम्मान करे।[7] केवल अपने लिए भोजन पकाने वाले को पापी कहा गया है। विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति केवल अपने लिए भोजन पकाता है वह पाप का ही भक्षण करता है, क्योंकि सदाचारी के लिए वही भोजन उचित है जो यज्ञ के बाद बचता है।[8] इस कारण यह निर्देश दिया गया है कि अकेले ही उत्तम भोजन का आस्वादन न करे।[9] गृहस्थ ही सबको भोजन देता था और इस कारण वह उनका भरण-पोषण करता था। गृहस्थ को अतिथियों, अपने परिवार के सदस्यों तथा सेवकों को उचित क्रम में भोजन कराना होता था।

१- आप २।४।१८ २- गौ १५।४०

३- भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः।- गौ १५।४१, वि ६७।३६

४- गौ १५।४२, वि ६७।३७

५- आप २।४।१९,२० शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुंज्यात्। अथास्मै दद्यात्।

६- वि ६७।४४

७- यथाशक्ति चान्नेन सर्वाणि भूतानि।- व ८।१३

८- वि ६७।४३ ९- तदेव ६८।२६

धर्मसूत्र ने इसे महत्त्व देते हुए कहा है कि जो मूर्ख व्यक्ति जिनको पहले भोजन देना चाहिए उन्हें न देकर स्वयं ही पहले भोजन करता है वह यह नहीं जानता कि मृत्यु के बाद वह कुत्तों और चीतों का भोजन बनेगा।[१] विष्णुधर्मसूत्र में भोजन का क्रम बताते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण आदि अतिथि, मित्रों एवं संबन्धियों, भरणीय व्यक्तियों को भोजन देने के बाद गृहस्थ दम्पती भोजन करे।[२] वह सद्यःविवाहिता कन्या, अविवाहिता कन्या, रोगी और गर्भवती को अतिथि से भी पहले भोजन कराये। देवों, पितरों, मनुष्यों, भरणीय व्यक्तियों, घर की देवियों को भोजन देने के बाद बचा हुआ भोजन करे।[३] भोजन के विषय में दास का विशेष ध्यान रखना होता था। आपस्तम्ब ने यह नियम दिया है कि भोजन का विभाजन इस प्रकार करना चाहिए कि घर में जो प्रतिदिन भोजन करते हों ऐसे सेवक आदि वञ्चित न रहें। परिस्थितिवश स्वयं अपने, पत्नी और पुत्र के भोजन में कमी की जा सकती है, किन्तु सेवक के भोजन में कमी नहीं होने देनी चाहिए।[४] प्रतिदिन भिक्षा देना भी गृहस्थ का धार्मिक कर्त्तव्य होता था। भिक्षुक के हाथ में जल देकर तथा स्वस्ति का उच्चारण कर भिक्षा देने का नियम विहित है।[५] गृहस्थ द्वारा अन्नदान एक पवित्र धार्मिक कर्म था और इसकी प्रशंसा में बौधायनधर्मसूत्र में अन्न देवता द्वारा कहे गये दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनका भाव इस प्रकार है[६] : 'जो मुझे पितरों, देवताओं, सेवकों, अतिथियों तथा मित्रों को दिये विना ही बनाकर खा लेता है वह मूर्खतावश विष का ही भक्षण करता है। मैं उस व्यक्ति का भक्षण कर लेता हूँ। मैं उसका मृत्यु हूँ। किन्तु जो अग्निहोत्र हवन कर, वैश्वदेव बलि कर, पूज्य जनों,

---

१- वि ६७।४० २- तदेव ६७।४१

३- वि ६७।३९-४२, व ११।११

४- ये नित्या भाक्तिकास्तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः। काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम्।- आप २।९।१०-११

५- गौ १।५।१६ स्वस्तिवाच्य भिक्षादानमप्पूर्वम्।

६- अथाऽप्यत्राऽन्नगीतौ श्लोकावुदाहरन्ति-
यो मामदत्त्वा पितृदेवताभ्यो भृत्यातिथीनां च सुहृज्जनस्य।
सम्पन्नमश्नन्विषमत्ति मोहात्तमद्म्यहं तस्य च मृत्युरस्ति।।
हुताग्निहोत्रः कृतवैश्वदेवः पूज्यातिथीन् भृत्यज्जनावशिष्टम्।
तुष्टश्शुचिश्श्रद्दधदत्ति यो मां तस्याऽमृतं स्यां स च मां भुनक्तीति। बौ २।५।१८

अतिथियों और सेवकों के भोजन करने के बाद बचे हुए अन्न को सन्तुष्ट होकर पवित्रता से तथा श्रद्धा रखते हुए खाता है, उसके लिए मैं अमृत बन जाता हूँ और वही वस्तुतः मुझसे सुख प्राप्त करता है।

श्राद्धकर्म

पितृगण के लिए श्राद्धकर्म करना गृहस्थ के लिए धार्मिक कर्त्तव्यों में प्रधान था। पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए सन्तान की उत्पत्ति एक प्रकार से पितृपूजा का अङ्ग बन गयी थी। श्राद्धकर्म पितरों को सन्तुष्ट करने के लिए किया जाता था। श्राद्ध की विधि का वर्णन गृह्यसूत्रों का विषय है, तथापि धर्मसूत्रों में भी इसकी क्रियाओं तथा नियमों को प्रचुर स्थान दिया गया है। यहाँ उसकी विधि का विस्तरेण वर्णन प्रासंगिक नहीं है। गृहस्थ के जीवन में धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में श्राद्धकर्म के महत्त्व पर ही विचार किया जायगा। बौधायनधर्मसूत्र में पितृश्राद्ध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि यह दीर्घ आयु प्रदान करने वाला, स्वर्ग देने वाला, प्रशंसनीय तथा समृद्धि का कारण होता है।[१] आपस्तम्ब ने पितरों को श्राद्धयज्ञ का देवता कहा है। भोजन करने वाले ब्राह्मणों को आहवनीय अग्नि के तुल्य माना है।[२] श्राद्धकर्म प्रत्येक मास में किया जाने वाला कर्म है और यह दूसरे पक्ष में दोपहर के बाद करना श्रेयस्कर होता है।[३] मास के उत्तर पक्ष में भिन्न-भिन्न तिथियों पर किये जाने वाले श्राद्ध के विभिन्न फल होते हैं।[४] श्राद्ध में तिल, उड़द, धान, जौ, जल, मूल और फल द्रव्य होते हैं।[५] पितृगणों के लिए रसयुक्त पदार्थों, स्नेहयुक्त भोजन तथा मांस पकाकर अर्पित किया जाता था। गाय, भैंस तथा पालतू और जंगली पशुओं का मांस अर्पित करना पितरों के लिए सन्तुष्टिदायक माना गया है।[६] गैण्डे का मांस, शतबलि नाम के मछली का मांस और वार्घ्राणस पक्षी का मांस पितरों के लिए अनन्तकाल तक सन्तुष्टि देने वाला बताया गया है।[७] विष्णुधर्मसूत्र

१- बौ २।१४।१

२- तत्र पितरो देवता ब्राह्मणास्त्वाहवनीयार्थे।-आप २।१६।२

३- आप २।१६।३-४ ४- तदेव २।१६।७-२१

५- तत्र द्रव्याणि तिलमाषाः व्रीहियवा आपो मूलफलानि च।-आप २।१६।२२

६- तदेव, २।१६।२५-२७ ७ - तदेव,२।१७।१-३

में भी अन्न, मछली, विभिन्न प्रकार के पशु का मांस, गाय का दूध पितृगणों के लिए विशिष्ट अवधि के लिए तृप्तिदायक कहा गया है।[१]

विष्णुधर्मसूत्र में श्राद्ध का विवेचन कई अध्यायों में किया गया है।[२] श्राद्ध के काल निम्नलिखित बताये गये हैं- अमावस्या, तीन अष्टका, तीन अन्वष्टका, प्रौष्ठपद के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तथा धान एवं जौ पकने की ऋतुएँ। जो इन समयों पर श्राद्ध नहीं करता वह नरक को जाता है।[३] आदित्यसंक्रमण, दो विषुवत् के दिन, दो अयन, व्यतीपात (श्राद्धकर्ता, उसकी पत्नी या पुत्री के) जन्म का नक्षत्र, पुत्रजन्मादि उत्सव का दिन-- इन को प्रजापति ने काम्य (इच्छानुसार) श्राद्ध का काल बताया है। इन अवसरों पर किया गया श्राद्ध पितरों को सन्तुष्ट करता है।[४] विभिन्न दिनों (सोमवार आदि) पर श्राद्ध करने से आरोग्य, सौभाग्य, विजय, सभी इच्छाएँ, विद्या, धन, जीवन की प्राप्ति होती है।[५] विभिन्न नक्षत्रों में श्राद्ध करने के विभिन्न फल होते हैं।[६] इच्छाओं एवं वस्तुओं की उपलब्धि होती है। चन्द्रपक्ष के विभिन्न दिनों पर श्राद्ध करने के भिन्न-भिन्न फल बताये गये हैं, यथा सुन्दर स्त्री, कन्या, पशु, सुन्दर पुत्र, द्यूत में विजय, कृषि की समृद्धि, व्यापार, अश्वप्राप्ति आदि।[७]

श्राद्ध के समय के विषय में वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है कि श्रावण तथा आग्रहायण की पूर्णिमा को तथा अन्वष्टकी तिथि को पितरों के लिए श्राद्ध करे, किन्तु उचित वस्तु, योग्य ब्राह्मण तथा उचित स्थान होने पर समय का कोई बन्धन नहीं होता।[८] कृष्णपक्ष में श्राद्ध की प्रशंसा की गयी है। विष्णुधर्मसूत्र में पितरों की यह कामना व्यक्त की गयी है कि हमारे कुल में ऐसे उत्तम पुरुष उत्पन्न हों जो वर्षाकाल में कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को दूध, मधु के साथ श्राद्ध करें और जब हाथी की छाया पूर्व की ओर पड़ रही हो तो सम्पूर्ण कार्तिक मास में श्राद्ध करे।[९] इसी प्रकार की अन्य गाथा में गयाश्राद्ध की प्रशंसा की गयी है और पितरों की इस उक्ति का उल्लेख किया गया है

१- वि ८०।१-१२
२- अध्याय २१,७३,७५,७६,७८,७६,८६।
३- वि ७६।१-२
४- तदेव, ७७।१-७
५- वि ७८।१-७
६- तदेव, ७८।८-३५
७- वि ७८।३६-४६
८- व ११।४४
६- वि ७८।५२-५३

'हमारे कुल में ऐसा पुरुष होवे, जो अधिक जल वाली शीतल नदियों के तट पर उदकाञ्जलि प्रदान करे। हमारे कुल में ऐसा उत्तम पुरुष हो, जो श्रद्धापूर्वक गयाशीर्ष में श्राद्ध करे। अनेक पुत्रों की कामना करे, क्योंकि उनमें से एक भी यदि गया जाकर श्राद्ध करे, या वाजपेय करे या नीलवृष छोड़े तो वह मुक्ति प्राप्त कर लेगा।[१] तीर्थों में श्राद्ध प्रशंसित है।[२]

श्राद्धकाल में संयम पर विशेष बल दिया गया है। विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि श्राद्धकाल में क्रोध न करे, अश्रुपात न करे, जल्दी न करे।[३] वसिष्ठ के अनुसार ये तीन श्राद्ध को पवित्र करते हैं- पुत्री का पुत्र, दोपहर का समय और तिल। तीन बातों की श्राद्ध में प्रशंसा की जाती है- शुद्धता, क्रोध का अभाव, जल्दीबाजी का अभाव।[४] श्राद्ध में रजस्वला स्त्री का दर्शन, कुत्ता, ग्रामसूकर, ग्राम-कुक्कुट का दर्शन वर्जित है[५] और योगी की प्रशंसा की गयी है।[६]

श्राद्ध के प्रसंग में ब्राह्मणों को भोजन कराने के महत्त्व तथा विधि का प्रायः सभी धर्मसूत्रों में विस्तरेण वर्णन किया गया है। ब्राह्मणों को भोजन कराना पितरों को तृप्त करने का प्रतीक होता था। किन्तु इन ब्राह्मणों के गुणों और योग्यता पर अधिक बल दिया गया है। मन्त्रों के ज्ञाता, उत्तम आचरण वाले, वेद के विद्वान्, शारीरिक विकार से रहित ब्राह्मण को ही भोजन कराना संगत माना गया है। इन्हें पंक्तिपावन कहा गया है।[७] अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना भी वर्जित किया गया है, क्योंकि उससे शुद्धता नहीं रह जाती और अच्छी प्रकार ब्राह्मणों का सत्कार नहीं हो पाता।[८] वसिष्ठ ने सम्पूर्ण वेदों के ज्ञान से युक्त आचारवान् एक ब्राह्मण को भी पर्याप्त माना है।[९]

१- वि ८५।६४-६७
२- वि ८५।१-२७ में पचासी तीर्थों के नाम दिये गये हैं।
३- वि ७६।१६-२१ ४- व ११।३५
५- वि ८१।६-६
६- तदेव ८३।१६-२१
७- आप २।१७-२१,२२ ; बौ २।१४।२-६
८- व ११।२७ २८
६- व ११।२६

श्राद्धभोजन करने के बाद पत्नीगमन वर्जित किया गया है। इस स्थिति में जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे वेदज्ञान के लिए अक्षम और अल्पायु बताया गया है।[१] श्राद्ध में कौवों के लिए भी पिण्डदान देने का नियम है, क्योंकि वे भी पितृगण के रूप में विचरण करते हैं।[२] विशेषतः विष्णुधर्मसूत्र ने गृहस्थ के लिए कई प्रकार की वस्तुएँ दान देने तथा पुण्य तिथि पर देवता की विधिवत् पूजा करने का उपदेश दिया है। वैशाख की पूर्णिमा को कृष्णमृगचर्म का ब्राह्मण को दान देने का फल बताते हुए एक गाथा में कहा गया है कि जो गृहस्थ धर्मात्मा ब्राह्मण को सींगों एवं खुरों के साथ कृष्णमृगचर्म को तिल, वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत कर दान करता है वह निश्चय ही समुद्रों से घिरी, गुफाओं, पर्वतों, वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने का फल पाता है और जो तिल, सुवर्ण,मधु और घृत रखकर दान करता है वह अपने दुष्कर्मों का फल नष्ट कर देता है।[३] बछड़े को जन्म देती हुई गौ के दान की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि दान देने वाला व्यक्ति उतने युगों तक स्वर्ग प्राप्त करता है, जितने रोम गौ तथा बछड़े के शरीर में होते हैं।[४] मार्गशीर्ष की शुक्ल पञ्चदशी को चन्द्रमा के मृगशिरा नक्षत्र में रहते समय सुवर्णनाभ पात्र में, जो सोलह माशा सुवर्ण से युक्त होता है, एक प्रस्थ पिसा हुआ नमक ब्राह्मण को दान करने पर दूसरे जन्म में सौन्दर्य और सौभाग्य की प्राप्ति भी बतायी गयी है।[५] आश्विन मास में घृत का दान,[६] कार्तिक मास में गायत्री-जप, प्रातःस्नान तथा संयम का व्रत[७] और माघ मास में तीन ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराने के[८] धार्मिक कृत्य भी गृहस्थ के लिए विहित किये गये हैं। इस प्रकार धर्मसूत्रों में गृहस्थाश्रम सम्पूर्णतः धार्मिक कर्त्तव्यों से व्याप्त दिखायी पड़ता है। गृहस्थाश्रम का जीवन दान और परोपकार का जीवन था और इस कारण यह आश्रम अपनी महत्ता में किसी अन्य आश्रम से कम नहीं था।

१- व ११।३७,३८

२- वयसां पिण्डं दद्यात्। वयसां हि पितरः प्रतिमया चरन्तीति विज्ञायते।- बौ २।१४।६

३- वि ८७।७-१०

४- तदेव ८८।१-४ ५- तदेव ९०।१-२

६- तदेव९०।२४-२५ ७- तदेव ८६।३-४

८- तदेव९०।२७

गृहस्थाश्रम की दस वृत्तियाँ

बौधायनधर्मसूत्र में[१] गृहस्थ की दस प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया गया है, जो अन्य धर्मसूत्रों में विवेचित नहीं हैं। ये वृत्तियाँ शालीन, यायावर तथा चक्रचर गृहस्थों के लिए विहित हैं। घर में निवास करने वालों को शालीन, उत्तम वृत्ति से जीवननिर्वाह करने वालों को यायावर तथा वर्णक्रम के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के यहाँ जीवन वृत्ति के लिए जाने वाले को चक्रचर कहा गया है।[२] इन गृहस्थों के लिए ये नौ अथवा दस वृत्तियाँ निम्नलिखित हैं- षण्णिवर्तनी, कोद्दाली, ध्रुवा, सम्प्रक्षालिनी, समूहा, पालिनी, सिलोञ्छा, कपोता, सिद्धेच्छा तथा वान्या।[३]

इन वृत्तियों में से किसी एक को ग्रहण करने के लिए कई मन्त्रों से वास्तोष्पति के लिए आहुति करने का विधान है[४] तथा ग्राम से बाहर निकलकर कुटी या मठ में निवास करना होता था। ऐसे व्यक्ति को अध्यापन, यज्ञ कराने और दान लेने का कर्म त्यागना होता था।[५] वह ब्रह्मचर्य का पालन करता था अथवा ऋतुकाल में पत्नीगमन करता था।[६] षण्णिवर्तनी वृत्ति वाला छः निवर्तन भूमि में साँड़ों से प्रातःकाल जुताई करते हुए कृषि करता था और भूमि के स्वामी की आज्ञानुसार उत्पन्न अन्न ग्रहण कर जीवननिर्वाह करता था। कौद्दाली वृत्ति वाला किसी तालाब के निकट कुदाल या नुकीले काठ से भूमि खोदकर उसमें अन्न, मूल, फल उत्पन्न करता था और उसी का भक्षण करता था। ध्रुवा वृत्ति वाला कन्धे पर वीवध धारण करते हुए गाँव में प्रवेश करता था और भिक्षा से जीविका निर्वाह करता था। सम्प्रक्षालनी वृत्ति में बीज बोने या अन्न उत्पन्न करने का कार्य वर्जित था। इसमें प्रतिदिन भोजन के पात्र धोकर उल्टे रखने का नियम था। किसी प्रकार के भोजन का सञ्चय नहीं किया जाता था। समूहा वृत्ति में खुले

१- बौ ३।१।१

२- शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्या वरया यातीति यायावरत्वम्।- बौ ३।१।३
इसकी टीका में गोविन्दस्वामी ने शालीन और चक्रचर को इस प्रकार स्पष्ट किया है-
'विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्तश्शालीनः--- अनुक्रमेण चरणमनुक्रमचरणम्। यायावराणामेवैषा संज्ञा। अनुक्रमचरणं नाम विप्रक्षत्रियविशां गेहेषु पूर्वस्याभावे उत्तरोत्तरचरणम्।

३- बौ ३।१।५-६

४- तदेव ३।१।१०-११

५- तदेव ३।१।१७

६- तदेव३।१।२१

खेतों या मार्गों में बुहारने से प्राप्त अन्न से जीविका चलायी जाती थी। पालनी वृत्ति को अहिंसिका वृत्ति भी कहा गया है। इसमें उत्तम लोगों से विना छिलके के अन्न ग्रहण करना विहित था। सिलोञ्छा वृत्ति का अर्थ था खेतों या वनस्पतियों के पास की भूमि के अन्न से कण एकत्र कर उससे जीवन चलाना। कापोता वृत्ति में ऐसे खेतों या वनस्पतियों से जो दूसरों के लिए वर्जित न हों, दो अंगुलियों से अन्न या फल ग्रहण किया जाता था। सिद्धेच्छा वृत्ति एक प्रकार से संन्यासी की वृत्ति थी। इसमें सज्जनों के घर से पका हुआ भोजन भिक्षा में प्राप्त करना विहित था और संन्यासी के समान ही अग्नियों को अपने मे आरोपित किया जाता था, किन्तु गेरुआ वस्त्र तथा जल छानने का पवित्र रखना वर्जित था। अन्तिम या वान्या वृत्ति में वन में स्वयं गिरे हुए फल या अन्न जीवननिर्वाह के साधन होते थे।

सामान्यतः धर्मसूत्रों में गृहस्थ को लौकिक कर्त्तव्यों में एवं पारिवारिक जीवन में जिस प्रकार तत्पर दिखाया गया है उसे देखते हुए इन दस वृत्तियों का गृहस्थ के लिए विधान संगत नहीं प्रतीत होता। यह संभव है कि जीवन से वैराग्य के अधिक आग्रह के कारण किसी समय गृहस्थाश्रम में भी इन वृत्तियों को मान्यता मिल गयी हो, जो वास्तव में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के लिए ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती हैं।

३- तपस्या का जीवन वानप्रस्थाश्रम

धर्मसूत्रों में गृहस्थाश्रम के अनन्तर तीसरे आश्रम के रूप में वानप्रस्थाश्रम का विधान किया गया है। इस आश्रम के लिए वैखानस अभिधान का भी प्रयोग किया जाता है। गौतमधर्मसूत्र में इसे वैखानस ही कहा गया है[1] और इस आश्रम से संबद्ध श्रावणक शास्त्र का भी उल्लेख किया गया है।[2] बौधायन ने भी वानप्रस्थ को वैखानसशास्त्र का अनुसरण करने वाला कहा है।[3] वैखानस नाम से ऋषि तथा उनके

१- ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः।-गौ १।३।२ द्र० हरदत्त की टीका- 'वैखानसो वानप्रस्थः। वैखानसप्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति।'

२- श्रावणकेनाग्निमाधाय।- तत्रैव सूत्र२६
द्र० हरदत्त की टीका 'श्रावणकं नाम वैखानसशास्त्रम्।'

३- वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदयाचारः।- बौ २।११।१६

द्वारा प्रोक्त शास्त्र का उल्लेख टीकाकारों ने भी किया है।[१] ऋगनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद ६।६६ के द्रष्टा वैखानस ऋषि हैं और १०।६६ के ऋषि के रूप में बभ्रु वैखानस उल्लिखित हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में वैखानस नाम के ऋषि थे और तदनन्तर वैखानस सूत्रचरण का उद्भव हुआ। वैखानस श्रौतसूत्र एवं वैखानसस्मार्त्तसूत्र की उपलब्धि इसी तथ्य का संकेत करती है। याज्ञवल्क्यस्मृति ३।४५ की व्याख्या में विज्ञानेश्वर ने वनप्रस्थ और वानप्रस्थ को समान माना है।[२] महामहोपाध्याय काणे ने क्षीरस्वामी द्वारा दी गयी व्युत्पत्ति का भी उल्लेख किया है।[३] वानप्रस्थाश्रम मुख्यतः वन में निवास करते हुए कठोर संयम एवं तप के नियमों के आचरण का जीवन था।

वानप्रस्थ्यग्रहण की विधि

वानप्रस्थाश्रम की अवस्था प्रायः पचास वर्ष की आयु के अनन्तर होती थी। जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखता, उसके सिर के केश पक जाते अथवा पौत्र उत्पन्न हो जाता था, तब वह वन में निवास करने के लिए गृहस्थाश्रम का त्याग कर देता था।[४] आपस्तम्ब के अनुसार ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वानप्रस्थाश्रम का जीवन धारण करता था अथवा ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या ग्रहण कर, गृहस्थाश्रम में विवाह कर, अन्य कर्त्तव्यों को पूरा कर, वानप्रस्थ होने का क्रम निर्धारित था।[५] वैखानसधर्मसूत्र (८।६) में वानप्रस्थ होने की विधि विस्तरेण बतायी गयी है। उसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

१- उपर्युक्त पर गोविन्दस्वामी-'वने प्रतिष्ठित इति वानप्रस्थः। वैखानसोऽपि वानप्रस्थ एव। संज्ञान्तरकरणं तु संव्यवहारार्थम्। विखनसा ऋषिणा प्रोक्तं वैखानसशास्त्रम्।- - श्रावणो नामाऽऽधानविधिरस्ति वैखानसशास्त्रे।

२- वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः, वनप्रस्थः एव वानप्रस्थः।

३- प्रतिष्ठन्ते अस्मिन् प्रस्थः, वनप्रस्थे भवो वानप्रस्थः, वैखानसाख्यः।- द्र० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, हिन्दी अनुवाद, पृ० ४८२ टि० ३

४- गृही वलीपलितदर्शने वनाश्रयो भवेत्। अपत्यस्य चापत्यदर्शने वा। वि ६४।१-२

५- अतएव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति।- आप २।११।१८ 'विद्यां समाप्य दारं कृत्वाऽग्नीनाधाय कर्माण्यारभते सोमावराध्यानि ते यानि श्रूयन्ते।- तदेव २।२२।७

गृहस्थ पाँच या तीन अग्नियों तथा पत्नी को अपने साथ लेकर घर का त्याग करे। वह चाहे तो अग्नि की स्थापना करे अथवा न करे। घर में रहते समय ही श्रामणक अग्नि की स्थापना करे। इसमें आघार कर्म करे और इस अग्नि को साथ लेकर वन के लिए प्रस्थान करे। परिषिञ्चन, उत्खनन और सम्मार्जन क्रियाएँ कर श्रामणक अग्नि के चारो ओर कुश बिछाकर चार स्तबक छत्तीस अंगुलि आकार में बिछाये। पन्द्रह कुशों के गुच्छे, जिनके अग्र भाग छः अंगुल चौड़े हों, लेकर तीन प्रकार के रस्सी के समान बनाकर जड़ से बाँधे। देवों को 'श्रामणक यज्ञः, यज्ञदैवतविंश्वेदेवाः' से अन्त होने वाले मन्त्र द्वारा आहूत करे और 'श्रामणकाय स्वाहा', 'श्रामणकयज्ञाय स्वाहा' 'यज्ञदैवतविश्वेदेवेभ्यः स्वाहा' मन्त्र के साथ घृत की आहुति देकर ओदन अर्पित करे। श्रामणक अग्नि में वानप्रस्थ गृह्याग्नि के कर्मों के समान ही दैनिक कर्म करता है। सन्ध्या एवं प्रातःकाल महाव्याहृतियों के साथ आहुति करे। पत्नी न हो तो विना पत्नी और अग्नि के वन को प्रस्थान करे।

श्रामणक अग्नि के आधान और वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश की विधि वैखानसधर्मसूत्र ६।१-४ में बतायी गयी है, जो इस प्रकार है- 'गृहस्थ सोमयज्ञ कर लेने पर, पुत्र और पौत्र को गृहस्थाश्रम में व्यवस्थित कर शिखा को छोड़कर केश का वपन कराये और प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत करे। वसन्त ऋतु के शुक्ल पक्ष में शुभ नक्षत्र में पत्नी के साथ वन में निवास करने के लिए प्रस्थान करे। पूर्णमास और दर्श की विधि से कुश आदि एकत्र कर ले आये और उससे अग्नि के चारो ओर फैलाने के लिए स्तबक बनाये, फिर समिध् , बाँस का डण्डा, यज्ञोपवीत, जलपात्र और वल्कल आदि ग्रहण करे। श्रामणक अग्नि प्रज्वलित करने के बाद दूसरे दिन वैश्वानर मन्त्र से अग्नि का मन्थन करे और दो मन्त्रों से उसे कुण्ड में स्थापित करे। श्रामणक अग्नि में आघार कर्म करे। प्रायश्चित्त के मन्त्रों से यज्ञ करे। ब्रह्मा, विष्णु और वरुण के लिए आहुति करे तथा व्याहृतियों के साथ समाप्त करे।

वह अग्नि के पश्चिम ओर दर्भ के दो स्तबक इस प्रकार रखे कि उनका अग्रभाग पूर्व की ओर हो। उस पर पत्थर रखे और उस पर सावित्री मन्त्र पढ़ते हुए दाहिने पैर का अंगूठा रखे। वल्कल, बकरे का चर्म या फटा हुआ वस्त्र पहनकर मेखला, यज्ञोपवीत, उत्तरीय एवं कृष्णमृगचर्म धारण करे। आचमन के बाद सूर्य को अग्नि दिखाकर प्रणाम कर बैठे। मन्त्र पढ़ते हुए सिर पर जल छिड़के। जटा, अभ्यातान

राष्ट्रभृत् और व्याहृतियों के साथ हवन करे। प्राणायाम के मन्त्र द्वारा बचे हुए घृत का भक्षण करे। दो बार आचमन, सूर्यप्रणाम, अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद दर्भ के स्तबक को उसका ऊपरी भाग उठाये हुए ग्रहण करे और सवितृ मन्त्र पादशः, अर्द्धर्चशः तथा अन्त में सम्पूर्ण उच्चारण करे।

वानप्रस्थ की पत्नी के लिए भी उपर्युक्त विधि विहित है। वह अग्नि की प्रदक्षिणा कर आहुति करे। वानप्रस्थ प्रजापतिसूक्त से आहुति कर प्रजापति से सम्बद्ध वेद का अध्ययन करे। तब बाँस के दो दण्ड ग्रहण करे जो टेढ़े न हों और जिनमें पाँच या सात गाँठे हों तथा जो सिर के ऊपरी भाग तक पहुँचते हों। मन्त्र पढ़ते हुए जलपात्र, मिट्टी रखने का पात्र, जूता, छाता ग्रहण करे। आहवनीय अग्नि में प्रजापति के लिए प्रत्येक अग्नि में विष्णु के मन्त्रों से 'अग्नये स्वाहा', 'सोमाय स्वाहा', 'विष्णवे स्वाहा' मन्त्र से हवन करे और अपनी अग्नि को कुण्ड में स्थापित करे। वानप्रस्थ वन में एकान्त स्थान में अपनी अग्नि प्रज्वलित करे। अग्नि स्थापित करने के स्थान पर जल छिड़ककर छः रेखाएँ बनाकर सुवर्ण या धान छोड़कर उस पर श्रामणक अग्नि रखे। तदनन्तर श्रौताग्नियों के आधान के लिए वस्तुएँ, माँद से ली गयी मिट्टी, दर्भ, भेड़ों के सींगों के बीच से लिया गया ऊन, पत्तों के साथ प्लक्ष की शाखा, सुगन्धि घास, सोने का टुकड़ा और पत्थर एकत्र करे। दूसरे वानप्रस्थ को ऋत्विक् बनाकर अग्नि का मन्थन करे और तीन या पाँच अग्नियों का आधान करे। प्रत्येक में अग्निहोत्र के दो हवन करे तथा प्रतिदिन वन में उपलब्ध वस्तुओं से दो बार हवन करे।

तप और संयम का जीवन

वानप्रस्थाश्रम तप और संयम का जीवन था। इस आश्रम में वृद्धा पत्नी साथ रहती थी अथवा पत्नी को पुत्रों के पास छोड़कर भी वन के लिए लोग प्रस्थान करते थे।[१] आपस्तम्ब के अनुसार पत्नी तथा पुत्र-पुत्रियाँ भी वानप्रस्थ के साथ रह सकती थीं।[२] गौतमधर्मसूत्र में उसके लिए निम्नलिखित नियम विहित हैं।[३] वह वन में निवास

१- पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य तयानुगम्यमानो वा ।- वि ९४।३

२- गृहान् कृत्वा सदारस्सप्रजस्सहाग्निभिर्बहिर्ग्रामाद् वसेत्। एको वा।- आप २।२२।८,९

३- गौ १।२।२५-३४

करे, मूल और फल खाये एवं तपस्या करे। ग्राम की कोई वस्तु न खाये, पञ्चमहायज्ञ करे। निषिद्ध, पतित आदि को छोड़कर सभी उसके अतिथि हो सकते हैं। फलमूल के अभाव में व्याघ्र आदि पशुओं द्वारा मारे गये ऐसे जीवों का मांस खा सकता है, जिनका मांस खाना वर्जित नहीं है। वानप्रस्थ जुती हुई भूमि पर न चले और ग्राम में प्रवेश न करे। जटा, नख, दाढ़ी बढ़ाये रखे।[१] कुश का वस्त्र या मृगचर्म पहने तथा एक वर्ष से अधिक समय से रखे हुए अन्न का भक्षण न करे।[२] आपस्तम्बधर्मसूत्र में वानप्रस्थ के लिए निम्नलिखित नियम बताये गये हैं। वह केवल एक अग्नि प्रज्वलित करे, घर में न रहे, किसी सुख का भोग न करे, किसी के शरण में न रहे, मौन रहे और केवल दैनिक स्वाध्याय के समय बोले।[३] वानप्रस्थाश्रम से उत्तरोत्तर भोजन त्याग करते हुए कठोर व्रत करने का भी विधान किया गया था। आपस्तम्ब ने यह निर्देश दिया है कि वानप्रस्थ मूलों, फलों, पत्तों और तिनकों से जीविका निर्वाह करते हुए भ्रमण करे और अन्त में स्वयं गिरे हुए फलों, पत्तों आदि का भक्षण करे। तब वह कुछ दिन केवल जल पीकर जीवन धारण करे, फिर कुछ समय केवल वायु का सेवन करे और अन्त में केवल आकाश का सेवन करे।[४] इनमें से प्रत्येक उत्तरवर्ती पदार्थ का सेवन कर जीविका निर्वाह करने का अधिकाधिक फल होता है।[५] वानप्रस्थ ग्रहण काल के आरम्भ में वह भिक्षापात्र में खाने भर का भोजन एकत्र कर जीवन धारण करता था[६] और अन्ततः भोजन का त्याग कर देता था। वानप्रस्थ खेतों में से अन्न बीनकर भी अपने जीवन का निर्वाह करता था। उसके लिए किसी भी प्रकार का दान लेना वर्जित था।[७] कुछ आचार्यों

१- तदेव, १।३।३१-३२ तथा व ६।२-३

२- गौ १।३।३३, वि ९४।८-९ चर्मचीरवासाः स्यात्। जटाश्मश्रुलोमनखां च विधृयात्। नातिसंवत्सरं भुञ्जीत।
गौ १।३।३४, व ९।१ वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासी।
आप २।२२।१ तस्याऽऽरण्यमाच्छादनं विहितम्।

३- आप २।२१।२०

४- तदेव २।२२।२-४

५- तेषामुत्तरः उत्तरस्संयोगः फलतो विशिष्टः।- आप २।२२।५

६- भूयांसं वा नियममिच्छन्नन्वहमेव पात्रेण सायंप्रातरर्थमाहरेत्।- तदेव २।२३।१

७- तदेव २।२२।११ दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयात्- व ९।८

के अनुसार वानप्रस्थ भोजन पकाने, खाने के पात्रों तथा काटने के हथियारों को जोड़े में बनवाये और इन जोड़ों में एक पत्नी को देकर तथा दूसरा स्वयं लेकर वन को प्रस्थान करे।[१] उसके स्नान करने की विधि यह थी कि वह विना वेग के शनैः शनैः जल में प्रवेश करता, जल को हाथ से पीटे विना सूर्य की ओर मुख कर स्नान करता था।[२] वन की वस्तुओं से होम, अतिथिसत्कार, शरीर धारण और शरीर का आच्छादन करना ही वानप्रस्थ के लिए नियम था।[३] गृहस्थाश्रम में जिन कर्मों में मांसमिश्रित पुरोडाश का विधान किया गया हे उन कर्मों को वह चावल के चरु द्वारा सम्पन्न करता था । वह सभी मन्त्रों और स्वाध्याय का पाठ इस प्रकार करता था कि दूसरों को न सुनायी पड़े। वह केवल अग्नि की रक्षा के लिए ही घर बनाता था। उसके लिए यह भी नियम बताया गया है कि वह खुले आकाश के नीचे रहे। शय्या और आसन पर आच्छादन न बिछाये, नया अन्न प्राप्त करने पर पुराने सञ्चित अन्न का परित्याग कर दे।[४]

वसिष्ठधर्मसूत्र में वानप्रस्थ के नियम अत्यन्त संक्षेप में दिये गये हैं- वानप्रस्थ वन के मूलों और फलों का आहार करे। फल, मूल और भिक्षा से अतिथियों का सत्कार करे। ब्रह्मचर्य धारण करे और क्षमाशील रहे। दिन में तीन बार स्नान करे। श्रामणक सूत्र के अनुसार अग्निहोत्र करे और छः मास इस प्रकार व्यतीत करे। विना अग्नि तथा घर के वृक्षों के नीचे निवास करे।[५] वानप्रस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो देव, पितृ और मनुष्य को अंश देता है वह स्वर्ग को जाता है और अनन्त फल प्राप्त करता है।[६] इसी कर्तव्य के पालन का निर्देश बौधायन ने भी किया है।[७]

पञ्चमहायज्ञ, अतिथिसत्कार और स्वाध्याय के नियमों के अतिरिक्त विष्णुधर्मसूत्र ने वानप्रस्थ के लिए कुछ अन्य नियम भी दिये हैं, यथा वानप्रस्थ गाँव से भी भोजन ला सकता है। उसको पत्तल पर या एक ही पत्ते पर, हाथ अथवा मिट्टी के

१- आप २।२२।१५-१६ २ - तदेव २।२२।१३ ३- तदेव २।२२।१७

४- आप २।२२।१८-२४ ५- व ६।४-११

६- दद्याद् देवपितृमनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यमिति।- व ६।१२

७- अतिथीन् पूजयेत्पूर्वं काले त्वाश्रममागतान्।
देवविप्राग्निहोत्रे च युक्तस्तपसि तापसः।- बौ ३।३।२०

पात्र में रखकर आठ ग्रास भक्षण करे।[१] वह कपोत के समान वृत्ति ग्रहण करे। एक मास अथवा एक वर्ष के भोजन के लिए अन्न सञ्चय करे तथा आश्विन की पूर्णिमा को अवशिष्ट अन्न फेंक दे।[२] वह केवल रात्रि को भोजन करे। पूरे दिन, दो दिनों या तीन दिनों तक उपवास करने के बाद भोजन करे। पुष्पों, फलों, वनस्पतियों, पत्तियों, मूलों का भक्षण कर सकता है अथवा एक पक्ष की समाप्ति पर उबले हुए जौ का एक बार भक्षण करे। चान्द्रायण व्रत का पालन करे। भोजन को पत्थरों से या दाँतों से ही तोड़े।[३] इस प्रकार वानप्रस्थ तपस्या एवं व्रत से अपने शरीर को सुखा दे। ग्रीष्म में पञ्चाग्नि सेवन करे, वर्षा में खुले आकाश के नीचे रहे और हेमन्त में गीले वस्त्र धारण करे।[४]

वानप्रस्थ के लिए जिन कठोर नियमों की व्यवस्था की गयी है, उनकी चरम परिणति एक प्रकार की आत्महत्या में दिखायी पड़ती है। वायु या आकाश का भक्षण करने का यही अर्थ हो सकता है कि सभी प्रकार का आहार त्याग कर जीवन का अन्त कर दिया जाय। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में तो स्पष्टतः महाप्रस्थान एवं ऊँचे स्थान से गिरकर मृत्यु वरण करने का विधान है।[५] यह आत्महत्या ही है जिसकी धर्मशास्त्रकारों ने अन्य आश्रमों में निन्दा की है। किन्तु धर्मसूत्रों में भी ब्रह्महत्यादि के पापियों हेतु आत्महत्या के प्रायश्चित्त बताये गये हैं।[६] इस प्रकार की धारणाएँ धर्मसूत्रों के काल में उदित हो चुकी थीं इसमें सन्देह नहीं। जीवन के प्रति यह उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के मौलिक जीवनदर्शन से मेल नहीं खाता है। गौतमधर्मसूत्र में महाप्रस्थान, उपवास, शस्त्र, अग्नि, विष, जल, बन्धन एवं गिरने से इच्छापूर्वक आत्मघात करने वालों की मृत्यु का आशौच केवल शवसंस्कारोत्तर स्नान तक माना गया है।[७]

१- वि ६४।१३ २- तदेव ६४।११,१२

३- वि ६५।५-१५

४- वानप्रस्थस्तपसा शरीरं शोषयेत्। ग्रीष्मे पञ्चतपाः स्यात्। आकाशवासी प्रावृषि। आर्द्रवासा हेमन्ते।-तदेव ६५।१-४ ५- मनु ६।३१, याज्ञवल्क्य० ३।५५

६- गौ ३।५।१, व २०।२२, आप १।२५।१-३

७- प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतैनश्चेच्छताम्।- गौ २।५।११

वैखानसधर्मसूत्र (६।४) वानप्रस्थ के लिए बाह्य नियम पर आधारित दस नियमों का विधान करता है। ये नियम शरीर की शुद्धि, मन के निग्रह, आध्यात्मिक पवित्रता एवं नैतिक उत्थान से संबद्ध हैं। ये हैं- स्नान, स्वच्छता, अध्ययन,दान, यज्ञ, उपवास, इन्द्रियनिग्रह, व्रत, मौन तथा दस यम। दस यम से निम्नलिखित गुण अभिप्रेत हैं- सत्य, विनय, श्रद्धा, सहिष्णुता, आत्मसंयम, मित्रता, सरलता, मृदुता, अहिंसा और माधुर्य। इन यमों के अन्तर्गत सम्पूर्ण नैतिक गुणों का समावेश हो जाता है।

वानप्रस्थ व्यस्त जीवन के कर्त्तव्यों एवं विविध उत्तरदायित्वों का परित्याग कर शरीर की भोगेच्छा का दमन कर आध्यात्मिक चिन्तन में लीन होने का जीवन था। यह संसार से पूर्ण विरक्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण अवस्था थी, जिसमें पत्नी भी साथ दे सकती थी। इसमें अग्निहोत्र कर्म, पञ्चमहायज्ञ और अतिथिसत्कार जैसे कर्म किये जा सकते थे। तपस्या ही इस जीवन की प्रमुख क्रिया थी जो मनुष्य को उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्यों की ओर उन्मुख करने के लिए आवश्यक मानी गयी थी। वानप्रस्थाश्रम की तपस्याएँ और जीवनवृत्ति क्रमशः कठोर होती जाती थी, और शरीर को सभी प्रकार के कष्ट सहन करने के लिए धीरे-धीरे अभ्यस्त बना देने का विधान किया गया था। वानप्रस्थ की तपस्या के सन्दर्भ में ही तप का महत्त्व बताते हुए विष्णुधर्मसूत्र कहता है: 'इस सम्पूर्ण देव और मनुष्यों के संसार के मूल में तप ही है, इसके मध्य और अन्त में तप ही है। यह तप द्वारा ही धारण किया गया है।'[1] वानप्रस्थ आश्रम की प्रशंसा में बौधायन का निम्नलिखित कथन उद्धरणीय है- 'जो कठिन और दुर्भर है तथा पशुपक्षियों की जीवनवृत्तिके समान है, जिस वृत्ति में केवल एक दिन के लिए वस्तुओं का सञ्चय किया जाता है और कषाय तथा कटु रसवाली वस्तुओं का ही भक्षण किया जाता है, जो दुर्जन के संग से दूर रहने वाली, कल्याण देने वाली उत्तम वृत्ति है उसे स्वीकार कर वनवास करने वाला ब्राह्मण कभी दुःख नहीं पाता है।[2]

१- तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं जगत्।
तपोमध्यं तपोऽन्तं च तपसा च तथा धृतम्।।- वि ६५।१६

२- कृच्छ्रां वृत्तिमसंहार्थां सामान्यां मृगपक्षिभिः। तदहर्जनसम्भारां कषायकटुकाश्रयाम्।।
परिगृह्य शुभां वृत्तिमेतां दुर्जनवर्जिताम्। वनवासमुपाश्रित्य ब्राह्मणो नाऽऽवसीदति।।
- बौ ३।३।२१-२२

वानप्रस्थों के भेद

बौधायनधर्मसूत्र (३।३।१-१४) में वानप्रस्थों के मुख्य दो भेद किये गये हैं- पचमानक, जो अग्नि पर भोजन पकाते हैं और अपचमानक, जो अग्नि पर भोजन नहीं पकाते हैं। इनमें भी पचमानक वानप्रस्थ पाँच प्रकार के होते हैं-

(१) सर्वारण्यक- वन की सभी प्रकार की वस्तुओं का भक्षण करनेवाले।

(२) वैतुषिक - विना कूटे गये जंगली अन्न का भक्षण कर जीविकानिर्वाह करने वाले।

(३) कन्दमूल का भक्षण करने वाले।

(४) फलाहारी।

(५) वन के शाक मात्र का भक्षण करने वाले।

इन पाँचों में भी सर्वारण्यक के दो उपभेद होते हैं-

(क) इन्द्रावसिक्त - इन्द्र द्वारा वर्षा से उत्पन्न किये गये पदार्थों का भक्षण करने वाले।

(ख) रेतोवसिक्त- वीर्य से उत्पन्न जीवों का व्याघ्र आदि के द्वारा मारे जाने पर भक्षण करने वाले।

इन्द्रावसिक्त वानप्रस्थ वृक्षों, लताओं, झाड़ियों के फलों को पकाकर सायंकाल तथा प्रातःकाल अग्निहोत्र हवन करता था और भिक्षुक, अतिथियों एवं ब्रह्मचारियों को देने के बाद अवशिष्ट अंश का भक्षण करता था। रेतोवसिक्त व्याघ्र, भेड़िया, बाज आदि द्वारा मारे गये पशुपक्षी का मांस पकाकर सायं प्रातः अग्निहोत्र हवन करता था और उसे ही अतिथियों को देने के बाद स्वयं ग्रहण करता था। वैतुषिक पचमानक के लिए यह नियम बताया गया है कि वह तुषाधान्य को छोड़कर चावल मँगाकर पकाये, सायं तथा प्रातः अग्निहोत्र होम करे, भिक्षुकों, अतिथियों एवं ब्रह्मचारियों को देने के बाद स्वयं भक्षण करे।

अपचमानक वानप्रस्थों के भी पाँच भेद बताये गये हैं-

(१) उन्मज्जक - लोहे और पत्थर के उपकरणों का भोजनार्थ प्रयोग न करने वाले।

(२) प्रवृत्ताशिन्- हाथ में ही लेकर खाने वाले।

(३) मुखेनादायिन्- पशुओं के समान मुख से ही भक्षण करने वाले।
(४) तोयाहार - केवल जल पीने वाले।
(५) वायुभक्ष- पूर्णतः उपवास करने वाले।

वैखानसधर्मसूत्र (८।७-८) में वानप्रस्थों के मुख्यतः दो भेद बताये गये हैं: १- सपत्नीक और २- विपत्नीक वानप्रस्थ। इनमें सपत्नीक के भी निम्नलिखित भेद होते थे-

(१) औदुम्बर- जो विना जोते बोये उत्पन्न झाड़ियों के मूल और फल खाता था। क्षार, लशुन, प्याज, मधु, मत्स्य, मसाला, चावल से बने पदार्थ तथा दूसरे व्यक्ति द्वारा पकाये गये या स्पर्श किये गये भोजन का परित्याग करता था और केवल श्रामणक अग्नि का ही आधान करता था।
(२) वैरिञ्च - जो अपने से संबद्ध लोगों का पालन-पोषण करता था, प्रातः काल उठकर जिस किसी दिशा में जानेपर प्राप्त जंगली अन्न से अग्निहोत्र, अतिथिसत्कार आदि करता था।
(३) वालखिल्य- जो जटा, जीर्ण वस्त्र या वल्कल धारण कर सूर्य को ही अग्नि मानकर संयम तथा उपवास का जीवन व्यतीत करता था।
(४) फेनप -जो ऊपर सिर किये हुए, स्वयं गिरे हुए फल का चान्द्रायण व्रत के अनुसार भक्षण करता था और केवल मोक्ष का चिन्तन करता था।

विपत्नीक वानप्रस्थ असंख्य प्रकार के कहे गये हैं, जो विभिन्न प्रकार के कठोर तप एवं योगसाधन में रत रहते थे। इस वर्ग में वे वानप्रस्थ आते हैं, जो कभी-कभी भोजन करते हैं, जो अपने दण्ड को उठाये हुए चलते हैं, पत्थर से खाद्य पदार्थ पीसते हैं, ऊपर फलने वाले फल ही खाते हैं, दाँतों का ही प्रयोग करते हैं, अन्न-कण एकत्र करते हैं, हिरण की वृत्ति ग्रहण करते हैं, हाथों से दान लेते हैं, कठोर फल चबाते हैं, सूखी वस्तुएँ, बिल्व फल, फूल, पीली पत्तियाँ खाते हैं, व्यवधान देकर खाते हैं। कटीली झाड़ियों पर सोते हैं, निरन्तर वीरासन में बैठते हैं, पञ्चाग्नि का सेवन करते हैं, धुआँ

पीते हैं, जल के कुण्ड में ही रहते हैं, निरन्तर मौन रहते हैं या सिर लटकाये रहते हैं, सूर्य को देखते हैं, हाथों को ऊपर किये रहते हैं, या एक पैर पर खड़े रहते हैं। ये सभी भेद वानप्रस्थ के क़ठोर व्रतों का निर्देश करते हैं। इनसे स्पष्ट है कि वानप्रस्थ आश्रम सभी प्रकार से शरीर को शक्तिहीन करने और तपस्याओं की यातनाओं का अभ्यास करने का जीवन था। यह आश्रम सब कुछ छोड़कर जीवनपथ पर अकेले चलने और इस भौतिक अस्तित्व को जानबूझकर परित्याग करने का जीवन था। इससे बलपूर्वक सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मनुष्य सभी प्रकार के मोह, ममता, सुखभोग से मुक्त हो जाता था। वह मृत्यु को अत्यन्त शान्त मन से एक आध्यात्मिक जीवन का आविर्भाव मानकर स्वीकार करता था।

४- संन्यास का विरक्त जीवन

धर्मसूत्रों में संन्यास आश्रम की व्यवस्था चौथे आश्रम के रूप में की गयी है। धर्मसूत्रों से पहले कतिपय उपनिषदों में ही इस आश्रम का संकेत किया गया है। छान्दोग्योपनिषद्[१] जहाँ केवल तीन ही आश्रमों का उल्लेख करता है और संन्यास का नाम नहीं लेता वहाँ बृहदारण्यकोपनिषद[२] में याज्ञवल्क्य द्वारा संन्यासाश्रम में प्रवेश करने और भिक्षु के स्वभाव का वर्णन है।

गौतमधर्मसूत्र ने चार आश्रमों का उल्लेख किया है[३] और प्राधान्य के कारण भिक्षु अर्थात् संन्यासाश्रम की गणना तीसरे स्थान पर की है। बौधायन और वसिष्ठ संन्यासी का उल्लेख परिव्राजक नाम से करते हैं।[४] आपस्तम्ब ने भी इस आश्रम को

१- छान्दोग्योपनिषद् २।२३।१

२- बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१ तथा ३।५।१

३- ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः। -गौ ध सू १।३।२ इस पर हरदत्त की टीका है-' शास्त्रान्तरेषु वैखानसस्तृतीयो भिक्षुश्चतुर्थ आश्रमः। इह तु क्रमभेदः प्रागुक्तास्त्रय आश्रमिण इत्यत्र वैखानसर्वजनार्थः।

४- बौ २।११।१८ परिव्राजका परित्यज्य बन्धूनपरिग्रहः परिव्रजेद्यथाविधिः।
व १०।१ परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेत।

तीसरे स्थान पर 'मौन' अर्थात् मुनि के आश्रम के रूप में गिनाया है।[1] विष्णुधर्मसूत्र भी प्रव्रज्याश्रम के नियम अन्त में देता है[2] तथा वैखानसधर्मसूत्र वैखानस अथवा वानप्रस्थाश्रम के बाद संन्यासाश्रम ग्रहण की विधि का विस्तार से वर्णन करता है।[3]

संन्यासग्रहण की विधि

वैखानसधर्मसूत्र में संन्यास-ग्रहण करने की विधि इस प्रकार वर्णित है। सत्तर वर्ष की अवस्था पूरी कर लेने पर वृद्ध हो जाने पर जिस व्यक्ति की सन्तान न हो, पत्नी की मृत्यु हो चुकी हो अथवा पुत्र अपने-अपने धर्मकार्य में पूर्णतः व्यवस्थित हो गये हों, वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के लिए विधिपूर्वक स्नान कर प्रजापति यज्ञ करे। दोपहर से पहले तीन दण्ड, शिक्य, गेरुआ वस्त्र, जलपात्र, जल छानने का वस्त्र, मिट्टी रखने का पात्र और भिक्षा पात्र एकत्र करे। तीन चौथाई भोजन करे और रात्रि में उपवास करे। दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान कर अग्निहोत्र और वैश्वदेब कर्म कर अग्नि वैश्वानर के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश पकाये। यज्ञ के घृत को चारो ओर जल छिड़क कर गार्हपत्य अग्नि पर गरम करे और उससे आहवनीय अग्नि में दो चमस् हवन करे। पुरुषसूक्त के मन्त्रों से अग्नि, सोम, ध्रुवकरण परमात्मा और नारायण के लिए स्वाहा कहते हुए हवन करे।

इसके अनन्तर आज्य की चार आहुतियाँ स्रुवा द्वारा जुहू में लेकर सभी अग्नियों में करे। अग्निहोत्र की स्रुवा को आहवनीय अग्नि में फेंके। मिट्टी और पत्थर के उपकरणों को गार्हपत्याग्नि में फेंके। यदि संन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्ति ने गृहस्थाश्रम में अग्नि का आधान न किया हो, तो गृह्यपूजन के लिए आहुति देकर इन अग्नियों में उपकरणों का निक्षेप करे। सावित्री मन्त्र का पाद, अर्द्धर्च और अन्त में सम्पूर्ण उच्चारण करे। अग्नि के मन्त्र से अग्नियों को तीन बार सूँघे[4] और अग्नियों का

१- चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यम्, आचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमिति।- आप २।२१।२
हरदत्त की टीका -'मनु अवबोधने' मनुते इति मुनिर्ज्ञानपरः। तस्य भावो मौनम्।

२- अध्याय ६६

३- वैखानस ६।६-८

४- बौ २।१७।२६ 'या ते अग्न यज्ञिया तनूः' कहते हुए तीनो अग्नियों के धुएँ को तीन-तीन बार खींचे।

अपने भीतर प्रवेश कराये। 'मैंने संन्यास ग्रहण किया' ऐसा अपने मन में और फिर जोर से तीन बार कहे और दाहिने हाथ में जल लेकर उन्हीं शब्दों को दुहराते हुए तीन बार जल गिराये। इसके बाद मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दण्ड, शिक्य आदि को ग्रहण करे। स्नान, आचमन के बाद सोलह प्राणायाम, एक सहस्र या एक सौ बार गायत्री का जप तथा जल में खड़ा होकर देवों एवं पितरों का तर्पण करे। अन्त में सूर्य की प्रार्थना कर सभी जीवित प्राणियों की रक्षा का संकल्प करे।

इस प्रकार संन्यास आश्रम वृद्धावस्था के लिए उपयुक्त आश्रम था। गृहस्थ सीधे भी संन्यास ग्रहण कर सकता था अथवा वानप्रस्थाश्रम के बाद भी भिक्षु बन सकता था। प्रायः संन्यासी ऐसे लोग होते थे जो सन्तानहीन होते थे अथवा जिनकी पत्नियाँ मर चुकी होतीं, अथवा जो पुत्रों के प्रति सम्पूर्ण दायित्व पूरा कर चुके होते। इस आश्रम के साथ कर्मकाण्ड के जीवन की समाप्ति और ज्ञानकाण्ड के अनुसार तत्त्वचिन्तन एवं मोक्षप्राप्ति की ओर उन्मुख जीवन का आरम्भ होता था। संन्यास का विधान उस अवस्था के लिए किया गया है जब शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है और वृद्ध व्यक्ति का स्थान नयी प्रौढ युवा पीढ़ी ले चुकी होती है। यह वह अवस्था होती है जब व्यक्ति स्वाभाविक रूप से जीवन के अन्त को देखने और सोचने लगता है। जब मृत्यु की यथार्थता उसके मन पर अधिक प्रभाव बना लेती है और उसके लिए इस संसार में करने योग्य कुछ नहीं रह जाता। ऐसा व्यक्ति स्वभावतः अपने को इस भौतिक जीवन से कटा हुआ अनुभव करता है। यही संन्यास ग्रहण करने की उचित अवस्था होती है। इसके लिए शरीर और मन दोनो ही तत्पर तथा सभी प्रकार से योग्य हो जाते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों को एक आध्यात्मिक लक्ष्य से संयुक्त करने के लिए ही धर्मसूत्रों ने संन्यास आश्रम की व्यवस्था की है।

पूर्ण निवृत्ति का जीवन

संन्यास पूर्ण निवृत्ति के जीवन के रूप में विहित था। संन्यासी परिवार और धन के प्रति मोह का पूर्णतः परित्याग कर देता था। सांसारिक कर्मों एवं सुखों से उसे नाता तोड़ लेना पड़ता था। संन्यास ग्रहण करते समय गृहस्थ प्रजापति की इष्टि कर[1]

१- वि ९६।१ अथ त्रिष्वाश्रमेषु पक्वकषायः प्राजापत्यमिष्टिं कृत्वा सर्वं वेदं दक्षिणां

अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति निर्धनों में बाँट देता था। उसके लिए परिग्रह अर्थात् पत्नी, परिवार, सेवक और मकान सभी का त्याग करना आवश्यक था।[१] इस आश्रम में द्रव्यसंग्रह निषिद्ध था[२] और गाँव या समाज से केवल भिक्षाग्रहण का संबन्ध होता था।[३] वस्त्र के स्थान पर केवल एक कौपीन धारण करना विहित था।[४] वह काषाय वस्त्र भी पहन सकता था किन्तु श्वेत वस्त्र नहीं।[५] वह ग्राम के किनारे मन्दिर में या खाली घर में या वृक्षों के नीचे रहता था और अपना स्थान प्रायः बदलता रहता था।[६] कुछ ऐसे भी संन्यासी होते थे जो नित्य वन में रहते थे, किन्तु उनके लिए यह नियम था कि वे पशुओं के चरने की दूरी के भीतर न जायें।[७] सामान्य नियम यह था कि वह वर्षाकाल में एक स्थान पर रहता था, किन्तु किसी ग्राम में एक रात्रि से अधिक निवास नहीं करता था।[८] वसिष्ठधर्मसूत्र में यह विकल्प का नियम भी दिया गया है कि चाहे तो संन्यासी ग्राम में रह सकता है।[९]

संन्यास लौकिक अथवा पारलौकिक फल की कामना से किये जाने वाले सभी प्रकार के कर्मों से विरक्ति का जीवन है।[१०] वैदिक कर्म के लिए जो अग्नियाँ विहित हैं उनका संन्यासी अपने भीतर आधान कर लेता है। इस कारण उसे कोई यज्ञकर्म करने की आवश्यकता नहीं होती। बौधायनधर्मसूत्र में परिव्राजक के लिए यह संकल्पवाक्य

दत्त्वा प्रवज्याश्रमी स्यात्।

१- व १०।६ मुण्डोममोपरिग्रहः।
बौ २।१८।२५ अनग्निरनिकेतस्स्यादशर्माऽशरणो मुनिः।

२- अनिचयो भिक्षुः।-गौ १।३।१०

३- भैक्षार्थी ग्राममन्विच्छेत्।- बौ २।१८।२६

४- बौ २।११।२१ कौपीनाच्छादनाः।
वि ६६।१३ कौपीनाच्छादनमात्रमेव वसनमादद्यात्।

५- काषायवासः।- बौ २।११।२३,
न चाऽत ऊर्ध्वं शुक्लं वासो धारयेत्।- तदेव २।१७।४०

६- अनित्यां वसतिं वसेत्।ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा।- व १०।१२,१३

७- अरण्यनित्यः। न ग्राम्यपशूनां सन्दर्शने विचरेत्। - व १०।१५,१६

८- वि ६६।१०-१२

९- ग्रामे वा वसेत्। व १०।२६

१०- अनारम्भी - गौ १।३।२४

कहा गया है 'वेदोक्त कर्मों का परित्याग कर, दोनो लोकों से अपना नाता तोड़कर हम मध्यमपद ब्रह्म के साथ अपना संबन्ध जोड़ते हैं।[१] वसिष्ठ ने धार्मिक क्रियाओं के त्याग का विधान करते हुए भी वेदाध्ययन करते रहने का उपदेश दिया है, क्योंकि वेदाध्ययन न करने से वह शूद्र बन जाता है।[२]

इस आश्रम में लाभप्रद कर्मों का त्याग अनिवार्य है। इसी कारण वसिष्ठधर्मसूत्र की उक्ति है :'संन्यासी शुभ, अशुभ की व्याख्या न करे, हस्तरेखा और ज्योतिष की दक्षता न प्रदर्शित करे, शास्त्रों का उपदेश देकर जीविकोपार्जन न करे।[३] वह किसी भी व्यक्ति के साथ इन्द्रियसंसर्ग न करे।[४] अकेले रहना ही संन्यासी के लिए श्रेयस्कर था, क्योंकि किसी भी अन्य व्यक्ति के साथ रहने से उसमें ईर्ष्या, मोह, द्वेष, अनुराग आदि विकार उत्पन्न हो सकते थे। अतः यह आश्रम विकारहीनता और मानसिक शान्ति का जीवन था; त्याग, अपरिग्रह और एकान्त चिन्तन का जीवन था। संन्यासी को केवल भिक्षापात्र, जलपात्र, शिक्य और मिट्टी के पात्र ही रखना होता था। इनके अतिरिक्त किसी भी वस्तु का संग्रह वर्जित था। वह जो वस्त्र पहनता था वह भी जीर्ण-शीर्ण और दूसरों द्वारा फेंके गये होते थे।[५] वसिष्ठ के अनुसार संन्यासी एक वस्त्र अथवा चर्म का वस्त्र पहने या गायों द्वारा चबायी गयी घास पहने।[६] आपस्तम्ब ने कुछ लोगों के इस मत को भी उद्धृत किया है कि संन्यासी नग्न भी रह सकता है।[७] संन्यासी के लिए अधिक बोलना भी वर्जित किया गया है। वैदिक मन्त्रों के जप को छोड़कर शेष

१- अपविध्य वैदिकानि कर्माण्युभयतः परिच्छिन्ना मध्यमं पदं संश्लिष्यामह इति वदन्तः।
- बौ २।११।२८

२- सन्न्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत्।
वेदसन्न्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न सन्न्यसेत्।।- व १०।४

३- न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्।।- व १०।२१

४- न चेन्द्रियसंसर्गं कुर्वीत केनचित्।- व १०।२८

५- कौपीनाच्छादनार्थे वासो बिभृयात्। प्रहीणमेके निर्णिज्य।- गौ १।३।१७,१८

६- एकशाटीपरिहितः। अजिनेन वा गोप्रलूनैस्तृणैरवस्तृतशरीरः।-व १०।६,१०

७- सर्वतः परिमोक्षमेके।- आप २।२१।१२

समय वह मौन ही रहता था।[1] वसिष्ठ का मत है कि संन्यासी अपने आश्रम की सूचना देनेवाला चिह्न न धारण करे और न किसी दृश्यमान आचार का अनुसरण करे।[2] वह नंगी भूमि पर शयन करे और पागल न होते हुए भी पागल के समान रहे।[3]

संन्यासी की भिक्षावृत्ति

संन्यासी का एक नाम भिक्षु भी है। भिक्षा ही उसके शरीर धारण का आधार थी। अग्निहीन होने के कारण स्वयं पकाकर खाने की सम्भावना नहीं थी। गृहहीन तथा सभी साधनों का त्याग कर देने से वह शरीर को बनाये रखने के लिए गृहस्थों के घर से भिक्षा माँगता था। इस भिक्षाटन के लिए भी विशेष समय का विधान था और वह समय ऐसा होता था जब गृहस्थों के घर मूसल चलने बन्द हो गये हों, चूल्हे की आग बुझ गयी हो और भोजन के बर्तनों की सफाई की ज़ा चुकी हो।[4] बौधायन का यह नियम है कि संन्यासी वैश्वदेव की बलि दी जाने के बाद शालीन अथवा यायावर ब्राह्मणों के घर से भिक्षा पाने की इच्छा करे और एक गाय दुहने में जितना समय लगता है उतने ही समय तक भिक्षा के लिए रुके।[5] जिस स्थान पर जाये वहाँ मात्रा के अनुसार ही भोजन करे। प्राणसंकट के काल में अन्य प्रकार का भोजन ग्रहण कर लेने पर यदि उसके बाद उसका त्याग कर देता है तो व्रत का लोप नहीं होता।[6]

वसिष्ठधर्मसूत्र में इस प्रसंग में कहा गया है कि संन्यासी ऐसे सात घरों से भिक्षा माँगे, जिन्हें पहले से निर्धारित न किया गया हो।[7] किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि संन्यासी प्रातः एवं सायं काल उतना ही भोजन करे, जितना एक ब्राह्मण के घर से मिले, किन्तु वह मधु और मांस का भक्षण न करे।[8] संन्यासी की भिक्षा के विषय

१- गौ १।३।१६, बौ २।१७।३१,२।१८।२७ तथा आप २।२१।१०
२- व १०।१८
३- स्थण्डिलशायी। अनुन्मत्त उन्मत्तवेशः। - व १०।११,१६
४- बौ २।११।२४, वि ६६।६
५- बौ २।१८।४,६ ६- तदेव, २।१८।२१
७- सप्तागाराण्यसङ्कल्पितानि चरेद्भिक्षाम्।- व १०।७
८- ब्राह्मणकुले यावल्लभेत तद् भुञ्जीत सायं प्रातर्मधुमांसवर्जम्। - व १०।२४

में विष्णुधर्मसूत्र में भी कहा गया है- 'अग्नियों को अपने में आरोपित कर भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे। सात घरों से भिक्षा माँगे। यदि भिक्षा न मिले तो दुःख न करे। किसी दूसरे संन्यासी से भिक्षा न माँगे। जब सेवक भोजन कर लें, भोजन के पात्रों को हटा दिया गया हो तब भिक्षा माँगे। पात्रों को स्वयं धोये। विनम्रतापूर्वक माँगने से प्राप्त भिक्षा का परित्याग करे।[१] बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार संन्यासी किसी भी वर्ण के व्यक्ति से भिक्षा ग्रहण कर सकता है, किन्तु भोजन द्विजाति के यहाँ ही करे।[२] वसिष्ठ के अनुसार वह केवल ब्राह्मण के यहाँ से ही भिक्षा ग्रहण करे। संन्यासी को शारीरिक सुख की दृष्टि से अधिक या तृप्तिपूर्वक भोजन नहीं करना चाहिए। भिक्षा अधिक मिलने पर आनन्द का और कम मिलने पर विषाद का अनुभव नहीं करना चाहिए।[३] आपस्तम्ब और बौधायन ने यति की भोजन की मात्रा केवल आठ ग्रास ही बतायी है।[४] इस प्रकार संन्यास सभी प्रकार से शारीरिक सुख के त्याग और संयम का जीवन था।

नैतिक आदर्शों का जीवन

संन्यासाश्रम सभी प्रकार के नैतिक गुणों को प्राप्त करने की अवस्था थी। इस स्थिति में पहुँचकर स्व और स्वार्थ का पूर्णतः लोप हो जाता था और व्यक्ति दूसरों के लिए अपना जीवन समर्पित कर देता था। संन्यास ग्रहण करते समय ही सभी प्राणियों की रक्षा का व्रत ग्रहण करना होता था[५] और संन्यासी से सभी का अभय होता था।[६]

१- वि ६६।२-६

२- भैक्षं वा सर्ववर्णेभ्य एकान्नं वा द्विजातिषु।
अपि वा सर्ववर्णेभ्यो न चैकान्नं द्विजातिष्विति।।- बौ २।१८।१६

३- अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विवर्जितः।।- व १०।२२

४- अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशाऽरण्यवासिनः।
द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः।।- बौ २।१८।१५
आप २।६।१३ में इस श्लोक के साथ यह भी जोड़ा गया है-
आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः। अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् इति।।

५- परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेत।- व १०।१

६- अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः इति चाऽपां पूर्णमञ्जलिं निनयति।- बौ २।१७।२६

ब्रह्मचर्य संन्यासी का अनिवार्य गुण था। वह ऊर्ध्वरेता होता था।[१] वह वाणी, चक्षु तथा कर्म पर संयम रखता था। अगला पद कहाँ रखना है उस स्थान को ही देखना उसका धर्म था, अन्यत्र नहीं।[२] ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करने वाला ही संन्यासी होता था।[३] बौधायन ने संन्यासी द्वारा वाणी पर संयम करने का नियम कई बार दिया है।[४] कहा गया है कि संन्यासी मौन व्रत का पालन करते हुए भी तीनो वेदों के गम्भीर विद्वानों, आचार्यों, मुनियों, नैष्ठिक ब्रह्मचारियों और तपस्वियों के साथ दाँतों से दाँतों को दबाये हुए ही मुख के भीतर ही जितना आवश्यक हो उतना ही बोले, इस प्रकार वेद का लोप नहीं होता।[५]

संन्यासी के लिए निम्नलिखित नैतिक गुणों का विधान किया गया है- अहिंसा अर्थात् वाणी, मन और कर्म से किसी को आघात न पहुँचाना, सत्यभाषण, अस्तैन्य अर्थात् बलपूर्वक या छल से दूसरे का धन न लेना, मैथुन का सर्वथा त्याग तथा दूसरों को उदारतापूर्वक दान।[६] बौधायनधर्मसूत्र में अन्यत्र भी कहा गया है कि परिव्राजक वाणी, मन और कर्म पर नियन्त्रण रखे और प्राणियों को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाये।[७] कर्म की पवित्रता के गुण का विष्णुधर्मसूत्र ने भी[८] गौरव देकर उल्लेख किया है- 'वह दृष्टि डालकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य से पवित्रकर वाणी बोले और मन से पवित्र कर्म करे। इसी प्रकार संन्यासी पाँच उपव्रत भी बताये गये हैं-

---

१- ऊर्ध्वरेताः।- गौ १।३।११

२- वाक्चक्षुःकर्मसंयतः।- गौ १।३।१६

३- अतएव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति।- आप २।२१।८

४- स वाचंयमो भवति।- बौ २।१७।३१

५- तत्र मौने युक्तस्त्रैविद्यवृद्धैराचार्यैर्मुनिभिरन्यैर्वाऽऽश्रमिभिर्बहुश्रुतेर्दन्तान् सन्धायाऽन्तर्मुख एव यावदर्थं सम्भाषीत न यत्र लोपो भवतीति विज्ञायते।- बौ २।१८।१६

६- अथेमानि व्रतानि भवन्ति- अहिंसा सत्यमस्तैन्यं मैथुनस्य च वर्जनं त्याग इत्येव। - बौ २।१८।२

७- वाङ्मनःकर्मदण्डैर्भूतानामद्रोही।- बौ २।११।२५

८- दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्। वस्त्रपूतं जलमादद्यात्। सत्यपूतं वदेत्। मनःपूतमाचरेत्। - वि ९६।१४-१७

क्रोध न करना, गुरु की सेवा, प्रमाद का त्याग, पवित्रता और आहार की शुद्धि।[१] वसिष्ठधर्मसूत्र में भी संन्यासी के शान्त और भयहीन जीवन की एक उद्धरण देते हुए प्रशंसा की गयी है : 'जो संन्यासी सभी प्राणियों के साथ शान्ति बनाये हुए घूमता है उसे जीवित प्राणी से कोई भय नहीं होता, किन्तु जो व्यक्ति संन्यासी बनकर भी सभी प्राणियों की रक्षा नहीं करता वह उत्पन्न और अनुत्पन्न सभी का नाश कर देता है।[२]

समदृष्टि संन्यासी का विशेष गुण है। उसे पीडा पहुँचाने अथवा अनुग्रह करने पर भी प्राणियों के साथ एक-सा व्यवहार करना चाहिए।[३] जब कुछ भी प्राप्त न हो, तो संन्यासी खिन्न न होवे, कुछ प्राप्त होने पर प्रसन्न न होवे।[४] वह पूर्णतः उदासीन और समभाव रहे, किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा या स्नेह न दिखावे।[५] उसके लिए आचरण की ऋजुता भी आवश्यक है। मन को केन्द्रित करने के लिए ही सबका त्याग करना संन्यासी का धर्म है।[६] विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि संन्यासी अपमान के वचनों को सहन करे। किसी का अपमान न करे, किसी को आशीर्वाद न दे और न किसी को आदरपूर्वक प्रणाम करे। यदि कोई संन्यासी की एक भुजा काटे और दूसरा दूसरी दूसरी भुजा में चन्दन का लेप करे तो वह न तो एक को शाप दे और न दूसरे को आशीर्वाद।[७]

१- पञ्चैवोपव्रतानि भवन्ति- अक्रोधो गुरुशूश्रूषाऽप्रमादश्शौचमाहारशुद्धिश्चेति ।
 - बौ २।११।२५
२- अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः। तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं जातु विद्यते।।
 अभयं सर्वभूतेभ्योदत्त्वा यस्तु निवर्त्तते। हन्ति जातानजातांश्च द्रव्याणि प्रतिगृह्य च।।
 - व १०।२-३ , तुलनीय- बौ २।१७।३०
 अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयं चाऽपि ह जायते इति।।
३- समो भूतेषु हिंसानुग्रयोः।- गौ १।३।२३
४- अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत्।
 प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विवर्जितः।।- व १०।२२
५- उपेक्षकः सर्वभूतानां हिंसानुग्रहपरिहारेण।- व १०।२६
६- अजिह्मोशढोशरणोवसङ्कुसुकः। - व १०।२७
७- वि ६६।१६-२३

वैराग्य और योगाभ्यास

संसार के इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति घृणा द्वारा वैराग्य प्राप्त करना और योगाभ्यास के माध्यम से मोक्षप्राप्ति संन्यासाश्रम का लक्ष्य होता था। इस कारण इस आश्रम में मनुष्य मृत्यु के प्रति अत्यन्त सहज, स्वाभाविक दृष्टिकोण अपना लेता था। वह आत्मा के अमरत्व तथा शरीर की मर्त्यता को हृदयंगम करता था। संन्यासी के जीवन का लक्ष्य बताते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है कि वह निरन्तर अपने हृदय में परमात्मा के ऐक्यबोध का अन्वेषण करे।[१] दीर्घ जीवन की कामना न करे।[२] मोक्ष का मार्ग वही जानता है जो न तो कुटी की चिन्ता करता है, न जल की, न वस्त्र की, न तीन पवित्र पुष्करों की, न घर की, न आसन की और न भोजन की।[३]

जीवन की नश्वरता और भौतिक सुखों की तुच्छता का ज्ञान होने के लिए संन्यासी सदैव शरीर की अपवित्रता, शारीरिक और मानसिक कष्टों, गर्भकाल के कष्ट, मूत्र-मल के बीच गर्भ में निवास, गर्भ की संकीर्णता से जन्म लेते समय अनुभूत कष्टों पर विचार करे। बाल्यावस्था के अज्ञान से उत्पन्न कष्टों, युवावस्था में इच्छाओं की पूर्ति न होने से उद्भूत दुःखों तथा अधर्मपूर्वक किये गये भोगों से प्राप्य नरक के ऊपर विचार करे।[४] विष्णुधर्मसूत्र में संन्यासी को शरीर के मोह से विरक्त करने के लिए उसके ढाँचे, अस्थियों, शिराओं, धमनियों, स्नायुओं की संख्या आदि बतायी गयी है। मानवशरीर में रचना की दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं जो अपने आप में आकर्षक हो।[५] (संन्यासी) इस शरीर को सात धातुओं से निर्मित समझे- वसा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। वह इस शरीर को चर्म से बँधा हुआ, दुर्गन्धियुक्त, मल का घर, सैकड़ों सुखों से घिरा होने पर भी परिवर्तनशील, प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखे जाने पर भी विनाशी तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य का स्थान समझे।[६]

१- मनसा ज्ञानमधीयानः।- व १०।१४

२- मरणं नाभिकामयेत जीवितं च।- वि ९६।१९

३- न कुट्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे।
नागारे नासने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः।।- व १०।२३

४- वि ९६।२४-३६

५- वि ९६।५१-८८

६- तत्रैव ४३-५०

सुख के वास्तविक स्वरूप को समझाते हुए कहा गया है कि जिसे कष्ट के अभाव के कारण सुख कहा जाता है वह क्षणभंगुर है। जो रोग या दारिद्र्य के कारण सुख नहीं पाता, वह दुःख सहता है।[१] इन्द्रियाँ भोगों से कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं। दूसरी ओर मृत्यु भी निश्चित और अपरिहार्य है।[२] इन बातों का चिन्तन संन्यासी को संसार से पूर्णतः विरक्त और निष्काम बना देता है और तब वह योगाभ्यास एवं तत्त्वज्ञान के योग्य बन जाता है। विषयों का पूर्णतः वर्जन करने वाला ही मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।[३] आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही संन्यासी मोक्ष प्राप्त करता है।[४] वसिष्ठ के अनुसार जिसने अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को वश में किया है, सभी इन्द्रियसुखों का त्याग किया है, जिसका मन परमात्मा के ध्यान में लगा है और जो सुख-दुःख के प्रति समान भाव रखता है वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।[५]

धर्मसूत्रों ने योग की बार-बार प्रशंसा की है। संन्यासी के लिए एकमात्र कर्म यही है कि वह सब कुछ छोड़कर परमात्मा का ध्यान करे। आपस्तम्बधर्मसूत्र के शब्दों में 'सत्य और असत्य का, सुख और दुःख का, वेदों का, लोक और परलोक का परित्याग कर परमात्मा का ही चिन्तन करे।[६] योग द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, योग धर्म का मूल है, योग का अभ्यास परम तप है। अतः संन्यासी योग की ही साधना करे।[७] कठोर तप, दैनिक स्वाध्याय और यज्ञों से भी द्विज उस अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकता जो योग के अभ्यास से प्राप्त होती है।[८] विष्णुधर्मसूत्र भी पुरुष परमात्मा की

१- तत्रैव ४०-४२ २- तदेव,२०।२६

३- मनसा वाचा प्राणेन चक्षुषा श्रोत्रेण त्वक्छिश्नोदरारम्भणानास्रावान् परीवृञ्जानोऽमृतत्वाय कल्पते।- आप २।५।१८ तथा सत्या० २७।१।१०१

४- बुद्धे क्षेमप्रापणम्।- आप २।२१।१४, अपुनर्भवं नयतीति नित्यः।-बौ २।१७।१६

५- अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य।
अध्यात्मचिन्तागतमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिरुपेक्षकस्येति।।- व १०।१७

६- सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्। - आप २।२१।१४,

७- योगात्संप्राप्यते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपो नित्यं तस्माद्युक्तः सदा भवेत्।।- व २५।८

८- न तां तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता योगात्संप्राप्नुवन्ति याम्।।- व २५।७

प्राप्ति को मुक्ति का हेतु बताता है और ध्यान की कई विधियाँ विहित कर ध्यान से योग की प्राप्ति और योग से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन करता है।[1]

संन्यासियों के भेद

वैखानसधर्मसूत्र (८।६) में संन्यासियों के चार भेद बताये गये हैं- कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। कुटीचक प्रख्यात ऋषियों के आश्रमों में आठ ग्रास भोजन एकत्र करते हुए ब्रह्म का चिन्तन करते हैं। बहूदक तीनदण्ड धारण करते हैं, काषाय वस्त्र पहनते हैं। वे ब्रह्मर्षियों एवं गुणवान् लोगों के यहाँ भिक्षा एकत्र करते हैं। हंस एक दिन और रात्रि ग्राम में निवास करते हैं और एक मास तक उपवास करते हैं। वे चान्द्रायण व्रत करते हुए भ्रमण करते हैं। परमहंस एक तना वाले वृक्ष के नीचे, उजाड़ घर या श्मशान में रहते हैं। वस्त्र पहनते हैं अथवा नग्न रहते हुए मोक्ष का यत्न करते हैं। इनके लिए सत्य असत्य, उचित-अनुचित,पवित्र-अपवित्र का भेद नहीं रह जाता। ये सबके प्रति तटस्थ होते हैं एवं सभी के यहाँ से भिक्षा माँगते हैं।

निवृत्ति के लिए विविध प्रकार के योगाभ्यास करने वाले योगियों या संन्यासियों के भी तीन भेद बताये गये हैं[2]- सारंग योगी, एकार्ष्य योगी तथा विसरग योगी। सारंग योगी भी चार प्रकार के कहे गये हैं- संयम न करने वाले, संयम करने वाले, उत्तम मार्ग का अनुसरण करने वाले, अधम मार्ग का अनुसरण करने वाले। एकार्ष्य योगी पाँच प्रकार के होते हैं- दूर तक जाने वाले, दूर तक न जाने वाले, भ्रूमध्यग, एकाग्रचित्त न रहने वाले तथा ध्यान करने वाले। विसरग योगियों के भी अनेक भेद होते हैं। इनमें विसरग योगियों की मुक्ति दूसरे जन्म में मानी गयी है। इन भेदों से सिद्ध होता है कि वैखानसधर्मसूत्र के काल तक संन्यासियों या योगियों के कई पंथ और सम्प्रदाय हो चुके थे।

बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में[3] शङ्कराचार्य संन्यास का अधिकारी केवल

१- वि ६७।६-१४ ध्यान के प्रसंग में यहाँ कहा गया है कि ध्यान में एक वर्ष तक निरत रहने पर योग की प्राप्ति होती है- ध्याननिरतस्य च संवत्सरेण योगाविर्भावो भवति।

२- वैखा ८।१०-११

३- बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।५।१ तथा ४।५।१५ का भाष्य।

ब्राह्मण को मानते हैं, किन्तु महाभारत के शान्तिपर्व में राजाओं के भी संन्यासी होने का होने का उल्लेख है।[1] याज्ञवल्क्यस्मृति (३।५८) की व्याख्या मिताक्षरा में उद्धृत बौधायन के मतानुसार कभी-कभी स्त्रियाँ भी संन्यास ग्रहण करती थीं। किन्तु धर्मसूत्रों में ऐसे संकेत नहीं हैं।

आश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत संन्यास जीवन के अन्तिम दिनों को आध्यात्मिक उद्देश्य से युक्त करने का एक महान् प्रयत्न था। वेदान्तदर्शन में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनका पूर्ण व्यावहारिक रूप संन्यासाश्रम में ही दिखायी पड़ता है। यह पूर्ण शान्ति, नैतिक आदर्शों तथा सांसारिक सुख-भोग से विरक्ति का जीवन भारतीय संस्कृति की एक असाधारण विशेषता है।

१- महाभारत, शान्तिपर्व, ६३।१६-२१

अध्याय ४

धर्मसूत्रों में वर्णधर्म - वर्ग एवं व्यवसाय

मानवसमाज का विभिन्न आधारों पर अनेक वर्गों में विभाजन सर्वत्र पाया जाता है। ये वर्ग कहीं जाति, वंश या जन्म के आधार पर उद्भूत हैं, तो कहीं आर्थिक, साम्प्रदायिक अथवा व्यावहारिक कारणों से विकसित हुए हैं। हिन्दुओं का वर्गीकरण अपनी कई विलक्षणताओं के कारण सभी देशों के समाजशास्त्रियों की विशेष रुचि का विषय है। इस वर्गीकरण को हम वर्णव्यवस्था के नाम से जानते हैं और धर्मसूत्रों की दृष्टि में वर्णधर्म सभ्य मानव के कर्त्तव्यों का प्रमुख अङ्ग है।

भारत में वर्णव्यवस्था का उदय कैसे हुआ यह विद्वानों के अनुमान का ही विषय है। इसके विषय में कई मतों का प्रतिपादन हुआ है। ए०एल० बाशम आर्यों की जाति-प्रथा का उद्भव चार वर्णों से न मानकर छोटे-छोटे आदिम जनसमूहों के एक साथ मिलने से मानते हैं।[१] ऐसा भी माना गया है कि आर्यों ने मूल भारतीय जातियों को अपने में समेट लिया और इस प्रकार आर्य तथा अनार्य जातियों का विकास हुआ। आर्यों को भारत में बाहर से आया हुआ मानने वाले लोगों की धारणा कुछ इस प्रकार की है कि आर्य जब सप्तसिन्धु प्रदेश में बसे तो उन्हें मूल निवासियों से युद्ध करना पड़ा। ये मूल निवासी दस्यु या दास थे और यज्ञ नहीं करते थे। आर्य उन पर विजयी होते गये और धीरे-धीरे उनकी सभ्यता फैलती गयी, इस प्रकार ये मूल जातियाँ जो

१- "The caste system may well be the natural response of the many small and primitive peoples who were forced to come to terms with a more complex economic and social system. It did not develop out of the four Aryan *varnas* and the two systems have never been thoroughy harmonized."

- The Wonder that was India, p. 150

कृष्ण वर्ण की थीं, आर्यों के साथ एक वर्ग के रूप में मिल गयीं और इस समाज में आर्यों का प्राधान्य बना रहा।[१]

वर्णविभाजन का आरम्भिक आधार आर्य एवम् अनार्य जातियों के शरीर के रंग का भेद था। इसका प्रधान प्रमाण स्वयं 'वर्ण' शब्द ही है, जिसका अर्थ रंग है। अनार्यों को दास या काले वर्ण का कहा गया है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर वर्ण शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया गया है।[२] भारतीय वर्णव्यवस्था के उद्भव एवं विकास का कुछ अधिक स्पष्ट इतिहास ऋग्वेद में देखा जा सकता है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में दासों की पराजय का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है।[३] दासों को ही दस्यु नाम से भी उल्लिखित किया गया है। अव्रत, अक्रतु (अर्थात् यज्ञ न करने वाले),[४] मृध्रवाचः (अस्पष्ट एवं कटु भाषा वाले), अपनासः (गूंगे या चपटी नाक वाले), अदेवयु, अयज्वान्, अमानुष और अन्यव्रत आदि विशेषणों का भी इन अनार्यों के लिए प्रयोग हुआ है।[५] इस प्रकार आर्य और अनार्य अथवा दस्यु नाम के दो वर्गों का अस्तित्व प्राचीनकाल में था और ये दोनो वर्ग धार्मिक विश्वास, जीवनशैली, शारीरिक रचना और रंग के आधार पर एक दूसरे से भिन्न थे। धीरे-धीरे वर्ण शब्द का प्रयोग वर्ग के लिए होने लगा और चार भिन्न-भिन्न वर्ग व्यवसाय के आधार पर अस्तित्व में आये।

अब प्रश्न यह है कि क्या व्यवसायों के बाद उनके आधार पर वर्णों का विकास हुआ? डॉ० प्रीति मित्रा के शब्दों में वैदिक काल में व्यवसाय वंशानुगत नहीं थे, अपितु कोई भी आर्य कोई व्यवसाय कर सकता था।[६] यदि वैदिक काल में वर्णों की कठोर व्यवस्था होती तो ऋग्वेद में वर्णों का उल्लेख होता, परन्तु उसमें पुरोहित के

१- द्र० डॉ० राधाकृष्णन्, दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ,पृ० ९८
डॉ० राधाकृष्णन् ने वेलेण्टाइन चिरोल का कथन उद्धृत किया है-
"The supple and subtle forces of Hinduism had already in pre-historic times welded together the discordant beliefs and customs of a vast variety of races into a comprehensive fabric. "- *India: Old and New, p. 42.*

२- यथा ऋ०२।१२।४ एवं १।१७९।६

३- ऋ० ५।३४।६, १०।८६।१९

४- ऋ०१०।४९।३, १०।२२।८

५- ऋ० १०।२२।८, ८।७०।११, ५।२९।१०

६- डॉ० प्रीति मित्रा, लाइफ एण्ड सोसाइटी इन वेदिक एज़, पृ० ९८

लिए कारु, विप्र, कवि, वेधस् का, योद्धा के लिए राजन्य तथा नागरिकों के लिए 'विशः' का प्रयोग है। वैदिक काल की वर्णव्यवस्था का हम आगे विवेचन करेंगे।

व्यवसाय के आधार पर वर्णव्यवस्था का विकास अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। आरम्भ में आर्य वर्ग के लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य का कर्म कर सकते थे और कोई भी आर्य सभी प्रकार के कर्म करता था, किन्तु धीरे-धीरे यह विभाजन वंश या जन्म के आधार पर हो गया और सीमाएँ कठोर होती गयीं। व्यवसाय की दृष्टि से समाज के चार वर्ग ही होते हैं- बौद्धिक या आध्यात्मिक चिन्तन में लीन लोगों का वर्ग, शासन करने वाले राजनीतिकों का वर्ग, अर्थव्यवस्था को सम्भालने वाले व्यापारियों और उत्पादकों का वर्ग तथा बौद्धिक योग्यता से हीन श्रमिकों का वर्ग।[१] धीरे-धीरे इनके विशिष्ट कर्म निर्धारित होते गये और अपने वर्ण के व्यवसाय का अनुसरण अत्यन्त श्रेयस्कर माना जाने लगा।

हिन्दू संस्कृति के अनेक प्रशंसक चार वर्णों की व्यवस्था को तत्कालीन समाजशास्त्रियों द्वारा चलायी गयी एक आदर्श व्यवस्था मानते हैं, जो विभिन्न समुदायों के आपसी सहयोग एवं एक दूसरे के कार्यों में सहायक बनने की भावना से उद्भूत हुई है।[२] डॉ० राधाकृष्णन् इस व्यवस्था को सहिष्णुता और विश्वास का परिणाम मानते हैं।[३] वर्णव्यवस्था के कुछ प्रशंसकों का उल्लेख महामहोपाध्याय काणे ने[४] भी अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में किया है, यथा सिडनी लो, एब्बेडुवोज तथा मेरेडिम। उसकी तीव्र भर्त्सना करने वाले विद्वानों की भी कमी नहीं है यथा काणे द्वारा उल्लिखित मेन और शेरिंग।

१- तुलनीय, डॉ० राधाकृष्णन्,हिन्दू व्यू आफ लाइफ,पृ० १०७
"The cultural and the spiritual, the military and the political, the economic classes and the unskilled workers constitute the four-fold caste organisation. The different functions of human life were clearly separated and their specific and complementary character was recognised."

२- द्र० तदेव, पृ० १०७ "Human society is an organic whole, the parts of which are naturally dependent in such a way that each part is fulfilling its distinctive funtions, conditions the fulfilment of function by the rest and is in turn conditioned by the fulfilment of its funtion by the rest."

३- तदेव, पृ० ६२ "Paradoxial as it may seem, the system of caste is the outcome of tolerance and trust."

४- धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० १०६

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के उद्भव के विषय में आधुनिक काल के प्रख्यात इतिहासकार श्री के० एम० पनिक्कर वर्णचतुष्टय को 'समाजशास्त्र-सम्बन्धी कपोलकल्पित कथा' बताते हुए लिखते हैं- 'आदि कारण कुछ भी हो, यत्किञ्चित् विवेचन करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि चातुर्वर्ण्य की कल्पना केवल तत्त्वचिन्तन की एक शैली है, और वह सामाजिक व्यवस्था के तथ्यों पर किसी प्रकार भी आधारित नहीं है। - - - हिन्दू समाजशास्त्री अपने समाज को उस साँचे पर ढालना चाहते थे जिसमें वर्ण आदर्शवाद कोरा काल्पनिक विषय अर्थात् सिद्धान्त पक्ष बना रहे और व्यवहार पक्ष से उसका कोई संबन्ध न हो।[१]

यह मानना अधिक संगत प्रतीत होता है कि आरम्भ में हिन्दू समाज में वर्गों का उदय विभिन्न जनसमूहों के एक साथ मिलने से हुआ, फिर व्यवसाय के आधार पर चार प्रमुख वर्गों के विकास हुए जो अत्यन्त कठोर व्यवस्था के अन्तर्गत बद्ध नहीं थे, फिर वर्ग या वर्ण का आधार जन्म हो गया और ब्राह्मण वर्ग ने स्पष्टतः अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए वर्ण की कठोर व्यवस्थाएँ लागू कीं, किन्तु समाज में वर्णों के आपसी सम्पर्क बढ़ने एवं मिश्रण से अनेक उपजातियों का विकास होता गया, जो वैवाहिक संबन्ध, एक दूसरे के यहाँ भोजन करने और वंशानुगत व्यवसाय करने की दृष्टि से उत्तरोत्तर संकुचित और एक दूसरे से पृथक् वर्ग बनती गयीं तथा अपने व्यवसाय के कारण सभी वर्गों की एक दूसरे से सहयोगिता और सहिष्णुता भी बनी रही। जैसा कि डॉ० बाशम का कथन है, जातिव्यवस्था अनेक जातियों और दूसरे वर्गों के सम्पर्क से सहस्रों वर्षों में एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में विकसति है और इसके उद्भव का निश्चित इतिहास बताना कठिन है। इसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं की रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत की जा सकती है।[२]

वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था

ऋग्वेद में आर्यों के साथ-साथ एक दूसरे वर्ग दस्यु या दास का उल्लेख कई बार और कई विशेषताओं द्वारा हुआ है इसका निर्देश पहले किया जा चुका है।

१- हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, पृ० ६-७

२- ए० एल० बाशम, वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, पृ० १४८

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम के चार वर्णों का नाम लेकर स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद के निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र में हुआ है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

उल्लेखनीय है कि रचनाक्रम की दृष्टि से यह मन्त्र ऋग्वेदकाल के अन्तिम समय का माना जाता है और इस सूक्त में भी वर्ण शब्द का प्रयोग इस मन्त्र के अतिरिक्त और कहीं भी ऋग्वेद में नहीं है। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है, किन्तु उससे अनिवर्यतः किसी जाति का अर्थ नहीं लिया जा सकता। कुछ स्थलों पर ब्राह्मण वर्ग का अर्थ संभव है जैसे राजा द्वारा ब्राह्मण को सम्मान देने का,[१] ब्रह्मन् लोगों को धन देने[२] तथा ब्राह्मणों की मित्रता का उल्लेख।[३] इसी प्रकार क्षत्रिय एवं राजन्य नाम भी ऋग्वेद में कई बार आये हैं।[४] इन शब्दों का प्रयोग प्रायः वरुण आदि उन देवों के लिए किया गया है, जिनको राजा या शासक के रूप में वर्णित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के समय में निश्चित रूप से ब्राह्मण और राजन्य वर्ण का विकास हो चुका था।

पुरुषसूक्त के अतिरिक्त अन्यत्र ऋग्वेद में केवल 'विश्' शब्द का प्रयोग है, वैश्य का नहीं। 'विश्' का अर्थ लोगों के समूह से है जो एकाध अपवादों को छोड़कर 'जन' का ही पर्यायवाची प्रतीत होता है।[५] विश् से वैश्य वर्ण का अर्थ लेना कठिन है। संभवतः वैश्य शब्द एक वर्ग के लिए उस समय प्रयुक्त हुआ जब ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों ने अपने को सामान्य जनसमूह से विशिष्ट बना लिया और बचे हुए विशों का जनसमूह से संबद्ध सामान्य व्यापार, पशुपालन, कृषि आदि करने वाला वर्ग वैश्य कहा जाने लगा। चतुर्थ वर्ण शूद्र के विषय में सामान्यतः विद्वानों का यही अभिमत है कि दस्यु या दास वर्ण, जिन्हें आर्यों ने जीत लिया था और जो आर्यों के समाज में सेवा

१- ऋ० ४।५०।८,९
२- ऋ० १०।८५।२९
३- ऋ० १०।७१।८-९
४- ऋ० ४।१२।३, ४।४२।१, ५।६९।१, ७६४।२, ८।२५।८, १०।२६।२
५- ऋ० ३।४२।२ मानुषीणां विशाम्। ऋ० ८।६३।७

कार्य करने लगे थे, अन्ततः शूद्र वर्ण के रूप में एक चौथा वर्ण बन गये।[1]

ऋग्वेद में आये हुए वर्णों एवं वर्गों के उल्लेख अधिक स्पष्ट नहीं हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि उस काल में समाज के कम से कम चार वर्ग हो चुके थे। ऋग्वेद के मन्त्रों का मुख्यतः सम्बन्ध स्तोता और उसके आराध्य देवता से है जिसमें स्तोता का, जो ब्रह्म या मन्त्र से संबद्ध ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि था, अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं और परिस्थितियों की ओर अधिक ध्यान है, सामाजिक स्थितियों की ओर कम। यही कारण है कि ऋग्वेद में समाज और उसकी संस्थाएँ स्तुतियों, देवों की प्रशस्ति और भौतिक सुख-समृद्धि की प्रार्थनाओं के अन्तस्तल में चली गयी हैं तथा उन सबका सही एवं पूर्ण प्रतिबिम्ब मन्त्रों में नही उभर पाता। किन्तु जैसे ही वैदिक साहित्य यज्ञक्रिया की ओर मुड़ता है वैसे ही उसका ध्यान समाज की ओर भी जाता है। परिणामस्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है और इनकी सामाजिक स्थिति भी निश्चित रूप से निर्धारित प्रतीत होती है।

'ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता है' तैत्तिरीयसंहिता[2] के इस वाक्य से स्पष्ट है कि इस काल में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति उत्कर्ष पर पहुँच गयी थी। अथर्ववेद भी ब्राह्मणों की वर्ग के रूप में प्रशस्ति करता है।[3] ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है- 'ब्राह्मण ही सभी देवता हैं।[4] वे ब्राह्मण मनुष्यदेव हैं।'[5] ब्राह्मण वर्ण दैव्य वर्ण है।[6] ब्राह्मण अग्नि वैश्वानर है।[7] ब्राह्मण ब्रह्म का ही रूप है।[8] ब्राह्मणों का राजा सोम है।[9] ब्राह्मण आगे-आगे चलता है और दूसरे तीन वर्ण उसके पीछे-पीछे चलते हैं।[10] ब्राह्मणग्रन्थों के काल में ब्राह्मण वर्ग

१- द्र० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद,पृ० ११२
२- तै० सं० १।७।३।१
३- अथर्ववेद, ५।१७।१६
४- ब्राह्मणो वे सर्वा देवताः।- तै० ब्रा० १।४।४।२
५- अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः। - षड्विंशब्राह्मण, १।१
६- दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः।- तैत्तिरीयब्राह्मण, १।२।६।७
७- एष वा अग्निर्वैश्वानरः यद् ब्राह्मणः।- तै ब्रा ३।७।३।२
८- ब्रह्मणो वा एतद् रूपं यद् ब्राह्मणः।- शतपथब्रा० १३।१।५।२
६- शतपथब्रा० ५।४।२।३, तैत्तिरीयब्रा० १।७।४।२
१०- तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्ति।- श ब्रा ६।४।४।१३

प्रथम और सर्वोपरि वर्ण के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। उसके अनेक विशेषाधिकार भी बन चले थे और सभी के लिए वह सम्मान्य था। राजा भी उसको यथोचित सम्मान देते थे। ब्राह्मण वर्ण के इस प्राधान्य का प्रमुख कारण यही था कि इस काल में यज्ञक्रिया और कर्मकाण्ड का बोलबाला था और यज्ञक्रिया का सम्पादन ब्राह्मण वर्ग का विशिष्ट व्यवसाय भी बन गया था। इस व्यवसाय से ब्राह्मण वर्ग प्रचुर दक्षिणा का अधिकारी बन चुका था और एक अत्यन्त जटिल यज्ञपद्धति का विकास करने में सफल हो गया था। शतपथब्राह्मण ने स्पष्ट रूप से ब्राह्मणों के चार गुणों ब्राह्मण्य, प्रतिरूपचर्या (अर्थात् पवित्र आचरण), यश एवं लोकपक्ति (अध्यापन द्वारा लोगों को पूर्ण बनाना) - का और चार विशेषाधिकारों- अर्चा, दान, अजेयता और अवध्यता - का निर्देश किया है।[1]

ऋग्वेद में ही अनेक राजाओं - यथा यदु, तुर्वशु, अनु, द्रुह्यु के वंश वालों- के नाम आते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में क्षत्रिय वर्ण का राज्यकार्य से विशिष्ट संबन्ध बन चुका था। ऐतरेयब्राह्मण में कहा गया है 'क्षत्रिय सबका अधिपति है, वह ब्राह्मणों एवं धर्म की रक्षा करता है।[2] तैत्तिरीयसंहिता से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में राजा के ऊपर भी पुरोहित प्रधान बनकर विराजमान हो गया था। कहा गया है कि राजा विना पुरोहित के नहीं रह सकता, देवताओं को भी पुरोहित की आवश्यकता होती है।[3] क्षत्र के आयुध, अश्व, रथ, कवच, बाण और धनुष् हैं।[4] क्षत्रिय राजा के आने पर ये प्रजाएँ उठकर नीचे स्थित हो स्वागत करती हैं।[5] कर्म करने की कामना वाले क्षत्रिय को ब्राह्मण के पास जाना चाहिए।[6] इन ब्राह्मण वाक्यों से ब्राह्मण काल में क्षत्रिय की राज्यसंचालन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण किन्तु यज्ञ की दृष्टि से गौण स्थिति का ज्ञान हो जाता है। राजा के रूप में क्षत्रिय के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए शतपथब्राह्मण

१- प्रज्ञा वर्द्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपक्तिम् लोकः। पच्यमाश्चतुर्भिधर्मैः ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च।- श ब्रा ११।५।७।१

२- क्षत्रियोऽजनि विश्वरूपं भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि... ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि।- ऐ ब्रा ३८, ३६।३

३- तै ब्रा २।५।१।१

४- एतानि क्षत्रस्यायुधानि यदश्वरथः कवच इषुधन्व। - ऐ ब्रा ७।१६

५- तस्मादु क्षत्रियमायन्तमिमाः प्रजा विशः प्रत्यवरोहन्ति तमधस्तादुपासते।- श ब्रा ३।६।३।७

६- क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः।- श ब्रा ६।४।४।१३

में कहा गया है कि क्षत्रिय आगे चलता है और तीन वर्ण उसका अनुसरण करते हैं।[१] यह भी कहा गया है कि राजा अपने शत्रुओं के लिए शक्तिशाली हो सकता है किन्तु ब्राह्मण के लिए नहीं।[२]

वैश्य वर्ण का मुख्य संबन्ध पशुपालन एवं कृषि से था। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार मनुष्यों में वैश्य सभी के लिए उपभोग के साधन हैं। वे भोजन के आधार हैं।[३] ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार वैशीपुत्र का अभिषेक नहीं होता था।[४] यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करने पर क्षत्रिय या वैश्य भी ब्राह्मण के तुल्य हो जाता है।[५] पशु ही वैश्य की समृद्धि है।[६] ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६।१।१० में वैश्य की तत्कालीन स्थिति स्पष्ट कर दी गयी है कि वैश्य ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से निम्न श्रेणी के हैं।

ऐतरेयब्राह्मण[७] शूद्र वर्ण को 'अन्यस्य प्रेष्यः','कामोत्थाप्यः' तथा 'यथाकाम वध्यः' कहता है। तैत्तिरीयब्राह्मण[८] के शब्दों में शूद्र वर्ण असत् से उत्पन्न है। शतपथब्राह्मण स्त्री, शूद्र, कुत्ता और काले पक्षी को देखने का निषेध करता है।[९] ये सभी संकेत ब्राह्मणकाल में शूद्र की हीन स्थिति व्यक्त करते हैं। शूद्र केवल सेवक था, उसकी इच्छानुसार ताडना की जा सकती थी। उसे अन्य तीन वर्णों से पृथक् वर्ग में रखा गया था तथा वह सांस्कृतिक जीवन से बहिष्कृत सा हो चला था। उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं था।[१०] कुछ ऐसे भी उल्लेख आये हैं जिनमें शूद्र भी यज्ञ के कुछ कर्मों में भाग ले सकता था जैसे हवि तैयार करने में ।

१- तस्मात्क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णा पश्चादनुयन्ति।- श ब्रा ६।४।४।१३
२- यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो स बलीयान् भवति।- श ब्रा ५।४।४।१५
३- तै०सं० ७।१।१।५
४- तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति।- श ब्रा १३।३।६।८
५- श० ब्रा० ३।३।१।४०
६- एतद्वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः।-ताण्ड्य ब्रा० १८।४।६
७- ऐ० ब्रा० ७।२६
८- असतो वा एष सम्भूतः यच्छूद्रः।- तैत्ति०ब्रा ३।२।३।६
९- अनृतं स्त्री-शूद्र-श्वा-कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत।- श ब्रा १४।१।१।३१
१०- पञ्चविंश ब्रा० ६।१।११

ब्राह्मण ग्रन्थों के काल तक चार वर्णों का पूर्ण विकास हो चुका था और कर्म भी निर्धारित हो चुके थे। यज्ञक्रिया की दृष्टि से छोटे-छोटे कर्मकाण्ड में भी वर्ण के अनुसार भेद किया जाने लगा था। इन कर्मों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यवसाय भी विकसित थे। ऋग्वेद में ही नाई, बढ़ई, वैद्य, लोहार, चर्मकार का उल्लेख है। रथकार, कर्मार, सूत, क्षत्ता, संग्रहीता, कुलाल, निषाद, मृगयु, मागध, शैलूष, मणिकार, कण्टककार आदि अनेक व्यावसायिक जातियाँ ब्राह्मण काल तक थीं।[१] इनमें कुछ ऐसे भी नाम हैं जिन्हें आगे चलकर वर्णसंकर कहा गया है। अतः यह संभावना की जा सकती है कि इस काल के अन्त तक वर्णसंकर जातियाँ भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। वर्णव्यवस्था की जो स्थिति ब्राह्मणों में मिलती है वह हमें धर्मसूत्रों के युग की अवस्था के सन्निकट पहुँचा देती है।

धर्मसूत्रों में वर्णव्यवस्था

धर्मसूत्रों के समाज का वर्गीकरण मुख्यतः चार वर्णों में हुआ है, किन्तु उनके साथ ही अनेक ऐसी जातियों के भी उल्लेख हैं जो अनुलोम या प्रतिलोम ढंग से इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों से उत्पन्न हैं। ये चार वर्ण हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।[२] इनमें भी प्रथम तीन वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं, क्योंकि इनके दो जन्म होते हैं- एक पार्थिव जन्म माता से और दूसरा जन्म उपनयन के समय सावित्री मन्त्र रूपी माता तथा आचार्य रूपी पिता से होता है।[३] इन द्विजातियों के ही संस्कारों में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक मन्त्रों का प्रयोग होता है।[४] शूद्र के लिए मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता। इन चार वर्णों में जन्म के आधार से ही श्रेष्ठता का नियम है। ब्राह्मण अन्य तीन वर्णों से, क्षत्रिय अपने बाद के दो वर्णों - वैश्य एवं शूद्र से तथा वैश्य केवल शूद्र से

१- विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य महामहोपाध्याय काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड १, हिन्दी अनुवाद, पृ० ११५-११७

२- चत्वारो वर्णाः ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।- बौ १।१६।१ चत्वारो वर्णाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। - आप १।१।४, व २।१, वि २।१-२, वैखा ८।१

३- त्रयो वर्णाः द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः।- व २।२।३

४- वि २।३, वैखानस ध सू ८।१

उच्च और अधिक सम्मानयोग्य माना गया है।[1] जो लोग वर्ण की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं उनके प्रति पूजा का भाव रखना चाहिए और अपने वर्ण में अपने से अधिक अवस्था के व्यक्ति का सम्मान करना चाहिए, ऐसा धर्मसूत्रों में अनेकशः विहित है।[2]

धर्मसूत्रों ने चार वर्णों का भेद स्पष्टतः जन्म तथा व्यक्ति के विशिष्ट संस्कारों के आधार पर किया है।[3] गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वर्णसंकर के सन्दर्भ में वर्ण का उत्कर्ष संभव है, किन्तु यह भी सातवीं पीढी में होता है, जब धर्मानुसार आचरण करते हुए वर्णसंकर सन्तानों को अपने पिता का वर्ण प्राप्त होता है। इसी प्रकार निरन्तर अपने से हीन वर्ण की स्त्री से विवाह करते रहने पर एक वंश का सातवीं पीढ़ी में वर्ण का अपकर्ष भी हो जाता है।[4] आपस्तम्ब के अनुसार[5] भी वर्ण का परिवर्तन धर्म का सतत पालन करते रहने पर अगले जन्म में ही होता है, और इसके विपरीत अधर्म का आचरण करने पर श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति अगले जन्म में उत्तरोत्तर अपने से हीन वर्ण में उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनका वर्ण बदल जाता है। विष्णुधर्मसूत्र में अनुलोम विवाह के सन्तानों को जन्म के ही आधार पर माता के वर्ण का माना गया है,[6] अर्थात् ऐसे पुत्र अपने पिता के उच्च वर्ण के नहीं माने जाते। ऐसी स्थिति में भी अनुलोम वर्णों की ही सामयाचारिक धर्मों का अधिकारी माना गया है। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न अर्थात् पति की अपेक्षा उच्च वर्ण की पत्नी के पुत्र निन्दास्पद हैं और उन्हें धर्मसूत्र धर्महीन मानते हैं।[7]

वर्णों की शुद्धता की व्याख्या करते हुए धर्मसूत्रों में यह नियम स्पष्ट किया गया है कि जिस वर्ण का पुरुष हो उसी वर्ण की पत्नी हो तो उनसे उत्पन्न पुत्र शुद्ध वर्ण

१- तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्।- आप १।१।५, सत्या० २।२।३

२- पूजा वर्णज्यायसां कार्या। वृद्धतराणां च।-आप १।१३।२-३
नित्या च पूजा यथोपदेशम्।-आप १।१४।६

३- प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च।- व ४।१

४- वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाऽऽचार्याः।- गौ १।४।१८

५- धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। - आप २।११।१०-११

६- वि १६।२

७- आप १।१।४ पर हरदत्त की टीका, वि १६।३

के अर्थात् माता-पिता के वर्ण के होते हैं। वैखानसधर्मसूत्र शुद्ध और संकर वर्णों का भेद इस प्रकार करता है : 'ब्राह्मण, ब्राह्मण स्त्रियाँ, ब्रह्मर्षि और उनकी पत्नियाँ ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हैं। जो भिन्न गोत्र की ब्राह्मण स्त्री के साथ मन्त्रों सहित विवाहित ब्राह्मण से उत्पन्न होता है वह शुद्ध होता है। विना विवाह के ब्राह्मण द्वारा ऐसी ब्राह्मणी से, जिसने दूसरे पुरुष को पति रूप में चाहा हो, उत्पन्न पुत्र निन्दनीय होते हैं। ऐसे पुत्र हैं गोलक, जो पति की मृत्यु के बाद उत्पन्न होता है और कुण्ड जो पति के जीवित रहते उत्पन्न हो। क्षत्रिय ब्रह्मा की बाहु से उत्पन्न वर्ण है। शुद्ध क्षत्रिय वह है जो क्षत्रिय स्त्री से विवाहित क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न हो। विना विवाह के क्षत्रिय पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से गुप्त रूप में उत्पन्न पुत्र शुद्ध क्षत्रिय नहीं होता। उसे भोज कहते हैं। वह राजा का पद नहीं प्राप्त करता, किन्तु सेनापति हो सकता है और शुद्ध क्षत्रिय के अभाव में पट्ट धारण कर राज्यकार्य चला सकता है। वैश्य वर्ण ब्रह्मा की जाँघ से उत्पन्न है। वैश्य वर्ण के पुरुष तथा वैश्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र शुद्ध होता है। इनसे विना विवाह के उत्पन्न पुत्र शुद्ध नहीं होता। वह मणिकार होता है। शूद्र वर्ण ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न है। शुद्ध शूद्र वह है जो शूद्र वर्ण के पुरुष द्वारा शूद्र वर्ण की विवाहिता पत्नी से उत्पन्न किया गया हो। विना विवाह के उनसे उत्पन्न पुत्र मालवक कहलाता है जो सईस का काम करता है।'[१]

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि वर्ण की शुद्धता का एकमात्र आधार है व्यक्ति के माता-पिता का उसी वर्ण का होना और धार्मिक रूप से विवाहित होना। सवर्ण विवाह वर्ण-व्यवस्था की प्रथम आवश्यकता है। यही कारण है कि धर्मसूत्र अनेक वर्ण की पत्नियों में सवर्णा पत्नी को ही धर्मकार्य में प्रधान तथा श्रेष्ठ मानते है,[२] और सवर्ण पुत्र को उसी प्रकार के धार्मिक एवम् आर्थिक विशेषाधिकार प्रदान करते हैं।[३]

धर्मसूत्रों में प्रत्येक प्रकार के आचार-नियम पर वर्ण का भेद प्रभावी दिखायी

१- वैखानसधर्मसूत्र, १०।११-१२

२- वि २६।२-३

३- वि १६।१, सत्या०२७।३।१, बौ १।१७।१, तत्र सवर्णासु सवर्णाः।
१।१६।६ 'तासु पुत्रास्सवर्णानान्तरासु सवर्णाः'के अनुसार ठीक बाद के वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र भी सवर्ण कहलाते हैं। सम्पत्ति के विभाजन के सन्दर्भ में द्रष्टव्य बौ २।३।१०

पड़ता है। अभिवादन के प्रसंग में आपस्तम्बधर्मसूत्र कहता है : 'दस वर्ष की आयु का ब्राह्मण तथा सौ वर्ष की आयु का क्षत्रिय परस्पर पिता और पुत्र के संबन्ध जैसी स्थिति में होते हैं। इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय के लिए पितातुल्य पूज्य होता है।[१] क्षत्रिय से अनामय के विषय में प्रश्न करे और वैश्य से अनष्ट के विषय में तथा शूद्र से आरोग्य के विषय में प्रश्न करे।[२] इसी प्रकार अपने से श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़ने का भी नियम है।[३] स्पष्टतः वर्णों की आपेक्षिक स्थिति में पर्याप्त भेद माना गया है और प्रत्येक धार्मिक क्रिया में वर्णानुसार भिन्न-भिन्न नियमों का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए उपनयन संस्कार में धर्मसूत्र प्रत्येक वर्ण के ब्रह्मचारी के लिए भिन्न प्रकार के दण्ड, दण्ड की ऊँचाई, मेखला, अजिन, वस्त्र, वस्त्र का रंग, उत्तरीय, भिक्षा की विधि, उपनयन का काल आदि विहित करते हैं।[४]

अतिथिसत्कार में भी वर्ण का विचार किया गया है। गौतम ने यह स्पष्ट कहा है कि अब्राह्मण ब्राह्मण का अतिथि नहीं होता।[५] जहाँ अनेक व्यक्तियों के समूह को भोजन कराने का नियम है वहाँ भी ब्राह्मणों को पहले भोजन कराना विहित है।[६] दान देने में भी दानपात्र के वर्ण पर विचार किया गया है। ब्राह्मण को दान देने पर दुगुना फल मिलता है।[७] आशौच की अवधि भी वर्णानुसार ही विहित है। ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की अशुद्धि का काल अधिक दिन का बताया गया है।[८]

व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों में भी वर्ण की प्रधान भूमिका दिखलायी पड़ती

१- दशवर्षश्च ब्राह्मणः शतवर्षश्च क्षत्रियः।
पितापुत्रौ स्तः तौ तयोस्तु ब्राह्मणः पिता॥- आप १।१४।२

२- अनामयं क्षत्रियम्। अनष्टं वैश्यम्। आरोग्यं शूद्रम्।- आप १।१४।२४-२६
सत्या० २६।२।१६ में भी अभिवादन के नियमों में वर्ण का भेद दिखाया गया है।

३- वर्णज्यायसां चेतरैर्वर्णैः।- आप , २।११।८

४- गौ १।१।६-२५, व ११।५२-७०, सत्या० २६।१।२१-७६, इसी प्रकार विवाहनियम भी वि २४।५-६

५- ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मणः।- गौ १।५।३६

६- भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः।- गौ १।५।४१

७- समद्विगुणसाहस्रानन्त्यानि फलान्यब्राह्मणब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः।- गौ १।५।१८

८- गौ २।५।१-४, वि २२।२३-५३

है। धर्मसूत्रों के अनुसार यदि किसी पुरुष के अनेक वर्णों की पत्नियों से पुत्र हों तो वे सभी समान रूप से सम्पत्ति के अधिकारी नही माने गये हैं, अपितु वे अपनी माता के वर्ण के अनुसार ही अंशग्राही होते हैं। यथा ब्राह्मण का सवर्ण पुत्र अधिक अंश, क्षत्रिया का पुत्र उसकी अपेक्षा कम, वैश्य पत्नी का पुत्र उससे भी कम तथा यदि शूद्र वर्ण की पत्नी हो तो उसका पुत्र अन्य वर्ण के पुत्रों के अभाव में भरण-पोषण मात्र के लिए सम्पत्ति प्राप्त करता था।[१] इससे भी आश्चर्यजनक ब्याज के प्रतिशत का नियम है, जिसके अनुसार शूद्र को सबसे अधिक ब्याज देना पड़ता था।[२] दण्डव्यवस्था एवम् अपराधनिर्धारण में भी धर्मसूत्र वर्ण का ध्यान रखते हैं। यह बहुत कुछ असंगत प्रतीत होता है और पक्षपातरहित समान न्यायव्यवस्था के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि निम्न वर्ण का व्यक्ति उच्च वर्ण वाले के प्रति अपराध करता है तो उसे अधिक कठोर दण्ड विहित किया गया है, जैसे उच्च वर्ण वाले के ऊपर थूकने पर ओठ काटा जाना, अपशब्द कहने पर जिह्वा काटा जाना, शिक्षा देने पर मुँह में उबलता हुआ तेल डाला जाना, नाम और जाति का उच्चारण करने पर मुख में जलता हुआ लोहे का छड़ डाला जाना आदि।[३] व्यभिचार-विषयक अपराधों में भी शूद्र को अधिकतम दण्ड का विधान है।[४] दण्ड के विषय में भी ब्राह्मण वर्ण को जो विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं उनका विवेचन आगे किया जायगा।

धर्मसूत्रों की दण्डव्यवस्था के अन्तर्गत गौतमधर्मसूत्र के केवल एक नियम में उच्च वर्ण के अपराधी के लिए अपेक्षाकृत अधिक दण्ड का विधान है और यह

१- शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना।-गौ ३।१०।३७
नानावर्णस्त्रीपुरुषसमवाये दायं दशांशान् कृत्वा चतुरस्त्रीन् द्वावेकमिति यथाक्रमं विभजेरन्।-बौ २।३।१० किन्तु पुत्र का गुण भी विचारणीय होता था
'सवर्णपुत्रानन्तरापुत्रयोरन्तरापुत्रश्चेत् गुणवान् स ज्येष्ठांशं हरेत्।- बौ २।३।१२

२- द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं स्मृतम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामानुपूर्वशः।।- व २।४८ यही नियम वि ६।२ में भी ।

३- वि ५।२१-२५ निष्ठीव्योष्ठद्वयविहीनः कार्यः। अवशर्धयिता च गुदहीनः। आक्रोशयिता च विजिह्वः। दर्पेण धर्मोपदेशकारिणो राजा तप्तमासेचयेत्तैलमास्ये। द्रोहेण च नामजातिग्रहणे दशाङ्गुलयोऽस्य शङ्कुर्निखेयः।

४- व २१।२-१७, वि ५।४३ अन्त्यागमने वध्यः।

धर्मसूत्रों की सामान्य दृष्टि से भिन्न है। चोरी के दण्ड के प्रसंग में गौतम का कथन है कि वर्ण के उत्कर्ष से विद्या का उत्कर्ष होता है और यदि उच्च वर्ण का व्यक्ति अपराध करता है, तो वह अधिक दण्ड का भागी होता है।[1]

वर्णधर्म की व्यवस्था करते हुए धर्मसूत्रों ने सभी वर्णों के सामान्य और विशिष्ट कर्मों का निर्देश किया है। जो सामान्य धर्म हैं उनका विवेचन आचार तथा नैतिक बोध के अध्यायों में किया जायगा। अनेक ऐसे नियम हैं जो तीन उच्च वर्णों के लिए सामान्य कहे गये हैं; जैसे यज्ञ करना और वेद का अध्ययन करना द्विजातियों का परम कर्त्तव्य है।[2] यहाँ धर्मसूत्रों में चार प्रमुख वर्णों तथा वर्णसंकर जातियों की सामाजिक स्थिति और उनके कर्मों पर प्रकाश डाला जायगा।

ब्राह्मण

सभी वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ण है। धर्मसूत्रों ने ब्राह्मण को विशेष महत्त्व दिया है। वस्तुतः, धर्मसूत्र की व्यवस्था ब्राह्मण के ही हाथों में है। सभी धर्मों का सञ्चालक ब्राह्मण ही है। एक ओर धर्मसूत्र जहाँ ब्राह्मण को सभी विशेषाधिकार देते हैं वहाँ दूसरी ओर उससे समाज में मानव के श्रेष्ठ आदर्श की भी अपेक्षा करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि धर्मसूत्र केवल ब्राह्मण को पूजा के स्थान पर आसीन करना चाहते हैं और विशेषाधिकारों से उसकी स्थिति सुदृढ करना चाहते हैं, प्रत्युत वे उसमें धर्म के आचरण का मूर्त्त रूप देखना चाहते हैं। सच तो यह है कि ब्राह्मण ही अपने गुणों से समाज का नेता और नियम-रक्षक माना गया है।

ब्राह्मण के छः कर्म धर्मसम्मत हैं, अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और कराना, दान देना और दान लेना। इनमें अध्ययन, यजन और दान सभी द्विजातियों के कर्म हैं और ब्राह्मण के लिए भी अनिवार्य कर्त्तव्य हैं। अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना ये ब्राह्मण के विशिष्ट कर्म हैं और इनमें ब्राह्मण ही अधिकारी होता है। ये

१- गौतमधर्मसूत्र के अनुसार शूद्र की अपेक्षा वैश्य को दुगुना, वैश्य की अपेक्षा क्षत्रिय को दुगुना और क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण को दुगुना अर्थदण्ड होना चाहिए।- द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम् । विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्।- गौ २।३।१३-१४

२- वि २।६ द्विजानां यजनाध्ययने।

तीनो कर्म ब्राह्मण की वृत्ति के लिए भी विहित हैं।[१] आपस्तम्ब ने धन के उत्तराधिकार और खेतों में अन्न के कण एकत्र करना भी ब्राह्मण का कर्म बताया है।[२]

ब्राह्मण की विशेष सामाजिक स्थिति

समाज में ब्राह्मण वर्ण को प्रधानता ब्राह्मणकाल में ही मिल चुकी थी। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण वर्ग को सर्वाधिक महत्त्व और सम्मान मिला है। तीन अन्य वर्णों के लिए धर्मसूत्र यह स्पष्ट आदेश देता है कि वे ब्राह्मण के निर्देश के अनुसार ही आचरण करें। ब्राह्मण ही धर्म का उपदेश करे।[३] यह भी कहा गया है कि वेदों के ज्ञान से सम्पन्न तीन या चार ब्राह्मण जो कुछ कहें वही धर्म समझना चाहिए।[४] ब्राह्मण की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहा गया है : 'देवता परोक्ष देवता होते हैं, किन्तु ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता होते हैं। ब्राह्मण ही लोकों को धारण करते हैं।[५] ब्राह्मणों की प्रसन्नता से ही देवता स्वर्ग में निवास करते हैं। ब्राह्मण द्वारा उक्त वाणी कभी विफल नहीं होती। ब्राह्मण प्रसन्न होकर मनुष्यों को जो भी आशीर्वाद देते हैं, उसे देवता पूरा करते हैं। जब प्रत्यक्ष देवता प्रसन्न हैं, तब अप्रत्यक्ष देवता अवश्य प्रसन्न होंगे।[६]

धर्मसूत्रों के काल तक पहुँचते-पहुँचते ब्राह्मण वर्ग ने सामाजिक व्यवस्थाओं पर भी पूर्ण आधिपत्य बना लिया है। पूर्ववर्ती वैदिक काल में वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि जैसे उदाहरणों में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण में जो कुछ प्रतिद्वन्द्विता-सी दिखायी

१- द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्। ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। पूर्वेषु नियमस्तु।
- गौ २।१।१-३ षट् कर्माणि ब्राणस्य। स्वाध्यायाध्ययनमध्यापनं यज्ञो यजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । - व २।१३-१४

२- स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं सिलोञ्छः।
- आप २।१०।५

३- त्रयो वर्णा ब्राह्मणस्य निर्देशेन वर्तेरन्। ब्राह्मणो धर्मान्प्रब्रूयात्।- व १।३६-४०

४- व ३।७

५- देवाः परोक्षदेवाः प्रत्यक्षदेवाः ब्राह्मणः।- वि १९।२०-२१

६- ब्राह्मणानां प्रसादेन दिवि तिष्ठन्ति देवताः।
ब्राह्मणाभिहितं वाक्यं न मिथ्या जायते क्वचित्।।
यद् ब्राह्मणाः तुष्टतमाः वदन्ति तद्देवताः प्रत्यभिनन्दयन्ति।
तुष्टेषु तुष्टाः सततं भवन्ति प्रत्यक्षदेवेषु परोक्षदेवाः।।- वि १९।२२-२३

पड़ती है वह इस काल में समाप्त हो गयी है और ब्राह्मणों की सांस्कृतिक विजय पूर्ण हो चुकी है। ब्राह्मण राजा की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। मार्ग में चलते समय राजा ब्राह्मण के लिए मार्ग छोड़ता था और ब्राह्मण के मार्ग में न होने पर वह मार्ग राजा का होता था।[1] गौतम ने यह स्पष्ट कहा है कि 'राजा सबका स्वामी होता है, किन्तु ब्राह्मण का नहीं।[2] वसिष्ठधर्मसूत्र में वेद का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि चूँकि ब्राह्मण राजा को दुर्भाग्य से बचाता है, इसलिए ब्राह्मण से राजा धन ग्रहण न करे। ब्राह्मण का राजा सोम है। जो राजा ब्राह्मण को पीडित करता है उसे मृत्यु के बाद नरक मिलता है।[3] राजा को भी यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि वह देवों और ब्राह्मणों की सतत पूजा करे।[4] गौतम ने राजा के लिए इस उपदेश का उद्धरण दिया है कि वह ब्राह्मण की प्रेरणा से कर्म करे। इससे वह समृद्धि प्राप्त करता है और कभी त्रस्त नहीं होता।[5] राजा के लिए यह परम कर्त्तव्य माना गया है कि वह ब्राह्मणों की रक्षा करे और देखे कि उसके राज्य में कोई ब्राह्मण भूखा तो नहीं है।[6] ब्राह्मण राजा को आशीर्वाद देता था और यही उसके सत्कार की विधि थी।

ब्राह्मण वर्ण ने धर्मसूत्र के काल में सभी क्षेत्रों में एकाधिपत्य बना लिया था। उसे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से अनेक विशेषाधिकार तथा पूर्ण संरक्षण प्राप्त हो गया था। वेद का अध्यापन करने और आचार्य बनने का अधिकारी केवल ब्राह्मण होता था।[7] ब्राह्मण का किसी प्रकार का तिरस्कार वर्जित था। ब्राह्मण उतना ही पवित्र और श्रद्धेय माना जाता था जितना अग्नि। इसी कारण धर्मसूत्र ब्राह्मण और अग्नि के बीच से गमन का निषेध करते हैं।[8] वेद का उद्धरण देते हुए वसिष्ठधर्म

१- राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनाऽसमेत्य। समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः।- आप २।११।५-६

२- राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्।-गौ २।२।१

३- व १।४२-४६ तुलना शतपथब्राह्मण, ११।५।७।१

४- देवब्राह्मणान्सततमेव पूजयेत्। -वि ३।७६

५- ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्त्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते।- गौ २।२।१४

६- न चास्यविषये ब्राह्मणाः क्षुधार्तोऽवसीदेत्। न चान्योऽपि सत्कर्मनिरतः।-वि ३। ७६-८०

७- ब्राह्मण आचार्यः स्मर्यते तु।- आप २।४।२५ समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः।- गौ १।७।३

८- अग्निं ब्राह्मणं चान्तरेण नाऽतिक्रामेत्।-आप ध सू २।१२।६, सत्या०२७।४।४२

सूत्र में ब्राह्मण को वैश्वानर अग्नि के समान माना गया है और कहा गया है कि उसी से वर्षा होती है और वर्षा से शान्ति।[१] ब्राह्मण को सभी प्रकार से पवित्र घोषित किया गया है और ऐसा इसलिए है कि उसके महान् कार्य स्वाध्याय में विघ्न न हो।[२] ब्राह्मण स्वयं पवित्र होने से अपवित्रता दूर करने का कारण होता है। म्लेच्छ आदि से भाषण करने पर जो अपवत्रिता उत्पन्न होती है वह किसी ब्राह्मण से भाषण करने पर दूर हो जाती है।[३] ब्राह्मण के कथनमात्र से पवित्रता का संचार हो जाता है। वह जिस वस्तु को पवित्र घोषित करे वह पवित्र मान ली जाती है।[४] वसिष्ठधर्मसूत्र में ब्राह्मण की पवित्रता के सन्दर्भ में कहा गया है - 'हीन व्यक्ति का यज्ञ कराने, अध्यापन करने, विवाह कराने तथा दान लेने से विद्वान् ब्राह्मण को पाप नहीं लगता, क्योंकि विद्वान् ब्राह्मण सूर्य और अग्नि के तुल्य होता है।[५]

सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मण को जो अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे उसी आधार पर वह अपने से नीचे की तीनो वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता था।[६] ब्राह्मण की रक्षा के लिए जो व्यक्ति प्राण गँवाता था उसकी मृत्यु के बाद स्नान करने से ही शुद्धि का विधान था।[७] गौ और ब्राह्मण के प्रति सम्मान के सम्बन्ध में धर्मसूत्रों में कई वाक्य आये हैं।

ब्राह्मण की पूज्यता के सन्दर्भ में ही आपस्तम्ब का निर्देश है कि अपने चरण से ब्राह्मण और गौ का स्पर्श न करे। कोई विशेष कारण न हो तो उनका हाथ से भी स्पर्श न करे।[८] विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि जिस दिन गौ या ब्राह्मण पर कोई

१- व ११।१३, तुलना- कठोपनिषद्, १।१।८
२- ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायनिवृत्त्यर्थम्।- गौ २।५।४४
३- गौ १।६।१६ ब्राह्मणेन वा सह संभाषेत।
४- वैखानसधर्मसूत्र १०।४
५- याजनाध्यापनाद्यौनात्तथैवासत्प्रतिग्रहात्।
विप्रेषु न भवेद्दोषो ज्वलनार्कसमो हि सः।।- व २७।६
६- बौ १।१६।२, वि २४।१-४
७- गोब्राह्मणहतानामन्वक्षम्।- गौ २।५।८
८- हस्तेन चाऽकारणात्। - आप १।३१।६

विपत्ति आ पड़ी हो उस दिन भोजन न करे।[१] संकटग्रस्त ब्राह्मण की प्राणरक्षा करने वाले के ब्रह्महत्या के भी पाप नष्ट हो जोते हैं।[२] जो व्यक्ति गाय, ब्राह्मण आदि की रक्षा करते हुए मारे जाते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[३] ब्राह्मण के धन की चोरों से रक्षा करने पर ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति होने की घोषणा की गयी है।[४] ब्राह्मण की पवित्रता के कारण ही धर्मसूत्रों में यह विधान किया गया है कि उसके द्वारा हाथ से स्पर्श किये गये स्थान पर विना जल छिड़के न बैठे।[५] संबन्धीरहित ब्राह्मण की मृत्यु पर उसके शव का अनुगमन करने को स्वर्ग का हेतु भी कहा गया है।[६] ये सभी उक्तियाँ ब्राह्मण की श्रेष्ठ और विशेष सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करती हैं।

अर्थ और दण्ड की व्यवस्था के अन्तर्गत भी धर्मसूत्रों ने ब्राह्मण वर्ण को अनेक विशेषाधिकार दिये हैं। बहुश्रुत, विद्वान्, सदाचारी ब्राह्मण को सामाजिक अवस्था में राजा की ओर से छः विशेषाधिकार प्राप्त थे अर्थात् वह वध, बन्धन, आर्थिक दण्ड, ग्राम से निष्कासन, अपमान और त्याग के योग्य नहीं होता था।[७] चाहे किसी भी प्रकार का अपराध क्यों न हो ब्राह्मण अवध्य होता था।[८] गौतमधर्मसूत्र में भी कहा गया है कि यदि ब्राह्मण अपना अपराध स्वीकार करते हुए दण्ड के लिए स्वयं राजा के पास आये तब भी उसे शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता और उसके लिए अपराध की घोषणा, देश-निष्कासन तथा शरीर पर विशेष चिह्न अंकित करना ही दण्ड होता था।[९] जिन अपराधों में दूसरे वर्ण के व्यक्ति को मृत्युदण्ड तक मिलता था उन अपराधों में भी ब्राह्मण को चिह्नांकित कर देश-निष्कासन मात्र दण्ड था। कुछ स्थितियों में ब्राह्मण पर

१- न गोब्राह्मणोपरागेऽश्नीयात्।-वि ६८।४

२- प्राणलाभे वा तन्निमित्ते ब्राह्मणस्य।- गौ ३।४।७

३- गोब्राह्मणनृपमित्रधनदारजीवितरक्षणाद्ये हतास्ते स्वर्गलोकभाजः।- वि ३।४५

४- द्रव्यापचये त्र्यवरं प्रतिरात्रम्।- गौ ३।४।८

५- पाणिसमूढं ब्राह्मणस्य नाऽप्रोक्षितमभितिष्ठेत्।- आप २।१२।५

६- वि १९।५ ब्राह्मणमनाथं ये ब्राह्मणा निर्हरन्ति ते स्वर्गलोकभाजः।

७- अवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति।- गौ १।८।१३

८- अवध्यो वै ब्राह्मणस्सर्वापराधेषु।- बौ १।१८।१७

९- न शारीरो ब्राह्मणदण्डः। कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्करणानि।- गौ २।३।४३-४४

पर आर्थिक दण्ड लगाये जाते थे।[1] उसे धर्म पर ले आने के लिए राजा उपवास कराता था, किन्तु वध और दास कर्म नहीं।[2] वसिष्ठ के अनुसार यदि ब्राह्मण अधर्मी हो तो उस गाँव के लोगों को ही दण्ड दिया जाता था जहाँ वह भिक्षाटन द्वारा जीविकानिर्वाह करता हो।[3]

ब्राह्मण के प्रति दूसरे वर्णों द्वारा किये गये लघु अपराधों के लिए भी दण्ड की व्यवस्था की गयी है।[4] ब्राह्मण के ऊपर हाथ उठाने वाला सौ वर्ष तक स्वर्ग से बहिष्कृत हो जाता है, मार देनेवाला सहस्र वर्षों तक और रक्त निकालने वाला उतने ही वर्षों तक स्वर्ग से वञ्चित होता है जितने रजकण रक्त से रंजित होकर एक साथ मिल जाते हैं।[5] ब्राह्मण पर कोई दोषारोपण करने वाला स्वयं ही उस दोष का भागी हो जाता है।[6] न्यायव्यवहार में भी ब्राह्मण अब्राह्मण के कहने पर साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकता था।[7]

ब्राह्मण से किसी प्रकार का कर लेना वर्जित था। वह अपने धर्मकार्य का षष्ठांश राजा को पुण्यफल के रूप में देता है।[8] धर्मसूत्रों की व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण की सम्पत्ति सुरक्षित थी। यदि कोई दूसरा व्यक्ति ब्राह्मण की सम्पत्ति का अपहरण करता तो वह सम्पत्ति विष हो जाती थी। बौधायन स्पष्ट निषेध करते हैं कि राजा ब्राह्मण का

१- गौ १।१८।१८, वि ५।२-८,जीवन भर आँखों पर पट्ट बाँधना भी ब्राह्मण के लिए दण्ड था।- आप २।२७।१७
ब्राह्मण के लिए आर्थिक दण्ड भी होते थे, यथा 'ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पञ्चाशत्। तदर्धं वैश्ये। न शूद्रे किञ्चित्।- गौ २।३।८-१०

२- बलविशेषेण वधदास्यवर्जं नियमैरुपशोषयेत्।- आप २।१०।१७

३- अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः।।- व ३।४

४- वि ५।६८-१००

५- अभिक्रुद्धावगोरणं ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम्। निघाते सहस्रम्। लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णीयात्।- गौ ३।३।२०-२३

६- ब्राह्मणाभिशंसने दोषस्तावान् द्विरनेनसि।-गौ २।४।४

७- ब्राह्मणस्त्वब्राह्मणवचनादनवरोध्योऽनिबद्धश्चेत्।-गौ २।४।४

८- व १।४३-४४, वि ३।२६-२७, आप २।१६।१० अकरः श्रोत्रियः।

धन कदापि न ग्रहण करे। ब्राह्मण का धन परम विष होता है।[१] ब्राह्मण की सम्पत्ति का अपहरण सुवर्ण की चोरी के तुल्य जघन्य अपराध माना गया है।[२] उत्तराधिकारी के अभाव में ब्राह्मण की सम्पत्ति विद्वान् ब्राह्मण ही ले सकता था, अन्य नहीं।[३] प्राप्त हुए धन का भी पूर्ण अधिकारी ब्राह्मण ही होता था।[४] विष्णुधर्मसूत्र राजा को यह आदेश देता है कि वह ब्राह्मणों को सभी प्रकार का दान दे और भूमि का दान देकर उसे ताम्रपत्र पर अंकित कराये।[५]

राजा के पुरोहित के रूप में ब्राह्मण राज्यव्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका ग्रहण करता था। राजा न्यायाधीश के रूप में विद्वान् ब्राह्मण की नियुक्ति करता था अथवा उसकी सहायता से स्वयं निर्णय करता था।[६] वसिष्ठधर्मसूत्र में वेद से उद्धरण देते हुए कहा गया है कि जिस राज्य में ब्राह्मण को पुरोहित नियुक्त किया गया हो, वहीं समृद्धि होती है।[७] गौतम ने भी श्रेष्ठ गुण वाले ब्राह्मण को पुरोहित नियुक्त करने का विधान किया है[८] और बौधायन ने राजा को यह निर्देश दिया है कि वह ब्राह्मण के अभिमतानुसार कार्य करे।[९]

१- न त्वेव कदाचित्स्वयं राजा ब्राह्मणस्वमाददीत। अथाप्युदाहरन्ति-
ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रघ्नं विषमेकाकिनं हरेत्।
न विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।।
तस्माद्राजा ब्राह्मणस्वं नाऽऽदीत कदाचन।
परमं ह्येतद् विषं यद् ब्राह्मणस्वमिति।- बौ १।११।१३,१४ तथा व १७।८४-८६

२- वि ३६।३

३- श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्।- गौ ३।१०।३६
द्र० व १७।८७, वि १७।१४

४- ब्राह्मणस्याभिरूपस्य।- गौ २।१।४४, द्र० वि ३।५८ एवं व ३।१४

५- वि ३।८१-८४

६- वि ३।७२-७३

७- विज्ञायते। ब्रह्मपुरोहितं राष्ट्रमृध्नोतीति।- व १९।४

८- ब्राह्मणं च पुरोदधीत विद्याभिजनवागरूपवयः शीलसम्पन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्।
- गौ २।२।१२

९- तस्य शासने वर्तेत।- बौ १।१८।८

ब्राह्मण के गुण

धर्मसूत्रों के समाज में ब्राह्मण को जो विशेषाधिकार और सम्मान प्राप्त था वह अकारण नहीं था। वह ब्राह्मण वर्ग द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए स्वार्थवश या चालाकी से प्रचारित की गयी नियम-व्यवस्था का भी परिणाम नहीं था, अपितु उसके पीछे उसकी असाधारण योग्यता, बौद्धिक क्षमता, चारित्रिक गुण और आध्यात्मिक उत्कर्ष ही कारण था। धर्मसूत्रों में अनेक स्थलों पर ब्राह्मण के गुणों का उल्लेख किया गया है और जहाँ भी ब्राह्मण के सम्मान का विधान है वहाँ उसके गुणों और विद्वत्ता पर भी बल दिया गया है। ब्राह्मण धार्मिक विषयों का नेता और प्रमाण माना गया है।[१]

विद्वत्ता ब्राह्मण की पहली योग्यता है। वसिष्ठधर्मसूत्र के शब्दों में 'वे ही ब्राह्मण पाप से रक्षा कर सकते हैं जो रागरहित हैं, धीर तथा तपस्वी हैं, जिनके कान वेदवचन से पवित्र हैं, जिन्होंने ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को वश में किया है, जो प्राणियों को आघात नहीं पहुँचाते और दान दिये ज़ाने के समय हाथ बन्द कर लेते हैं।[२] संक्षेप में, ब्राह्मण वह है जो सभी नैतिक और आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न है। ब्राह्मण का जितना भी सम्मान विहित है वह उसकी विद्या के कारण ही है। विद्याहीन ब्राह्मण की उपेक्षा करने का धर्मसूत्र स्पष्ट निर्देश देते हैं कि 'मूर्ख, मन्त्रों के ज्ञान से शून्य ब्राह्मण की उपेक्षा करने में कोई दोष नहीं होता, क्योंकि यज्ञ में जलती हुई अग्नि को छोड़कर भस्म में हवन नहीं किया जाता।[३] आपस्तम्ब भी वेदज्ञानरहित ब्राह्मण के आगमन पर उठकर सम्मान करने का निषेध करते हैं।[४]

स्वधर्म के पालन और उत्तम आचरण के आधार पर भी ब्राह्मण सम्मान या असम्मान का अधिकारी होता था। धर्मसूत्र के अनुसार 'जो ब्राह्मण सदैव कमण्डलु में

१- धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः।
क्रीडार्थमपि यत् ब्रूयुस्स धर्म परमः स्मृतः।।- बौ १।१।१४

२- ये शान्तदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णाः जितेन्द्रियाः प्राणिवधान्निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिताग्रहस्तास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः।।- व ६।२५

३- ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खो मन्त्रविवर्जिते।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य न हि भस्मनि हूयते ॥ -बौ १।१०।२८, तु० व ३।६-११

४- ब्राह्मणायाऽनधीयानायासनमुदकमन्नमिति देयं न प्रत्युतिष्ठेत्।- आप २।४।१६

जल लेकर चलता है, जो यज्ञोपवीत धारण करता है, प्रतिदिन वेदमन्त्रों का उच्चारण करता है, अजाति का भोजन नहीं करता, जो ऋतुकाल में पत्नीगमन करता है और नियमों के अनुसार यज्ञ करता है वह ब्रह्मलोक से कभी च्युत नहीं होता।[१] किन्तु इसके विपरीत गो आदि पशुओं के रक्षक, व्यापार करने वाले, सन्देशवाहक, भृत्यों का कार्य करनेवाले तथा सूदखोर ब्राह्मण को शूद्र के समान मानकर व्यवहार करने का नियम भी है।[२]

श्राद्धकालीन ब्राह्मणभोजन के प्रसंग में प्रायः सभी धर्मसूत्रों में ब्राह्मण के गुणों पर विस्तार से विचार किया गया है। इन गुणों में न केवल नैतिक आचारसम्बन्धी एवं बौद्धिक उत्कर्ष के गुण हैं अपितु शारीरिक निर्दोषता, सुरूपता और स्वास्थ्य के गुणों का भी समावेश किया गया है। यहाँ धर्मसूत्रों के कतिपय नियमों से यह स्पष्ट हो जायगा। गौतम के अनुसार वेदज्ञ, सुशिक्षित, शुद्ध वाणी वाले, रूपसम्पन्न, वयस्क एवं शीलवान् ब्राह्मणों को भोजन कराये।[३] आपस्तम्ब के अनुसार उत्तम आचरण वाले, वेदों के विद्वान्, पवित्र मन्त्र के ज्ञाता, त्रिमधु आदि को जानने वाले वेदाङ्ग के विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन कराये।[४] ऐसे ब्राह्मणों को पंक्तिपावन कहा गया है, अर्थात् ये श्राद्ध में पंक्ति को पवित्र करते हैं। विष्णुधर्मसूत्र में तपस्वी, सत्यवादी, मन्त्रों के जप से पवित्र ब्राह्मण की भी पंक्तिपावन के अन्तर्गत गणना की गयी है।[५] जिन ब्राह्मणों के कुल में परम्परा से वेदाध्ययन होता हो वे पवित्र करने वाले होते हैं।[६]

१- नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
ऋतौ च गच्छन्विधिवच्च जुह्वन् न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्।।- व ८।१७

२- गोरक्षकान् वणिजकान् तथा कारुकुशीलकान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत्।।- बौ १।१०।२५

३- श्रोत्रियान्वाग्रूपवयःशीलसंपन्नान्।- गौ २।६।६

४- पंक्तिपावनः षडङ्गविज्ज्येष्ठसामिकस्त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निः स्नातको मन्त्रब्राह्मणविद्धर्मज्ञो ब्रह्मदेयानुसन्तान इति।- गौ २।६।२८, आप २।१७।२२, बौ २।१४।२, व ३।१९, वि ३।१-१२, सत्या० २७।५।५०

५- वि ८३।१०-१२

६- आप २।१७।२२ त्रिमधुस्त्रिसुपर्णस्त्रिणाचिकेतश्चतुर्मेधःपञ्चाग्निर्ज्येष्ठसामिको वेदाध्याय्यनूचानपुत्रः श्रोत्रिय इत्येते श्राद्धे भुञ्जानाः पंक्तिपावनाः भवन्ति।- द्र० वि ८३।१३-१४

इसके विपरीत, चोर, निःसन्तान, ब्रह्महत्या के पापी, अध्ययनहीन, नास्तिक, अग्नि का परित्याग करने वाले, सुरापी, दुराचारी, झूठी गवाही देने वाले ब्राह्मण को भोजन न कराने का विधान किया गया है।[१] इस प्रकार सदाचारी ब्राह्मण को ही भोजन कराने का निर्देश है। आपस्तम्ब का भी कथन है कि सभी स्मार्त्त, गृह्य, श्रौत कर्मों के अवसर पर पवित्र, वेदज्ञ तथा उत्तम गुण-सम्पन्न ब्राह्मणों को भोजन कराये।[२] वसिष्ठधर्मसूत्र में भी स्वधर्मपालनरत और शारीरिक दोष से शून्य ब्राह्मण को ही आमन्त्रित करने के लिए कहा गया है। कुष्ठ रोगी, नपुंसक, अन्धे, काले दाँतों वाले, बुरे नखों वाले ब्राह्मणों का वर्जन किया गया है। विष्णुधर्मसूत्र में भी ब्राह्मणों के दुर्गुणों का विस्तरेण उल्लेख किया गया है। कहा गया है 'हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग, वेदविहितकर्म से भिन्न कर्म करने वाले, बिल्लियों की तरह धूर्ततापूर्ण व्यवहार करने वाले, विना अधिकार किसी आश्रम का चिह्न धारण करने वाले, ज्योतिषी, मन्दिर के पुजारी, चिकित्सक, अविवाहिता स्त्री के पुत्र, अनेक लोगों, ग्राम या शूद्र के लिए यज्ञ कराने वाले, अनुपनीत व्रात्यों के लिए यज्ञ कराने वाले, चुगलखोर, वेतन लेकर वेदाध्यापन करने वाले एवं कराने वाले, शूद्र द्वारा दिये गये अन्न से जीविकानिर्वाह करने वाले, पतित से सम्पर्क करने वाले, स्वाध्याय की उपेक्षा करने वाले, सन्ध्योपासना न करने वाले, राजा की सेवा करने वाले, नग्न रहने वाले, पिता से कलह करने वाले, माता-पिता, गुरु, अग्नि और स्वाध्याय का त्याग करने वाले ब्राह्मणों को श्राद्ध में आमन्त्रित न करे।[३]

उपर्युक्त सद्गुणों से सम्पन्न और दुर्गुणों से हीन ब्राह्मण का जो स्वरूप उपस्थित होता है वह निश्चय ही भारतीय आर्यजीवन का एक आदर्श होगा और ऐसे ब्राह्मण को समाज में सर्वोच्च स्थान तथा सभी विषयों में विशेषाधिकार उपलब्ध हों तो आश्चर्य और आपत्ति नहीं हो सकती। इन गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण समाज के श्रेष्ठ अंग होते थे और उनकी किसी भी प्रकार की हिंसा को धर्मसूत्र घोर पाप ठहराते हैं। आगे

१- गौ २।६।१५

२- शुचीन्मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्।- आप २।१५।११

३- श्वित्रश्शिपिविष्टः परतल्पगाम्यायुधीयपुत्रश्शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यामित्येते श्राद्धे पंक्तिदूषणाः भवन्ति। आप २।१७।२१,द्र० व ११।१८

के उद्धरणों से इस पर पूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

ब्राह्मण की हिंसा का पाप

ब्राह्मण की हत्या को धर्मसूत्रों में सबसे बड़ा पाप बताया गया है। ब्रह्महा की दृष्टि से ही भोजन अपवित्र हो जाता है।[१] उसके लिए अग्नि में कूदकर, युद्ध में योद्धाओं का लक्ष्य बनकर अथवा जीवनपर्यन्त कठोर व्रत करने का प्रायश्चित्त विहित है। ऐसे व्यक्ति की प्रायश्चित्त करने पर भी इस लोक में शुद्धि नहीं होती, मृत्यु के बाद ही पाप दूर होता है।[२] जानबूझ कर ब्राह्मणवध करने वाले की पाप से मुक्ति संभव नहीं होती।[३] इसके साथ ही अश्वमेधयज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करने से पाप दूर होने का उल्लेख है।[४] ब्राह्मण की हत्या का प्रयत्न करने पर भी गौतमधर्मसूत्र में वही प्रायश्चित्त विहित है जो हत्या करने पर, किन्तु बौधायन ने अस्त्र उठाने पर कृच्छ्र व्रत, मारने पर अतिकृच्छ्र और रक्त निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र का विधान किया है, जिससे विष्णुधर्मसूत्र भी सहमत है।[५]

ब्राह्मणपत्नी की हत्या का प्रायश्चित्त भी गौतम के अनुसार ब्राह्मणहत्या के तुल्य है। विशेषतः आत्रेयी (मासिकधर्म के बाद स्नान करने वाली ब्राह्मणपत्नी) का वध अधिक पापयुक्त माना गया है।[६] इसका कारण उसका पति से संबन्ध होने पर

१- भ्रूणघ्नाऽवेक्षितम्।- गौ २।८।११

२- प्रथमं वर्णं परिहाप्य प्रथमं वर्णं हत्वा संग्रामे गत्वाऽवतिष्ठेत तत्रैनं हन्युः। अपि वा लोमानि त्वचं मांसमिति हावयित्वा अग्निं प्रविशेत्।- आप १।२५।१२-१३ द्र० आप १।२८।२१
अथ भ्रूणहा श्वाजिनं खराजिनं वा बहिर्लोम परिधाप्य पुरुषशिरः प्रतीपानार्थमादाय।
द्र० सत्या० २६।६।६०-६६, व २३।३८

३- बौ २।१।६अमत्या ब्राह्मणं हत्वा दुष्टो भवति धर्मतः। ऋषयो निष्कृतिं तस्य वदन्त्यमतिपूर्वके। मतिपूर्वं घ्नतस्तस्य निष्कृतिर्नोपलभ्यते।।

४- गौ ३।४।१० अन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत्।-द्र० सत्या० २६।६।७०

५- सृष्टश्चेत् ब्राह्मणवधेऽहत्वाऽपि।- गौ ३।४।११
अपगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने। कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव लोहितस्य प्रवर्त्तने।।
तस्मान्नैवाऽपगुरेत न च कुर्वीत शोणितमिति॥ - बौ २।१।७, वि ५४।३० भी।

६- आत्रेय्याश्चैवम्।- गौ ३।४।१२

पुत्रोत्पत्ति के योग्य होना है। बौधायन ऐसी स्त्री के वध का पाप ब्राह्मण वध के पाप के समान मानते हैं।[१] वसिष्ठधर्मसूत्र अनात्रेयी के वध का प्रायश्चित्त क्षत्रिय वध के समान बताता है।[२] ब्राह्मण के गर्भ का नाश भी ब्राह्मणवध-तुल्य पाप कहा गया है और ऐसे पापी को भी भ्रूणहा माना गया है।[३] भ्रूणहा के लिए यह प्रायश्चित्त विहित है कि वह राजा या ब्राह्मण के लिए युद्ध करते हुए मृत्यु प्राप्त करे, अथवा अग्नि में अपने शरीर के अङ्गों की आहुति करे।[४]

ब्राह्मण के सुवर्ण की चोरी को भी चार घोर पातकों के अन्तर्गत गिनाया गया है।[५] ऐसा पापी हाथ में मूसल लिये हुए राजा के समीप जाकर अपने पाप की घोषणा करता था। यदि राजा उस पर मूसल से प्रहार कर उसे मृत्यु को पहुँचा देता था तो उसकी पाप से शुद्धि मानी जाती थी।[६] वसिष्ठ ने इस पाप के लिए आत्मदाह द्वारा मृत्यु का वरण करना प्रायश्चित्त भी विहित किया है।[७] यहाँ तक कि किसी ब्राह्मण की पत्नी, अन्न या धन की प्राप्ति में विघ्न बनने पर एक वर्ष के सामान्य ब्रह्मचर्य का प्रायश्चित्त विहित किया गया है[८] और उस पर पाप का आरोप करने पर भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है,[९] बौधायनधर्मसूत्र में राजा को यह निर्देश दिया गया है कि यदि क्षत्रिय आदि वर्ण का व्यक्ति ब्राह्मण का वध करे तो राजा उस अपराधी को मृत्युदण्ड

१- बौ २।१। ११ ब्राह्मणवदात्रेय्याः।

२- अनात्रेयीं राजन्यहिंसायाम्।- व २०।३७

३- गर्भे चाविज्ञाते।-गौ ३।४।१३

४- व २०।२३-२८

५- गौ ३।३।१ द्र० हरदत्त की टीका- स्तेनः ब्राह्मणसुवर्णापहारी।

६- स्तेनः प्रकीर्णकेशोऽंसे मुसलमादाय राजानं गत्वाकर्माऽऽचक्षीत। तेनैनं हन्याद्वधे मोक्षः। - आप १।२५।४, द्र० व २०।४१ ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रकीर्य केशान् राजानमभिधावेत् स्तेनोऽस्मि भो शास्तु मां भवानिति तस्मै राजोदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनात्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते।

७- व २०।४२ निष्कालको वा घृताक्तौ गोमयाग्निनापादप्रभृत्यात्मानमभिदाहयेन्मरणात् पूतो भवतीति विज्ञायते।

८- तल्पान्नधनलाभवधेषु पृथग्वर्षाणि।- गौ ३।४।२८

९- ब्राह्मणमनृतेनाभिशंस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा मासमब्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेत्।- व २३।३६

देकर उसकी सम्पत्ति का हरण कर ले।[१] आपस्तम्ब के अनुसार वर्णमात्र से ब्राह्मण पुरुष की या ब्राह्मण के गर्भ की हत्या करने वाला अभिशस्त होता है।[२]

क्षत्रिय वर्ण के कर्म

क्षत्रिय के यज्ञ, अध्ययन और दान के अतिरिक्त प्राणियों की रक्षा का कार्य भी विशिष्ट रूप से विहित है।[३] बौधायन के अनुसार ब्रह्म ने क्षत्रिय में बल का आधान किया और राज्यशक्ति की वृद्धि के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रधारण करना, धन की तथा प्राणियों के जीवन की रक्षा करना उनके कर्त्तव्य उसके साथ अन्वित कर दिये।[४] आपस्तम्ब भी क्षत्रिय के लिए दण्ड देना और युद्ध करना अधिक एवं विशिष्ट कर्म बताते हैं।[५] शस्त्र धारण करना क्षत्रिय का नित्य कर्म है, क्योंकि उसी से वह लोगों की रक्षा करता है और जीविका निर्वाह करता है।[६]

धर्मसूत्रों के समाज में क्षत्रिय की स्थिति ब्राह्मण के बाद ही थी। उसकी तीन पत्नियाँ हो सकती थीं और उसके लिए आसुर तथा राक्षस विवाह भी धर्मानुकूल समझे जाते थे।[७] यदि क्षत्रिय कोई धन प्राप्त करता था तो उसके आधे भाग का ही अधिकारी होता था।[८] वह यदि किसी ब्राह्मण को कठोर वचन कहता था तो आर्थिक दण्ड का भागी होता था।[९] क्षत्रिय की हत्या का दण्ड और प्रायश्चित्त भी ब्राह्मणवध की अपेक्षा बहुत कम था। एक सहस्र गौ और एक साँड़ राजा को देने, छः वर्ष तक सामान्य ब्रह्मचर्य का

१- क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवधे वधस्सर्वस्वहरणं च।- बौ १।१८।१६

२- ब्राह्मणमात्रं च। गर्भं च तस्याविज्ञातम्।- आप १।२४।७-८

३- राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्।- गौ २।१।७, सत्या०२७।४-६

४- क्षत्रे बलमध्ययन-यजन-दान-शस्त्र-कोशभूतरक्षणसंयुक्तं क्षत्रस्य वृद्ध्यै।- बौ १।१८।३

५- एतान्येव क्षत्रियस्याऽध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाप्य दण्डयुद्धाधिकानि।
-आप २।१०।७

६- शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत्।- व २।१५-१७, द्र० वि ३।६एवं२।१२

७- बौ १।२०।१२

८- वि ३।५६ क्षत्रियश्चतुर्थमंशं राज्ञेऽपरं चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्योऽर्थमादद्यात्।

९- शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे।- गौ २।३।६

पालन करने अथवा नौ वर्ष तक प्रायश्चित्त करने से ही यह पाप दूर हो जाता था।[१] क्षत्रिय वर्ण की स्त्री के वध हेतु आपस्तम्ब ने क्षत्रिय पुरुष के समान और वसिष्ठ ने वैश्य पुरुष के समान प्रायश्चित्त विहित किया है।[२]

क्षत्रिय अथवा राजन्य वर्ण को धर्मसूत्रों के समाज में अध्यापन आदि का अधिकार नहीं था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आपत्तिकाल में क्षत्रिय से भी विद्या ग्रहण की जा सकता थी, क्योंकि धर्मसूत्र में ब्राह्मण के लिए अपने से हीन वर्ण के गुरु के प्रति आचार बताये गये हैं।[३] क्षत्रिय की सबसे प्रमुख भूमिका राज्यव्यवस्था में होती थी। राजा, उसकी सेना के अधिकारी, सैनिक, गुप्तचर और अन्य कर्मचारी राजन्य वर्ण के ही होते थे। इस प्रकार राज्य-व्यवस्था ब्रह्म और क्षत्र के ऊपर ही आधारित थी।[४] ब्रह्म जहाँ नीतियों एवं सिद्धान्तों का प्रवर्तक और उपदेष्टा था, वहाँ क्षत्रिय उन नीतियों को व्यावहारिक रूप देने का कार्य करता था। धर्मसूत्र-काल से पहले ब्राह्मण और उपनिषद् युग में क्षत्रिय वर्ण के लोग भी ब्राह्मणों के समान दार्शनिक तत्त्वों के चिन्तन में प्रामाणिक अधिकारी माने जाते थे किन्तु धर्मसूत्रकाल में चिन्तन और ज्ञानार्जन के क्षेत्र में क्षत्रिय की रुचि समाप्त दिखायी पड़ती है। दूसरी ओर कृषि और व्यापार की ओर भी उसकी प्रवृत्ति होने का प्रमाण प्रायः नहीं मिलता। यह वर्ग केवल अपने वर्ण के कर्मों से जीवन-निर्वाह कर सन्तुष्ट था और उसकी सामाजिक स्थिति सामान्य थी।

वैश्य वर्ण

वैश्य समाज की अर्थ-व्यवस्था एवं अन्नादि वस्तुओं के उत्पादन में प्रधान भूमिका का निर्वाह करने वाला वर्ग था। धर्मसूत्रों में वैश्य के सामान्य कर्म वही माने गये हैं जो क्षत्रिय के, अर्थात् अध्ययन, यजन और दान। किन्तु इसके विशिष्ट कर्म कृषि,

---

१- गौ ३।४।१४ राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गां दद्यात्।
बौ १।१६।१ क्षत्रियवधे गोसहस्रमृषभैकाधिकं राज्ञ उत्सृजेद्वैरनिर्यातनाम्।-
द्र० बौ २।१।८, आप १।२४।१ क्षत्रियं हत्वा गवां सहस्रं वैरयातनार्थं दद्यात्।

२- स्त्रीषु चैतेषामेवम्।-आप १।२४।५, व २०।३८

३- आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः।- गौ १।७।१-२

४- ब्रह्म क्षत्रेण संपृक्तं देवपितृमनुष्यान्धारयतीति विज्ञायते।- गौ २।२।२७

पशुपालन और व्यापार हैं तथा इस वर्ण के लिए दण्ड देने एवं युद्ध करने का कर्म निषिद्ध हैं।[1] वसिष्ठधर्मसूत्र में ब्याज पर धन देना तथा विष्णुधर्मसूत्र में अन्न के बीजों को सुरक्षित रखना भी वैश्य का कर्म बताया गया है।[2] गौतम ने वैश्य के लिए भी अपने से उच्च क्षत्रिय एवं ब्राह्मण वर्णों की सेवा का विधान किया है।[3]

सामाजिक दृष्टि से वैश्य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद था और उसका महत्त्व इस कारण था कि वह सभी वर्गों के लिए अन्न उत्पन्न करता था, आवश्यकता की वस्तुएँ उपलब्ध कराता था और राजा को भी सबसे अधिक कर देता था। वैश्य सबसे धनी वर्ग का होता था और धर्मकार्य में अत्यधिक सहायक था। वैश्य की दो पत्नियाँ हो सकती थीं- एक अपने वर्ण की और दूसरी शूद्र वर्ण की। बौधायन[4] ने वैश्य और शूद्र की पत्नियों में नियम पालन का अभाव बताया है। इसका कारण यह है कि इस वर्ण के पुरुष कृषि, व्यापार और सेवा कर्म में लगे होने के कारण अपनी पत्नियों से दूर रहते थे और उनकी स्त्रियों के विषय में नियम नहीं रह जाता था।

आर्थिक दृष्टि से भी वैश्य के अधिकार ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद और उनकी अपेक्षा कम थे। वैश्य को प्राप्त धन में चतुर्थांश का ही अधिकार होता था।[5] वैश्य की हत्या का प्रायश्चित्त भी बहुत कम था। सौ गायें और एक साँड़ का दान कर देने, तीन वर्ष तक व्रत पालन करने से यह पाप दूर हो जाता है ऐसी धर्मसूत्रों की मान्यता दिखायी पड़ती है।[6] वसिष्ठ ने वैश्य वर्ण की स्त्री के वध का प्रायश्चित्त शूद्र वर्ण के पुरुष की हत्या के समान माना है।[7] ब्राह्मण काल में ही वैश्यों की सामाजिक स्थिति

१- विट्स्वध्ययनयजनदानकृषिवाणिज्यपशुपालनसंयुक्तं कर्मणां वृद्धये।- बौ १।१८।४
क्षत्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवणिज्याधिकम्।- आप २।१०।८

२- कृषि वाणिज्यं पाशुपाल्यं कुसीदं च।- व २।१६, द्र० वि २।१३, २।७, सत्या०२७।४।७

३- सर्वे चोत्तरोत्तरं परिचरेयुः।- गौ २।१।६८

४- अनियन्त्रितकलत्रा हि वैश्यशूद्रा भवन्ति कर्षणशुश्रूषाधिकृतत्वात्।- बौ १।२०।१४-१५

५- वि ३०।६

६- वैश्ये तु त्रैवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात्।- गौ ३।४।१५, बौ २।१।६, १।१६।२, आप १।२४।२ शतं वैश्ये।

७- वैश्यां शूद्रहिंसायाम्।- व २०।३६

का पर्याप्त ह्रास हो चुका था। उसे 'यथाकामजेयः' माना गया था। धर्मसूत्र काल में भी प्रायः यही स्थिति थी और यह वर्ग अपनी परम्परागत जीविका तक ही सीमित था।

शूद्र की हीन स्थिति

धर्मसूत्रों में शूद्र की स्थिति ब्राह्मण काल की अपेक्षा भी अधिक निकृष्ट हो गयी है। समाज में वह हीनतम वर्ग है और उसका प्रधान कर्म उच्च वर्णों की सेवा है। यही उसकी जीविका का साधन है। उसे उच्च वर्ण के लोगों द्वारा दिये गये पुराने जूते, छाते, वस्त्र और चटाई का उपयोग करना होता था और उनके उच्छिष्ट का भक्षण करना होता था।[१] वह शिल्पवृत्ति द्वारा भी जीविका-निर्वाह करता था।[२] वैखानसधर्मसूत्र में शूद्र के लिए कृषि कर्म भी विहित है,[३] जो किसी अन्य धर्मसूत्र में नहीं दिखायी पड़ता।

धार्मिक दृष्टि से धर्मसूत्रों में शूद्र की स्थिति अत्यन्त हीन है। उसे एकजाति[४] कहकर द्विजाति या तीन उच्च वर्णों से पृथक् किया गया है। वह एकजाति इस कारण कहा गया है कि उसका उपनयन विहित नहीं है, जिसके द्वारा अन्य उच्च वर्णों का द्विजातित्व सिद्ध होता है।[५] शूद्र के लिए गौतम ने अनार्य शब्द का भी प्रयोग किया है और इस प्रकार उसे आर्यों से पृथक् करने का प्रयास किया है।[६] शूद्र के जितने कर्म होते हैं वे मन्त्रहीन होते हैं। इसका कारण वसिष्ठधर्मसूत्र में यह दिया गया है कि ब्रह्मा ने उसकी उत्पत्ति किसी छन्द के द्वारा नहीं की, जबकि तीन उच्च वर्णों की सृष्टि क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों द्वारा की।[७] इसी धर्मसूत्र में शूद्र को अनेक

१- गौ २।५।५७-६१, बौ १।१८।५-६, शूद्रेषु पूर्वेषां परिचर्या यतो ह्यसृज्यन्तेति। आप १।१।७ शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्। तुलना- व २।२०, वि २।८

२- शिलपवृत्तिश्च। -गौ २।१।६२, द्र० वि २।१४

३- वैखानसधर्मसूत्र ८।१

४- शूद्रश्चतुर्थो वर्णः एकजातिः।- गौ २।१।५१

५- त्रैवर्णिका इति सिद्धत्वादेकजातिरुपायनं पूर्वेषां द्वितीयं जन्म तदस्य नास्तीति।- गौ २।१।५१

६- आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यम्।- गौ २।१।६६

७- गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते।- व ४।३

दुर्गुणों से संयुक्त बताते हुए कहा गया है : 'स्वार्थ, ईर्ष्या, असत्यभाषण, ब्राह्मण की निन्दा, चुगलखोरी और क्रूरता शूद्र के लक्षण हैं।'[1] इस प्रकार शूद्र बुराइयों का मूर्त्त रूप-सा मान लिया गया है और धर्मसूत्र ब्राह्मण को जो महान् उदात्त रूप प्रदान करते हैं उसके ठीक विरोध में शूद्र अत्यन्त अधम अस्तित्व का प्रतिनिधि बन गया है।

वेदाध्ययन की दृष्टि से शूद्र सभी प्रकार से हीन था। उसे श्मशान-तुल्य कहा गया है और उसकी उपस्थिति में वेदाध्ययन का वर्जन किया गया है।[2] आपस्तम्ब की उक्ति है : 'शूद्र और पतित व्यक्ति श्मशान के तुल्य होते हैं, अतः उनके समीप उसी प्रकार वेदाध्ययन वर्जित है, जिस प्रकार श्मशानभूमि में। बौधायन के अनुसार तो शूद्र की ध्वनि सुनायी पड़ने पर भी अनध्याय होना चाहिए।[3] वसिष्ठधर्मसूत्र में यम के नाम से एक पद्य का उद्धरण देते हुए शूद्र को उपदेश देने, देवों के हवन से अवशिष्ट हवि देने का भी निषेध किया गया है।[4] कुछ स्थितियों में शूद्रों से वार्तालाप भी निषिद्ध है।[5]

मन्त्रप्रयोग और वेदाध्ययन से कठोरतापूर्वक पूर्णतः बहिष्कृत होने के साथ-साथ धर्मसूत्रों के समाज में शूद्र धार्मिक क्रियाओं का भी अधिकारी नहीं था। शूद्र को धर्म का उपदेश देना भी नरक का कारण माना गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र में एक उद्धरण देकर कहा गया है कि 'जो व्यक्ति शूद्र को उपदेश देता है और जो उसे पाप-शुद्धि का नियम बताता है, वह उस शूद्र के साथ ही असंवृत्त-नरक को जाता है।[6]

१- दीर्घवैरमसूया चासत्यं ब्राह्मणदूषणम्।
पैशुन्यं निर्दयत्वं च जानीयाच्छूद्रलक्षणम्।। - आप १।६।६, व ध सू ६।२४

२- श्मशानवच्छूद्रपतितौ- आप १।६।६ पूतिगन्धान्तःशवदिवाकीर्त्यशूद्रसंनिधाने।- गौ २।७।१६;
एके वा एतच्छ्मशानं ये शूद्राः। तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।- व १८।११-१२

३- शूद्रापपात्रश्रवणसन्दर्शनयोश्च तावन्तं कालम्।- बौ १।२१।१७

४- व १८।१३-१५ अथापि यमगीतांश्लोकानुदाहरन्ति-
श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पापचारिणः। तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन॥
न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्। न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥
यश्चास्योपदिशेद्धर्मं यश्चास्य व्रतमादिशेत्। सो संवृत्तं तमो घोरं सह तेन प्रपद्यत इति।।

५- अनार्यैर्न संभाषेत।- गौ ३।८।८; स्त्रीशूद्रैर्नाऽभिभाषेत मूत्रपुरीषे नाऽवेक्षेत।
- बौ ३।८।२२, द्र० वि ४६।२५, ६४।१४-१५

६- व १८।१५

गौतम ने तो शूद्र के लिए यज्ञ कराने वाले, शूद्र से धन लेकर धार्मिक कर्म करने वाले पिता तक का परित्याग विहित किया है।[१] शूद्र के लिए पञ्चगव्य का भी भक्षण निषिद्ध करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि यदि शूद्र पञ्चगव्य लेता है और ब्राह्मण सुरा पीता है तो दोनो महारौरव नरक में गिरते हैं।[२] शूद्र को पञ्चगव्य की पवित्रता के योग्य नहीं माना गया है।

वैदिक धर्मक्रिया से बहिष्कृत होने पर भी शूद्र के लिए सामान्य नैतिक आचार नियमों की व्यवस्था की गया है। गौतम के अनुसार 'उपनयन न होने पर भी शूद्र सत्य, अक्रोध तथा शुद्धि के नियमों का पालन करे, आचमन के स्थान पर हाथ पैर धोये, आश्रित जनों का भरण-पोषण करे, केवल अपने वर्ण की पत्नी से संबन्ध रखे।[३] शूद्र के लिए 'नमो नमः' ही मन्त्र है, किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि शूद्र स्वयं ही पाकयज्ञ कर सकता है।[४] गौतम ने शूद्र के लिए श्राद्धकर्म भी विहित किया है।[५]

यद्यपि धर्मसूत्रों ने द्विजाति वर्णों को शूद्र वर्ण की कन्या से विवाह करने की अनुमति दी है, तथापि वे इसका कोई धार्मिक प्रयोजन नहीं मानते और इस प्रकार के संबन्ध को गर्हित बताकर निषिद्ध करते हैं। वसिष्ठ के अनुसार शूद्रा पत्नी यौनसुख के लिए ही होती है, धार्मिक कार्य के लिए नहीं।[६] इस प्रकार के विवाह से कुल का पतन होता है और परलोक में भी स्वर्ग नहीं मिलता।[७] श्रौतयज्ञ में अग्नि का आधान करने पर शूद्रा पत्नी से सम्पर्क निषिद्ध है।[८] ब्राह्मण की शूद्रा पत्नी के पुत्र की स्थिति भी अत्यन्त हीन थी। गौतम ने उसे ब्राह्मण पिता की सम्पत्ति में तभी अधिकारी माना है

१- त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा।- गौ ३।२।१ २- वि ५४।७

३- तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम्।आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके। भृत्यभरणम्। स्वदारवृत्तिः। - गा २।१।५२-५६

४- अनुज्ञातो नमस्कारो मन्त्रः पाकयज्ञैः स्वयं यजेदेत्येके।- गौ २।१।६६-६७

५- गौ २।१।५४ श्राद्धकर्म।

६- कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव न धर्माय।- व १०।१८

७- तथा न कुर्यात्। यतो हि ध्रुवः कुलापकर्षः। प्रेत्य चास्वर्गः।- व १।२६-२७

८- नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्।- व १८।१७

जब कोई अन्य पुत्र न हो, वसिष्ठधर्मसूत्र उसे सम्बन्धी तो मानता है, पर उत्तराधिकारी नहीं।[1]

शूद्र के प्रति धर्मसूत्रों का सर्वाधिक आक्रोश दण्ड एवं न्यायव्यवस्था के सन्दर्भ में दिखायी पड़ता है। एक समान अपराध में शूद्र के लिए अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड बताये गये हैं। यहाँ उद्धृत धर्मसूत्रों के कतिपय नियमों से यह स्पष्ट हो जायगा कि शूद्र कितना अधिकारहीन और दलित वर्ग हो चुका था। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार 'किसी पुरुष का वध करने, चोरी करने, भूमि पर बलपूर्वक कब्जा करने पर शूद्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर लेना चाहिए तथा उसका वध करना चाहिए।[2] शूद्र को सभी प्रकार से द्विजाति से निम्न बनकर रहना होता था। यदि वह सोने, बैठने, बातचीत या मार्ग में द्विजाति की समानता करने का प्रयत्न करता तो दण्डनीय होता था।[3] यदि शूद्र विद्याग्रहण की इच्छा से वेद पाठ सुनता तो उसका कान सीसे और जस्ते से भर दिया जाता। यदि मन्त्र का उच्चारण करता तो जीभ काट ली जाती थी और यदि वेदमन्त्र धारण करता तो शरीर काट डालने का दण्ड विहित था।[4] शूद्र जिस अंग से द्विजाति का अपमान करता उस अंग को काट डालने का दण्ड था, यथा वाणी से अपमान करने पर जीभ, हाथ से अपमान करने पर हाथ काट देने का दण्ड।[5] यदि शूद्र किसी उच्च वर्ण की स्त्री से यौनसंबन्ध करता तो उसकी जननेन्द्रिय कटवा देने का दण्ड होता और यदि वह उसका रक्षक नियुक्त किये जाने पर संबन्ध करता तो उसका वध करने का नियम था।[6] ब्राह्मणी से व्यभिचार करने पर शूद्र को

१- शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमन्तेवासिविधिना।-गौ ३।१०।३७, व १७। ३८

२- पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्वान्यादाय वध्यः।-आप २।२७।१६

३- गौ २।३।५ आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः। द्र० सत्या०२७।५।२३४, वि ५।२०

४- गौ २।३।४ अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।- गौ २।३।४

५- गौ २।३।१ शूद्रो द्विजातीनभिसन्धायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गमोच्यो येनोपहन्यात्। - वि ५।१६, सत्या० २७।५।२३७

६- आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च। गोप्ता चेद्वधोऽधिकः।- गौ २।३।२-३

जीवित ही अग्नि में जला देने का दण्ड विहित था।[1]

शूद्र को सम्पत्ति का अधिकार भी नहीं प्राप्त था। उसके द्वारा संग्रह किया गया धन उसके स्वामी के भरणपोषण के लिए होता था।[2] चरण धोकर जीविका निर्वाह करने वाले शूद्र से कोई कर नहीं लिया जाता था।[3] उसे कहीं मिले हुए धन में छठा अंश ही लेने का अधिकार था, शेष राजा और ब्राह्मणों को देना होता था।[4] उत्तराधिकार के सन्दर्भ में भी कहा गया है कि यदि शूद्र अपने द्विजाति पिता का एकमात्र पुत्र हो तब भी वह सम्पत्ति का आधा भाग ही प्राप्त करता है ओर आधे भाग को पुत्रहीन की सम्पत्ति के समान माना जाता था।[5] शूद्र के दुर्बल होनेपर उसका सेव्य स्वामी ही भरण-पोषण करता था।[6] धर्मसूत्रों की दृष्टि में शूद्र का जीवन कितना नगण्य था यह शूद्र वध के लिए विहित प्रायश्चित्तों से स्पष्ट है। उसकी हत्या के पाप से मुक्ति के लिए दस गायों का दान और एक वर्ष ब्रह्मचर्य का प्रायश्चित्त ही बताया गया है।[7]

शूद्र का अन्न तथा अस्पृश्यता

धर्मसूत्रों में शूद्र के अन्नग्रहण के विषय में अत्यन्त कठोर नियम बनाये गये हैं। अस्पृश्यता का पर्याप्त विकसित रूप भी धर्मसूत्रों में दिखायी पड़ता है। गौतमधर्मसूत्र भी, जो शूद्र के प्रति अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा कुछ अधिक उदार दिखायी पड़ता है, किसी भी ब्राह्मण को अपने कर्म में रत द्विजातियों के यहाँ ही भोजन

द्र० आप २।२७।६ वध्यश्शूद्र आर्यायाम्।

१- शूद्रं कटाग्निना दहेत्।- बौ २।३।५३

२- तदर्थोऽस्य निचयः स्यात्।- गौ २।१।६५

३- आप २।२६।१५, सत्या० २७।५।२०६-२१०

४- वि ३।६१शूद्रश्चावाप्तं दशधा विभज्य पञ्चांशान्राज्ञे दद्यात्पञ्चांशान्ब्राह्मणेभ्योंशद्वयमादद्यात्।

५- वि १८।३२-३३

६- यं चायमाश्रयेद् भर्तव्यः स तेन क्षीणोऽपि।- गौ २।१।६३

७- शूद्रं संवत्सरमृषभैकादशाश्च गाः दद्यात्। - गौ ३।४।१६, दश शूद्रे- आप १।२४।३
संवत्सरं शूद्रस्य स्त्रियाश्च।-बौ २।१।१०,
शतं वैश्ये दश शूद्र ऋषभश्चात्राधिकः।- तदेव १।१९।२

करने की अनुमति देता है।[१] हिरण्यकेशिधर्मसूत्र सभी वर्णों का अन्न भोज्य मानता है, किन्तु कुछ आचार्यों के इस मत का भी उल्लेख करता है कि शूद्र का अन्न न खाये, साथ ही यह भी विकल्प देता है कि धर्मकार्य में शूद्र का अन्न भक्ष्य है।[२] अन्य धर्मसूत्रों में शूद्र का अन्न त्याज्य कहा गया है।[३] वेश्या तथा शूद्र का अन्न पाप का कारण माना गया है।[४] शूद्र के अन्न की सबसे अधिक निन्दा वसिष्ठधर्मसूत्र में की गयी है, जो निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है- 'यदि शूद्र का अन्न खाकर मैथुनरत होता है, तो उसके पुत्र अन्नदाता के माने जायेंगे और उसको कभी भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती।[५] यदि कोई ब्राह्मण शूद्र का अन्न पेट में होने की स्थिति में मरता है तो वह ग्रामसूकर होकर उत्पन्न होता है अथवा शूद्र के कुल में जन्म लेता है।[६] जिस ब्राह्मण का शरीर शूद्र के अन्न से पोषित हुआ है वह चाहे प्रतिदिन वेद का पाठ करे, अग्निहोत्र और स्तुतिपाठ करे, किन्तु वह ऊपर जाने का मार्ग नहीं प्राप्त कर सकता।'[७] यदि मृत्यु या जन्मविषयक आशौच में कोई द्विजाति शूद्र का अन्न खाता है, तो वह भयंकर नरक पाता है और पक्षी योनि में जन्म लेता है।[८] शिल्पजीवी का भोजन भी निषिद्ध ठहराया गया है।[९]

१- प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत।-गौ २।८।१

२- सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्जमित्येके। तस्यापि धर्मोपनतस्य।
- सत्या० २६।५।८२-८३

३- वैखा ६।१५, आप १।१८।१३, शूद्रस्य च, द्र० व १४।४

४- गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्नं श्राद्धसूतकान्।
चोरस्यान्नं नवश्राद्धं सर्वं पुनथ मे यवा इति॥ - बौ ३।६।१०

५- शूद्रान्नेन तु भुक्तेन मैथुनं योऽधिगच्छति।
यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा न च स्वर्गारुहो भवेत्॥- व ६।२६

६- शूद्रान्नेनोदरस्थेन यदि कश्चिन्मृतो द्विजः।
स भवेच्छूकरो ग्राम्यस्तस्य वा जायते कुले।।- व ६।२७

७- व ६।२८

८- व ४।३१ अशौचे यस्तु शूद्रस्य सूतके वापि भुक्तवान्।
स गच्छेन्नरकं घोरं तिर्यग्योन्यां च जायते॥

९- वणिक्चाशिल्पी। - गौ २।८।७, सत्या०२६।५।८७

भोजन करते समय शूद्र का स्पर्श हो जाने पर भी वह अन्न अभोज्य माना जाता था।[१] गौतम ने शूद्र से दान लेना भी निषिद्ध किया है।[२] शूद्र के स्पर्श से जल का दूषित होना भी माना गया है। ऐसे जल से आचमन निषिद्ध है।[३] शूद्र की अस्पृश्यता और उसके वर्जन का विधान न केवल भोजन और जल के विषय में ही दिखायी पड़ता है, अपितु धार्मिक पवित्रता के अवसर पर उससे वार्तालाप और उसके दर्शन का निषेध भी उसी प्रवृत्ति का संकेत करता है। अतिकृच्छ्र व्रत करने वाले के लिए यह नियम दिया गया है कि वह अनार्य अर्थात् शूद्र से भाषण न करे।[४] चान्द्रायण व्रत में भी शूद्र से भाषण निषिद्ध था।[५] स्नान के बाद म्लेच्छ और निम्न वर्ण के पुरुष से भाषण न करने का नियम दिया गया है।[६] शूद्र के साथ यात्रा भी वर्जित की गयी है।[७] श्राद्ध में शूद्र को भोजन करना भी दण्डनीय अपराध माना गया है।[८] शूद्र का उच्छिष्ट खाना अशुचि का कारण बताया गया है।[९] शूद्र की सेवा को पाप बताकर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।[१०] डॉ० रामगोपाल इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कुछ शूद्र इतने धनी होते थे कि वे ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति को सेवाकार्य में नियुक्त कर सकते थे[११] किन्तु उनका यह निष्कर्ष एक अनुमान मात्र है।

१- यत्र शूद्र उपस्पृशेत्।- आप १।१७।१
२- प्रतिगृह्णीयाच्च।- गौ २।८।२
३- न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जितेन।- गौ १।६।१२
४- अनार्यैर्न संभाषेत।- गौ ३।८।८
५- स्त्रीशूद्रैर्नाऽभिभाषेत मूत्रपुरीषं नावेक्षेत।- बौ ३।८।२२, वि ४६।२५
६- वि ६४।१४-१५
७- न पतितैर्न स्त्रिया न शूद्रेण।- बौ २।६।२२
८- वि ५।११५
९- शूद्रोच्छिष्टमपपात्रगमनं चाऽऽर्याणाम्।-आप १।२१।१७
१०- यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणः सेवमानः।
चतुर्थकाल उदक्याभ्यवायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम्॥
-आप १।२७।११, द्र० बौ २।२।३
११- इण्डिया आफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० १२४

यद्यपि धर्मसूत्रों ने शूद्र का अन्न गर्हित बताया है, तथापि अनेक वस्तुएँ ग्राह्य बतायी गयी हैं, जैसे फल, मधु, अयाचित अन्न, शय्या, आसन, आश्रयस्थान, गाड़ी, दूध, दही, भूने अन्न, छोटी मछलियाँ, माला, मृगमांस, मार्ग और शाक किसी भी वर्ण से ग्रहण किये जा सकते हैं।[1] शूद्रों के अन्तर्गत भी जिन शूद्रों का द्विजाति से दैनिक सम्पर्क होता था उनका अन्न भोज्य माना गया है। गौतम के अनुसार अपने पशुओं के चरवाहे, हरवाहे, कुलपरम्परा के शूद्र मित्रों, नाई और परिचारक का अन्न ग्रहण किया जा सकता था।[2] द्विजातियों के निकट सम्पर्क में रहने वाले ऐसे शूद्रों को अर्धमास में या पूरे मास में एक बार केशों का क्षौर कराना होता था।[3] शूद्र के प्रति कुछ उदारता वहाँ देखने में आती है, जहाँ वैश्वदेव कर्म के लिए शूद्र द्वारा भोजन बनवाने की भी अनुमति दी गयी है और प्रतिदिन घर में भोजन बनाने वाले शूद्र की स्वच्छता और शुद्धि के आचारों पर बल दिया गया है। ऐसा शूद्र प्रतिदिन केश, दाढ़ी, लोम, नाखूनों को कटवाता था तथा अपने वस्त्रों को पहने हुए स्नान करता था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र रसोइया केवल क्षत्रिय और वैश्य के यहाँ ही कभी-कभी होते थे, किन्तु ब्राह्मण के लिए वह सर्वथा अस्पृश्य हो गया था। शूद्र के भरणपोषण का नियम विहित कर धर्मसूत्र में कुछ उदारता का परिचय दिया गया है।[5] शूद्र अतिथि को भोजन दिया जाता था, किन्तु उससे कुछ कार्य कराने का भी नियम था।[6] शूद्र से संकट काल में गुरुदक्षिणा हेतु धन भी लिया जा सकता था, किन्तु यह सर्वमान्य नहीं था।[7]

दासप्रथा भी इस काल में प्रचलित थी। दास का विक्रय भी होता था और उसे

१- एधोदक-यवस-मूल-फलमध्वभयाभ्युद्यतशय्यासनावसथ-यान-पयोदधि-धाना-शफरी-प्रियङ्गु-स्रङ्-मार्गशाकान्यप्रणोद्यानि सर्वेषाम्।- गौ २।८।३

२- पशुपाल-क्षेत्रकर्षक-कुलसंगतकारयितृ-परिचारका भोज्यान्नाः।- गौ २।८।६

३- शूद्राणामार्याधिष्ठितानाामर्धमासि मासि वा वपनम्।-बौ १।१०।२०

४- आप २।३।४-९

५- यं चायमाश्रयेद् भर्तव्यस्तेन क्षीणोऽपि।- गौ २।१।६३

६- शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुञ्जात्। अथास्मै दद्यात्। दासा वा राजकुलादाहृत्याऽतिथिवच्छूद्रं पूजयेयुः। - आप २।४।१९-२१; द्र० बौ २।५।१५, सत्या० २७।१।७२

७- आप १।७।२०-२१

धरोहर रखा जाता था। दास और दासियाँ उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की जाती थीं। गौतम ने ब्राह्मण के लिए आपत्काल में दास का विक्रय निषिद्ध किया है।[1] दासों, शूद्रों का वर्ग ही किसी अन्य वृत्ति को न ग्रहण कर दिन-रात अपने स्वामी के आश्रय में रहता था और सेवा कार्य में रत रहता था। दासों का भरण-पोषण करना और उन्हें प्रतिदिन भोजन देना गृहस्थ का कर्त्तव्य था। धर्मसूत्र का कथन है कि अपने भोजन में गृहस्थ कमी कर सकता है, किन्तु दास के भोजन में कमी न करे।[2] धर्मसूत्रों में शूद्रविषयक जो नियम उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि शूद्र वर्ण के अन्तर्गत भी कुछ वर्ग द्विजातियों के अधिक सम्पर्क में थे और कुछ वर्ग अपनी निम्न कोटि की वृत्ति के कारण सर्वथा अस्पृश्य थे।

वर्णसंकर जातियाँ

चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक संबन्ध से अनेक वर्णसंकर जातियों का उदय धर्मसूत्रों के काल से पहले ही हो चुका था।[3] धर्मसूत्रों ने वर्णव्यवस्था को दृढतापूर्वक बनाये रखने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु समाज की प्रवृत्तियों के आगे उन्हें विफल ही होना पड़ा। फलतः, अनेक वर्णों के आपसी संबन्धों से संकर जातियाँ बढ़ती रहीं। प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने इनका उल्लेख किया है।

जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, धर्मसूत्रों में कई वर्णसंकर जातियों के नामों में अन्तर है। वैखानसधर्मसूत्र में इन जातियों का विशेष विस्तृत उल्लेख किया गया है, विवाह-संबन्ध से भिन्न गुप्त रूप से उत्पन्न पुत्रों की भी नामावली दी गयी है तथा उसी प्रकार के वर्णसंकरों की वृत्तियों का भी निर्देश किया गया है। हम यहाँ मुख्यतया

१- पुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यम्।- गौ १।७।१४

२- काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेवदासकर्मकरम्।- आप २।६।१०,११

३- ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी कई वर्णसंकरों के उल्लेख मिलते हैं, यथा आन्ध्र(ऐब्रा ३३।६), आयोगू (तैब्रा ३।४।१), उग्र (छान्दोग्य ५।२४।४, बृहदारण्यक ३।८।२,४।३।२२), किरात (तैब्रा ३।४।१४), कुलाल (तैब्रा ३।४।१), क्षत्ता (छा०उ० ४।१।५), चाण्डाल (तैब्रा ३।४।१४, ३।४।१७, छा०उ० ५।१०।१७), तक्षा (तैब्रा ३।४।१), रथकार (तैब्रा ३।४।१), सुवर्णकार (तैब्रा ३।४।१४), सूत (तैब्रा ३।४।१)। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीयसंहिता ४।५।४।२ में निषाद का तथा वाजसनेयि-संहिता ३०।७ में सुवर्णकार।

वैखानसधर्मसूत्र के आधार पर ही इस विषय का विवेचन करेंगे।

यद्यपि धर्मसूत्रों ने वर्णों में अनुलोम विवाह की अनुमति दी है, तथापि भिन्न वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्रों को वही सामाजिक मान्यता नहीं है, जो सवर्णा के पुत्रों को प्राप्त है।[१] सामान्यतः, इस प्रकार के विवाह बहुत कम ही होते थे। सवर्ण विवाहों पर ही अधिक बल दिया जाता था। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने धर्मकार्यों में सवर्णा पत्नी को ही अधिक महत्त्व दिया है।[२] अनुलोमज वर्णसंकर जातियों के अन्तर्गत निम्नलिखित का उल्लेख धर्मसूत्रों में हुआ है। ब्राह्मण पुरुष द्वारा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न किये गये पुत्र क्रमशः सवर्ण, अम्बष्ठ और पारशव कहलाते हैं।[३] ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न पुत्र को सवर्ण इसलिए कहा गया है कि वह ब्राह्मण के सदृश वर्ण का होता है।[४] इनमें **सवर्ण** के लिए वैखानस ने अथर्ववेद के कर्म, रथसंचालन, हाथी हाँकना, सेनापति के पद पर कार्य करना और चिकित्सा करना कार्य बताया है। **अम्बष्ठ** ध्वजविश्रावी या आग्नेय नर्तक के रूप में कार्य करता है। **पारशव** भद्रकाली का पुरोहित बनकर जादू, हस्तरेखा विद्या, दुन्दुभिवादन तथा शरीरमर्दन द्वारा जीविकानिर्वाह करता है।[५] वसिष्ठ ने पारशव को शव के समान अपवित्र माना है।[६]

१- उदाहरणार्थ सम्पत्ति- विभाजन के प्रसंग में सवर्ण पुत्र के लिए अधिक अंश देने का नियम है। - द्र० वि १८।२-५

२- आप २।१३।१,२ सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तुं गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिस्सम्बन्धः। दायेन चाऽव्यतिक्रमश्चोभयोः।

३- गौ १।४।१४, बौ १।१६।७ किन्तु बौधायन में ब्राह्मण द्वारा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न किये गये पुत्र को निषाद कहा गया है, किन्तु उनके पारशव कहे जाने का भी निर्देश है, बौ १।१७।३

४- गोविन्दस्वामी ने बौधायन की टीका में सवर्ण की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी है :- १. स एव वर्णः सवर्णः अर्थात् समान वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र (बौ १।१६।६ की टीका) । २ सदृशः वर्णः सवर्णः अर्थात् अनन्तर वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र (बौ १।१७।२), किन्तु विष्णु० में समान वर्ण की पत्नी के पुत्र को ही सवर्ण कहा गया है और अनुलोमज पुत्रों को माता के वर्ण का माना गया हैः 'समानवर्णासु पुत्राः सवर्णाः भवन्ति। अनुलोमासु मातृवर्णाः।'- वि १६।१,२

५- वैखानसधर्मसूत्र, १०।१२,१३

६- शूद्रायां पारशवः। पारशवो जीवन्नेव शवो भवतीत्याहुः।- व १८।६-१०

वैखानसधर्मसूत्र ने ब्राह्मण द्वारा गुप्त रूप से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न किये गये पुत्रों को अभिषिक्त,[१] कुम्भकार और निषाद[२] बताया है। इनमें **अभिषिक्त** राजा बनने योग्य होता था और आयुर्वेद तथा भूतविद्या या ज्योतिष का अभ्यास कर जीविका चलाता था। **कुम्भकार** घड़े बनानेका कार्य करता था और **निषाद** बहेलिया की वृत्ति अपनाता था।[३]

क्षत्रिय पुरुष द्वारा वैश्य और शूद्र वर्ण की पत्नी से उत्पन्न किये गये पुत्र क्रमशः मद्गु[४] और उग्र[५] कहलाते थे। इनमें वैखानस के अनुसार **मद्गु** क्षेत्रपति होता था और **उग्र** दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देने का कार्य करता था। क्षत्रिय पुरुष का गुप्त रूप से वैश्य और शूद्र स्त्री से उत्पन्न पुत्र क्रमशः घोड़ों का सईस और शूलिक होता था। शूलिक मृत्युदण्ड के अपराधियों को शूली पर चढ़ाने का कार्य करता था।[६]

वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री का पुत्र **चुचुक** कहलाता था जो पान-सुपाड़ी का क्रय-विक्रय करता था। गुप्त रूप से उत्पन्न ऐसे पुत्र को **काटकर** कहते थे जो चटाई बनाने का कार्य करता था। वैखानस ने सवर्ण स्त्रियों से विना विवाह संस्कार के उत्पन्न ब्राह्मण के **गोलक** (पति की मृत्यु के बाद उत्पन्न) और **कुण्ड** (पति के जीवित रहने उत्पन्न), क्षत्रिय के **भोज**, वैश्य के **मणिकार** और शूद्र के **मालवक** पुत्रों का भी उल्लेख किया है।[७]

प्रतिलोमज सन्तानों में ब्राह्मण स्त्री से विवाह करने पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुरुष द्वारा उत्पन्न किये गये पुत्रों को क्रमशः सूत,[१] मागध[२] और चाण्डाल कहा गया

१- गौ १।४।१७ ने मूर्धावसिक्थ को क्षत्रिया और ब्राह्मण का पुत्र कहे जाने का उल्लेख किया है।

२- गौतम ने निषाद का ब्राह्मण और वैश्य वर्ण की पत्नी का पुत्र माना है। गौ १।४।१४, बौधायन ने निषाद को ब्राह्मण और शूद्रा का पुत्र कहा है।- बौ १।१६।७

३- वैखानसधर्मसूत्र १०।१२-१३

४- गौतम के अनुसार अम्बष्ठ १।४।१४, बौधायन के अनुसार क्षत्रिय पुरुष का वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय होता है। बौ १।१७।४

५- गौतम के अनुसार दौष्मन्त १।४।१४, किन्तु बौधायन १।१७।४ के अनुसार उग्र ही है।

६- वैखानसधर्मसूत्र १०।१३

७- तदेव, १०।११-१३

है। सूत का विना मन्त्र के उपनयन हो सकता था, परन्तु वह द्विजाति धर्म का अनुसरण नहीं कर सकता था। वैखानस ने मागध का भोजन इस प्रकार का बताया है जिसे शूद्र भी स्पर्श नहीं करता। मागध शूद्र के लिए भी अस्पृश्य था। वह स्तुतिगान का कार्य करता था। गुप्त रूप में वैश्य पुरुष द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्त्री से उत्पादित पुत्र चक्री कहलाता था जो नमक और तेल बेचकर जीविका निर्वाह करता था।[३] चाण्डाल लोहे के आभूषण, गले में चमड़े का पट्टा और कमर में करधनी पहनता था। प्रातःकाल गाँव में और शेष समय सड़कों पर सफाई करने का कार्य करता था। उसे गाँव के बाहर रहना होता था और वह दोपहर के बाद गाँव में प्रवेश नहीं करता था, अन्यथा वह राजा द्वारा मृत्यु दण्ड भी प्राप्त करता था। ऐसी स्थिति में यदि राजा उस चाण्डाल का वध नहीं करता था तो राजा को ही ब्रह्महत्या का पाप लगता था।[४]

चाण्डाल की निकृष्टता और अपवित्रता इतनी अधिक थी कि उसे देख लेने पर प्राणायाम और सूर्यदर्शन का विधान था।[५] उसका स्पर्श और उससे भाषण तो और भी बड़ा पाप माना गया था।[६] चाण्डाल जहाँ रहता था वहाँ वेदाध्ययन निषिद्ध था।[७] उसके साथ सभी प्रकार के व्यवहार वर्जित थे। चाण्डाल का अन्न खा लेने पर तीन

१- वैखा० १०।१३, व १८।६ सूत सारथि होता था।- द्र० वि १६।१३

२- वैश्य पुरुष द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र को वसिष्ठधर्मसूत्र १८।४ में रामक कहा गया है तथा वि १६।६ में वैदेहक कहा गया है। वैदेहक नर्तकियों एवं वेश्याओं की रक्षा करता था और उनकी आय के अंश पर जीवन निर्वाह करता था। बौ ध सू में शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री के पुत्र को मागध कहा गया है, १।१७।६; गौतम १।४।१५ ने इसे शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री का पुत्र माना है, किन्तु ब्राह्मणी और वैश्य का पुत्र होने का भी उल्लेख किया है (१।४।१६)। वि १६।५ ने क्षत्रिया स्त्री और शूद्र के पुत्र को मागध कहा है। वि १६।१० के अनुसार 'स्तुतिक्रिया मागधानाम्'।

३- वैखा० १०।१३, गौ १।४।२० प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः।

४- वैखा० १०।१४

५- अशुचि दृष्ट्वाऽऽदित्यमीक्षेत प्राणायामं कृत्वा।- गौ ३।५।२२, अन्त्यः पापिष्ठः, तदेव १।४।२३

६- आप २।२।८ यथा चण्डालोपस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम्।

७- अन्तश्चाण्डालम् सन्दर्शने वाऽरण्ये।- आप १।६।१५,१७

मास का कृच्छ्र व्रत और पुनः उपनयन तथा केशवपन विहित था।[१] उसका स्पर्श करने पर वस्त्रों के साथ स्नान और एक सहस्र बार प्राणायाम भी प्रायश्चित्त था।[२] यदि चाण्डाल जानबूझ कर द्विजाति का स्पर्श करता तो उसके लिए वध का दण्ड था।[३] आपस्तम्ब ने वसिष्ठ की अपेक्षा कुछ कम कठोरता प्रदर्शित करते हुए चाण्डाल के स्पर्श पर जल में स्नान, भाषण कर लेने पर ब्राह्मण से भाषण को ही शुद्धि का उपाय बताया है।[४] चाण्डाल स्त्री से जानबूझ कर यौन संबन्ध करने पर द्विजाति पुरुष उसी के वर्ण का हो जाता था।[५] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार चाण्डाल मृत्यु दण्ड पाने वाले अपराधियों का वध कर जीविका निर्वाह करता था और मृतक के शरीर से उतारे गये वस्त्र पहनता था।[६] इस प्रकार वर्णसंकरों में भी चाण्डाल की स्थिति सबसे गिरी हुई थी। इसका कारण संभवतः यही था कि उसकी उत्पत्ति वर्णव्यवस्था की सबसे घोर और अवांछनीय अस्तव्यस्तता थी ।

क्षत्रिय वर्ण की स्त्री से वैश्य और शूद्र द्वारा क्रमशः आयोगव और पुल्कस उत्पन्न होते थे।[७] विवाह के विना इन दोनो वर्णों से उत्पन्न क्षत्रियापुत्र क्रमशः पुलिन्द और वेलव होता था। **आयोगव** तन्तुवाय का कार्य करता था और वस्त्र बेचकर जीविका निर्वाह करता था। **पुल्कस** बनावटी वस्तुएँ बेचता था। **पुलिन्द** वन में निवास करते हुए पशुवध द्वारा जीविकोपार्जन करता था, जबकि **वेलव** नृत्यगीत की वृत्ति ग्रहण करता था।

वैश्य वर्ण की स्त्री और शूद्र पुरुष के विवाह से **'वैदेहक'** नाम का पुत्र होता

१- तथापपात्रैः।- आप १।२१।६ एवं व २०।१६-१७

२- व २३।३३-३५

३- वि ५।१०४

४- अवगाहनमपामुपस्पर्शने सम्भाषायां ब्राह्मणसम्भाषा दर्शने ज्योतिषां दर्शनम्।
- आप २।२।८-११

५- वि ५३।५ चाण्डालीगमने तत्साम्यमाप्नुयात्।

६- वि १६।११,१४

७- वसिष्ठ० में क्रमशः पुल्कस और वेण कहा गया है। व १८।१-५, गौ १।४।१५ इसे ही वैदेहक कहता है। बौ १।१७।६-८ में इसे क्षत्ता कहा गया है।

था।[1] वैखानस के अनुसार इसका भी स्पर्श शूद्र तक नहीं करते थे। वह अभक्ष्य भक्षण करता, जंगली पदार्थ खाता, भैंस चराकर और दूध बेच कर जीविकानिर्वाह करता था। गुप्त रूप से उत्पन्न होने पर वह **'चक्रिक'** कहलाता था ओर नमक, तेल, खली बेचता था।[2]

वर्णसंकरों में भी पारस्परिक सम्बन्ध से कई अन्य जातियाँ उत्पन्न थीं। वैखानस ने निम्नलिखित की गणना की है-

तक्षक - चुचुक पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न , लकड़ी, सुनारी और लोहारी का कार्य करने वाला।

मत्स्यबन्धु- चुचक पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न , मछेरा की वृत्ति वाला।

सामुद्र- चुचुक पुरुष और वैश्य स्त्री का पुत्र, समुद्र से उत्पन्न वस्तुओं का व्यापारी।

नाविक -अम्बष्ठ पुरुष और ब्राह्मण स्त्री का पुत्र, नौका चलाने की वृत्ति वाला।

अधोनापित- अम्बष्ठ पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न तथा नाभि से नीचे के लोमों का वपन करने वाला।

वेणुक- मद्गु पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न, वंशी बजाकर जीविका चलाने वाला।

कर्मकार- मद्गु पुरुष और क्षत्रिया का पुत्र, मजदूरी करने वाला।

चर्मकार - वैदेहक पुरुष और ब्राह्मण स्त्री का पुत्र।

सूचिक - वैदेहक पुरुष और क्षत्रिया स्त्री का पुत्र, वस्त्रों की सिलाई का कार्य करने वाला।

ताम्र - आयोगव पुरुष और ब्राह्मण वर्ण की स्त्री का पुत्र, ताँबे का शिल्पी।

खनक - आयोगव पुरुष और क्षत्रिय वर्ण की स्त्री का पुत्र।

उद्बन्धक- खनक और ब्राह्मणी का पुत्र, कपड़े धोने का कार्य करने वाला।

१- गौतम १।४।१५ ने इसे शूद्र और क्षत्रिया का पुत्र माना है। वि ध सू ने ब्राह्मणी स्त्री और वैश्य पुरुष का पुत्र कहा है और वसिष्ठ १८।१-३ ने वैश्य स्त्री और शूद्र पुरुष के पुत्र को अन्त्यावसायी कहा है।

२- वैखानसधर्मसूत्र १०।१४

रजक - पुल्कस पुरुष और ब्राह्मण स्त्री का पुत्र।

श्वपच - चाण्डाल पुरुष ओर ब्राह्मण स्त्री का पुत्र। श्वपच अत्यन्त निम्न कोटि का चाण्डाल होता था, श्मशान में रहता था, फेंकी हुई वस्तुएँ एकत्र करता था, लावारिश लाशों को ढोता था और कुत्ते तक का मांस खा लेता था।

गौतम ने भूर्जकण्ठ, यवन, करण आदि के भी उल्लेख किये हैं।[1] वर्णसंकरों की संख्या सीमित नहीं है, इसका अनुभव विष्णुधर्मसूत्र के रचयिता ने किया है।[2] वर्णसंकरों की जो बड़ी संख्या धर्मसूत्रों में दिखायी गयी है वह इस तथ्य का संकेत देती है कि तत्कालीन समाज में सभी प्रकार के व्यवसाय अलग-अलग उपजातियों से संबद्ध थे और प्रत्येक दूसरे से ऊँचे-नीचे समझे जाते थे। ऊँच-नीच की प्रवृत्ति समाज के सभी स्तरों पर फैल गयी थी। दूसरा तथ्य यह दिखायी पड़ता है कि समाज में अस्पृश्य लोगों का एक नया वर्ग इन वर्णसंकर जातियों के भीतर से ही विकसित हो चुका था। जन्म के आधार पर व्यवसाय और वृत्तियाँ रूढ हो चुकी थीं और समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग बौद्धिक दृष्टि से पंगु हो चुका था। इन तथ्यों से तत्कालीन विवाह की स्वच्छन्दता पर प्रकाश पड़ता ही है।

वर्णसंकर जातियों के उद्भव और विस्तार को रोकने के लिए धर्मसूत्रों ने स्पष्टतः प्रयास किये। विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि जो वर्णसंकर का विस्तार रोकने के लिए मारे जाते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[3] वैखानस का कथन है कि यदि भूखा हो तब भी प्रतिलोम, अन्तराल और व्रात्य का भोजन कच्चा या पका हुआ भी न ग्रहण करे।[4] इनके द्वारा स्पृष्ट अन्न यदि दूसरे ने भी पकाया हो तब भी ग्रहण न करे। वर्णसंकर केवल आपस में ही विवाह कर सकते थे।[5] गौतम ने प्रतिलोम विवाह से

१- गौ १।४।१७

२- वि १६।७ संकरसंकराश्चासंख्येयाः। बौ १।१७।१४ में शूद्र पुरुष और निषाद स्त्री का पुत्र कुक्कुट भी गिनाया गया है और उस पुरुष तथा क्षतृ स्त्री का पुत्र श्वपाक कहा गया है।

३- वर्णसंकररक्षणार्थं च ।- वि ३।५६

४- वैखानसधर्मसूत्र ६।१५

५- सर्वेषां समजातिभिर्व्यवहारः।- वि १६।१५

उत्पन्न पुत्रों को उतना ही सम्पत्ति का अधिकारी माना है जितना ब्राह्मण द्वारा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न पुत्र को। वर्णसंकर सन्तानों की निन्दा करते हुए वैखानसधर्मसूत्र के अन्त में कहा गया है- 'चारो वर्णों के जब अधम पुत्र उत्पन्न होते हैं तब उनका पिता विनष्ट होकर नरक को जाता है, किन्तु उत्तम पुत्र उसे नरक से बचाकर, पितरों को पवित्र कर स्वर्ग पहुँचाता है। अतएव ब्राह्मण एवं अन्य वर्ण वाले धर्मपूर्वक समान वर्ण का पुत्र उत्पन्न करें। वर्णव्यवस्था को बनाये रखने का प्रयत्न धर्मसूत्रों में आये हुए स्वधर्म का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले वाक्यों में भी देखा जा सकता है।

स्वधर्म का महत्त्व

सभी धर्मसूत्रों ने वर्णों के लिए स्वधर्म के पालन पर सबसे अधिक बल दिया है। इस काल में वर्णानुसार व्यवसाय रूढ हो चुके थे, किन्तु साथ ही अनेक लोग अपने से निम्न वर्ण के व्यवसाय भी करने लगे थे। धर्मसूत्रों ने इसे अनुचित और गर्हित माना है। गौतम ने वर्ण और आश्रमों के धर्म से हीन दोनो को म्लेच्छ कहा है और उनसे भाषण भी निषिद्ध किया है। आपस्तम्ब के अनुसार 'सभी वर्णों के लोग अपने धर्म का अनुष्ठान कर परम अपरिमित स्वर्ग का सुख प्राप्त करते हैं। गौतम की भी उक्ति है : 'ब्राह्मण आदि वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के लोग अपने-अपने धर्म में रत रहने पर मृत्यु के बाद अपने कर्मों का फल भोगते हैं और उसके बाद शेष बचे हुए कर्म के अनुसार विशेष देश, जाति, कुल, विद्या, आचार, धन, सुख और बुद्धि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाले अनेक योनियों में भटकते हुए नष्ट होते हैं।[५] इस प्रकार वर्णधर्म या स्वधर्म के पालन का महत्त्व इस जीवन के लिए ही नहीं

१- शूद्रापुत्रवत् प्रतिलोमास्तु।- गौ ३।१०।४३

२- वैखानसधर्मसूत्र १०।१५

३- न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत।- गौ १।६।१७ हरदत्त की वृत्ति 'वर्णाश्रमधर्मरहिते देशे सिंहलद्वीपादौ ये वसन्ति ते म्लेच्छाः।'

४- सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्।- आप २।२।२, सत्या० २७।१।२४, तुलना० हारीतस्मृति ७।१६,२० 'नरसिंह भगवान् मनुष्य के स्वधर्म पालन से जितना प्रसन्न होते हैं उतना किसी और कर्म से नहीं।'

५- ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते।- आप २।२।३, द्र० गौ २।२।२९-३०

भावी जीवन और परलोक के लिए भी बताया गया है और स्वधर्मपालन को ही प्रमुख कर्म का स्थान दे दिया गया है।

धर्मसूत्रों की दृष्टि में स्वधर्म से वञ्चित होना ही नरक है।[१] ब्राह्मण के लिए यह विधान किया गया है कि वह अपने कर्म का सम्यक् आचरण करने वाले द्विजातियों के यहाँ ही भोजन और दान ग्रहण करे।[२] अपने कर्म से भ्रष्ट होता हुआ व्यक्ति यदि आचार्य के उपदेशों को ग्रहण कर पुनः अपने वर्ण का कर्म नहीं ग्रहण करता था तो वह दण्डनीय होता था।[३] धर्मसूत्र में राजा का यही प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है कि वह वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था की रक्षा करे और जो लोग धर्म से भ्रष्ट हो रहे हों उनको पुनः स्वधर्म के मार्ग पर स्थापित करे।[४]

स्वधर्मत्याग से जातिभ्रष्टता

धर्मसूत्रों ने स्वधर्मपालन का इतना अधिक महत्त्व बतलाया है कि अपने वर्णानुसार कर्म या व्यवसाय के त्याग को जातिभ्रष्टता और पतन का भी कारण माना है। यदि ब्राह्मण अपने वर्ण के लिए विहित कर्म का पालन नहीं करता तो वह श्राद्धभोजन के योग्य भी नहीं माना जाता था। गौतम के शब्दों में 'सावित्री मन्त्र का जप न करने वाले, दैनिक स्वाध्याय का तिरस्कार करने वाले, धनुष्-बाण द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले, बाजा बजाने, नृत्यगीत की वृत्ति ग्रहण करने वाले ब्राह्मण श्राद्धभोजन के अयोग्य होते हैं।[५] पंक्तिपावन और पंक्तिदूषण ब्राह्मणों के सन्दर्भ में जिन गुणों और दुर्गुणों का उल्लेख किया गया है उनमें भी स्वधर्मपालन को एक प्रमुख

१- गौ ३।३।४-६

२- प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयाच्च।- गौ २।८।१,२

३- आप २।१०।१३-१७

४- वर्णानामाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्।- गौ २।२।९-१०
तु० वि ३।१-३ अथ राजधर्माः। प्रजापरिपालनम्।
वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।
देशधर्मजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैतानुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान्स्वधर्मे स्थापयेत्।- व १९।७

५- गौ २।६।१८

आधार माना गया है।[1] बौधायनधर्मसूत्र में भी गो आदि पशुओं के रक्षक, व्यापार करने वाले, कारीगरी करने वाले, नट, सन्देशवाहक, भृत्य, सूदखोर का कार्य करने वाले ब्राह्मणों को शूद्रवत् मानकर व्यवहार करने का विधान है।[2]

जो ब्राह्मण स्वधर्म का पालन करते हुए वेदाध्ययन नहीं करता वह नाम मात्र का ही ब्राह्मण होता है जैसे काठ का हाथी, चमड़े का हिरण।[3] वसिष्ठधर्मसूत्र के विचार और अधिक कठोर हैं। इस धर्मसूत्र में वेद का अध्ययन, अनुष्ठान और अग्नि का आधान न करने वाले ब्राह्मण को शूद्र के समान कहा गया है।[4] इसके साथ मनु के इस कथन को भी उद्धृत किया गया है कि जो द्विज वेद का अध्ययन न कर दूसरा कार्य करता है वह जीवन में ही अपने कुल के साथ शूद्र हो जाता है।[5] वेद का अध्ययन न करने वाले, व्यापार करने वाले, शूद्र की सेवा करने वाले, चोरी और औषधि-विक्रय करने वाले ब्राह्मण वस्तुतः ब्राह्मण कहे जाने के अधिकारी नहीं होते थे।[6] ऐसे सहस्र ब्राह्मणों का समूह भी धर्म के विषय में प्रमाण नहीं होता था[7] और वेद को न जानने वाले ब्राह्मण का तिरस्कार करने में कोई पाप नहीं माना जाता था।[8] अपने वर्ण के धर्म का पालन न करने वाले द्विजों को सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्पर्क से भी वञ्चित होना

१- द्र० गौ २।६।१५-१६, बौ २।१४।२; आप २।१७।२१-२२; व ३।१६।११।१६; वि ८३।१-१४

२- गोरक्षकान् वणिजकान् तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत्॥- बौ १।१०।२५,
द्र० बौ १।१०।२७-३०

३- यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चाऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः॥- बौ १।१२।११, व ३।११

४- व ३।२

५- तत्रैव ।

६- तदेव ३।३

७- तदेव, ३।५

८- ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति विप्रे वेदविवर्जिते।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य न हि भस्मनि हूयते।।- व ३।१०
बौ १।१०।२८ में 'मूर्खे मन्त्रविवर्जिते' पाठभेद के साथ यह पद्य मिलता है।

पड़ता था। जातिभ्रष्ट द्विजातियों का भी स्पर्श वर्जित कर दिया गया था।[१] वर्णधर्म के आचार के त्याग से जो लोग पतित हो जाते थे उनका स्पर्श करने पर स्नान का भी विधान किया गया है।[२]

इस प्रकार धर्मसूत्रों के अनुसार समाज में स्वधर्म का त्याग करने वाले जातिभ्रष्ट लोगों का भी सामाजिक दृष्टि से हीन एक और वर्ग उद्‌भूत हो चुका था जो शूद्रों और निम्न कोटि के वर्णसंकरों के धरातल पर स्थित हो चुका था । कालान्तर में स्वधर्म का त्याग करने वाले लोग या तो अपने व्यवसाय के वर्ण में विलीन हो गये होंगे अथवा उन्होंने अपने वर्ण के कुछ कर्मों को ही करते हुए अपने वर्ण में ही बने रहने का प्रयत्न किया होगा। किसी भी स्थिति में यह स्पष्ट है कि समाज के वर्ग व्यवसाय की दृष्टि से कठोर नियमों की शृङ्खला में दीर्घकाल तक बँधकर नहीं रह सके। मनुष्य की व्यक्तिगत परिस्थितियों का ध्यान तो धर्मसूत्रों ने भी रखा है और इसी कारण वे कठिनाई की स्थितियों के लिए आपद्धर्म का भी प्रतिपादन करते हैं।

आपत्तिकाल में स्वधर्मत्याग (आपद्धर्म)

आपद्धर्म का विशेष उल्लेख ब्राह्मण के स्वधर्मपालन के सन्दर्भ में ही किया गया है। यद्यपि धर्मसूत्रों में ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय और वैश्य के कर्म निषिद्ध हैं और कहा गया है कि ब्राह्मण परीक्षा करने के लिए भी शस्त्र ग्रहण न करे, तथापि आपत्तिकाल में निम्न वर्ण की वृत्तियाँ विहित हैं।[३] गौतम ने ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय की वृत्ति बतायी है।[४] आवश्यकतानुसार जीविका निर्वाह न होने की स्थिति में ब्राह्मण वैश्य की वृत्ति भी ग्रहण कर सकता है।[५] इस अवस्था में यदि वह कृषिकर्म करता है तो उसके

१- वैखानस १०।१, द्र० बौ १।११।३४ में वेदविक्रय करने वाले का स्पर्श करने पर स्नान का विधान है। वेदविक्रेता का अर्थ है धन लेकर वेद का उपदेश करने वालो। उसे बौधायन ने कुत्ते और चाण्डाल के समान अस्पृश्य माना है।

२- व २३।३३ तुलना- हारीतस्मृति ७।१६

३- परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाऽऽदीत।-आप १।२६।६, सत्या० २६।७।६२

४- गौ १।७।६ तदलाभे क्षत्त्रवृत्तिः। तुलना- बौ २।४।१६, व २।२२

५- तदलाभे वैश्यवृत्तिः।- गौ १।७।७; द्र० बौ २।४।१६

लिए यह नियम है कि प्रातःकाल से पहले ही ऐसे बैलों से जिनकी नाक न छेदी गयी हो पुचकारते हुए और विना मारे-पीटे खेत जोते।[1]

यदि ब्राह्मण आपत्तिकाल में व्यापार करता है तो उसके लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं का विक्रय निषिद्ध किया गया है जैसे दास-दासी, गुड़, नमक, दूध, रंग, सुगन्धि, चन्दन, अन्न, चमड़ा, वन्ध्या गौ, लाख, जल, हरा अन्न, सुरा की तरह के पदार्थ, पीपर, मरिच, मांस और हथियार।[2] इसी प्रकार तिल का विक्रय भी वर्जित है।[3] बौधायन के अनुसार ब्राह्मण निम्नलिखित का विक्रय कर सकता है- वे पशु जिनके मुख में केवल एक जबड़े में दाँत होते हैं, नमक के अतिरिक्त अन्य खनिज पदार्थ तथा विना रंगा हुआ धागा।[4] आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण मूँज, बल्बज घास, मूल और फल का विक्रय कर सकता है, तृणों, काठ का, जिससे कोई उपयोगी वस्तु न बनायी गयी हो, विक्रय कर सकता है।[5]

प्रायः सभी धर्मसूत्रों में ब्राह्मण के लिए कृषिकर्म का निषेध किया गया है, किन्तु बौधायनधर्मसूत्र में कहा गया है कि यदि कोई ब्राह्मण वेद का अध्ययन और कृषिकर्म दोनो करने में समर्थ हो तो दोनो ही कर सकता है।[6] इससे यह प्रतीत होता है कि धर्मसूत्रों के युग में ऐसे ब्राह्मण होते थे जो कृषि कर्म भी करने लगे थे और सम्भवतः क्षत्रिय और वैश्य के भी कर्म करना ब्राह्मणों में आरम्भ हो गया था। श्राद्ध के प्रकरण में ऐसे ब्राह्मणों का भी उल्लेख है जो नृत्य, गीत, व्यापार, शिल्प और धनुर्विद्या

१- बौ २।४।२०-२१ प्राक्प्रातराशात् कर्षी स्यात्। अस्यूतनासिकाभ्यां समुष्काभ्यामतुदन्नारया मुहुर्मुहुरभ्युच्छन्दयन्।- द्र० व २।३२-३३

२- गौ १।७।८-१५, आप १।२०।१२-१३ तथा व २।२४-२८, सत्या० २६।६२६-३१ द्र० मनुस्मृति १०।८६-९०

३- व २। २९-३०, गौ १।७।६, २९; आप १।२०।१३, बौ २।२।१३,१४

४- बौ २।२।१७ अथाप्युदाहरन्ति।
पशवश्चैकतोदन्ता अश्मा च लवणोद्धृतः।
एतद् ब्राह्मण ते पण्यं तन्तुश्चारजनीकृत इति॥

५- आप १।२०।१६ तथा १।२१।१,२; बौ २।२।१६ तृणं काष्ठमविकृतं विक्रेयम्।

६- वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।
शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्॥ - बौ १।१०।३१

द्वारा जीविका निर्वाह करते थे।[१] इससे डॉ० रामगोपाल का भी यही निष्कर्ष है कि व्यवसाय के विषय में धर्मसूत्रों के विधान का कठोरता से पालन नहीं किया जाता था।[२]

बौधायनधर्मसूत्र में ब्राह्मण के लिए आपत्तिकाल में अध्यापन करने, यज्ञ कराने और दान लेने में असमर्थ होने पर क्षत्रिय के धर्म का आश्रय लेकर जीविका निर्वाह करना विहित किया गया है, क्योंकि क्षत्रिय की जीविका ही ब्राह्मण के धर्म के निकट है।[३] यद्यपि बौधायन इसके विरोध में गौतम के नाम से मतान्तर का उल्लेख करते हैं, तथापि वैसा विचार विद्यमान गौतमधर्मसूत्र मे नहीं मिलता।[४] गौ, ब्राह्मण तथा वर्णधर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मण और वैश्य भी शस्त्र धारण कर सकते थे।[५] ब्राह्मण आपत्तिकाल में क्षत्रिय या वैश्य को भी गुरु बनाकर विद्याध्ययन कर सकता था। ऐसा नियम भी था कि वह ब्राह्मण उनके पीछे-पीछे चले,[६] किन्तु अध्ययन समाप्त होने पर वह आगे चले और अब्राह्मण गुरु उसका अनुगमन करे।[७] बौधायन के अनुसार भी अध्ययन-काल तक ही ऐसे गुरु की सेवा का नियम होता था।[८]

आपत्तिकाल में ब्राह्मण सभी के लिए यज्ञ करा सकता था, सबका अध्यापन कर सकता था और सभी का दान ले सकता था।[९] क्षत्रिय के कार्य से जीविका निर्वाह न

१- गौ २।६।१८, बौ २।४।१८ मे गौ की, ब्राह्मण की रक्षा तथा वर्णों का संकर रोकने के लिए ब्राह्मण का शस्त्रधारण उचित माना गया है।

२- इण्डिया आफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ११८

३- अध्यापनयाज़नप्रतिग्रहैरशक्तः क्षत्रधर्मेण जीवेत् प्रत्यनन्तरत्वात्।-बौ २।४।१६

४- नेति गौतमोऽत्यगुग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य।- बौ २।४।१७;
तदलाभे क्षत्त्रवृत्तिः।-तदेव १।७।६-७

५- बौ २।४।१८, गौ १।७।२५ के अनुसार प्राणसंकट के समय 'प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत।'

६- अथापि ब्राह्मणेन राजन्ये वैश्ये वाऽध्ययनम्। अनुगमनं च पश्चात्।-आप २।४।२६-२७

७- तत ऊर्ध्वं ब्राह्मण एवाऽग्रतो स्यात्।-आप २।३।२८ आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणात् विद्योपयोगः। अनुगमनं शुश्रूषा। समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः।- गौ १।७।१-२

८- शुश्रूषाऽनुव्रज्या च यावदध्ययनम्।- बौ १।३।४३

९- याजनाध्ययनप्रतिग्रहाः सर्वेषाम्।-बौ १।७।४ हरदत्त के अनुसार ये वृत्तियाँ सबके लिए हो सकती हैं।

होने पर ही ब्राह्मण वैश्य का कर्म कर सकता था[१], किन्तु शूद्र का कर्म आपत्काल में भी अनुमत नहीं था, यद्यपि कुछ आचार्यों का यह मत भी उद्धृत है कि प्राण संकट में होने पर शूद्र की वृत्ति भी ग्राह्य है[२], किन्तु शूद्र वृत्ति अपनाने पर शूद्रों के साथ बैठना, भोजन करना, स्पर्श करना, मिलना-जुलना तथा शूद्रों द्वारा भक्ष्य वस्तुओं का भक्षण करना निषिद्ध किया गया है। यहाँ भी आपस्तम्ब का मत कुछ उदारतापूर्ण दिखायी पड़ता है।[३] ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लिए आपत्काल के नियमों का धर्मसूत्रों में विशेष विवेचन नहीं हुआ है, इससे डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अब्राह्मण और विशेषतः वैश्य और शूद्र कोई भी वृत्ति अपनाने के लिए स्वतन्त्र थे और उनके पतन का भय नहीं था।[४]

वस्तुतः धर्मसूत्रों में स्वधर्म को महत्त्व देते हुए जो उल्लेख आये हैं उनसे स्पष्ट है कि अपने वर्ण के धर्म का पालन करना ही अभीष्ट नियम था और सभी के लिए आपत्तिकाल में अपने वर्ण से निम्न वर्ण की वृत्ति ग्रहण करने की अनुमति थी, परन्तु सामान्य नियम यह था कि स्वधर्मभ्रष्ट व्यक्ति सतत यही प्रयत्न करे कि अपने वर्ण की वृत्ति पुनः प्राप्त हो और अपने वर्ण की वृत्ति पाते ही वह दूसरे वर्ण की वृत्ति का परित्याग करे (वृत्तिं प्राप्य विरमेत्)[५] और इस प्रकार की जीवन वृत्ति में रुचि न रखे।[६] किन्तु स्वभावतः आपत्काल में ग्रहण किये गये व्यवसाय को छोड़कर पुनः अपना वर्ण-धर्मसम्मत व्यवसाय प्राप्त करना कठिन रहा होगा और इस स्थिति में अपने वर्ण से पतन तथा दूसरी स्थिति में वर्ण के अपरिवर्तित रहते हुए भी व्यवसाय का परिवर्तन

१- तदलाभे वैश्यवृत्तिः। - गौ १।७।७ ; वैश्यवृत्तिरनुष्ठेया प्रत्यनन्तरत्वात्।- बौ २।४।१६

२- सर्वथा वृत्तिरशक्तावशौद्रेण। तदप्येके प्राणसंशये। तद्वर्णसंकराभक्ष्यनियमस्तु।
- गौ १।७।२२-२४

३- आप १।१८।१४ में आपत्काल में शूद्र का अन्न भी भोज्य बताया गया है।

४- डॉ० सुरेश चन्द्र बनर्जी,धर्मसूत्राज़, ओरि० डेवलप०,पृ० १८३
"These facts tend to demonstrate that the non-Brahmins particularly the Vaisyas and Sudras were at liberty to take recourse to any means of livelihood without running the risk of being degraded."

५- आप १।१८।८, १।२१।४

६- नाऽत्यन्तमन्ववस्येत्।- आप १।१८।७१ १।२१।३

घटित हुआ होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्मसूत्रों के समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक उपजातियों का विकास हो चुका था। प्रत्येक वर्ण अनेक उपवर्गों में विभक्त था। वर्णसंकर जातियाँ भी उद्भूत हो चुकी थीं और उनके व्यवसाय निर्धारित हो चुके थे। उनमें जो प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न थे उनकी स्थिति अधिक हीन थी और वे शूद्रों के समकक्ष अथवा उनसे भी निकृष्ट माने जाते थे। आर्यों और अनार्यों का भी विभाजन था, परन्तु व्यावहारिक कारणों से वर्णों में पारस्परिक सहयोग की भावना विद्यमान थी। अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे।[1] समाज में दासप्रथा थी, किन्तु दास उस प्रकार के शूद्र थे जिनकी एकमात्र वृत्ति द्विजाति की सेवा ही थी। धर्मसूत्रों में वसिष्ठधर्मसूत्र की शूद्रों के प्रति अधिक कठोर एवम् अनुदार दृष्टि है और उसके कई विचार मनुस्मृति के विचारों के निकट हैं।

धर्मसूत्रों में वर्णव्यवस्था पूर्णतः जन्मना है, तथापि अपने वर्ण के लिए विहित कर्म का परित्याग करने पर जातिभ्रष्टता की भी व्यवस्था की गयी है। धर्मसूत्र वर्णव्यवस्था की रक्षा करने का कठिन प्रयत्न करते दिखायी पड़ते हैं। ब्राह्मणों के ऐसे अनेक वर्गों का उल्लेख है, जो अपना धर्म त्याग कर अत्यन्त निम्नकोटि के कर्म करते थे, जैसे गाय चराना, शिल्प कर्म, नट का कार्य, सन्देशवाहक का कार्य तथा ब्याज पर धन देना।[2] समय के साथ वर्णव्यवस्था और जटिल होती गयी तथा वर्णों के आपसी अन्तर बढ़ते गये। धर्मसूत्रों में यह प्रयत्न किया गया है कि स्वधर्मपालन की प्रवृत्ति बढ़े, प्रतिलोम स्त्री-पुरुष संबन्ध न हों, किन्तु उनका यह प्रयत्न समाज के परिवर्तन और व्यवसायों के विकास के समक्ष बालू की दीवार के समान भहराता दिखायी पड़ता है।

१- द्र० डॉ० रामगोपाल, इण्डिया आफ वेदिक कल्पसूत्राज़, पृ० १२७

२- गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत्।।- बौ १।१०।२५

अध्याय ५

धर्मसूत्रों की आचारसंहिता

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति।।
- वसिष्ठधर्मसूत्र, ६।१

वसिष्ठधर्मसूत्र का उपर्युक्त श्लोक आचार के परम महत्त्व की घोषणा करता है। प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने आचार की महत्ता का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म का प्रधान रूप आचार ही है। धर्मसूत्रों के सभी नियम व्यक्ति के आचरण से संबद्ध हैं। किस व्यक्ति को किन अवस्थाओं में कैसा आचरण करना चाहिए यही धर्मसूत्रों का प्रधान विषय है। इस प्रकार धर्मसूत्र में विवेचित धर्म नितान्त व्यावहारिक है। इस धर्म के विषय में भी डॉ० राधाकृष्णन् का यह कथन समीचीन है कि हिन्दू धर्म एक विचार-पद्धति होने की अपेक्षा जीवन की शैली अधिक है।[१] विचारों के जगत् में पूर्ण स्वतन्त्रता देते हुए भी यह व्यवहार की कठोर संहिता का निर्देश करता है।

आचार की सर्वाधिक प्रशस्ति वसिष्ठधर्मसूत्र में मिलती है। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण में कहा गया है, आचार-नियम के अनुसार जीवन व्यतीत करना सभी मनुष्यों का धर्म है। जिस व्यक्ति की आत्मा आचाररहित है वह इस लोक में और मृत्यु के

१- द्र० दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० ७७ **"Hinduism is more a way of life than a form of thought which gives it absolute liberty in the world of thought. It enjoins a strict code of practice."**

अनन्तर परलोक में भी नष्ट हो जाता है।[1] जो व्यक्ति अधम आचरण का अनुसरण करता है उसकी रक्षा न तो तपस्याएँ कर सकती हैं, न वेदाध्ययन, न अग्निहोत्र और न प्रचुर दान ही उसे नरक से बचा सकता है।[2] आचारहीन ब्राह्मण के लिए छः अंगों के साथ वेद का ज्ञान और सभी प्रकार के यज्ञ उसी प्रकार कोई सुख नहीं उत्पन्न करते, जिस प्रकार अन्धे पुरुष की सुन्दरी पत्नी का रूप उसके लिए कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं करता।[3]

आचारहीन व्यक्ति की रक्षा अंगों के साथ अधीत वेद नहीं करते । जैसे पंख निकलते ही पक्षी अपने घोंसलों को छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे ही छन्द या वेद के मन्त्र मृत्युकाल में आचारहीन व्यक्ति का परित्याग कर देते हैं।[4] आचार को ही धर्म, धन, श्री तथा सौभाग्य का हेतु मानते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र कहता है : ' आचार से ही धर्म का फल प्राप्त होता है, आचार से ही धन मिलता है, आचार से ही मनुष्य सभी प्रकार की शोभा प्राप्त करता है और आचार दुर्भाग्य एवं दुर्गुणों का विनाश करता है।[5]

वसिष्ठधर्मसूत्र की ये उक्तियाँ धर्मसूत्रों में आचार को जो महत्त्व दिया गया है उसका स्पष्ट दर्शन कराती हैं। अन्य धर्मसूत्रों में विधि और निषेध के जो प्रचुर नियम उपलब्ध होते हैं वे आचारं की परम महत्ता का समर्थन करते हैं। गौतम ने ज्ञान के साथ आचार को ही श्रेष्ठ बताया है और आचार का पालन करने वालों के लिए ही विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की है।[6] जो व्यक्ति शास्त्रों में विहित आचारनियमों का

१- आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥- व ६।१

२- नैनं तपांसि न ब्रह्म नाग्निहोत्रं न दक्षिणाः।
हीनाचारमितो भ्रष्टं तारयन्ति कथंचन।।- तत्रैव,३

३- आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः॥ - तत्रैव, ५

४- आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।।- तत्रैव,३

५- आचारात्फलते धर्म आचारात्फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्।। -तत्रैव ७

६- तदपेक्षस्तद्बुद्धिः।- गौ १।८।७

उल्लंघन कर स्वेच्छाचरण करता है उसे बौधायन ने स्पष्टतः मूर्ख की संज्ञा दी है।[१] विष्णुधर्मसूत्र में भी आचार के सेवन को दीर्घायु, दूसरे जन्म में अभीष्ट सुखमय अवस्था, अक्षय धन की प्राप्ति तथा दुर्लक्षण के विनाश का कारण कहा गया है।[२] वसिष्ठ के शब्दों में 'सदाचारी व्यक्ति अन्य सभी लक्षणों से हीन होने पर भी सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[३] इसके विपरीत दुराचारी की निन्दा करते हुए कहा गया है कि उस पर निरन्तर विपत्ति आती है और वह अल्पायु होता है।[४] आचार का महत्त्व संस्कार की दृष्टि से भी है। आपस्तम्ब ने स्पष्ट कहा है कि तीन उच्च वर्णों के उन्हीं व्यक्तियों का संस्कार होना चाहिए जो दुराचारी नहीं है।[५] अध्यापन करने से पूर्व अध्ययनार्थ आये हुए व्यक्ति के आचार के विषय में प्रश्न करने का निर्देश दिया गया है।[६] यह भी कहा गया है कि विद्या उसी आचार्य से ग्रहण करनी चाहिए जो आचारवान् हो।[७]

धर्मसूत्रों की दृष्टि में धर्म के ज्ञान के साथ उसका आचरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। वेदों के अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही धर्म का बोध नहीं हो सकता। उसके द्वारा लक्षित कर्मों के आचरण से ही धर्म का पालन होता है।[८] वस्तुतः, जो धर्म का आचरण करता है वही धार्मिक है।[९] हारीत ने उपमाओं द्वारा इसे और भी स्पष्ट किया

१- शङ्कापिहितचारित्रो यस्स्वाभिप्रायमाश्रितः।
शास्त्रातिगः स्मृतो मूर्खो धर्मतन्त्रोपरोधादिति॥- बौ १।१०।८

२- आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सितां गतिम्।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचाराद्धन्त्यलक्षणम्॥- वि ७१।९१

३- सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥- व ६।८, तु० वि ७१।९२

४- दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥- व ६।६

५- आप ध सू १।१।६ अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याधेयं फलवन्ति च कर्माणि।

६- जात्याचारसंशये धर्मार्थमागतामग्निमुपसमाधाय जातिमाचारं च पृच्छेत्।- आप २।६।१

७- तस्मिंश्चैव विद्याकर्माऽऽन्तमविप्रतिपन्ने धर्मेभ्यः। -आप १।१।१३

८- कृच्छ्रा धर्मसमाप्तिरसमाम्नानेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते।-आप २।२९।१३

९- ज्ञात्वा चानुतिष्ठन्धार्मिकः।- व १।२

है : 'जिस प्रकार अश्वहीन रथ और रथीहीन अश्व कर्मोपयोगी नहीं होते, उसी प्रकार केवल तप या विद्या से कोई लाभ नहीं हो सकता।--- जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति दोनो पंखों से होती है उसी प्रकार ज्ञान एवं कर्म दोनो से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है।'[१] वसिष्ठ का भी कथन है कि आचरण की निष्कपटता ही फलदायिनी होती है। कपटपूर्ण आचरण करने वाले को मन्त्रों का ज्ञान पाप से नहीं बचाता।[२] आचार के अभाव में परम पूज्य कहे जाने वाले आचार्य का भी परित्याग विहित है। यदि आचार्य अपने विद्याध्यापन के कर्तव्य का पालन नहीं करता तो वह त्याज्य है।[३] आचार का परित्याग करने पर उच्च कुल भी निकृष्ट बन जाता है।[४] धर्मसूत्रों के इन वाक्यों में आचार का महत्त्व स्पष्ट है। विष्णुधर्मसूत्र में आचारहीन व्यक्ति को सम्पत्ति के अधिकार से भी वञ्चित कर दिया गया है।[५] गौतम ने भी आचार के अनुसार ही अतिथि को उत्तम या मध्यम प्रकार का भोजन देने की व्यवस्था की है और यदि विद्वान् भी दुराचारी है तो उसे मध्यम कोटि का भोजन देना ही उचित ठहराया है, किन्तु जो विद्याहीन होने पर भी सदाचारी हो वह भी समान कोटि का भोजन प्राप्त करने योग्य होता है।[६]

शिष्टाचार को परम महत्त्व देने के कारण ही धर्मसूत्रों ने प्रत्येक अवसर के लिए छोटे-छोटे आचारनियमों का भी निर्देश किया है। इन शिष्टाचारों के पालन से ही व्यक्ति का चरित्र विकसित होता है और चरित्र के विकास से ही धर्म का प्रयोजन सिद्ध करने की क्षमता उत्पन्न होती है। धर्मसूत्र मानव-जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करते हैं और इसी कारण आचरण को व्यवस्थित करने के लिए विधि एवं निषेध के नियमों

१- हारीतस्मृति, ७।६,११

२- नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्।
द्वेप्यक्षरे सम्यगधीयमाने पुनाति तद्ब्रह्म यथा इषेब्दाः।।- व ६।५

३- आचार्योऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः।-आप १।८।२८

४- अयज्ञेनाऽविवाहेन वेदस्योत्सादनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥- बौ १।१०।२७

५- न तु पतितस्य। पतनीये कर्मणि कृते त्वनन्तरोत्पन्नाः।-वि १५।३५-३६

६- मध्यतोऽन्नदानमवैद्ये साधुवृत्ते।- गौ १।५।३२

द्वारा आचारों का व्यापक निर्देश करते हैं, जिससे किसी भी अवस्था में कर्तव्य के विषय में शङ्का न हो।

धर्मसूत्रों के अन्तर्गत आचारविषयक नियमों का ही बाहुल्य है और आचार का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनमें कोई स्पष्ट वर्गीकरण कठिन है। डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी ने[1] धर्मसूत्रों की विषयवस्तु को आचार, प्रायश्चित्त, व्यवहार तथा राजधर्म शीर्षकों में विभक्त करते हुए आचार के अन्तर्गत संस्कार, श्राद्ध, आशौच तथा विविध प्रकार के शुद्धिविषयक नियमों को विवेचित किया है। यहाँ हम इस अध्याय में धर्मसूत्रों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर आचार का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों में करेंगे-

१-**शुद्धिविषयक आचार**- जिनके अन्तर्गत आचमन, बाह्य शारीरिक शुद्धि, स्वच्छता, स्नान, वस्तुओं की शुद्धि के नियम आ सकते हैं।

२-**आशौच के आचार**- जिनमें मृत्यु या जन्म के निमित्त से एक निश्चित अवधि के लिए अशुद्धि का निर्देश किया गया है। मृत्युविषयक आशौच भी विभिन्न प्रकार के हैं, यथा पूर्ण आशौच, पक्षिणी आशौच, गर्भपात का आशौच एवं शवानुगमन का आशौच।

३- **गुरुजनों के प्रति आचारनियम**- धर्मसूत्रों में गुरुजनों आदि के प्रति सम्मानप्रदर्शन के लिए असंख्य आचार निर्दिष्ट हैं। इन्हें शिष्टाचार के रूप में समझा जा सकता है।

४- **भोजनविषयक आचार**- धर्मसूत्रों में भोजन एवम् अन्न की शुद्धता पर विस्तार से विचार किया गया है । किसका अन्न ग्राह्य है, किस प्रकार का भोजन ग्रहण करना चाहिए और कैसे भोजन का परित्याग करना चाहिए इस प्रकार के विधि एवं निषेध के नियम सभी धर्मसूत्रों में मिलते हैं। इस प्रकरण में प्रासंगिक रूप में मांसभक्षण के विषय में धर्मसूत्रों में उपलब्ध नियमों पर भी विचार किया गया है।

५- **सामान्य व्यवहार के आचार**- सामान्य व्यावहारिक आचारों के उल्लेख भी धर्मसूत्रों में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। इनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण आचारों की समीक्षा से स्पष्ट हो जाता है कि धर्मसूत्रकारों की सूक्ष्म दृष्टि से मानव-जीवन का कोई क्षण छिपा हुआ नहीं है।

१- धर्मसूत्राज़ : ए स्टडी इन देअर ओरि० एण्ड डेव०, पृ० ७३

शुद्धिविषयक आचार

धर्मसूत्रों ने बाह्य शुद्धि के आचारों पर अधिक बल दिया है। प्रायः सभी धर्मसूत्रों में शरीर एवं वस्तुओं की शुद्धि के नियम विस्तरेण दिये गये हैं। इन आचारनियमों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-

(क) शरीर-शुद्धि-विषयक आचार।

(ख) वस्तुओं की शुद्धि तथा उनके शुद्ध या अशुद्ध होने का विचार।

(ग) जन्म या मृत्यु के निमित्त से आशौच का विचार।

आचमन

शरीरशुद्धि के आचारों में आचमन का नियम सभी धर्मसूत्रों में विहित है। आचमन हथेली पर जल लेकर ओठों से स्पर्श कराने की क्रिया को कहा गया है। इसके विषय में वसिष्ठधर्मसूत्र में नियम दिया गया है कि पैरों को और हाथों को कलाई तक धोकर पूर्व या उत्तर की ओर मुख कर बैठे और ब्राह्मतीर्थ से तीन बार जल लेकर विना शब्द किये हुए आचमन करे, दो बार मुख पोंछे , सिर के छिद्रों का स्पर्श करे और सिर पर जल छिड़के।[१] ब्राह्मण की शुद्धि हृदय तक पहुँचने वाले जल से, क्षत्रिय की शुद्धि कण्ठ तक पहुँचने वाले जल से और वैश्य की शुद्धि तालु तक पहुँचने वाले जल से मानी गयी है। स्त्री और शूद्र को केवल ओठों पर जल का स्पर्श कराने से ही शुद्ध मान लिया गया है।[२] एक बार आचमन के जल का पान करने और एक बार परिमार्जन करने से ही स्त्री और शूद्र पवित्र हो जाते हैं, ऐसा बौधायन का कथन है।[३]

आचमन में प्रयुक्त जल के विषय में धर्मसूत्रों के निर्देश इस प्रकार हैं- आचमन का जल विना बुलबुले के और विना फेन के होना चाहिए। अंगुलियों से निकला हुआ, गरम किया गया, नमक से युक्त, क्षार बना हुआ, बदले हुए रंग वाला और दुर्गन्धयुक्त जल आचमन के योग्य नहीं होता है।[४] पैर धोने के बाद बचे हुए जल से आचमन नहीं करना चाहिए। यदि ऐसे जल से आचमन करना ही हो तो पहले

१- व ।२६-२६ द्र० बौ १।८।१२ अङ्गुष्ठमूलं ब्राह्मतीर्थम्।

२- व ३।३१-३४; बौ १।८।१८

३- सकृदुभयं स्त्रियाश्शूद्रस्य च।- बौ १।८।१७

४- न वर्णगन्धरसदुष्टाभिर्याश्च स्युरशुभागमाः।- व ३।३६ , द्र० गौ १।८।१४

उसमें से कुछ जल भूमि पर गिराकर शेष जल से आचमन करे।[1] बौधायन के अनुसार आचमन में मुख से बाहर निकले हुए जल का तीन बार परिमार्जन विहित है। किन्तु उन्होंने दो बार आचमन करने के नियम का भी उल्लेख किया है।[2] भोजन के पूर्व दो बार आचमन, दो बार मुख का परिमार्जन और एक बार ओठों के स्पर्श का नियम है।[3] आचमन-काल में अनेक प्रकार के कार्य निषिद्ध हैं, यथा बौधायन ने यह आदेश दिया है कि हँसते हुए, बोलते हुए, खड़े होकर, चारो ओर देखते हुए, शरीर को छिपाते हुए, शिखा खोलकर, कण्ठ और सिर को वस्त्र से आच्छादित कर आचमन न करे। इसी प्रकार शीघ्रता से, यज्ञोपवीती हुए विना, पैरों को फैलाकर, कटि को वस्त्र से बाँधकर , दाहिने हाथ को घुटने से बाहर निकालकर आचमन न करे।[4] यदि किसी वस्तु को हाथ में लिये रहने पर किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से अशुद्धि होती है तो उस वस्तु को न रखकर भी आचमन कर लेने से शुद्धि हो जाती है, इस प्रकार का नियम भी दिया गया है।[5]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में आचमन के अवसरों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि दन्तमूल-सहित ओठों को अंगुली से रगड़ने के बाद आचमन करे। मूँछ के बालों के मुख में जाने पर जब तक उन्हें स्पर्श नहीं किया जाता तब तक अशुद्धि नहीं होती। संलाप में यदि थूक के कण गिरते हुए दिखायी पड़ें तब आचमन करना चाहिए। नींद में छींकें आने पर, नाक की गन्दगी, आँखों के अश्रु, रुधिर और केश का स्पर्श करनेपर अथवा अग्नि, गाय, ब्राह्मण या स्त्री को छू लेने पर, राजमार्ग पर जाकर लौटने पर, अमेध्य अर्थात् गो के अतिरिक्त अन्य प्राणियें का मलमूत्र स्पर्श करने पर स्नान या आचमन अथवा केवल जल का स्पर्श शुद्धि के लिए विहित किया गया है।[6] आचमन का

१- बौ १।८।१७

२- त्रिः परिमृजेद् द्विरित्येके।- बौ १।८।१६

३- भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचमेद्विः परिमृजेत् सकृदुपस्पृशेत्।- आप १।१६।८

४- न हसन्न जल्पन्न तिष्ठन्न विलोकयन्न प्रह्वो न प्रणतो न मुक्तशिखो नाऽऽबद्धकक्ष्यो न बहिर्जानुः शब्दमकुर्वन् त्रिरपो हृदयंगमाः पिबेत्।- बौ १।८।१५

५- वि २३।५५

६- आप १।१६।११-१४

महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि आचमन करने के लिए समर्थ हो तो एक क्षण भी अपवित्र न रहे।[१] इसी प्रकार बौधायन ने भी निर्देश दिया है कि ब्रह्मचारी या अन्य व्यक्ति भी आचमन या स्नान से शुद्धि करना सम्भव होने पर एक क्षण भी अपवित्र न रहें।[२]

बाह्य शुद्धिविषयक आचार

बौधायनधर्मसूत्र के शब्दों में देवता स्वभावतः अशुद्धि से घृणा करते हैं और पवित्रता के पक्षपाती होते हैं। वे श्रद्धाहीन व्यक्ति द्वारा अर्पित हवि को भी नहीं ग्रहण करते।[३] इस प्रसंग में एक उद्धरण भी दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि जो बुद्धिमान् तथा धर्माचरण करने में प्रयत्नशील है वह अशुद्धि के समय तथा स्थान का, अपना, द्रव्य के प्रयोजन का, अशुद्धि के कारण तथा अशुद्ध वस्तु की स्थिति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर शौच के आचार का पालन करता है।[४] धर्मसूत्रों ने शुद्धि के निमित्तों का विस्तृत उल्लेख किया है, यथा शारीरिक शुद्धि के साथ-साथ मानसिक शुद्धि का निर्देश करते हुए बौधायनधर्मसूत्र में कहा गया है- 'जल से शरीर शुद्ध होता है, ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है। अहिंसा से भूतात्मा शुद्ध होता है और सत्य से मन पवित्र होता है।[५] ब्राह्मण के लिए देवों ने शुद्धि के तीन हेतु बताये हैं- प्रत्यक्ष रूप से अशुद्धि का ज्ञान न होना, जल से प्रक्षालन और वाणी द्वारा प्रशंसा।[६] शुद्धि के छः निमित्त कहे गये हैं[७]-

---

१- शक्तिविषये न मुहूर्त्तमप्यप्रयतः स्यात।- आप १।१५।८

२- शक्तिविषये मुहूर्त्तमपि नाऽप्रयतस्स्यात्।- बौ १।३।३१

३- बीभत्सवः शुचिकामा हि देवा नाऽश्रद्दधानाय हविर्जुषन्त इति।- बौ १।१०।४

४- कालं देशं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्।
उपपत्तिमवस्थां च विज्ञाय शौचं शौचज्ञः कुशलो धर्मेप्सुः समाचरेत्।।- बौ २।८।४७

५- अद्भिश्शुद्ध्यन्ति गात्राणि बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।
अहिंसया च भूतात्मा मनस्सत्येन शुध्यतीति॥ - बौ १।८।२; तुलना० वि २२।६२

६- त्रीणि देवा पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते॥- बौ १।६।६

७- कालोऽग्निर्मनसश्शुद्धिरुदकाद्युपलेपनम्।
अविज्ञातं च भूतानां षड्विधं शौचमुच्यते॥- बौ १।८।४७

'समय का बीतना, अग्नि, मन की शुद्धि, जल, गोबर द्वारा लेपन और अशुद्धि का ज्ञान न होना। विष्णुधर्मसूत्र में भी ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, पृथ्वी, मन, जल, गोबर आदि का लेपन, वायु, प्रातः और सायंकालीन पूजा कर्म, सूर्य तथा काल ये सभी प्राणियों को पवित्र करने वाले कहे गये हैं।[1] जो पवित्र करने योग्य वस्तु है उसे जल और मिट्टी से पवित्र करना चाहिए। नदी अपनी धाराओं से ही पवित्र हो जाती है। जिस स्त्री का विचार दूषित हो वह मासिक स्राव से शुद्ध होती है, और द्विजों (ब्राह्मणों) में श्रेष्ठ व्यक्ति संसार का त्याग करने पर शुद्ध होता है।[2] वसिष्ठधर्मसूत्र मे स्त्री और नदी की उपर्युक्त प्रकार की शुद्धि के अतिरिक्त कांसे की शुद्धि भस्म से और मिट्टी के पात्र की शुद्धि पकाने से बतायी गयी है।[3]

धर्मसूत्रों में अनेक वस्तुओं को विशेष स्थितियों में पवित्र माना गया है। बौधायन के अनुसार कारीगर का हाथ नित्य पवित्र होता है, विक्रय के लिए फैलायी गयी वस्तु, ब्रह्मचारी के हाथ में गया हुआ भिक्षा का अन्न सदैव शुद्ध होता है। इसी प्रकार दूध पेन्हाते समय गाय का बछड़ा, वृक्ष से फल गिराते समय पक्षी, संभोग काल में स्त्री और शिकार के पशु को पकड़ते समय कुत्ता पवित्र होता है।[4] इन सबके साथ विष्णुधर्मसूत्र में कुत्ते द्वारा मारे गये पशु के मांस को और मांसभक्षी पशु, चाण्डाल या व्याध द्वारा मारे गये पशु के मांस को भी पवित्र माना गया है।[5] इस धर्मसूत्र के अनुसार मक्खियाँ, मुख से गिरती हुई लार, छाया, गाय, हाथी, अश्व, सूर्य की किरणें, धूल, पृथ्वी, अग्नि और बिल्ली सदैव पवित्र होती हैं। मनुष्य के मुख से गिरने वाली बूँद

१- ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धिकर्तॄणि देहिनाम्॥ - वि २२।८८

२- वि २२।६१

३- रजसा शुध्यते नारी नदी वेगेन शुध्यते।
भस्मना शुध्यते कांस्यं पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥- व ३।५८

४- नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्यं यच्च प्रसारितम्। ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति श्रुतिः ॥
वत्सः प्रस्नवने मेध्यः शकुनिः फलशातने । स्त्रियश्च रतिसंसर्गे श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥
- बौ १।६।१-२ द्र० व २८।८ और वि २३।४८,४६

५- श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तत्पारेकीर्तितम्। क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः॥
-वि २३।५०

शरीर के किसी भाग को अपवित्र नहीं करती। मुख के भीतर घुसनेवाली दाढी और मूँछ के बालों से तथा दाँतों में अटके हुए भोजन से अशुद्धि नहीं होती।[१]

विशेष अवसर पर कुछ अन्य वस्तुएँ भी पवित्र मानी गयी हैं। जैसे देवों की प्रतिमा, जुलूस में , विवाह में, यज्ञ में कौवे या कुत्ते द्वारा स्पृष्ट अन्न दूषित नहीं होता।[२] इसी प्रकार मार्ग के समीप स्थित जलाशय का जल यदि निम्न वर्ण के व्यक्ति, कुत्ते या कौवे द्वारा स्पृष्ट हो तो वह वायु से शुद्ध हो जाता है। पकी हुई ईंटों से बना हुआ घर भी वायु से शुद्ध हो जाता है। यदि एक स्थान पर घिरे हुए जल में कोई अपवित्र वस्तु न पड़ी हो और वह गौ की प्यास बुझाने के लिए पर्याप्त हो तो उसे शुद्ध माना गया है। इसी प्रकार शिखा के ऊपर ठहरा हुआ जल भी शुद्ध होता है।[३] शय्या, आसन, वस्त्र, पत्नी और बच्चे यदि अपने हों तो अपने लिए पवित्र होते हैं, किन्तु दूसरे के लिए अपवित्र।[४] अन्न तथा जल की शुद्धि के संबन्ध में बौधायनधर्मसूत्र में कहा गया है कि खलिहान में रखा हुआ अन्न, कूप या तालाब में स्थित जल और गायों के स्थान पर रखा हुआ दूध ऐसे व्यक्ति से भी लिया जा सकता है जिसके अन्न का भक्षण निषिद्ध है।[५] पुष्प या फल देने वाले पेड़-पौधे यदि अपवित्र स्थान पर भी उगे हों तो उनके पुष्प और फल अपवित्र नहीं होते हैं।[६]

शरीर की शुद्धि एवं स्वच्छता

धर्मसूत्रों में शरीर की शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस कारण उसकी शुद्धि के आचार-नियमों का धर्म के अंग के रूप में विधान किया गया है।

१- वि २३।५२-५३

२- देवद्रोण्यां विवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च।
काकैः श्वभिश्च संस्पृष्टमन्नं तन्न विसर्जयेत्॥- व ४।२५

३- वि २३।४१-४३

४- आत्मशय्याऽऽसनं वस्त्रं जायाऽपत्यं कमण्डलुः।
शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु॥- बौ १।६।५

५- खलक्षेत्रेषु यद्धान्यं कूपवापीषु यज्जलम्।
अभोज्यादपि तद्भोज्यं यच्च गोष्ठगतं पयः॥- बौ १।६।८

६- अमेध्येषु च ये वृक्षाः उप्ताः पुष्पफलोपगाः।
तेषामपि न दुष्यन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥- बौ १।६।४

मनुष्य-शरीर में नाभि के ऊपर के भाग को पवित्र और नीचे के भाग को अपवित्र कहा गया है। इस कारण देवता और पितृ-संबन्धी कर्मों में नाभि के नीचे के भाग का स्पर्श वर्जित किया गया है।[१] विष्णुधर्मसूत्र में भी नाभि के ऊपर के शरीर के छिद्र पवित्र कहे गये हैं और नाभि के नीचे के अपवित्र। शरीर के सभी प्रकार के मल भी अपवित्र हैं।[२] वस्त्र धारण करना भी अशुद्धि का एक कारण है। इसलिए बौधायनधर्मसूत्र में नीवी-बन्धन खोलने या बाँधने पर अपवित्र होने का उल्लेख किया गया है और इसके बाद जल का, भींगी हुई घास का, गोबर या भूमि का स्पर्श करने का नियम दिया गया है।[३] अशुद्ध होने की स्थिति में अग्नि के निकट जाना वर्जित किया गया है। कुछ धर्मशास्त्रज्ञों ने अपवित्रता की स्थिति में अग्नि से एक बाण की दूरी पर बैठने का विधान किया है।[४] अपवित्र होने पर अग्नि को फूँककर जलाने का भी निषेध है।[५] वसिष्ठधर्मसूत्र में आश्रम के अनुसार अधिकाधिक शुद्धि का नियम दिया गया है और मिट्टी से शरीर की शुद्धि के प्रसंग में कहा गया है कि गृहस्थाश्रम की अपेक्षा ब्रह्मचर्याश्रम में दूनी, वानप्रस्थ्य में तिगुनी और संन्यास में चौगुनी शुद्धि करनी चाहिए।[६]

धर्मसूत्रों में अग्नि को पवित्र माना गया है और वेद के इस वचन का उल्लेख किया गया है कि बकरे के दाहिने कान में, ब्राह्मण के दाहिने हाथ में, जल में तथा कुश के स्तबक में अग्नि का निवास होता है।[७] पशुओं में बकरे एवं घोड़े का मुख पवित्र एवं गौ का मुख अपवित्र बताया गया है।[८] इसके साथ ही गौ को अत्यन्त पवित्र और मंगलकारिणी कहा गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार गायों के कारण ही यज्ञ की हवि

१- नाभेरधस्पर्शनं कर्मयुक्तो वर्जयेत्।- बौ १।१०।१८

२- ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि निर्दिशेत्।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः॥- वि २३।५१

३- बौ १।१०।१७

४- आप १।१५।१८,१९

५- आप १।१५।२०

६- व ६।१९

७- छागस्य दक्षिणे कर्णे पाणौ विप्रस्य दक्षिणे।
अप्सु चैव कुशस्तबके पावकः परिपठ्यते॥-बौ १।६।३; द्र० तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।३

८- वि २३।५० ; व २८।९ में भी कहा गया है- अजाश्वाः मुखतो मेध्याः।

बन पाती है। वे प्रत्येक पाप को दूर करती हैं। गोमूत्र, गोमय, घृत, दूध, दही और गोरोचन ये छः प्रकार के गोविकार सदैव परम मंगलकारी हैं। गाय के सींग से गिरती हुई जल की बूँदें पुण्य उत्पन्न करने वाली और सभी पापों को दूर करने वाली होती हैं। गाय को खुजलाना सभी पापों को दूर करता है। गायों को घास खिलाने से स्वर्गलोक में ऊँचा स्थान मिलता है। गायों के मूत्र में गंगा निवास करती है। गायों के बैठने से उत्पन्न धूल में समृद्धि रहती है। उनके गोबर में लक्ष्मी निवास करती है और उनको प्रणाम करने से धर्म होताा है। अतः उन्हें सदैव प्रणाम करना चाहिए।[१] गौ का केश भी पवित्र होता है। इससे लौकी, बिल्व और बाँस के पात्रों को शुद्ध किया जाता है। गोबर तथा गोमूत्र भी शुद्धि के साधन कहे गये हैं और इनसे अपवित्र पात्र, नरकुल, बाँस, शर और कुश से बुनकर बनाये गये उपकरण शुद्ध हो जाते हैं।[२]

स्नान के नियम

धर्मसूत्रों में शुद्धिविषयक आचारों के अन्तर्गत शरीर की शुद्धि के लिए स्नान और मल-मूत्रत्याग के नियमों को भी स्पष्ट किया गया है। इस विषय में विष्णुधर्मसूत्र का आदेश है कि दूसरे के कूप आदि पर स्नान न करे। अजीर्ण की अवस्था में, रोगी होने पर, नग्न होकर अथवा रात्रि में स्नान न करे। दोनों सन्ध्याकाल में स्नान न करे, अपितु जब पूर्व में उगते हुए सूर्य की लालिमा फैल रही हो उस समय स्नान करे। स्नान के बाद सिर को झटकना नहीं चाहिए। शरीर को हाथ या वस्त्र से नहीं सुखाना चाहिए। स्नान के बाद तेल जैसी वस्तु का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए। जो वस्त्र पहले पहना गया हो उसे विना धोए नहीं पहनना चाहिए। स्नान के बाद सिर पर पगड़ी बाँधने और दो वस्त्र पहनने का भी नियम विहित है।[२]

बौधायन ने शरीर की शुद्धि के प्रसंग में तीन बार मृत्पिण्ड से शरीर के प्रक्षालन का निर्देश किया है। भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने मृत्तिका के अतिरिक्त गोबर तथा दूध को भी शुद्धि का साधन गिनाया है।[३] मूत्र तथा मलत्याग के लिए यह नियम है

१- वि २३।५७-६१
२- बौ १।१४।७,१०,११
३- वि ६४। १,३,६,८-१४
४- बौ २।८।१ तथा गोविन्दस्वामी का भाष्य।

कि रात्रि में दक्षिण की ओर तथा दिन में उत्तर की ओर मुख कर मलत्याग करे।[१] आपस्तम्बधर्मसूत्र में इन कार्यों के लिए विस्तृत नियम दिये गये हैं और जूते धारण कर, जुते हुए खेत में, मार्ग पर या जल में मलमूत्रत्याग का वर्जन किया गया है।[२] वसिष्ठ ने विशेषतः गृहस्थ के लिए मलत्याग के बाद मिट्टी से शरीर की शुद्धि का नियम दिया है। उनके अनुसार शरीर के अंगों में एक बार,दाहिने हाथ मे तीन बार, पैरों में दो बार, गुदा में पाँच बार, बायें हाथ में दस बार तथा हाथ-पैर में सात बार मिट्टी लगाकर शुद्धि करे।[३] कुछ अन्य निमित्तों से भी स्नान द्वारा शरीर की शुद्धि बतायी गयी है जैसे 'यज्ञ के यूप का अथवा चिता का स्पर्श करने पर, श्मशान में जाने पर, रजस्वला या सद्यःप्रसूता स्त्री का तथा चाण्डाल आदि अपवित्र व्यक्तियों का स्पर्श करने पर सिर और शरीर को जल में डुबाते हुए स्नान करना चाहिए।[४] श्मशान , जल, मन्दिर, गायों के गोष्ठ तथा ब्राह्मणों के निवासस्थान में प्रवेश करते समय पैरों को धो लेना चाहिए।[५] शारीरिक स्वच्छता का निर्देश करते हुए गौतमधर्मसूत्र में अकारण दाढ़ी और नाखून बढ़ाने का वर्जन किया गया है।[६]

वस्तुओं की शुद्धि के नियम

धर्मसूत्रों में शरीर-शुद्धि के अतिरिक्त मनुष्य के दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं एवं पात्रों की शुद्धि का भी विचार किया गया है। जल, अग्नि, गाय के केश, पीली सरसों और मिट्टी से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को शुद्ध करने के नियम दिये गये हैं।[७] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यदि सोने, चाँदी, शंख और मणि की वस्तुओं में जूठे भोजन आदि से अशुद्धि आयी हो और उनमें लेप न लगा हो, तो उन्हें जल से धोना चाहिए।[८] ओषधियाँ, मूल, फूल, फल, घास, समिध्, गोबर एवं पत्तियाँ जल

१- बौ १।१०।१०

२- आप १।३०।१५-२१

३- व ६।१८, तु० बौ १।१०।११-१५

४- व ४।३८

५- बौ २।६।२

६- गौ १।६।८

७- व ३।४६-५१

८- सौवर्णराजताब्जमणिमयानां निर्लेपानामद्भिः शुद्धिः। - वि २३।७

छिड़कने से शुद्ध होती हैं।[१] समिध् को जल छिड़ककर पवित्र करने के अनन्तर ही श्रौत या स्मार्त कर्मों में अग्नि पर रखने का नियम है।[२] घृत आदि जैसे द्रव की शुद्धि छानने से होती है।[३] घर की शुद्धि झाड़ू से झाड़ने तथा गोबर से लीपने से, पुस्तक की शुद्धि जल छिड़कने से और भूमि की शुद्धि छीलने और गोबर से लीपने, जल छिड़कने, अग्नि जलाने एवं गायों के चलने से होती है।[४] सबसे अधिक अपवित्र उन वस्तुओं को माना गया है, जो शरीर के मल से, सुरा या मद्य पदार्थों से दूषित होती हैं।[५] धर्मसूत्रों में प्रयोग में लाये जाने वाले वस्त्रों की शुद्धि के भी नियम हैं। वस्त्र के ऊपर जल छिड़ककर ही उन्हें पहनना चाहिए।[६] यदि वस्त्र अत्यन्त अपवित्र हो जाय तो धोने पर जितने भाग का रंग बदल जाय उतने को काटकर अलग कर देना चाहिए।[७]

पात्रों की शुद्धि के नियम देते हुए बौधायन ने कहा है कि यदि धातु के पात्र अपवित्र व्यक्तियों द्वारा छू लिये गये हों तो उन्हें रगड़कर धोना चाहिए।[८] किन्तु कुत्ता, कौवा या अन्य अपवित्र पशु या पक्षी के छू लेने पर उन पात्रों को उतनी देर तक अग्नि में रखने का नियम है जब तक वे अग्नि के वर्ण के न हो जायँ।[९] पात्र की शुद्धि जल, हाथ, काष्ठ, दण्ड और अग्नि से भी कही गयी है। वसिष्ठ ने स्नातक को यह निर्देश दिया है कि पात्र को जल और दाहिने हाथ से धोये। ऐसा करनेसे वह अग्नि से धोने के समान माना जाता है।[१०] बौधायन ने गोबर, मिट्टी और भस्म से जूठे धातुपात्रों की शुद्धि बतायी है।[११] जो मिट्टी के पात्र स्पर्शमात्र से दूषित हों उनकी शुद्धि अग्नि पर दाह करने से होती है।[१२] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार लोहे आदि के पात्र भस्म रगड़ने से

१- वि २३।१५-१७
२- नाऽप्रोक्षितमिन्धनमग्नावदध्यात्।- आप १।१५।१२
३- वि २३।३० उत्पवनेन द्रवाणाम्।
४- वि २३।५६-५७
५- वि ध सू २३।१
६- प्रोष्य वास उपयोजयेत्।- आप १।१५।१५
७- वि २३।६
८- बौ ध सू १।१४।५
९- बौ १।६।४
१०- व १२। १५-१६
११- तेजसानामुच्छिष्टानां गोशकृन्मृद्भस्माभिः परिमार्जनमन्यतमेन वा। - बौ १।८।२७
१२- अमत्राणां दहनम्।- बौ १।८।२६

और लकड़ी का पात्र छीलने से पवित्र होता है। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला पात्र वेद में बतायी गयी विधि से शुद्ध होता है।[१] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार लोहे के पात्र यदि अत्यन्त अपवित्र हों तो अग्नि पर रखने से शुद्धि होती है।[२] मणि, पत्थर और शंख की वस्तुएँ सात दिनों तक पृथ्वी में गाड़ने से शुद्ध होती हैं। सींग, हाथी के दाँत या अस्थि के पात्र काटने से शुद्ध होते हैं। लकड़ी और मिट्टी के पात्रों को त्याग देना चाहिए।[३] पत्थरों और मणियों की शुद्धि गोबर, मिट्टी तथा भस्म से होती है।[४] रेशमी वस्त्रों के समान ही शंख, सीप, सींग तथा हाथी दाँत की वस्तुओं की शुद्धि पीले सरसो के लेप करने से होती है अथवा दूध से धोने से भी वे शुद्ध हो जाती हैं।[५] बाँस से बने हुए उपकरण गोबर से शुद्ध होते हैं।[६] विष्णुधर्मसूत्र[७] में भी ताँबे, टिन, लोहे, लकड़ी और फलों से बने पात्रों की शुद्धि के नियम दिये गये हैं।

पशुओं में कुत्ते को अपवित्र माना गया है। आपस्तम्ब के अनुसार यदि कुत्ते का स्पर्श हो जाय तो वस्त्र पहने हुए स्नान करे। कुत्ते द्वारा स्पर्श किये गये स्थान को धोकर अग्नि का स्पर्श कराना चाहिए और पुनः उस स्थान को जल से धोकर पैरों को धोने एवं आचमन करने से शुद्धि होती है।[८] किन्तु बिल्ली के मुख से स्पर्श होने पर पका हुआ भोजन दूषित नहीं माना गया है।[९] भूमि की शुद्धि के चार साधन बताये गये हैं- खोदना, जलाना, खुरचना और गायों को बाँधना। गोबर से लीप कर भी शुद्धि होती है।[१०] किसी अपवित्र वस्तु की शुद्धि उसके लेप एवं गन्ध के दूर होने पर जल और मिट्टी से होती है।[११] जिस वस्तु की पवित्रता के विषय में सन्देह हो उस पर जल छिड़क

१- आप १।१७।११-१३
२- वि २३।६-१०
३- वि २३।२-५
४- तेजसवदुपलमणीनाम्।- बौ १।८।३६
५- क्षौमवच्छंखशृङ्गशुक्तिदन्तानाम् पयसा वा।- बौ १।८।४१,४३
६- वैणवानां गामयेन।- बौ १।८।३१
७- वि २३।२५-२८
८- आप १।१५।१६-१७
९- व १४।२७ मार्जारमुखसंस्पृष्टं शुचि एव हि तद्भवेत्।
१०- खननाद्दहनाद्धर्षाद्गोभिराक्रमणादपि।
चतुर्भिः शुध्यते भूमिः पञ्चमाच्चोपलेपनात्॥- व ३।५७
११- लेपगन्धापकर्षणे शौचममेध्यलिप्तस्याद्भिर्मृदा च।- व ३।४८

देने से शुद्धि मानी जाती है। इसी प्रकार शय्या, यान और आसन के शूद्र द्वारा स्पर्श किये जाने पर जल छिड़कने से शुद्धि होती है। अन्न, चर्म, रस्सी, बुना गया वस्त्र, बाँस, सूत और रूई की वस्तुएँ भी जल छिड़कने से शुद्ध होती हैं।[१]

यदि आर्य जन की अनुपस्थिति में शूद्र ने भोजन तैयार किया हो, तो उसे अग्नि के ऊपर रखकर एवं उस पर जल छिड़ककर शुद्ध करने का नियम है। इस प्रकार वह अन्न देवों को अर्पित करने योग्य हो जाता है।[२] वस्त्र से स्पर्श किया गया, केशयुक्त और कीड़े वाला अन्न अभोज्य होता है। ऐसे अन्न को केश और कीट निकाल कर जल एवं भस्म बिखेर कर वाणी से शुद्ध किया जाता है।[३] शर्करा, ईख से बनायी गयी वस्तुएँ अधिक मात्रा में होने पर जल और अग्नि से शुद्ध होती हैं। इसी प्रकार नमक की भी शुद्धि होती है।[४] विना कूटे हुए दूषित अन्न को अलग निकाल देना चाहिए। शेष भाग कूटने और धोने से शुद्ध होता है। यदि अन्न एक द्रोण से अधिक मात्रा में हो तो वह अपवित्र पशुओं द्वारा दूषित नहीं होता। उसके दूषित अंश को निकालकर गायत्री से अभिमन्त्रित कर सुवर्ण का जल छिड़कने से शुद्धि होती है।[५] कूप में पशु मरने पर उसकी शुद्धि सम्पूर्ण जल निकाल देने पर होती है।[६]

कमण्डलु का महत्त्व

धर्मसूत्रों में आचार-विषयक नियमों के अन्तर्गत कमण्डलु का महत्त्व बताने वाले अनेक वाक्य हैं। जल शुद्धि का प्रधान साधन है और इसलिए जल की आवश्यकता पूरी करने वाला कमण्डलु शुद्धि का उपकरण है। बौधायनधर्मसूत्र में आये हुए एक उद्धरण के अनुसार 'ब्रह्मा तथा प्रमुख मुनियों ने प्राचीन काल में द्विजातियों की शुद्धि के लिए कमण्डलु का विधान किया है। अतः कमण्डलु सदैव धारण करना चाहिए। जो अपने कल्याण की कामना करता हो उसे विना शंका के कमण्डलु से ही शरीर की शुद्धि करनी चाहिए, उसी से जल पीना चाहिए और उसी से सन्ध्योपासना[७]

१- वि २३।१२-१४
२- आप २।३।६
३- व १४।२२-२३
४- वि २३।३१-३२
५- वि २३।३५-३६
६- वि २३।४४-४५
७- बौ १।७।१

भी करनी चाहिए। बौधायन ने यह मत भी दिया है कि कमण्डलु के विना बाण पहुँचने की दूरी से एक पग भी आगे नहीं जाना चाहिए।[१] यदि अपने धर्म का अनवरत पालन करना चाहे तो कमण्डलु के विना कहीं न जाय। उन्होंने कमण्डलु का महत्त्व विस्तरेण प्रतिपादित करते हुए कहा है- 'शुद्धचित्त होकर कमण्डलु से सभी कार्य करने चाहिए और अपना मन दूषित नहीं करना चाहिए। स्वयंभू ब्रह्म भी कमण्डलु के साथ उत्पन्न हैं। अतः कमण्डलु के जल का ही व्यवहार करना चाहिए।[२] जिस प्रकार सोमरस का संयोग होने से यज्ञ का पात्र चमस् पवित्र रहता है उसी प्रकार जल के संयोग से कमण्डलु पवित्र माना गया है।[३] कमण्डलु के विना कहीं भी यात्रा निषिद्ध है। यहाँ तक कि ग्राम की सीमा की ओर अथवा एक घर से दूसरे घर को भी विना कमण्डलु के जाना वर्जित किया गया है।[४] कमण्डलु के महत्त्व के सन्दर्भ में बौधायन ने एक ऋचा का भी निर्देश किया है।[५] कमण्डलु की शुद्धि के लिए यह नियम दिया गया है कि कुश या अन्य प्रकार का तृण जलाकर दाहिने हाथ को नीचे करते हुए उसे चारो ओर से गरम किया जाय।[६] यदि कमण्डलु से हाथ-पैर धोया गया हो तो वह तब तक अशुद्ध रहता है जब तक हाथ-पैर जल से गीले हों। कमण्डलु के जल से हाथ-पैर धोने के बाद दूसरे जल से कलाई तक हाथ धोने का भी नियम है।[७] पितृसम्बन्धी, देव तथा अग्निसम्बन्धी कार्यों में कमण्डलु का प्रयोग वर्जित किया गया है।[८]

आशौच के आचार

धर्मसूत्रों में शुद्धिविषयक आचारों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत न केवल मानसिक एवं शारीरिक शुद्धि के नियम आते हैं, अपितु मृत्यु अथवा शिशुजन्म

१- बौ १।७।८,९ पदमपि न गच्छेदिषुमात्रादित्येके यदिच्छेद्धर्मसन्ततिमिति बौधायनः।

२- बौ १।७।२

३- यथा हि सोमसंयोगाच्चमसो मेध्य उच्यते।
अपां तथैव संयोगान्नित्यो मेध्यः कमण्डलुः।।- बौ १।७।५

४- तस्माद्विना कमण्डलुना नाध्वानं ब्रजेन्न सीमान्तं न गृहाद्गृहम्।- बौ १।७।७

५- बौ १।७।१० ६- तदेव१।६।३ ७- तदेव,१।६।१५,१६

८- पितृदेवाग्निकार्येषु तस्मात्तं परिवर्जयेत्।- बौ १।७।६

के अवसरों पर सम्बन्धियों को होने वाली अशुद्धि के नियम भी समाविष्ट हैं। इस काल को आशौच कहा गया है।[1] सभी धर्मसूत्रों में आशौच के आचारों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। विशेषतः मृत्युनिमित्तक आशौच के नियम ही अधिक हैं। आशौच की अवधि मृत व्यक्ति अथवा उत्पन्न शिशु से जो जितना अधिक या कम संबद्ध है उसी आधार पर अधिक या कम निर्धारित की गयी है। यहाँ हम धर्मसूत्रों के आधार पर इन शौचाचारों का विवेचन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं-
(१) मृत्युनिमित्तक आशौच के आचार, (२) जन्मनिमित्तक आशौचाचार।

(१) मृत्युनिमित्तक आशौचाचार

मृत्युविषयक आशौच की अवधि भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न निर्धारित की गयी है, यथा ब्राह्मण के लिए दस दिन, क्षत्रिय के लिए ग्यारह दिन, वैश्य के लिए तेरह दिन तथा शूद्र के लिए एक मास। कुछ आचार्यो के अनुसार वैश्य के लिए अर्द्धमास का आशौच होता है। यह आशौच ऋत्विक्, दीक्षित और ब्रह्मचारी को छोड़कर सपिण्डों के लिए होता है।[2] सपिण्डता की व्याख्या करते हुए बौधायन कहते हैं 'सपिण्डता त्वासप्तमात् सपिण्डेषु' अर्थात् सातवीं पीढी के पुरुष तक सपिण्डता मानी जाती है। अपने पूर्व की छः तथा बाद की छः पीढ़ियाँ किसी व्यक्ति की सपिण्ड होती हैं।[3] किन्तु अन्यत्र सपिण्डता को स्पष्ट करते हुए बौधायन ने इसके अन्तर्गत प्रपितामह, पितामह, पिता, स्वयम्, एक ही माता-पिता से उत्पन्न सहोदर भाई, सवर्णा पत्नी के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र को सम्मिलित किया है और प्रपौत्र के पुत्र की सपिण्ड में गणना न

१- अशुचेर्भावः आशौचम्। 'कर्मण्यनधिकारोऽभोज्यान्नताऽस्पृश्यतादानादिष्वनधिकारिता।'

२- शावमशौचं दशरात्रमनृत्विग्दीक्षितब्रह्मचारिणां सपिण्डानाम्। एकादशरात्रं क्षत्रियस्य। द्वादशरात्रं वैश्यस्यार्धमासमेके। मासं शूद्रस्य।- बौ २।५।१-४
सपिण्डेष्वादशाहमाशौचमिति जननमरणयोरधिकृत्य वदन्त्यृत्विगदीक्षितब्रह्मचारिवर्जम्। - बौ १।११।१

३- बौ १।११।२ तथा गोविन्दस्वामी भाष्य 'तस्यात्मानमधिकृत्य प्रागूर्ध्वं च षट्सु पुंस्सु भवति। सपिण्डत्वं साप्तपुरुषं विज्ञायते।- व ४।१७
सपिण्डता च पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।- वि २२।५

होने का उल्लेख किया है। गौतम ने पाँचवें या सातवें पुरुष तक सपिण्डता मानी है।[1]

वसिष्ठ ने चारो वर्णों के लिए मृत्युविषयक आशौच की अवधि क्रमशः दस, पन्द्रह, बीस दिन तथा एक मास बतायी है।[2] किन्तु विष्णुधर्मसूत्र में यह अवधि क्रमशः दस, बारह, पन्द्रह दिन तथा एक मास की दी गयी है।[3] शिशु की मृत्यु पर आशौच की अवधि अत्यल्प है। बौधयनधर्मसूत्र के अनुसार यदि सात मास पूरा होने से पूर्व या दाँत निकलने से पूर्व किसी बालक की मृत्यु होती है तो केवल स्नान कर लेने से ही सपिण्डों की शुद्धि होती है। ऐसे बालक का शव अग्नि में नहीं जलाया जाता है और न उसके लिए पिण्डोदक दान का कर्म किया जाता है।[4]

स्त्री की मृत्यु के सन्दर्भ में धर्मसूत्रों में कुछ विशेष व्यवस्था दी गयी है। बौधायनधर्मसूत्र में अविवाहिता पुत्रियों के लिए पिण्डोदकदान क्रिया निषिद्ध है, किन्तु यह मत भी उल्लिखित है कि कुछ लोग अविवाहिता पुत्रियों की मृत्यु पर पिण्डोदक दान की क्रिया करते हैं। धर्मसूत्र इस प्रकार के कर्म को लोकसंग्रहणार्थ मानता है, शास्त्रसम्मत नहीं, क्योंकि मृत स्त्रियों के लिए मन्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। स्त्रियों का मन्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मृत विवाहिता स्त्रियों के बान्धवों के लिए तीन दिन का तथा सहोदर भाइयों के लिए सामान्य आशौच काल ही विहित है।[5] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यदि विवाहिता पुत्रियों का प्रसव या मरण पितृगृह में हो तो

१- अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्याःभ्रातरः सवर्णाया पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रस्तत्पुत्रवर्जं तेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायादं सपिण्डानाचक्षते।- बौ १।११।७
पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वा।- गौ २।५।१२

२- व ४।२७-३०

३- वि २२।१-४

४- आसप्तमासादादन्तजननाद्वोदकोपस्पर्शनम्। पिण्डोदकक्रिया प्रेते नाऽत्रिवर्षे विधीयते॥
आदन्तजननाद्वापि दहनं च नकारयेत्॥- बौ १।११।३,४

५- अप्रत्तासु च कन्यासु प्रत्तास्वेके च कुरुते।
लोकसंग्रहणार्थं हि यदमन्त्रस्त्रियो मताः ॥
स्त्रीणां कृतविवाहानां त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेन कल्पेत शुध्यन्ति च सनाभयः॥ - बौ १।११।५,६

एक रात्रि या तीन रात्रियों का आशौच होता है।[१] कुछ विशेष स्थितियों में मृत्यु होने पर आशौच का समय शव- संस्कार के बाद स्नान करने की अवधि तक होता हैं यथा गौ या ब्राह्मण की रक्षा के लिए मृत, राजा के क्रोध से, युद्ध में मृत, महाप्रस्थान कर, उपवास, शस्त्र, अग्नि, विष, जल, बन्धन, प्रपतन आदि द्वारा अनिच्छापूर्वक मृत व्यक्तियों के लिए अथवा आत्महत्या करने वालों के लिए शवसंस्कारोत्तर स्नान तक आशौच होता है।[२]

धर्मसूत्रों में पक्षिणी आशौच का भी उल्लेख है। यह आशौच दो दिनों और उनके मध्य की रात्रि के लिए अथवा दो रात्रियों और उनके मध्यवर्ती दिन के लिए होता है। गौतम के अनुसार असपिण्ड योनिसंबन्ध वाले जैसे नाना, मौसी उनके पुत्रादि, विवाहिता स्त्रियों के पिता और बहन आदि तथा एक ही गुरु के सहपाठी की मृत्यु पर पक्षिणी आशौच होता है।[३] बौधायन ने ऐसे मृत पुरुषों के विषय मे जो सपिण्ड न हों, संबन्ध की निकटता के आधार पर तीन दिन-रात्रि, एक दिन-रात्रि, एक दिन अथवा उससे कम का आशौच मानते हुए आचार्य, उपाध्याय और उनके पुत्रों की मृत्यु होने पर क्रमशः तीन रात्रियों तथा एक दिन का आशौच विहित किया है। इन्हीं के अनुसार ऋत्विक् की मृत्यु पर तीन रात्रियों का और शिष्य, एक ही गुरु के विद्यार्थी तथा एक साथ ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाले की मृत्यु पर क्रमशः तीन रात्रि, एक दिन एवं रात्रि तथा एक रात्रि का आशौच होता है।[४] गौतम के अनुसार सब्रह्मचारी एवं श्रोत्रिय की मृत्यु पर भी दिन-रात का आशौच होता है।[५] आचार्य, उनके पुत्र, उनकी पत्नी, यजमान और शिष्य की मृत्यु पर तीन दिन का आशौच होता है।[६]

१- संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं पितृपक्षे।
तत्प्रसवमरणे चेत्पितृगृहे स्यातां तदेकरात्रं त्रिरात्रं च।- वि २२।३३-३४

२- गोब्राह्मणहतानामन्वक्षम्। राजक्रोधाच्च। युद्धे।
प्रायोनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्।- गौ २।५।८-११

३- असपिण्डे योनिसंबन्धे सहाध्यायिनि च।-गौ २।५।१८

४- बौ १।११।२५-२८

५- सब्रह्मचारिण्येकाहम्। श्रोत्रिये चोपसंपन्ने।- गौ २।५।१९,२०

६- आचार्यतत्पुत्रस्त्रीयाज्यशिष्येषु चैवम्।- गौ २।५।२६

आपस्तम्बधर्मसूत्र में आशौच के विषय में अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा कम नियम दिये गये हैं। एक वर्ष की कम आयु के बालक की मृत्यु पर सपिण्डों को स्नान करने की आवश्यकता नहीं होती, केवल उनके माता-पिता और शव ले जाने वाले को ही स्नान करना होता है।[१] पत्नी, आचार्य, माता या पिता की मृत्यु पर दूसरे दिन जिस समय मृत्यु हुई हो उस समय तक उपवास करने का नियम भी मिलता है।[२] इनकी मृत्यु पर शोक-चिह्न धारण कर, केशों को बिखराकर, धूल लपेटकर केवल एक वस्त्र धारण करे, दक्षिणाभिमुख होकर बैठे, नदी में प्रवेश कर जल की अञ्जलि प्रदान करे।[३]

धर्मसूत्रों में एक आशौच की अवधि के भीतर दूसरे आशौच के पड़ने की स्थिति के लिए भी व्यवस्था की गयी है। यथा, गौतम के अनुसार प्रथम आशौच के जितने दिन अवशिष्ट हों उतने ही दिनों में दूसरे आशौच की भी शुद्धि हो जाती है और यदि जिस दिन प्रथम आशौच समाप्त हो रहा हो उसी दिन प्रातःकाल दूसरा आशौच आरम्भ हो, तो उसकी शुद्धि तीन रात्रियों में होती है।[४] बौधायनधर्मसूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि एक आशौच काल के नवें दिन के पहले ही दूसरा आशौच आरम्भ हो, तो प्रथम आशौच के काल की समाप्ति पर दोनो की शुद्धि हो जाती है।[५] वसिष्ठ तथा विष्णुधर्मसूत्र के मत भी गौतम के समान ही हैं।[६] ये आशौचाचार जन्म तथा मृत्यु दोनो ही अवसरों के लिए हैं। बौधायन के अनुसार जन्म और मृत्यु का सन्निपात हो तो दोनो के लिए एक आशौच काल होता है।[७]

१- आप २।१५।२-४

२- भार्यायां परमगुरुसंस्थायां चाकालभोजनम्।- आप २।१५।५
हरदत्त की व्याख्या- 'अपरेद्युः आ तस्मात् कालात् अभोजनं च।'

३- आप २।१५।६-८

४- गौ २।५।५-७

५- जननमरणयोस्सन्निपाते समानो दशरात्रः।- बौ १।११।१५

६- तच्चेदन्तः पुनरापतेच्छेषेण शुध्येरन्। रात्रिशेषे द्वाभ्याम्। प्रभाते तिसृभिः।- व ४।२४-२६
जननाशौचमध्ये यद्यपरं जननाशौचं स्यात्तदा पूर्वाशौचव्यपगमे शुद्धिः।
रात्रिशेषे दिनद्वयेन। प्रभाते दिनत्रयेण। मरणाशौचमध्ये ज्ञातिमरणेऽप्येवम्।
- वि २२।३५-३८

७- बौ १।११।१५

यदि मृत्यु या जन्म अन्यत्र हुआ हो तो उसका समाचार सुनने के समय आशौच काल के जितने दिन अवशिष्ट हों, उतने ही दिनों में शुद्धि हो जाती है।[1] आशौचकाल बीत जाने पर किन्तु एक वर्ष के भीतर समाचार जानने पर एक रात्रि का आशौच होता है, परन्तु यदि एक वर्ष से अधिक समय बीत गया हो तो समाचार सुनने के बाद स्नान से ही शुद्धि हो जाती है। आचार्य तथा मातामह की मृत्यु पर आशौचकाल बीतने के बाद समाचार जानने पर तीन रात्रियों का, अनौरस पुत्र के जन्म या मरण, आचार्य की पत्नी, उनके पुत्र, उपाध्याय, मातुल, श्वसुर, श्वसुर के निकट संबन्धी , एक साथ अध्ययन करने वाले तथा शिष्य की मृत्यु के बाद दस रात्रियाँ व्यतीत होने पर एक रात्रि का आशौच होता है। अपने देश के राजा की मृत्यु पर तथा अपने घर में किसी असपिण्ड की मृत्यु होने पर एक रात्रि का आशौच होता है।[2]

विष्णुधर्मसूत्र में कुछ व्यक्तियों के लिए यह नियम दिया गया है कि वे अपने कर्तव्यपालन में आशौच के नियमों से मुक्त होते हैं। यथा, राजा के लिए प्रजापालन के उपयुक्त कर्मों, होम, दान, न्याय कर्म आदि में आशौच नहीं होता। इसी प्रकार व्रत करने वाले के लिए व्रत कार्य में, सत्र आरम्भ करने वाले के लिए सत्र चलते रहने पर, शिल्पी के लिए अपने कर्म में, राजा के कर्मचारियों के लिए राजा की इच्छानुसार, मूर्त्तिप्रतिष्ठा या विवाह का कार्य पहले प्रारम्भ हो जाने की स्थिति में आशौच नहीं होता।[3]

गर्भपातनिमित्तक आशौच

शाव आशौच के अन्तर्गत ही गर्भपातनिमित्तक आशौच के नियम भी आते हैं। गौतम के अनुसार गर्भपात होने पर जितने मास का गर्भ रहा हो उतनी रात्रियों का अथवा कम से कम तीन दिन का आशौच होता है।[4] बौधायनधर्मसूत्र में गर्भपात का

१- श्रुत्वा देशान्तरस्थो जननमरणे आशौचशेषेण शुध्यति।-वि २२।३८

२- वि २२।३९-४६; तुलना० व ४।३६देशान्तरस्थे प्रेत ऊर्ध्वदशाहाच्छ्रुत्वैकरात्रमाशौचम्।

३- वि २२।४८-५३

४- गर्भमाससमा रात्रीः स्रंसने गर्भस्य। त्र्यहं वा।- गौ २।५।१५-१६
व्याख्याकार हरदत्त ने एक पद्य उद्धृत करते हुए गर्भपात को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

आशौच स्त्रियों के लिए ही विहित है। वसिष्ठ ने गर्भपात की स्थिति में भी उतना ही आशौच माना है जितना दो वर्ष से कम आयु के बालक की मृत्यु पर। उनके मतानुसार गर्भपात का आशौच सपिण्डों के लिए भी होता है।[१] उन्होंने गौतम के इस मत का उल्लेख किया है कि इस स्थिति में तत्काल ही शुद्धि होती है, किन्तु गौतमधर्मसूत्र में इस प्रकार का नियम उपलब्ध नहीं होता।[२] विष्णुधर्मसूत्र में भी गर्भमास के बराबर दिन-रात्रियों का आशौच माना गया है, किन्तु उत्पन्न होते ही मर जाने वाले या मृत रूप में प्रसूत के लिए तत्काल शुद्धि का विधान है।[३]

शाव आशौच के कतिपय आचार शारीरिक स्वच्छता एवं सुख के परित्याग से संबद्ध हैं। यथा गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि सभी सपिण्ड भूमि पर शयन करें, भूमि पर ही बैठें, चटाई या आसन का प्रयोग न करें, ब्रह्मचर्य का आचरण करें अर्थात् स्त्री-प्रसंग से विरत रहें। शरीर की मैल साफ करना तथा मांस का भक्षण करना भी निषिद्ध है।[४] जन्म या मृत्युनिमित्तक आशौच में दान, यज्ञ, दानग्रहण तथा स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्यों का निषेध तो होता ही है।

शवानुगमन एवं शवोपस्पर्शन का आशौच

धर्मसूत्रों में शवयात्रा में सम्मिलिन होने अथवा शव का स्पर्श करने पर भी अशुद्धि का विधान किया गया है। गौतम के अनुसर वेतन आदि लेकर शव का उपस्पर्शन अर्थात् दाहकर्म आदि करने पर दस दिन का सामान्य आशौच होता है। वैश्य और शूद्र के लिए भी इस स्थिति में क्रमशः बारह रात्रियों तथा अर्धमास का अथवा ऋतुओं की संख्या के बराबर रात्रियों तक आशौच होता है। एक अन्य विकल्प यह

'चौथे मास तक गर्भ का स्राव होता है, पाँचवे और छठे मास में गर्भपात और उससे अधिक मास के स्राव को प्रसव कहते हैं।

१- ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रमाशौचम्।- व ४।३४

२- सद्यः शौचमिति गौतमः।- व ४।३५

३- मासतुल्यैरहोरात्रैर्गर्भस्रावे। जातमृते मृतजाते वा कुलस्य सद्यः शौचम्।- वि २२।२५-२६

४- अधःशय्यासनिनो ब्रह्मचारिणः सर्वे। न मार्जयीरन् न मांसं भक्षयेयुरा प्रदानात्॥
- गौ २।५।३५-३७

भी है कि सभी के लिए तीन दिनों का आशौच हो।[१] शव ले जाने एवं उसका दाह करने वाले के लिए मृत व्यक्ति जिस वर्ण का हो, उसके वर्ण के लिए विहित अवधि का अशुद्धिकाल होता है। यदि निम्न वर्ण का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ण के व्यक्ति का शवनिर्हरण करता है, तो उच्च वर्ण के अनुसार और यदि उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण के व्यक्ति की अन्त्येष्टि करता है तो निम्नवर्ण के अनुसार आशौच होता है।[२] शव का स्पर्श मात्र करने पर अथवा दाहकर्म के लिए ले जाये जाते हुए अनुगमन करने पर वस्त्रों के साथ स्नान कर लेने से ही शुद्धि होती है[३] किन्तु जैसा कि भाष्यकार हरदत्त ने निर्देश किया है यह नियम सजातीय के शव का अनुगमन या स्पर्श करने की स्थिति के लिए है।

अन्य वर्ण वाले मृत व्यक्ति के सन्दर्भ में अशुद्धि के नियम भिन्न-भिन्न हैं। बौधायनधर्मसूत्र में भी अनजान में असपिण्ड का शव छूने पर वस्त्रों के साथ स्नान करने से शुद्धि मानी गयी है और जानबूझकर स्पर्श करने पर तीन दिन तथा रात्रि का आशौच बताया गया है।[४] विष्णुधर्मसूत्र में भिन्न वर्ण के मृत व्यक्ति का शवानुगमन करने पर निम्नलिखित शुद्धि के आचार विहित हैं- यदि द्विजाति शूद्र के शव का अनुगमन करता है तो नदी में प्रवेश कर तीन बार अघमर्षण मन्त्र का तथा एक हजार आठ बार गायत्री का जप करे। द्विजाति के शव का अनुगमन करने पर एक सौ आठ बार गायत्री का जप करे। यदि शूद्र शवानुगमन करता है तो स्नान करने से ही शुद्ध हो जाता है। चिता का धुआँ लगने पर सभी वर्णों के लिए स्नान करना अनिवार्य नियम है।[५]

१- प्रेतोपस्पर्शने दशरात्रमाशौचमभिसन्धाय चेत्। उक्तं वैश्यशूद्रयोः। आर्तवीया। पुत्रयोश्च। -गौ २।५।२१-२४ की हरदत्त की व्याख्या- ऋतुएँ छः या हेमन्त और शिशिर को मिलाकर पाँच हैं। गौ २।५।२५ त्र्यहं वा।

२- अवरश्चेत् वर्णः पूर्ववर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं तत्र शवोक्तमाशौचम्।-गौ २।५।२७

३- गौ २।५।२८-२६

४- परशवोपस्पर्शनेऽभिसन्धिपूर्वं सचेलोऽपः स्पृष्ट्वा सद्यश्शुद्धो भवति। अभिसन्धिपूर्वं त्रिरात्रम्। - बौ १।११।३०-३१

५- वि २२।६२-६६

(२) जन्मनिमित्तक आशौच

शिशु का जन्म होने पर भी आशौच माना गया है। इस आशौच को सूतक भी कहा गया है। जन्मनिमित्तक आशौच भी मृत्युनिमित्तक आशौच के समान ही होता है, अर्थात् यह भी वर्णानुसार दस रात्रियों, ग्यारह रात्रियों, बारह रात्रियों या अर्धमास तथा एक मास का होता है और इसमें भी आशौच की अवधि के भीतर दूसरा जन्मनिमित्तक आशौच आ पड़ने पर प्रथम आशौच की अवधि में ही शुद्धि का नियम निर्दिष्ट है।[1] जन्मविषयक आशौच किसके लिए हो इस विषय में धर्मसूत्रों में कुछ विवाद दिखायी पड़ता है। गौतम के अनुसार जन्मनिमित्तक आशौच जातक के माता-पिता को अथवा केवल माता को होता है।[2] यतः शिशुजन्म में प्रमुख भूमिका माता की ही होती है, अतः यह आशौच केवल माता के लिए ही माना गया है, किन्तु माता और पिता दोनो से शिशु का संबन्ध होने के कारण दोनो का भी आशौच हो सकता है।[3] बौधायनधर्मसूत्र में तीन विकल्पों का उल्लेख है, यथा यह आशौच माता-पिता दोनो के लिए होता है, अथवा केवल प्रसूता के लिए होता है, क्योंकि उसी के स्पर्श आदि का वर्जन किया जाता हे, अथवा केवल पिता के लिए होता है, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में पिता के वीर्य की ही प्रधानता होती है।[4] वसिष्ठ ने यह अशुद्धि माता-पिता अथवा केवल माता के लिए मानी है और एक उद्धरण द्वारा माता की अशुद्धि का समर्थन किया है। इस उद्धरण के अरुसार सूतक में यदि पुरुष स्पर्शादि कर्म नहीं करता, तो उसकी अशुद्धि नहीं होती। सूतक में अशुद्धि रज के कारण होती है और यह पुरुष से संबद्ध नहीं होता, अतः पिता की अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता।[5] किन्तु आशौच माता और पिता दोनो के

१- गौ २।५।१३ जननेऽप्येवम्।   २- मातापित्रोस्तन्मातुर्वा- गौ २।५।१४

३- हरदत्त ने गौ २।५।१४ की व्याख्या में कई स्मृतिकारों के वचन उद्धृत किये हैं जिनमें मनु ने यह आशौच माता-पिता दोनो के लिए माना है, किन्तु याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा तथा पैठीनसि ने केवल माता के लिए माना है।

४- जनने तावन्मातापित्रोर्दशाहमाशैचम्। मातुरित्येके तत्परिहरणात्। पितुरित्यपरे शुक्लप्राधान्यात्। - बौ १।११।१७-१८

५- अथाप्युदाहरन्ति-नाशौचं सूतके पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति।
रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते॥ - व ४।२३

लिए होता है, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में दोनो का संसर्ग समान होता है।[१]

गुरुजनों के प्रति आचार-नियम

धर्मसूत्रों में अनेक व्यावहारिक आचार-नियम दिये गये हैं। अपने गुरुजनों, छोटों, स्त्रियों और सेवकों आदि के साथ किन स्थितियों में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसके निर्देश प्रायः सभी धर्मसूत्रों में विखरे हुए हैं। बौधायन ने यह निर्देश दिया है कि पूज्य व्यक्तियों का सम्मान करे।[२] गुरु के प्रति अत्यधिक सम्मान देने का उपदेश सभी धर्मसूत्रों में है। आपस्तम्ब के अनुसार गुरु की ओर पैर फैलाकर नहीं सोना चाहिए । उनके समीप असावधानी के साथ बैठकर आलाप नहीं करना चाहिए।[३] जिस स्थान पर आसन देकर गुरु को सम्मानित न किया गया हो वहाँ शिष्य को स्वयं नहीं बैठना चाहिए।[४] अपने आचार्य को सर्वाधिक सम्मान देने का नियम विहित है। यदि आचार्य निकट हों और वहाँ माता-पिता भी उपस्थित हों तो केवल आचार्य का चरणस्पर्श विहित है। इसी प्रकार आचार्य के निकट विद्यमान रहने पर यदि माता-पिता या स्वयं आचार्च का भी गुरु आवे तो उठकर उनका स्वागत करना वर्जित किया गया है।[५] गुरु का सभी प्रकार से अनुगमन् करना चाहिए। यदि वे चल रहे हों तो उनके पीछे चले और दौड़ रहें हों तो उनके पीछे दौड़े। उनके मुस्कराने पर मुस्कराये, उनके उठने पर उठे तथा बैठने पर बैठे।[६]

धर्मसूत्र ने गुरु के प्रति आराध्य देव जैसी भावना रखने का उपदेश दिया है और उनके समक्ष व्यर्थ की बात न करने एवं उनका वचन ध्यान से सुनने का निर्देश किया है।[७] गुरु के समीप बैठने में उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अनेक कर्म वर्जित किये गये हैं, जैसे यदि वायु शिष्य की ओर से गुरु की ओर बह रही हो तो दिशा

१- मातापित्रोरेव तु संसर्गसामान्यात्।- बौ १।११।२१

२- पूज्यान् पूजयेत्।- बौ २।६।३५

३- आप १।६।३,५

४- तदेव, १।६।२६

५- तदेव १।६।२८, ३१

६- तदेव १।६।८,९ तथा २।५।६

७- देवपित्राचार्यामुपासीताऽविकथयन्नविमना वाचं शुश्रूषमाणोऽस्य।- आप १।६।१३

बदल देनी चाहिए। गुरु के समीप टाँग पर टाँग रखकर, पृथ्वी पर हाथ रखकर या दीवाल आदि का अवलम्ब लेकर न बैठे। उनसे बहुत दूर या बहुत निकट बैठना भी वर्जित है।[१] गुरु के समक्ष अपनी किसी प्रकार की प्रशंसा न करे।[२] गुरु के निकट रहने पर उनकी अपेक्षा हीन आसन, शय्या , भोज्य पदार्थ एवं वस्त्र विहित हैं।[३] निम्मलिखित कर्म भी गुरु के निकट होने पर वर्जित किये गये हैं- मूत्र या मलत्याग, अपानवायु का त्याग, उच्च स्वर में बोलना, हँसना, थूकना, दाँत और नाक साफ करना, भौहें टेढ़ी करना, ताली बजाना, अंगुली चटकाना, स्त्री या बच्चों का आलिंगन, चुम्बन, उनसे मधुर भाषण तथा गुरु के वाक्य का खण्डन।[४]

गुरुजनों के लिए 'त्वम्' का प्रयोग निषिद्ध है। इस प्रकार के असम्मानजनक भाषण के लिए उपवास करने का प्रायश्चित्त है। गुरु के साथ कलह या विवाद, उन पर दोषारोपण और उनका अप्रिय कार्य निषिद्ध है।[५] गुरुके अत्यन्त निकट होकर अभिवादन भी वर्जित है।[६] आचार्य के अतिरिक्त माता-पिता को भी प्रतिदिन प्रणाम करना विहित है।[७] माता-पिता, आचार्य और अग्नि के समीप एवं घर में खाली हाथ जाना वर्जित है। यदि राजा से पहले परिचय न हो, तो उसके समीप भी रिक्तपाणि जाना अनुचित समझा जाता था।[८] विष्णुधर्मसूत्र ने गुरुजनों के सम्मान-विषयक निम्नलिखित नियम भी दिये हैं- 'पिता, माता और आचार्य की शुश्रूषा करे। वे जो कहें उसका पालन करे। उनका प्रिय एवं हितकार्य करे। उनकी आज्ञा के विना कोई कार्य न करें जो इन तीनो को आदृत करता है उसके सभी धार्मिक कर्तव्य सम्पन्न हो जाते हैं। जो इनका सम्मान नहीं करता उसकी सभी धार्मिक क्रियाएँ व्यर्थ होती हैं। माता की भक्ति से इस

१- आप १।६।१४-१६ तथा २१

२- आप १।३२।१०

३- आसन्ने शयने भक्ष्ये भोज्ये वाससि वा सन्निहिते निहीनतरवृत्तिः स्यात्।- आप २।५।५

४- आप २।५।६,११ ५- वि ३२।८-१२

६- न समवायेऽभिवादनमत्यन्तशः।- बौ १।३।३३

७- पादोपसंग्रहणं समवायेऽन्वहम्।- बौ १।६।१

८- आप १।८।२३ मातरं पितरमाचार्यमग्नींश्च गृहाणि च रिक्तपाणिर्नोपगच्छेद्राजानं चेन्न श्रुतमिति।

लोक को, पिता की भक्ति से मध्यलोक (देवलोक) को तथा गुरु के प्रति भक्ति से पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। राजा, ऋत्विक्, श्रोत्रिय, अधर्म का प्रतिषेध करने वाला, उपाध्याय, पितृव्य, नाना, मामा, ज्येष्ठ भ्राता तथा सम्बन्धी (पुत्र या पुत्री के सास-ससुर), आचार्य के तुल्य पूज्य होते हैं। इन सबकी सवर्ण पत्नियाँ भी पूज्या होती हैं। उनकी मौसी, बुआ और बड़ी बहनें भी पूज्या होती हैं। पिता, माता और आचार्य तीन वेदों के तुल्य हैं (ऋक्, साम, यजुष्)। वे तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) के तुल्य हैं। वे तीनो लोकों (मनुष्य लोक, देवलोक, ब्रह्मलोक) के समान हैं, तीन अग्नियों के समान हैं- पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि है और आचार्य आहवनीय (यज्ञिय) अग्नि है।[१] देवता, ब्राह्मण, शास्त्र और महात्माओं की निन्दा न करें।[२]

अभिवादन धर्मसूत्रों में एक प्रमुख आचारनियम है। आचार्य के पादोपसंग्रहण की विधि प्रायः सभी धर्मसूत्रों में बतायी गयी है। इसके अतिरिक्त अभिवादन के विषय में निम्नलिखित नियम भी ध्यान देने योग्य हैं- ऋत्विक्, श्वसुर, पितृव्य, मामा को कम अवस्था वाला व्यक्ति प्रतिदिन उठकर प्रणाम करे और उनकी पत्नियों का भी अभिवादन करे। इसी प्रकार आचार्यपत्नी एवं माता का भी प्रतिदिन उठकर प्रणाम करे।[३] आपस्तम्ब का मत है कि माता तथा आचार्यपत्नी को अपना नाम लेकर अभिवादन करे, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने कुछ अन्य आचार्यों के भी इस मत को उद्धृत किया है कि इनको अपना नाम लेकर अभिवादन न करे।[४] गुरु की जो पत्नियाँ गुरु से हीन वर्ण की हों उनका प्रणाम खड़े होकर दूर से करे, किन्तु उनके पादों का उपसंग्रहण न करे। इसी प्रकार आचार्य-पत्नियों के चरण या शरीर के किसी अंग को दबाने, अंजन लगाने, केश सँवारने तथा पैर धोने आदि का वर्जन करे।[५] परिचित व्यक्ति का अभिवादन अपना नाम लेते हुए करे। अभिवादन का उत्तर देते समय संबोधन के अन्तिम स्वर को प्लुत करे अथवा सन्धि के नियमानुसार स्वर में परिवर्तन करे।[६] गुरु या अगुरु सभी के लिए अपने स्थान से उठकर अभिवादन करने का नियम

१- विं ३१।३-६, ८-१०, ३२।१-४, ३१।७-८

२- वि ७१।८३

३- व १३।४१-४३

४- आप १।१४।२०-२१

५- वि ३२।५-६

६- व १३।४४-४६

है।[1] बौधायन के अनुसार हाथ में समिध्, जल का घड़ा, पुष्प या अन्न अथवा इसी प्रकार की अन्य पितृ, देवता या अग्नि के पूजनसंबन्धी सामग्री लिये रहने पर अभिवादन न करे।[2] ऋषि, विद्वान् पुरुष, राजा, वर, मामा, श्वसुर तथा ऋत्विक् को शास्त्र के अनुसर अथवा अवसर के अनुसार अर्घ्य कहा गया है।[3] सम्बन्धियों का उनकी ओर चलते हुए अभिवादन करने का नियम है, भले ही वे अवस्था में छोटे हों।[4] यदि ऋत्विक्, श्वसुर, चाचा, मामा अपने से कम अवस्था के हों तो उनका चरणस्पर्श न करे, अपितु उनके आगमन पर आसन से उठकर उनका स्वागत करे।[5] विवाहित स्त्रियों को उनके पति की आयु के अनुसार प्रणाम करने का नियम है। स्त्रियों तथा वैश्य एवं क्षत्रिय का अभिवादन करने के लिए अपने नाम का उच्चारण न कर अपने लिए सर्वनाम का ही प्रयोग विहित है।[6] यदि परस्त्री अपरिचिता भी हो तब भी समान अवस्था की होने पर उसे भगिनी, कम अवस्था की होने पर पुत्री तथा अधिक अवस्था की होने पर माता कहकर संबोधित करने का आचार है।[7] पति और पत्नी के पारस्परिक अभिवादन के विषय में गौतम ने कुछ आचार्यो के इस मत का उल्लेख किया है कि उनमे अभिवादन का नियम नहीं है, किन्तु गौतम अभिवादन का नियम मानते हैं।[8]

धर्मसूत्रों में अभिवादन के प्रसंग में भी वर्ण का ध्यान रखा गया है और भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए अभिवादन के भिन्न-भिन्न नियम दिये गये हैं। इन नियमों में वेद के प्रख्यात सूक्त पुरुषसूक्त में उल्लिखित चारो वर्णों की उत्पत्ति की ओर भी संकेत

१- सर्वत्र तु प्रत्युत्थायाभिवादनम्।- आप १।१४।१६

२- समिद्धार्युदकुम्भपुष्पान्नहस्तो नाऽभिवादयेद्यच्चान्यादप्येवं युक्तम्।- बौ १।२।३२

३- ऋषिविद्वन्नृपवरमातुलश्वसुरर्त्विजः।
एतेऽर्घ्याश्शास्त्रविहिताः स्मृताः कालविभागशः॥ -बौ २।६।३६

४- वि ३२।४

५- ऋत्विक्छ्वसुरपितृव्यमातुलां तु यवीयसां प्रत्युत्थायाभिभाषणम्।- बौ १।३।४६

६- आप १।१४।१८,२०

७- असंस्तुतापि परपत्नी भगिनीति वाच्या पुत्रीति मातेति वा।- वि ३२।७

८- स्त्रीपुंयोगेऽभिवादतोऽनियमेके।- गौ १।६।६

किया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्राह्मण अपनी दाहिनी भुजा को कान के बराबर फैलाकर, क्षत्रिय अपने वक्ष के समानान्तर फैलाकर , वैश्य अपनी भुजा को उदर या ऊरू के समानान्तर फैलाकर तथा शूद्र नीचे पैरों के समानान्तर फैलाकर अञ्जलि बाँधकर अभिवादन करे।[१] दस वर्ष तक किसी भी नगरवासी से मित्रता होने तथा पाँच वर्ष तक एक शाखा का एक साथ अध्ययन करने से उत्पन्न मित्रता के कारण भी अभिवादन विहित है, किन्तु श्रोत्रिय के विषय में यह कहा गया है कि वह तीन वर्ष से कम समय से भी परिचित हो तो उसे अभिवादन करना चाहिए।[२] गौतम ने यह नियम दिया है कि अस्सी वर्ष से कम आयु के शूद्र के आने पर उसके पुत्र की आयु का व्यक्ति उठकर स्वागत करे और अस्सी वर्ष से कम आयु का शूद्र अपने से अल्प आयु के भी द्विजाति के आने पर उठकर स्वागत करे, उसका अभिवादन न करे।[३] अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति सम्मानप्रदर्शन के लिए उसका नाम लेना वर्जित किया गया है।[४] इसी प्रकार ब्राह्मण होकर भी जो श्रोत्रिय नहीं है एवं दूत का कार्य करता है, उसके लिए अभिषिक्त राजा का नामोच्चारण करने का निषेध है।[५] संबोधन के लिए विशेष शिष्टाचार बताते हुए गौतम ने कहा है: 'जिनका जन्म एक ही दिन अथवा समान वर्ष में हुआ हो, ऐसे समवयस्क व्यक्ति को 'भोः' अथवा 'भवन्' शब्द से संबोधित किया जा सकता है। अपने से दस वर्ष अधिक आयु के पुरवासी को, किसी कला का आश्रय लेकर जीविका चलाने वाले अपने से पाँच वर्ष अधिक आयु वाले व्यक्ति को, अपने से तीन वर्ष बड़े श्रोत्रिय या समान वेदशाखा के अध्येता को 'भोः', 'भवन्' द्वारा संबोधित किया जाता है। यदि ब्राह्मण भी क्षत्रिय या वैश्य के कर्म से जीविका निर्वाह करता हो तो अत्यन्त वृद्ध होने पर भी उसे 'भोः', 'भवन्' से संबोधित

१- आप १।५।१६ दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरस्समं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैश्शूद्रः प्राञ्जलिः।

२- दशवर्षं पौरसख्यं पञ्चवर्षं तु धारणम्।त्रिवर्षं पूर्वःश्रोत्रियोऽभिवादनमर्हति।- आप १।१४।१२

३- तथाऽन्यः पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण।
- गौ १।५।१०-११

४- नाम वाऽस्य वर्जयेत्।-गौ १।६।१२

५- राज्ञश्चाजपः प्रेष्यः।- गौ १।६।१३

किया जा सकता है। यज्ञ में दीक्षा लेने वाले समवयस्क व्यक्ति को सोमक्रय की क्रिया से पहले इसी प्रकार पुकारा जा सकता है।[1]

विभिन्न वर्गों के मनुष्यों में परस्पर ऊँच-नीच का आधार मुख्यतः उनके कर्म और आचरण ही हैं, उसके बाद बन्धुबान्धवों एवं धनसम्पन्नता को स्थान दिया गया है। गौतम के अनुसार 'धनी व्यक्ति, बन्धुबान्धवों से सम्पन्न व्यक्ति, यथोक्त कर्म में रत रहने वाले, उत्तम जाति में उत्पन्न, वेद और शास्त्रों के विद्वान् तथा अपने से अधिक आयु के व्यक्ति मान्य होते हैं। इनमें भी बाद वाले अपने पहले वाले की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं और वेद का ज्ञाता सबसे श्रेष्ठ होता है।[2] इसका कारण यह बताया गया है कि श्रुत अर्थात् वेद का ज्ञान धर्म का और श्रुति का मूल है।[3]

पूज्य गुरुजनों के भी अन्तर्गत माता को सर्वाधिक सम्माननीया माना गया है और उसके प्रति विशेष रूप से आचार का निर्देश है। आपस्तम्ब का कथन है कि माता अपने पुत्र के लिए अनेक प्रकार के कर्म करती है, अतः उसकी सदैव सेवा करनी चाहिए। पतिता हो जाने पर भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए। किन्तु धर्म के लिए जो कार्य किये जा रहे हों उनमें इस प्रकार की पतिता माता से संबन्ध नहीं रखना चाहिए।[4] गौतम भी यह आदेश देते हैं कि किसी भी स्थिति में माता एवं पिता से अनुचित व्यवहार न करे।[5] उन्होंने कुछ आचार्यों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि सभी गुरुजनों में माता श्रेष्ठ है।[6] वसिष्ठ ने भी माता की श्रेष्ठता के सन्दर्भ में एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार आचार्य उपाध्याय से दस गुना अधिक पूज्य होता है, आचार्य की अपेक्षा पिता सौ गुना अधिक पूज्य होता है, और पिता से भी

१- गौ १।६।१४-१७

२- वित्तबन्धुकर्मजातिविद्यावयांसि मान्यानि पर बलीयांसि। श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः।
- गौ १।६।१८-१६

३- तन्मूलत्वाद्धर्मस्य श्रुतेश्च।- गौ १।६।२०

४- माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। न तु धर्मसन्निवापः स्यात्।- आप १।२८।६,१०

५- न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः।- गौ ३।३।१५

६- आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके।- गौ १।२।५६

सहस्र गुना अधिक पूज्या माता होती है।[१]

सम्मानप्रदर्शन के आचारों के अन्तर्गत ही यह भी कहा गया है कि शक्ति रहते अग्नि, सूर्य, जल, ब्राह्मण, गौ तथा देवमन्दिर के द्वार की ओर पैर नहीं फैलाना चाहिए।[२] जप करने वाले, होम या इष्टि का अभ्यास करने वाले के लिए विशेष रूप से यह आचार नियम बौधायनधर्मसूत्र में दिया गया है कि वह गायों, ब्राह्मणों, पितृगण तथा देवों को नमस्कार करे तथा दिन में शयन न करे तथा जब तक जप, होम, इष्टि या संयम का अभ्यास करे तब तक दिन खड़ा रहकर और रात बैठकर व्यतीत करे।[३]

भोजन-विषयक आचार

सभी धर्मसूत्रों में शुद्धिविषयक आचार के समान ही भोजनविषयक आचार पर विशेष रूप से विचार किया गया है। किस व्यक्ति का अन्न भोज्य है और किसका अभोज्य है? किस वस्तु का भक्षण उचित है और किसका अनुचित? भोजन के प्रति कैसी दृष्टि रखकर उसे ग्रहण करना चाहिए? प्रायः इन्हीं प्रश्नों पर धर्मसूत्रों में नियम मिलते हैं। भोजन ग्रहण करने में व्यक्ति के आत्मसम्मान को बल दिया गया है, यथा आपस्तम्ब के अनुसार जो भोजन विना माँगे उपलब्ध हो वह भोज्य होता है।[४] किन्तु उन्होंने ही हारीत के इस मत का भी उल्लेख किया है जो भोजन विना पूर्व निवेदन के दिया गया हो वह अभोज्य होता है।[५] दोनो ही विचारों में भोजनग्रहण करने में ग्रहण करने वाले व्यक्ति के सम्मान का ध्यान रखा गया है। आपस्तम्ब एक अन्य स्थल पर

१- अथाप्युदाहरन्ति-

उपाध्यायाद् दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता।
पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते॥- व १३।४८

२- समाधिविशेषाच्छ्रुतिशेषाच्च पूजायां फलविशेषः।- आप १।३०।५

३- बौ ४।५।५

४- यतः कुतश्चाऽभ्युद्यतं भोक्तव्यम्।- आप १।१६।११

५- नाऽविनियोगपूर्वमिति हारीतः।- तदेव १।१६।१२

और स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जहाँ तिरस्कार के साथ अन्न दिया गया हो वहाँ भोजन न करे।[१] कण्व ऋषि का यह मत भी उन्होंने दिया है कि जो व्यक्ति भोजन के लिए प्रार्थना करता है उसी का अन्न भोज्य होता है।[२] वसिष्ठ ने उस प्रकार के अन्न को अभक्ष्य कहा है जो पुकार कर दिया गया हो कि कौन खायेगा।[३] प्रतिदिन दूसरे के घर भोजन करना या दूसरे व्यक्ति द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करना निन्दित किया गया है।[४] इन सभी उद्धरणों में भी भोजनग्रहण में आत्मसम्मान को महत्त्व दिया गया है।

इसी प्रकार धर्मसूत्रों ने आचार-नियम के अन्तर्गत भोजन ग्रहण करते समय स्वार्थपरता को निन्दित ठहराया है। केवल अपने लाभ के लिए भोजन पकाने का कार्य एक उपपातक कर्म है।[५] आपस्तम्ब का भी कथन है कि केवल अपने लिए उत्तम स्वाद वाले पक्वान्न न बनाये।[६] भोजन के कुछ अंश का दूसरे प्राणियों के लिए त्याग किये विना भोजन करना धर्मसूत्रों में निन्दित है।[७] इसी कारण दूसरों को भोजन कराने के बाद ही गृहस्थ दम्पती के भोजन का नियम प्रायः सभी धर्मसूत्रों में है। बौधायन ने एक उद्धरण देते हुए कहा है कि सबसे पहले अतिथियों को भोजन कराये, फिर गर्भिणी स्त्री, तदनन्तर बालकों एवं वृद्धों को और फिर दुःखी या रोगी व्यक्ति को भोजन देना चाहिए। जो व्यक्ति इन्हें भोजन न देकर स्वयं ही भोजन करता है वह यह नहीं जानता कि स्वयं उसी का भक्षण होता है। वह खाता नहीं है, वरन् खाया जाता है।[८] गौतम का

१- कुत्सयित्वा वा यत्राऽन्नं ददुः।- आप १।१७।४ भावदुष्टम्।- तदेव१।१६।१२
२- आप १।१६।२ न ईप्सेदिति कण्वः।
३- को भक्ष्यत इति वाचाभिघुष्टम्।- व १४।६
४- नित्यमभोज्यम्।- गौ २।८।८
५- वि ३७।२७ तथा द्र० तदेव ६।७।४३ अघं च केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
६- नाऽऽत्मार्थमभिरूपमन्नं पाचयेत्।- आप २।८।५
७- न त्वेव कदाचिददत्वा भुञ्जीत।- बौ २।५।१७ द्र० तदेव २।१३।२ 'केवलाघो भवति केवलादी' मोघमन्नं विन्दते इति।
८- अग्रे भोजयेदतिथीनन्तर्वत्नीरनन्तरम्। बालवृद्धांस्तथा दीनान् व्याधितांश्च विशेषतः॥ अदत्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते यथाविधि। भुज्यमानो न जानाति न स भुङ्क्ते स भुज्यते॥ - बौ २।१३।५-६

भी निर्देश है कि गृहस्थ पति-पत्नी अतिथियों, बालकों,रोगी, गर्भवती स्त्री, पुत्री, भगिनी और सेवक को भोजन देने के बाद भोजन करे।[१] आपस्तम्ब ने भी अतिथि, बालक, वृद्ध, रोगी, संबन्ध की स्त्रियों और गर्भवती स्त्रियों को भोजन देने के बाद गृहस्थ के भोजन करने को धर्मपूर्ण माना है।[२] वसिष्ठ ने श्रोत्रिय, पितृगण और अतिथियों को भोजन देने के बाद पारिवारिक सदस्यों में भोजन का क्रम इस प्रकार बताया है- पहले कुमारी कन्याओं को, तब क्रमशः बालकों, वृद्धों, तरुणों को और तदनन्तर अन्य सदस्यों को।[३]

गृहस्थ का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वह भोजन का विभाग इस प्रकार करे कि नित्य भोजन करने वालों के अंश में किसी प्रकार कमी न हो और दास आदि भोजन से वञ्चित न हो।[४] स्वयं के, पत्नी के या पुत्र के भोजन में कमी कर देना उचित है, किन्तु सेवा कर्म करने वाले दास के भोजन में कमी अधर्म है।[५] इन आचारनियमों में नैतिकता की भावना स्पष्ट है। देवों के निमित्त किये जाने वाले बलिहरण कर्म में से कुछ अंश भिक्षुक के लिए भी देने का नियम है।[६] आपस्तम्ब का कथन है कि भोजन की याचना करने वाले को लौटाना नहीं चाहिए।[७] उनके एक उद्धरण के अनुसार यदि भोजन का अभाव हो तब भी सज्जनों के घर में बैठने योग्य भूमि, पैर धोने के लिए जल, सोने के लिए तृण और स्वागत करने के लिए स्नेहपूर्ण वचनों का कभी अभाव नही होता।[८] बलिहरण के प्रसंग में ही घर के बाहर कुत्तों, चाण्डालों और कौओं के

१- भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थविरांजनन्यांश्च।- गौ १।५।३३

२- आप २।१४।११,१२

३- स्वगृह्याणां कुमारीबालवृद्धतरुणप्रजाताः। ततोपरान्गृह्यान्।- व ११।७,८

४- ये नित्या भाक्तिकास्तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः।- बौ २।५।१६, द्र० आप २।९।१०

५- काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम्।- आप २।९।११

६- अग्रं च देयम्।- आप २।४।११

७- काले स्वामिनावन्नार्थिनं न प्रत्याचक्षीयाताम्।- आप २।४।१३

८- अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति। - आप २।४।१२

लिए भी भोजन का कुछ अंश देने का नियम है।[1]

भोजनदाता का विचार

किस व्यक्ति का अन्न भोज्य है और किस का अन्न त्याज्य है इस प्रश्न का विचार करते हुए धर्मसूत्रों ने अनेक स्थलों पर अन्नदाता के आचरण को आधार माना है। आपस्तम्ब के अनुसार उत्तम आचरण वाले व्यक्ति द्वारा स्वयं दिया गया भोजन ग्रहण करने योग्य होता है, किन्तु ऐसे व्यक्ति द्वारा भी अनचाहे भोजन दिया जा रहा हो तो वह अभोज्य होता है।[2] इन उक्तियों में भोजनदाता के आचरण के साथ भोजन ग्रहण करने वाले के आत्मसम्मान पर भी बल दिया गया है। आपस्तम्ब ने ही कौत्स ऋषि के इस मत का उद्धरण दिया है कि सभी पुण्य आचरण वाले व्यक्तियों का अन्न भोज्य होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त ने उपर्युक्त उल्लेख को इस प्रकार स्पष्ट किया है- 'तप, होम, जप आदि करते हुए स्वधर्म का पालन करने वाला पुण्य है। वह यदि स्वयं प्रार्थना न करे तब भी उसका अन्न भोज्य होता है,[3] किन्तु इसके विपरीत आपस्तम्ब ने ही वार्ष्यायणि के इस मत का भी उल्लेख किया है कि प्रत्येक दानशील व्यक्ति का अन्न भोज्य है चाहे वह पुण्य हो या अपुण्य ।[4] इसके लिए यह तर्क है कि यदि पाप पापी पर स्थिर है तो वह अन्न खाने वाले पर नहीं जा सकता, पापी पर ही रहेगा, अतः उसका अन्न खाने में दोष नहीं और यदि पाप पापी को छोड़ सकता है, तब भी वह दान देने से निर्दोष हो जाता है और उसका अन्न भोज्य है।[5] एक, कुणिक, काण्व, कुत्स और पौष्करसादि के मतानुसार धार्मिक व्यक्ति द्वारा दी गयी भिक्षा शुद्ध होती है और वह भोज्य होती है। इसके अतिरिक्त वार्ष्यायणि[6] का मत है कि विना माँगे

१- श्वचाण्डालपतितवायसेभ्यो भूमौ निर्वपेत्।- व ११।६

२- पुण्यस्येप्सतो भोक्तव्यम्। पुण्यस्याऽप्यनीप्सतो न भोक्तव्यम्।- आप १।१६।६-१०

३- आप १।१६।४ तथा उस पर हरदत्त की व्याख्या के निम्नलिखित अंश 'तपोहीनजप्यैः स्वधर्मेण न युक्त पुण्यः। स स्वयमप्रार्थयमानोऽपि भोज्यान्न इति कौत्सस्य पक्षः।

४- यः कश्चिद् दद्यादिति वार्ष्यायणिः।- आप १।१६।५

५- यदि हि रजः स्थावरं पुरुषे भोक्तव्यमथ चेच्चलं दानेन निर्दोषे भवति।- आप १।१८।६

६- आप १।१६।७,८

किसी से भी प्राप्त अन्न भोज्य होता है। हारीत के मतानुसार यदि भोजन पहले से निवेदन किये विना दिया गया हो तो वह भोज्य नहीं है।[१] आपस्तम्बधर्मसूत्र में आये हुए पुराण के एक उद्धरण के अनुसार प्रजापति ने विना माँगे ही स्वयं लाकर दी गयी तथा पहले से घोषित न की गयी भिक्षा को ग्राह्य माना है, भले ही वह भिक्षा पाप कर्म करने वाले व्यक्ति द्वारा दी गयी है। जो व्यक्ति इस प्रकार का अन्न अस्वीकार करता है उसके पितृगण पन्द्रह वर्ष तक उसका श्राद्ध ग्रहण नहीं करते और अग्नि उसके हवन को देवों तक नहीं पहुँचाता है।[२] किन्तु एक अन्य उद्धरण में कहा गया है कि श्रोत्रिय की हत्या करने वाला भ्रूणहा अपना अन्न खाने वाले को अपना पाप भी दे देता है।[३] सभी के भोजन का परित्याग करना भी निन्दित है और इस प्रकार सबके अन्न का त्याग करनेवाले व्यक्ति द्वारा दिया गया भोजन अग्राह्य कहा गया है । जो व्यक्ति विना विवेक के सभी का अन्न ग्रहण करता है उसके द्वारा दिया गया भोजन भी अभोज्य है।[४]

बौधायन ने भोजन ग्रहण के विषय में कहा है कि जो भोजन विना माँगे हुए, विना पूर्व संकल्प के, संयोगवश स्वतः मिले उससे उतना ही भोजन करे जितने से जीवन धारण किया जा सके।[५] वसिष्ठ ने भोजन देने वाले के आचरण और श्रद्धाभाव दोनो पर ही ध्यान दिया है। उनके अनुसार जो पुरुष किसी अन्य पुरुष की विवाहिता पत्नी से यौनसंबन्ध रखता है उसका अन्न अभोज्य होता है और इसी प्रकार जो विवाहिता स्त्री किसी अन्य पुरुष को उपपति बनाकर घर में आश्रय देती है उसका अन्न भी अभोज्य होता है। अन्यत्र भी उन्होंने पुंश्चली, अभिशस्त और पतित का

१- नाऽनियोगपूर्वमिति हारीतः।- आप १।१६।१२

२- अथ पुराणे श्लोकानुदाहरन्ति।
उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्। भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृ तकारिणः॥
न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च। न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यधिमन्यते॥
- आप १।१६।१३, द्र० व १४।१६ भी।

३- आप १।१६।१५ अथाप्युदाहरन्ति।
अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेना अभिशंसति। स्तेनः प्रयुक्तो राजनि याचन्नमृतसङ्करे॥

४- आप १।१८।३३

५- अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
आहारमात्रं भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् ॥- बौ २।१८।१४

भोजन निषिद्ध किया है।[१] अन्नदाता के श्रद्धाभाव तथा धार्मिक आचरण को महत्त्व देते हुए वसिष्ठ ने कहा है: 'श्रद्धावान् व्यक्ति का भोजन ग्रहण किया जा सकता है, भले ही वह चोर हो, किन्तु जो ब्राह्मण बहुतों का यज्ञ और बहुतों का उपनयन कराता हो उसका अन्न अभक्ष्य होता है।[२] उन्हीं के अनुसार समूह द्वारा और वेश्याओं द्वारा दिया गया अन्न अभोज्य होता है।[३] वसिष्ठ द्वारा दिया गया निम्नलिखित उद्धरण शूद्रा स्त्री से विवाह की प्रत्यक्षतः निन्दा ही करता है : ' देवता उस व्यक्ति का भोजन ग्रहण नहीं करते, जिसके घर में कुत्ता पाला गया हो, जिसकी पत्नी शूद्रा हो, जो पत्नी का वशीभूत हो और जिसके घर में पत्नी का उपपति निवास करता हो।[४]

भोजनदाता के वर्ण और व्यवसाय का विचार

शूद्रापति के अन्न का उपर्युक्त निषेध हमारा ध्यान धर्मसूत्रों के उन अनेक वाक्यों की ओर आकृष्ट करता है जिनमें भोजन देने वाले के वर्ण और व्यवसाय का विस्तरेण विचार किया गया है। सामान्यतः ब्राह्मण के लिए अपने-अपने वर्णधर्म का उचित रूप से पालन करने वाले द्विजातियों के यहाँ ही भोजन करना प्रशंसित है।[५] ब्राह्मण द्वारा दिया गया भोजन स्वभावतः भोज्य है। किसी विशेष कारण के होने पर ही उसको अस्वीकार किया जा सकता है।[६] आपस्तम्ब ने अपने धर्म का पालन करने वाले शूद्र का भी अन्न भोज्य बताया है किन्तु साथ ही उसकी प्रशस्ति नहीं की है और

१- उपपतेर्यश्चोपपतिं मन्यते।- व १४।६ कुलटा का भोजन निषिद्ध किया गया है-
द्र० व १४।२ तथा आप १।१६।१४

२- श्रद्दधानस्य भोक्तव्यं चोरस्यापि विशेषतः।
न त्वेव बहुयाज्यस्य यश्चोपनयते बहून्॥- व १४।१७

३- गणान्नं गणिकान्नं चेति।- व १४।१० संघान्नमभोज्यम्।-आप १।१०।१६

४- अथाप्युदाहरन्ति-
नाश्नन्ति श्ववतो देवा नाश्नन्ति वृषलीपतेः।
भार्याजितस्य नाश्नन्ति यस्य चोपपतिर्गृह इति॥ -व १४।११

५- प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत।- गौ २।८।१
सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्त्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्जमित्येके।-आप १।१८।१३

६- प्रकृत्या ब्राह्मणस्य भोक्तव्यमकारणादभोज्यम्।-आप ध सू१।१८।१०

उसको सुवर्ण या अग्नि से स्पर्श कराकर पवित्र करने का निर्देश दिया है।[१] यदि ब्राह्मण भी स्वाध्याय न करता हो तो उसका दिया हुआ भोजन अग्राह्य होता है। जो अनुचित हवि का हवन करे उसका भी भोजन अभक्ष्य होता है।[२] इसी प्रकार जिस ब्राह्मण की केवल शूद्रा पत्नी जीवित हो उसका अन्न भी वर्जित है, चाहे वह वेदों का विद्वान् ही क्यों न हो।[३] चित्रनिर्माण आदि शिल्पकला द्वारा जीविकानिर्वाह करने वाले, मकान या भूमि किराये पर देकर धन कमाने वाले, चिकित्सा करने वाले, ब्याज लेने वाले व्यक्ति का भी भोजन वर्जित है।[४] राजा के सन्देशवाहक, गुप्तचर का अन्न भी अभोज्य है।[५] आपस्तम्ब ने इस सन्दर्भ में किसी पुराण का एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार चिकित्सक, बहेलिया, चीरफाड़ करने वाले अम्बष्ठ, जाल से पशु पकड़ने वाले, कुलटा और नपुंसक का अन्न अभोज्य होता है।[६] गौतम के अनुसार वणिक् का अन्न भोज्य है, यदि वह शिल्पी या कुम्हार न हो।[७] इसी प्रकार कुल-परम्परा से पशुओं के चरवाहे, हलवाहे के कार्य करने वाले, पारिवारिक मित्रों, नाई और परिचारक का अन्न ग्रहण किया जा सकता है।[८] वसिष्ठ ने भी चिकित्सक, शिकारी, दण्ड धारण करने वाले, चोर, अभिशस्त, नपुंसक, कृपण, यज्ञ की दीक्षा लेने वाले, बन्दी, रोगी, सोमविक्रेता, बढ़ई, धोबी, मदविक्रेता, सूचक, सूदखोर, चर्म काटने वाले तथा अस्त्र से जीविका निर्वाह करने वाले का भोजन वर्जित किया है।[९] गौतम ने भी निम्नलिखित का अन्न अभोज्य कहा है- माता, पिता द्वारा परित्यक्त व्यक्ति, व्यभिचारिणी स्त्री, दोषारोपण द्वारा निन्दित व्यक्ति, नपुंसक, राजा द्वारा दण्ड कार्य में नियुक्त व्यक्ति, वैश्य

१- आप १।१८।१४,१५ २- तदेव १।१८।२६ अहविर्याजी।

३- यश्च सर्वान् वर्जयते सर्वान्नो च श्रोत्रियो निराकृतिर्वृषलीपतिः।-आप १।१८।३३

४- आप १।१८।१८-२२ ५- आप १।१८।२८,३०

६- चिकित्सकस्य मृगयोश्शल्यकृन्तस्य पाशिनः।
कुलटायाष्षण्डकस्य च तेषामन्नमनाद्यम्॥ -आप १।१९।१४

७- वणिक्चाशिल्पी।- गौ २।८।७

८- पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसंगतकारयितृपरिचारकाः भोज्यान्नाः।- गौ २।८।६

९- व १४।२,३,५; वि ५१।६,१०

स्त्री से उत्पन्न, शूद्र के पुत्र, लोभ करने वाले, कारागार के प्रहरी, चिकित्सक, विना धनुष् की सहायता से शिकार करने वाले, उच्छिष्ट भोजन करने वाले, अनेक लोगों के समूह तथा शत्रु।[१] उन्होंने कुण्ड नाम के अवैध सन्तान के रूप में उत्पन्न व्यक्तियों, सोमविक्रेता, किसी का घर जलाने वाले, ब्रह्मचर्य भंग करने वाले, किसी गण के सेवक, अगम्या स्त्रियों से यौनसम्पर्क रखने वाले, हिंसा में रुचि लेने वाले, बड़े भाई के विवाह से पूर्व विवाह करने वाले, छोटे भाई के विवाह के बाद विवाहित व्यक्ति, बड़े भाई के अग्निहोत्राग्नि का आधान करने से पहले स्वयं आधान करने वाले, ऐसे व्यक्ति जिसके छोटे भाई ने पहले अग्नि का आधान किया हो उसका तथा आत्मघाती का अन्न भी निषिद्ध किया है।[२] विष्णुधर्मसूत्र में निम्नलिखित का भी अन्न खाने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है- पुत्रहीन, पतिहीना स्त्री, स्वर्णकार, चुगलखोर, असत्यवादी, स्वयं का विक्रय करने वाले, गुड़ आदि द्रव्य एवं रस का विक्रय करने वाले, नर्तक, जुलाहा, अकृतज्ञ, रंगरेज, लोहार, अभिनय करने वाले, बेंत से उपकरण तैयार करने वाले, हथियार बेचने वाले, कुत्ता पालने वाले, शराब बनाने वाले, तेली और धोबी।[३]

विशेष स्थिति में भोजन की अग्राह्यता

आशौच आदि अपवित्रता की स्थितियों में भी भोजन निषिद्ध किया गया है। आपस्तम्ब के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के कुल में कोई मर गया हो और उसके बाद आशौच न बीता हो, तो उस व्यक्ति के घर भोजन न करे। इसी प्रकार ऐसे घर में भी भोजन न करे जहाँ प्रसूता स्त्री सूतिकागृह से न निकली हो अथवा जिस घर के भीतर शव रखा हुआ हो।[४] अपवित्र ब्राह्मण या उच्चवर्ण के किसी अपवित्र व्यक्ति द्वारा लाया गया अन्न अपवित्र होता है, किन्तु अग्नि पर रखने, जल छिड़कने, भस्म या मिट्टी से स्पर्श कराने या वाणी से शुद्ध कह देने पर वह शुद्ध और भोज्य माना गया है। इसके

१- गौ २।६।१७ उत्सृष्टपुंश्चल्यभिशस्तानपदेश्यदण्डिकतक्षकदर्यबन्धनिकचिकित्सक-मृगय्वनिषुचार्युच्छिष्टभोजिगणविद्विषाणाम्।

२- गौ २।८।१८ अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्बालात्।

३ - वि ५१।१४-१५

४- आप १।१६।१८-२०

विपरीत अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन सर्वथा अभोज्य कहा गया है।[१] अग्नि का परित्याग करने वाले का अन्न भी अभोज्य है।[२] रजस्वला स्त्री, पागल, क्रोधी ओर रोगी का दिया गया भोजन करने पर विष्णुधर्मसूत्र में सात दिन उपवास का विधान है।[३]

अपवित्रता के कारण ही अनेक वस्तुओं को अखाद्य घोषित किया गया है। गौ, बकरी, भैंस का दूध ब्याने से दस दिन के भीतर अपेय होता है।[४] भेंड़, ऊँटनी और एक खुर वाले मादा पशुओं का दूध सदैव अपेय है।[५] जिन गायों आदि के थन से दूध टपकता हो, जो जुड़वाँ बछड़े आदि देती हों और जो गर्भिणी अवस्था में भी दूध दे रही हों उनका दूध वर्जित किया गया है।[६] जिस गौ का बछड़ा मर गया हो या जो दूसरी गाय के बछड़े से दुही जाती हो उसका दूध भी अपेय होता है।[७] बौधायन ने गौ के दूध के अतिरिक्त कोई और अपेय दूध पी लेने पर कृच्छ्र व्रत का और गौ का अपेय दूध पीने पर तीन दिन के उपवास का प्रायश्चित्त बताया है।[८]

अभक्ष्य पदार्थ

धर्मसूत्रों में निम्नलिखित पदार्थों को भी अभक्ष्य कहा गया है - पल्लव, छत्राक (कुकुरमुत्ता), लहसुन, वृक्ष की छाल से बाहर निकले हुए हींग आदि पदार्थ, वृक्ष के कटे हुए स्थान से निकले हुए लाल रंग के पदार्थ,[९] प्याज, परारीका।[१०] अपवित्रता से

१- आप १।१६।२१-२२
२- यश्चाऽग्नीनपास्यति।- आप १।१८।३२
३- वि ५१।१६,१६
४- गौ २।८।२२,२३; द्र० बौ १।१२।६, आप १।१७-२४; व १४।३५
५- गौ २।८।२४ नित्यमाविकमपेयगमौष्ट्रमैकशफं च।
द्र० बौ १।१२।११, आप १।१७।२२,२३
६- स्यन्दिनीयमसूसन्धिनीनां च।-गौ २।८।५ सन्धिनीक्षीरमवत्साक्षीरम्।- व १४।३५
७- गौ २।८।२६ विवत्सायाश्च। बौ १।१२।२२ विवत्साऽन्यवत्सयोश्च।
८- बौ १।१२।१२,१३
९- गौ २।८।३२-३३, व १४।३३
१०- आप १।१७।२६ व्याख्याकार हरदत्त ने इसे मण्डुम बताया है- 'मण्डुमाख्यया म्लेच्छानां प्रसिद्धम्। व १४।३३ में भी लहसुन, पलाण्डु, कवाकु, गुंजन, श्लेषामन्तक का निषेध है।

संबद्ध होने के कारण केश और कीट से युक्त, रज़स्वला स्त्री, काले पक्षी और पैर से छुआ गया, भ्रूणहत्या के पापी द्वारा देखा गया, तिरस्कारपूर्वक दिया गया या मन को दूषित करने वाला, गौ द्वारा सूँघा गया, बासी तथा पुनः पकाया गया भोजन अभोज्य है।[१] किन्तु दही खट्टा होने पर भी खाया जा सकता है और शाक, अपूप, पृथुक, घृत, तेल, मांस एवं मधु बासी भी खाये जा सकते हैं।[२] वसिष्ठ के अनुसार अपूप, धान, करम्भ, सत्तू, बड़ा, तेल, खीर, शाक, दूध तथा पीसे गये जौ से बने पदार्थ भी खट्टे होने पर अखाद्य हो जाते हैं।[३] जो भोजन स्वभाव से ही बुरा हो, एक बार थाली में रखा जा चुका हो, कच्चा हो या कम पका हो वह भी वर्जित है, किन्तु दधि से या घृत में छौंककर उसे खाया जा सकता है।[४] किसी व्यक्ति या बिल्ली आदि अपवित्र प्राणी द्वारा निकट से सूँघा गया भोजन अपवित्र होता है।[५] बाजार से खरीदकर लाये गये भोजन को अपवित्रता के करण अभोज्य कहा गया है। कच्चा मांस, मधु और नमक बाजार से क्रय कर खाया जा सकता है। इसी प्रकार खरीदे गये तेल या घृत के ऊपर जल छिड़ककर उसका प्रयोग किया जा सकता है।[६] वसिष्ठधर्मसूत्र में आये हुए एक उद्धरण के अनुसार ऐसे घृत या तेल का भक्षण नहीं करना चाहिए जो देने वाले के हाथ से टपक रहा हो। यम ने इसे गोमांस के तुल्य कहा है।[७]

भोजन की विधि

भोजन की विधि का भी विशेष निर्देश धर्मसूत्रों में हुआ है। वस्तुतः, धर्मसूत्र

१- गौ २।८।६-१५, तु० वि ५१।१७-१८, बौ २।१२।६, आप १।१७।१७-१८

२- गौ २।८।१४,१६; आप १।१७।१६ ३- व १४।३७-३८

४- अन्नं पर्युषितं भावदुष्टं सहृल्लेखं पुनः सिद्धमाममांसं पक्वं च। कामं तु दध्ना घृतेन वभिघारित-मुपयुञ्जीत। - व १४।२८-२६

५- मनुष्यैरवघ्रातमन्यैर्वाऽमेध्यैः।- आप १।१७।५

६- आप १।१७।१४-१६

७- अपि ह्यत्र प्राजापत्याञ्छ्लोकानुदाहरन्ति-
घृतं वा यदि वा तैलं विप्रो नाद्यानखश्च्युतम्। यमस्तदशुचि प्राह तुल्यं गोमांसभक्षणैः॥
- व १४।३०

प्रत्येक कर्म की उचित विधि का निर्देश करने में नहीं चूकते हैं। स्नान और आचमन की विधि के समान ही भोजन करने की विधि का भी शुद्धि की दृष्टि से महत्त्व है। बौधायन के निम्नलिखित नियम उल्लेखनीय हैं- 'हाथों और पैरों का प्रक्षालन कर, आचमन के अनन्तर, घिरे हुए एवं पवित्र स्थान पर, बैठकर, लाये हुए अन्न को आदरपूर्वक ग्रहण करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनोविकारों को दूरकर भोजन करे।[1] भोजन को सभी अंगुलियों से मुख में डाले और विना शब्द किये हुए भोजन करे। अन्यत्र भी बौधायन ने भोजन के समय मौन का आदेश दिया है और कहा है कि यदि बीच में बोले तो भूः, भुवः, सुवः तथा ओम् का जप कर भोजन करे।[2] पूर्व दिशा की ओर मुख कर, मौन होकर, भोजन के विषय में निन्दापरक वचन न बोलते हुए, भोजन का अंश न बिखेरते हुए, पूर्ण ध्यान देकर भोजन करने का नियम है। भोजनानन्तर अग्नि का स्पर्श भी विहित है।[3] बौधायन ने ही भोजन के बाद 'ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाय' मन्त्र का जप करने का नियम भी दिया है।[4] वसिष्ठ के अनुसार भी पूर्व की ओर मुख कर, अँगूठे के साथ सम्पूर्ण ग्रास को ग्रहण करते हुए तथा विना शब्द किये हुए भोजन करना चाहिए।[5] गोद में या कुर्सी पर रखकर भोजन करना वर्जित है।[6]

भोज्य अन्न के सम्मान का नियम

धर्मसूत्र के अनुसार भोजन के प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिए। सायंकाल और प्रातःकाल 'रोचते' कहकर, श्राद्धकाल में 'स्वदिते' तथा उत्सव के

१- बौ २।५।२१ सुप्रक्षालितपादपाणिराचान्तश्शुचौ संवृते देशेऽन्नमुपहृतमपसङ्गृह्य कामक्रोध-द्रोहलोभमोहानपत्य सर्वाभिरङ्गुलीभिः शब्दमकुर्वन्प्राश्नीयात्।

२- नाऽन्तरां वाचं विसृजेद्यदन्तरां वाचं विसृजेद् भूर्भुवस्सुवरोमिति जपित्वा पुनरेव भुञ्जीत। - बौ २।१२।५

३- अथाप्युदाहरन्ति-
आसीनः प्राङ्मुखोऽश्नीयाद् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।
अस्कन्दयंस्तन्मनाश्च भुक्त्वा चाऽग्निमुपस्पृशेदिति॥- बौ २।१२।७

४- 'ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाय' इत्यात्मानम्।- बौ २।१२।१३

५- व १२।३५-३५ प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत। तूष्णीं साङ्गुष्ठं कृत्स्नग्रासं ग्रसेत्।

६- नोत्सङ्गे भक्षयेत्। नासन्द्यां भुञ्जीत।- व १२।३५-३६

अवसर पर 'सम्पन्नम्' कहकर अन्न का सम्मान करना चाहिए।[1] नौका में तथा लकड़ी के मंच पर बैठकर भोजन करना निषिद्ध है।[2] आपस्तम्ब ने भोजन के स्थान तथा पात्र के विषय में भी निर्देश दिया है। उनके अनुसार लिपी-पुती भूमि के ऊपर बैठकर भोजन करना चाहिए। यदि मिट्टी के पात्र में भोजन करना हो, तो ऐसे पात्र में भोजन करे जिसका पहले प्रयोग न हुआ हो। यदि पहले प्रयुक्त मिट्टी का पात्र ही उपलब्ध हो, तो पहले उसे अग्नि पर तपाकर ही प्रयोग में लाए।[3] जो लोग कुल, विद्या या आचरण की दृष्टि से अयोग्य होते हैं, उनके साथ बैठकर भोजन करना वर्जित है। इसी प्रकार जिस स्थान पर लोग एक साथ भोजन कर रहे हों वहाँ यदि कोई व्यक्ति भोजन से विरत होकर अपना उच्छिष्ट शिष्य को देकर आचमन कर लेता है, तो उन व्यक्तियों के साथ बैठकर भोजन करना भी वर्जित है।[4]

भोजन का परित्याग धर्मसूत्र की दृष्टि में वांछनीय नहीं है। आपस्तम्ब का कथन है कि अपने भोजन में इतना उपरोध नहीं करना चाहिए कि धार्मिक कार्यों के सम्पादन में विघ्न उपस्थित हो।[5] वसिष्ठ के अनुसार सम्मानपूर्वक दिये गये अन्न को अस्वीकार करने पर पाप होता है और पन्द्रह वर्षों तक पितृगण उस व्यक्ति के श्राद्ध का अन्न ग्रहण नहीं करते और न अग्नि उसके द्वारा अर्पित हवि को देवों तक पहुँचाता है।[6] यदि संयोगवश भोजन उपलब्ध न हो तो प्राणाग्निहोत्र के मन्त्रों के जप का नियम भी है, जैसे यज्ञ की वस्तुओं के अभाव में तीनो अग्नियों से संबद्ध अग्निहोत्र के मन्त्रों का जप किया जाता है।[7]

१- रोचत इति सायंप्रातरशनान्यभिपूजयेत्। स्वदितमिति पित्र्यं संपन्नमित्याभ्युदयिकेषु।
- व ३।६६-७१

२- आप १।१७।६,७ न नावि भुञ्जीत। तथा प्रासादे। ३- आप १।१७।८- १०

४- यत्र शूद्र उपस्पृशेत्। अनर्हद्भिर्वा समानपङ्क्तौ।-आप १।१७।२,३

५- अथ चाऽऽत्मनोऽनुरोधं कुर्याद्यथा कर्मसु समर्थस्स्यात्।-आप २।६।१२

६- न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते॥- व १४।८

७- प्राणाग्निहोत्रमन्त्रांस्तु निरुद्धे भोजने जपेत्।
त्रेताग्निहोत्रमन्त्रांस्तु द्रव्यलाभे यथा जपेदिति॥- बौ २।१३।१३

भोजन की शुद्धता और मात्रा

भोजन की शुद्धता के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है : 'सभी पवित्र वस्तुओं में पवित्र अन्न श्रेष्ठ है। जो केवल पवित्र अन्न का भक्षण करता है वह वस्तुतः पवित्र है, जो मिट्टी और जल से पवित्र है वह नहीं।'[१] मिली हुई शुद्ध भिक्षा भोज्य होती है ऐसा एक, कुणिक, काण्व, कुत्स तथा पुष्करसादि का मत है। वार्ष्यायणि के मतानुसार विना माँगे किसी से भी प्राप्त अन्न भोज्य होता है।[२]

धर्मसूत्रों में भोजन की मात्रा के विषय में भी विचार किया गया है। बौधायनधर्मसूत्र में तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र में यह उद्धरण दिया गया है कि संन्यासी का भोजन आठ ग्रास, वानप्रस्थ का सोलह ग्रास और गृहस्थ का बत्तीस ग्रास होना चाहिए, किन्तु ब्रह्मचारी के लिए कोई नियम नहीं है, क्योंकि अग्निहोत्री, बैल और ब्रह्मचारी तीनो ही अपरिमित भोजन करने पर ही अपना कार्य सम्पादित कर पाते हैं। विना भोजन के वे अपने कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते।[३] स्वयं बौधायन ने भी अन्यत्र इसी नियम को दुहराया है।[४] वसिष्ठ ने भी यही बात कही है।[५] किन्तु भोजन की इन मात्राओं का विधान व्रत, यज्ञानुष्ठान तथा वेद के पारायण के प्रसंग में किया गया है।[६] एक स्थल पर बौधायन ने अधिक मात्रा में भोजन का निषेध किया है,[७] और केवल दो बार भोजन करने का निर्देश देते हूए यह उद्धरण दिया है कि 'जो प्रातः-कालीन और सन्ध्याकालीन भोजन के बीच कभी भोजन नहीं करता, वह सदा

१- सर्वेषामेव शौचानामन्नशौचं परं स्मृतम्।
योऽन्नै शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥- वि २२।६६

२- शुद्धा भिक्षा भोक्तव्यैककणिकौ काण्वकुत्सौ तथापुष्करसादिः। सर्वतोपेतं वार्ष्यायणीयम्।
- आप १।१९।७,८

३- अथाप्युदाहरन्ति- अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः।
द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः॥
आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः।
अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नतामिति॥
- बौ २।१३।८, आप २।६।१३, व ६।१९

४- बौ २।१८।१५

५- व ६।२०,२१

६- व्रतेषु नियतेषु चेज्याध्ययनधर्मेषु।- व ६।२२

७- नाऽतिसुहितः।- बौ २।१२।६

उपवास करने वाले के समान होता है।[1] आपस्तम्ब के अनुसार श्राद्ध के समय दिन में मूल-फल ही खाना उचित है।[2]

मांसभक्षण

यहाँ धर्मसूत्रों में आये हुए मांसभक्षणविषयक विचारों का विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा। धर्मसूत्रों के समाज में मांसभक्षण प्रचलित था इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस विषय में अनेक प्रकार की वर्जनाएँ भी की गयी थीं। गौतम ने ब्रह्मचारी के लिए मांसभक्षण का निषेध किया है।[3] हिंसा के लिए पशु का विक्रय भी उनकी दृष्टि में अधर्म है।[4] भक्ष्य और अभक्ष्य मांस वाले पशु-पक्षियों का निर्देश करते हुए वे कहते हैं- 'शल्यक, खरगोश, श्वावित्, गोह, गैडा और कच्छप को छोड़कर अन्य पाँच नख वाले पशु अभक्ष्य हैं। दोनो जबड़ों में दाँत वाले अश्व आदि, अधिक केश वाले, केशहीन सर्प आदि, एक खुरवाले पशु, ग्रामचटक, शकटविल, हंस, चक्रवाक, कौआ, कंक, गृध्र, श्येन, जल में रहने वाले, लाल पैरों एवं चोंच वाले पक्षी, पालतू कुक्कुट और सूकर अभक्ष्य हैं।[5] गौतम ने गाय और बैल को स्पष्टतः अभक्ष्य कहा है और जिन पशुओं के दूध के दाँत न गिरे हों, जो रोगी हों, जिनको यज्ञ के प्रयोजन से न मारा गया हो ऐसे पशुओं का मांस भी वर्जित किया है।[6] इससे स्पष्ट है कि यज्ञ में वध किये गये पशु का मांस भक्ष्य होता था। पक्षियों में कठफोड़वा, बलाका, सारस, तोता, पनकौआ, टिटीहरी, मास्थाल और रात्रि में उड़ने वाले उल्लू आदि अभक्ष्य होते हैं एवं चोंच से या पैरों से

१- अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च। सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्ते कदाचनेति।
- बौ २।१३।१२, तैत्तिरीयब्रा० १।४।६ शतपथब्रा० २।४।२।६ में भी दो बार भोजन करने का उल्लेख है।

२- दिवा च न भुञ्जीताऽन्यन्मूलफलेभ्यः।- आप २।१६।१०

३- गौ १।२।१६

४- पशवश्च हिंसासंयोगे।- बौ १।७।१३

५- पञ्चनखाश्चाशल्यकशशश्वाविड्गोधाखड्गकच्छपाः। उभयतोदत्केश्यलोमैकशफकलविङ्क-प्लवचक्रवाकहंसाः। काकङ्कगृध्रश्येना जलजा रक्तपादतुण्डा ग्राम्यकुक्कुटसूकराः॥
-गौ २।८।२७-२६

६- धेन्वनुडहौ च अपन्नदन्नवसन्न वृथामांसानि।- गौ २।८।३०-३१

तोड़कर खाने वाले पक्षी भक्ष्य होते हैं।[१] जिन मछलियों का स्वरूप विकृत न हों वे भक्ष्य होती हैं।[२] अन्त में मांसभक्षण के विषय में सामान्य नियम का निर्देश करते हुए गौतम कहते हैं कि जिन पशुओं को भक्ष्य कहा गया है वे यदि स्वयं मर गये हों या किसी व्यक्ति द्वारा मारे गये हों तो भक्ष्य होते हैं। यही नहीं, अतिथिसत्कार आदि धार्मिक कार्य में उनका वध भी किया जा सकता है।[३] यदि किसी हिंस्र पशु ने भक्ष्य पशु या पक्षी का वध किया हो और उस पशु-पक्षी के मांस में कोई विकृति न आयी हो, तो वह मांस धोकर खाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि गौतम ने श्राद्धप्रकरण में मांसभक्षण की चर्चा नहीं की है।

बौधायनधर्मसूत्र[४] ने भी भक्ष्य एवम् अभक्ष्य पशुओं, पक्षियों तथा मछलियों की सूची दी है। उनके अनुसार ग्राम के पशु अभक्ष्य हैं।[५] मांसभक्षी पशु, ग्राम्य कुक्कुट और सूकर अभक्ष्य हैं किन्तु बौधायन ने यह स्पष्ट किया है कि ग्राम के पशुओं के भक्षण का निषेध बकरा और भेड़ को छोड़कर अन्य पशुओं के विषय में समझना चाहिए।[६] श्वाविट्, गोधा, खरगोश, शल्यक, कच्छप और खड्ग के अन्तर्गत खड्ग को छोड़कर अन्य पाँच नख वाले पशुओं के भक्षण का नियम बौधायनधर्मसूत्र में भी है।[७] इसी प्रकार श्वेत खुर वाला मृग, सामान्य हरिण, धारीदार चमड़े वाला हरिण, भैंसा, जंगली सूकर, काले रंग का मृग - इन पशुओं में काले मृग को छोड़कर पाँच दो खुर वाले पशु भक्ष्य होते हैं। तित्तिर, कबूतर, कपिंजल, वार्घाणस, मयूर और वारण नाम के पक्षियों में वारण के अतिरिक्त अन्य पाँच विष्किर अर्थात् तोड़कर खाने वाले पक्षी भक्ष्य हैं।[८]

१- गौ २।८।३४,३५

२- मत्स्याश्चाविकृताः।- गौ २।८।३६

३- व्यालहतादृष्टदोषवाक्प्रशस्तानभ्युक्ष्योपयुञ्जीत।- गौ २।८।३८

४- बौ १।१२।१-८

५- भाष्यकार गोविन्दस्वामी के अनुसार ग्राम पशु सात हैं- 'सप्त ग्राम्याः पशवः गोश्वाजाविकं पुरुषश्च गर्दभश्च उष्ट्रस्सप्तमोऽवमुहैके ब्रुवते।- बौ १।१२।१ का भाष्य।

६- बौ १।१२।२-४

७- भक्ष्याः श्वाविड्गोधाशशशल्यककच्छपखड्गाः खड्गवर्जाः पञ्चनखाः।- बौ १।१२।५

८- बौ १।१२।६,७ तुलना- गौ २।८।३५

गौतम ने भी मयूर जैसे तोड़कर खाने वाले पक्षियों का मांस भक्ष्य माना है। मछलियों के अन्तर्गत सहस्रदंष्ट्र, चिलिचिम, वर्मी, बृहच्छिरस, रोमशकरि, रोहित और राजीव मछलियाँ भक्ष्य हैं।[१]

आपस्तम्ब ने[२] भी मांसभक्षण का विस्तरेण उल्लेख किया है और एक खुर वाले पशुओं , ऊँट, गवय, ग्रामसूकर, शरभ का मांस अभक्ष्य माना है,[३] किन्तु गाय और बैल के मांस को भक्ष्य कहा है।[४] उन्होंने वाजसनेयक का यह मत भी उद्धृत किया है कि बैल का मांस यज्ञ में भी वर्जित करने योग्य होता है। उन्होंने पैर से खुरच कर खाने वाले पक्षियों में ग्रामकुक्कुट को, चोंच से फोड़कर खाने वालों में प्लव नाम के पक्षी को, शव का भक्षण करने वाले पक्षियों को, हंस, भास, चक्रवाक, बाज, क्रुंच और क्रौंच नाम के पक्षियों को अभक्ष्य बताया है।[५] आपस्तम्ब ने भी गोधा, कच्छप, श्वाविट्, शल्यक, खड्ग, खरगोश, पूतिखष को छोड़कर अन्य पाँच नखों वाले पशुओं तथा मछलियों में चेटक, साँप के समान सिर वाली, मकर, शवभक्षण करनेवाली, विकृत आकार वाली तथा मनुष्य के सिर के समान सिर वाली मछलियों की अभक्ष्यता का उल्लेख किया है।[६] श्राद्ध के प्रकरण में भी आपस्तम्ब का कथन है कि गो का मांस पितरों को एक वर्ष तक सन्तुष्ट रखता है[७] और भैंस का मांस उससे भी अधिक तृप्तिदायक है। इस नियम के अनुसार अन्य ग्राम्य और आरण्य पशुओं का मांस भी श्राद्ध में अर्पित करने योग्य माना गया है। आपस्तम्ब के समान ही सत्याषाढधर्मसूत्र में भी मांसभक्षण के प्रसंग में प्रायः इन्हीं नियमों को प्रस्तुत किया गया है।[८]

१- बौ १।१२।८

२- आप १।१७।२८-३८

३- एकखुरोष्ट्रगवयग्रामसूकरशरभगवाम्।- आप १।१७।२८

४- धेन्वनडुहोर्भक्ष्यम्।- आप १।१७।३०

५- आप १।१७।३१-३६

६- आप १।१७।३७-३८

७- संवत्सरं गव्येन प्रीतिः। भूयांसमतो माहिषेण। एतेन ग्राम्यारण्यानां पशूनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम्।- आप २।१६।२५,२७

८- सत्याषाढ २६।५।६१-७०

वसिष्ठधर्मसूत्र में भी भक्ष्य एवं अभक्ष्य पशुओं को गिनाया गया है[१] तथा श्राद्ध के प्रकरण में मांस की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि यदि इस प्रकार का मांस भिक्षा में दिये जाने पर यति उसे अस्वीकार करता है तो वह असंख्य वर्षों तक नरक प्राप्त करता है।[२] वसिष्ठ ने मधुपर्क के समय गौ के वध का उल्लेख किया है और ब्राह्मण या क्षत्रिय अतिथि के लिए बड़े बैल या बड़े बकरे का वध बताया है।[३] गौ और बैल का मांस भी भक्ष्य है, इस प्रकार के वाजसनेयक के मत का उद्धरण वसिष्ठ ने भी दिया है।[४] पशुहिंसा के अवसरों का निर्देश करते हुए वसिष्ठ ने 'मानव' के नाम से यह उद्धरण दिया है कि पितृ, देव तथा अतिथि की पूजा में ही पशु का वध होना चाहिए, और मनु का एक मत भी उद्धृत किया है कि मधुपर्क में, यज्ञ में, पितृ एवं दैव कर्म में ही पशु की हिंसा हो, अन्यथा नहीं।[५] यज्ञ में प्राणिवध को हिंसा नहीं माना गया है।[६]

विष्णुधर्मसूत्र में प्रायश्चित्त के प्रकरण मे अभक्ष्य पशुओं, पक्षियों का उल्लेख है। यथा, कहा गया है कि ग्रामसूकर, कुक्कुट, वानर या गाय का मांस खा लेने पर चान्द्रायण करे और द्विज का पुनः उपनयन हो।[७] इस धर्मसूत्र के काल में गोमांस का भक्षण वर्जित प्रतीत होता है। शशक, शल्यक, गोधा, खड्ग, कूर्म के अतिरिक्त अन्य पाँच नखों वाले पशु अभक्ष्य हैं। पाठीन, रोहित, राजीव, सिंह, तुण्ड के अतिरिक्त अन्य प्रकार के मत्स्य तथा सभी दूसरे जल से उत्पन्न प्राणी अभक्ष्य हैं।[८] गधा, ऊँट, कौआ, शवभक्षी पक्षी, कलविंक, प्लव, चक्रवाक, हंस, रज्जुदाल, सारस, दात्यूह, शुक, सारिका, बलाका, बक, कोकिल, खंजरीट आदि का भक्षण निषिद्ध है और इनका भक्षण करने

१- व १४।३९-४८

२- नियुक्तस्तु यतिः श्राद्धे दैवे वा मांसमुत्सृजेत्।
यावन्ति पशुरोमाणि तावन्नरकमृच्छति॥ - व ११।३४

३- अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वाभ्यागताय महोक्षाणं वा महाजं वा पचेदेवमस्मा आतिथ्यं कुर्वन्तीति।- व ४।८

४- भक्ष्यौ तु धेन्वनडुहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायते। - व ४।५

५- पितृदेवतातिथिपूजायामप्येव पशुं हिंस्यादिति मानवम्।- व ४।५
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यत्रेत्यब्रवीत्मन्मनुः॥- व ४।६

६- व ४।७ ७- वि ५१।३,४ ८- वि ५१।६,२१,२२

पर चान्द्रायण, तप्तकृच्छ्र या त्रिरात्रव्रत का उपदेश किया गया है। इसी प्रकार एक खुर वाले और दोनो ओर दाँतों वाले पशुओं का तथा तित्तिर, कपिंजल, लावक, वर्तिका एवं मयूर को छोड़कर अन्य सभी पक्षियों का मांस खाने पर व्रत बताये गये हैं।[1]

यज्ञ में पशुवध को ही धर्मसूत्रों ने समर्थित किया है। विष्णुधर्मसूत्र का भी यही मत है कि जिस पशु का मन्त्रों से संस्कार किया गया है उसी का मांस भक्ष्य होता है। धार्मिक प्रयोजन न होने पर पशु का वध वृथा होता है। जो व्यक्ति वृथा पशु का वध करता है वह उतने बार मारा जाता है, जितने रोम उस पशु के शरीर में होते हैं।[2] धनोपार्जन के लिए पशुओं का वध करने वाले को उतना पाप नहीं होता, जितना पाप वृथा मांस का भक्षण करने वाले को होता है। वस्तुतः यज्ञ में पशु का वध नहीं होता-

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः।।[3]

इस कारण विष्णुधर्मसूत्र स्पष्ट कहता है कि मधुपर्क में, यज्ञ में, पितृकर्म अर्थात् श्राद्ध में एवं वैश्वदेव बलि में ही पशुओं की हिंसा होनी चाहिए, अन्यत्र नहीं।[4] धर्मसूत्रों के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मांसभक्षण के विषय में नियम उत्तरोत्तर कठोर होते गये और यज्ञ में ही पशुवध उचित समझा जाने लगा।

सुरापान

सुरापान की निन्दा करने में सभी धर्मसूत्र एकमत दिखायी पड़ते हैं। सुरापान को चार महापातकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इसके लिए अत्यन्त भयंकर एवं मृत्युप्रद प्रायश्चित्त बताये गये हैं।[5] आपस्तम्ब ने 'सर्वं मद्यमपेयम्'(१।१७।२१) कह

१- वि ५१।२६-३३

२- यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वेह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य चेह न निष्कृतिम्।। - वि ५१।६० ३- तत्रैव ६१

४- मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेति कथं च न।।- वि ५१।६४

५- सुरापान करने वाले ब्राह्मण के मुख में खौलती हुई सुरा डालने का प्रायश्चित्त है। मृत्यु होने पर ही शुद्धि होती है। 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिचेयुः सुरामास्ये मृतः शुध्येत्।- गौ ३।५।१

कर सभी प्रकार के मदपान का निषेध किया है[१] और सुरापान करने वाले के लिए गौतम के समान ही घातक प्रायश्चित्त का निर्देश किया है[२] तथा इसकी गणना पतनीय कर्मों में की है।[३] बौधायन ने उत्तर में प्रचलित निन्दित कर्मों में शीधुपान अर्थात् सुरापान का भी उल्लेख किया है।[४] वसिष्ठधर्मसूत्र १।२० में भी सुरापान की गणना महापातकों में की गयी है। विष्णुधर्मसूत्र में भी यही स्थिति है।[५] यहाँ तक कि सुरा के पात्र से जानबूझकर जल पीने पर सात दिन शंखपुष्पी के साथ गरम दूध पीने का प्रायश्चित्त विहित है।[६]

विष्णुधर्मसूत्र में दस प्रकार की सुरा का उल्लेख कर उनका निषेध किया गया है। ये हैं- माधूक अर्थात् महुवे से बनी, ऐक्षव (ईंख से निष्पन्न), टांक (कपित्थ के फल वाली), कौल (बदर या बेर वाली), खार्जुर,पानस अर्थात् कटहल की, मृद्विकारस (अंगूर की), माध्वीक (मधु से बनी), मैरेय और नारिकेलज।[७] ये सभी अमेध्य हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है कि जिस पुरुष की पत्नी सुरा पीती है उसका आधा शरीर पतित हो जाता है[८] और उस पाप से मुक्ति का कोई उपाय नहीं होता। गौतम ने सुरापी के मुख से सुरा सूँघ लेने पर भी प्रायश्चित्त का निर्देश किया है।[९]

१- हरदत्त ने मनुस्मृति ११।९४ का उद्धरण दिया है- गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा। यथैवेका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः॥

२- सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेत्।- आप १।२५।३

३- स्तेयमाभिशस्त्यं पुरुषवधो ब्रह्मोज्झं गर्भशातनं मातुः पितुरिति योनिसम्बन्धे सहापत्ये स्त्रीगमनं सुरापानमसंयोगसंयोगः।- आप १।२१।८

४- अथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः शीधुपानमुभयतोदद्भिर्व्यावहारः आयुधीयकं समुद्रसंयानमिति। - बौ १।२।४

५- ब्रह्महत्या सुरापानं ब्राह्मणसुवर्णहरणं गुरुदारागमनमिति महापातकानि।-वि ३५।१

६- वि ५१।२३-२४

७- माधूकैक्षवं टांकं कौलं खार्जुरपानसे। मृद्विकारसमाध्वीके मैरेयं नारिकेलजम्॥ अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य च। राजन्यश्चैव वैश्यश्च स्पृष्ट्वैतानि न दुष्यतः॥- - वि २२।८३-८४

८- पतत्यर्धं शरीरस्य भार्या यस्य सुरां पिबेत्। पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥- व २१।१५

९- गन्धाघ्राणे सुरापस्य प्राणायामा घृतप्राशनं च।- गौ ३।५।१

सामान्य व्यावहारिक आचार

शुद्धि, भोजन एवं सम्मानप्रदर्शन के आचारनियमों के अतिरिक्त अनेक सामान्य व्यावहारिक आचार भी धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट हैं। इनमें से कुछ आचार मानवता एवं करुणा की भावना से प्रेरित हैं, जैसे गमनागमन में मार्ग छोड़ने का नियम। गौतम के अनुसार पहिये वाले यान यथा रथ आदि पर आसीन व्यक्ति, वृद्ध, रोगी, गर्भवती स्त्री, स्नातक और राजा के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए।[१] इसी प्रकार बौधायन ने भी ब्राह्मण, गौ, राजा, अन्ध, वृद्ध, बोझ लिये हुए व्यक्ति, गर्भिणी और दुर्बल व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़ने का उपदेश किया है।[२] इस प्रकार के नियम के सन्दर्भ में बोझवाले, वाहन, रोगी, स्त्री आदि के लिए मार्ग देने का विधान करते हुए आपस्तम्ब ने अपने कल्याण के लिए मूर्ख, पतित, शराबी एवं पागल के लिए भी मार्ग छोड़ना श्रेयस्कर कहा है।[३] वसिष्ठधर्मसूत्र में प्रायः गौतम के ही कथन को दुहराते हुए बालक के लिए भी मार्ग छोड़ना उचित बताया गया है।[४] विष्णुधर्मसूत्र में उपर्युक्त सभी के अतिरिक्त वर के लिए भी मार्ग देने का नियम है।[५]

गौतम ने ऐसे अनेक व्यावहारिक आचार-नियमों का संकलन किया है, जिनमें सम्मानप्रदर्शन तथा शारीररिक एवं मानसिक शुद्धि का भाव है। यथा- वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, देवता, गौ की ओर मुख कर अथवा उन्हें देखते हुए मूत्र और मल का त्याग नहीं करना चाहिए और न थूक, खखार या उच्छिष्ट फेंकना चाहिए। देवों, गौ तथा ब्राह्मण की ओर पैर नहीं फैलाना चाहिए। पत्ते, ढेला और पत्थर से मलमूत्र नहीं हटाना चाहिए। भस्म, केश, नख, भूसी, कपाल और अपवित्र पदार्थों पर नहीं बैठना चाहिए।[६] देवों के प्रति सम्मानप्रदर्शन के कुछ आचार इस प्रकार हैं- देवमन्दिर एवं

१- चक्रिदशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः पथो दानम्।- गौ १।६।२१

२- पन्था देयो ब्राह्मणाय गवे राज्ञे ह्यचक्षुषे।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च॥- बौ २।६।३०

३- अशिष्टपतितमत्तोन्मत्तानामात्मस्वस्त्ययनार्थेन सर्वैरेव दातव्यः।- आप २।११।६

४- स्थविरबालातुरभारिकस्त्रीचक्रीवगतां पन्थाः समागते परस्मैपरस्मै देयः।- व १३।५८

५- वि ६३।५१

६- गौ १।६।१३-१६

चतुष्पथों को दाहिने कर उनकी प्रदक्षिणा करते हुए चलना चाहिए।[१] भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रज्वलित अग्नि को एकत्र नहीं करना चाहिए। यदि कहीं जाते समय अग्नि लायी जा रही हो तो भूमि पर रखे जाने पर उसे दाहिने हाथ की ओर करके चलना चाहिए।[२] बौधायनधर्मसूत्र में निर्दिष्ट उपर्युक्त प्रकार के कतिपय आचारनियम निम्नलिखित हैं- मांस, मछली और तिल से युक्त भोजन ग्रहण करने पर जल से शुद्धि करने के बाद अग्नि का स्पर्श करे। सूर्यास्त होने पर स्नान न करे । पलाश के बने हुए आसन, खड़ाऊ और दातौन का वर्जन करे। बाँस का डण्डा रखना चाहिए। स्नान करते समय एक पैर को दूसरे पैर से नहीं रगड़ना चाहिए। खड़ा होने पर एक पैर को दूसरे पैर के ऊपर रखना भी निन्दित है। ऐसी माला न धारण करे जो बाहर दिखायी पड़ती हो। उदय और अस्त के समय सूर्य के ऊपर दृष्टिपात न करे।[३] उदय और अस्त के समय सूर्यदर्शन का निषेध आपस्तम्ब और वसिष्ठ ने भी किया है।[४]

स्नातक के व्रतों का वर्णन करते हुए वसिष्ठ ने भी ऐसे आचारनियमों का उल्लेख किया है जो सामान्यतः सभी द्वारा पालन करने योग्य हैं। ये हैं- गन्दे वस्त्रों वाले के पास न बैठना, रजस्वला के निकट न बैठना, जल में मूत्र या मलत्याग न करना, जल में न थूकना, अग्नि को मुख से न फूँकना, पलाश के आसन, खड़ाऊँ और दातौन का वर्जन करना।[५] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार भी केश, भूसी, कपाल, अस्थि, भस्म, अंगार पर पैर नहीं रखना चाहिए, चौराहे की, देवता के स्थान तथा प्रसिद्ध वृक्षों की परिक्रमा करनी चाहिए।[६] देवता, ब्राह्मण, गुरु, कपिला गौ तथा दीक्षित की छाया पर उनकी पूजनीयता के कारण तथा थूक, रुधिर, मल, मूत्र एवं स्नान के जल पर अपवित्रता के कारण पैर नहीं रखना चाहिए।[७]

१- प्रशस्तमंगल्यदेवतायतनचतुष्पथं प्रदक्षिणमावर्तेत।-गौ १।६।६६

२- आप २।१२।१०-११

३- बौ २।६।२-१०, गौतम (१।६।४४) ने भी पलाश के आसन आदि का निषेध किया है।

४- आप १।३१।२० तथा व १२।१०

५- व १२।५,६,११,१२,२७,३४

६- वि ६३।२५-२८

७- वि ६३।४०,४१

आत्मरक्षार्थ आचार-नियम

सभी धर्मसूत्रों में ऐसे अनेक आचार-नियमों का निर्देश है जिनके पालन से अपनी शारीरिक रक्षा होती है और लौकिक कल्याण भी होता है। गौतम ने इसी उद्देश्य से स्पष्ट कहा है : 'सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेत्' अर्थात् सभी प्रकार से अपनी रक्षा करे।[१] जिस नौका से पार होने में सन्देह हो उससे नदी पार न करे। दिन में सिर तक ढँक कर न घूमें, किन्तु रात्रि में सिर ढँककर निकलना चाहिए।[२] बौधायनधर्मसूत्र में और भी विस्तृत नियम उपलब्ध हैं। यथा, नगर के द्वार पर स्थापित किये गये इन्द्रकील और परिघा के बीच से गमन नहीं करना चाहिए। झूले के बीच से नहीं चलना चाहिए। अकेले, पतित, स्त्री या शूद्र के साथ अथवा सन्ध्या को यात्रा पर प्रस्थान नहीं करना चाहिए।[३] बाहों से तैरकर नदी पार करने, कुएँ या गड्ढे में झाँकने का निषेध भी आत्मरक्षा के प्रयोजन से ही किया गया है।[४] इस प्रकार का निषेध वसिष्ठधर्मसूत्र में स्नातक के व्रतों के प्रकरण में[५] तथा विष्णुधर्मसूत्र में सामान्य आचारों के अन्तर्गत किया गया है।[६] व्यर्थ नदी पार करना, नदी के तट पर खड़ा होना, कुएँ को लाँघना भी वर्जित है।[७] विष्णुधर्मसूत्र में भी अकेले, शत्रुओं के साथ, बहुत तड़के, सन्ध्या काल में, मध्याह्न में, रात्रि में यात्रा का निषेध है।[८] रात्रि में वृक्ष के मूल में, सूने घर में, पशुओं के बाँधने के घर मे भी रहना वर्जित है।[९]

वाणीविषयक आचार

भाषण के विषय में भी अनेक नियम धर्मसूत्रों में दिये गये हैं, जिनमें वाणी की पवित्रता एवं शुभाशुभ का विचार किया गया है। म्लेच्छों (अर्थात् वर्णाश्रमधर्म का पालन न करने वालों), अपवित्र व्यक्तियों एवं पतितों के साथ संभाषण निषिद्ध किया

१- बौ १।६।३४ सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेत्।
२- गौ १।६।३३,३५,३६ ३- बौ २।६।१३,१४,२१-२३
४- बौ २।६।२५-२८ न नदीं बाहुकस्तरेत्। न कूपमवेक्षेत न गर्तमवेक्षेत।
५- व १२।४४,४५ ६- वि ६३।४६-५०
७- वि ६३।४४,४८, ५० ८- वि ६३।२-६
८- वि ६३।२०,२३

गया है और कहा गया है कि यदि किसी कारणवश भाषण करना पड़े तो वसिष्ठ आदि पुण्यात्माओं का ध्यान करना चाहिए अथवा किसी ब्राह्मण से संभाषण करना चाहिए।[१] शुभ अर्थवाली वाणी बोलना उचित माना गया है, यथा दूध न देने वाली गौ को 'धेनुभव्या' कहना चाहिए, अभद्र पदार्थ को भी भद्र कहना चाहिए। कपाल को भगाल तथा इन्द्रधनु को मणिधनु कहना चाहिए।[२] गौतम ने वाक्कलह का भी वर्जन किया है।[३] बौधायन ने शोककारी, अपशकुन वाले, रूखे और कठोर वचनों का निषेध किया है।[४] आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि किसी सन्देहास्पद विषय का प्रत्यक्ष देखे गये के समान स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं करना चाहिए।[५] यदि गौ अपने बछड़े को दूध पिला रही हो तो उसके विषय में भी उल्लेख न करने का उपदेश प्रायः सभी धर्मसूत्रों में है।[६] आपस्तम्ब के अनुसार भद्र को भद्र न कहकर पुण्य या प्रशस्त कहना चाहिए।[७] यद्यपि इनमें से अनेक आचारों का स्नातक के व्रतों के प्रकरण में विधान किया गया है तथापि ये सामान्य आचार के रूप में गृहीत एवं प्रशंसित थे, ऐसा निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता है।

यात्राकालीन आचार

कई धर्मसूत्रों में यात्रा के समय के लिए भी कुछ नियम दिये गये हैं। इनके अन्तर्गत शकुन और अपशकुन का विचार भी आ गया है। यथा अकेले, पतित, स्त्री,

---

१- न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत। संभाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत्। ब्राह्मणेन वा सह संभाषेत।-बौ १।६।१७-१६

२- गौ १।६।२०-२३, बौ २।६।११,१२,१८,१६; व ध सू १२।३२-३३, आप १।३१।११, १८

३- अग्निमुखोपधमनविगृह्यावादबहिर्गन्धमाल्यधारण-पापीयसावलेखन-भार्यया सह भोजनाञ्जन्त्यवेक्षण- कुद्वारप्रवेशन- पादधावनासन्दीस्थभोजन-नदीबाहुतरण-वृक्षविषमारोहणाव-रोहण-प्राणव्याद्यच्छनानि वर्जयेत्।- गौ १।६।३२

४- शुक्ला रूक्षाः परुषा वाचो न ब्रूयात्।- बौ २।६।२०

५- आप २।१२।२१

६- गौ १।६।२४-२५; बौ २।६।११; आप १।३१।१०

७- आप १।३१।१३,१४

शूद्र के साथ या सन्ध्या के समय यात्रा निषिद्ध है।[१] एक साथ अग्नि और जल को लेकर चलना भी अनुचित है।[२] बछड़े के पगहे के ऊपर से अथवा जिन खम्भों पर झूला लटकाया गया हो उनके बीच से जाना भी वर्जित है।[३] ग्राम में किसी निन्दित मार्ग से प्रवेश नहीं करना चाहिए और किसी कारणवश ऐसा करना भी पड़े तो 'नमो रुद्राय वास्तोष्पतये' मन्त्र का जप करना चाहिए।[४] अनेक यात्राकालीन आचारों का उल्लेख विष्णुधर्मसूत्र में किया गया है। उसके अनुसार अग्नि, ब्राह्मण, गणिका, पूर्णकुम्भ, दर्पण, छत्र, ध्वज, पताका, श्रीवृक्ष, शरावक तथा नन्द्यावर्त नाम का राजमहल, तालवृन्त, चमर, अश्व, गज, बकरा, बछड़े सहित गौ, दूध, दधि, मधु ये सभी शुभ शकुन हैं। इसी प्रकार पगड़ी, आभूषण, मणि, सुवर्ण, रजत, वस्त्र, आसन, यान, मांस, भृंगार, खोदी हुई मिट्टी, ऊर्वरा भूमि, बँधा हुआ एक पशु जैसे बैल, कुमारी कन्या, मछली, इनको देखकर यात्रा करनी चाहिए। किन्तु मत्त, उन्मत्त, अंगहीन, सिर मुँड़ाये हुए, जटा धारण करने वाले, वामन, काषाय वस्त्र धारण करने वाले, संन्यासी, मलिन वस्त्र वाले, तेल, गुड़, सूखा गोबर, ईंधन, तृण, पलाश, भस्म, अंगार, नमक, क्लीब, मदिरा, नपुंसक, कपास, रस्सी, बेड़ी, खुले केशों को देखकर लौट आना चाहिए।[५]

इसी प्रकार यात्रा के समय वीणा, ताजा शाक, पगड़ी, आभूषण और अविवाहिता कन्या देखकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए।[६] विष्णुधर्मसूत्र भी शत्रुओं के साथ, अत्यन्त प्रातःकाल, अधिक सन्ध्या होने पर, मध्याह्न को, अत्यन्त वेगपूर्वक, रात्रि में, बालक, रोगी, आर्त वाहनों , हीन अंगों वालों, दीनों तथा गायों के साथ यात्रा का वर्जन करता है।[७]

१- नैकोऽध्वानं व्रजेत् न पतितैर्न स्त्रिया न शूद्रेण, न प्रतिसायं व्रजेत्।- बौ २।६।२१-२५
२- आप २।१२।६
३- आप १।३१।१५, बौ २।६।१४-१५, व १२।६, वि ६३।४२
४- आप १।३१।२३-२४
५- वि ६३।२६-३८
६- तदेव ६३। ३६
७- तदेव ६३।१-१६

अन्य व्यावहारिक आचार

धर्मसूत्रों में अनेक सामान्य व्यावहारिक आचारों का भी निर्देश है। गौतमधर्मसूत्र इन्द्रियों के संयम का उपदेश देते हुए कहता है कि शिश्न, उदर, हाथ, पैर, वाणी और नेत्र की चपलता न करे, तात्पर्य यह कि संयमपूर्वक औचित्य का ध्यान रखते हुए ही यौनसम्बन्ध होना चाहिए। अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। हाथ से अनुचित शिल्पकर्म आदि नहीं करना चाहिए। निष्प्रयोजन घूमना नहीं चाहिए। अधिक बोलने का वर्जन करना चाहिए। नेत्रों द्वारा नृत्यादि से मनोरंजन नहीं करना चाहिए।[१] तिनके तोड़ना, घड़े आदि फोड़ना, दीवाल आदि पर नख से लिखना, ढेले फोड़ना, अंगुली चटकाना ये सभी कार्य अकारण नहीं करना चाहिए। आमन्त्रित न होने पर यज्ञ में जाना भी उचित नहीं है। किन्तु दर्शनार्थी के रूप में जाया जा सकता है।[२] नग्न होकर सोना और स्नान करना भी अनुचित है।[३]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में कतिपय सामान्य आचार नियम इस प्रकार हैं- सभा में किसी व्यक्ति को शत्रु कहकर उल्लिखित नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर द्रोह बढ़ता ही है।[४] घर के पात्रों को कभी जल से खाली नहीं रखना चाहिए।[५] वस्तुग्रहण के विषय में आपस्तम्ब का कथन है कि मधु, चावल, मृगमांस, भूमि, मूल, फल, अभय रूपी दान, गौ के लिए चारागाह, घर, बैल, पशुओं के लिए चारा, उग्र से अर्थात् पाप कर्म में रत द्विजाति से या वैश्य पुरुष एवं शूद्रा स्त्री के पुत्र से भी ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु हारीत का मत है कि ये वस्तुएँ शिष्य द्वारा लायी जाने पर ही ग्राह्य हैं।[६] इसी प्रकार वस्तु देने के विषय में वसिष्ठ ने यह नियम दिया है : 'चिकनी वस्तु, नमक और व्यंजन यदि हाथ से दिये जाते हैं, तो उससे देने वाले को कोई पुण्य नहीं मिलता और

१- न शिश्नोदरपाणिपादवाक्चक्षुश्चापलानि कुर्यात्।- गौ १।६।५०

२- गौ १।६।५१, ५४, ५५

३- गौ १।६।६०,६१ न कदाचिद्रात्रौ नग्नः स्वपेत्। स्नायाद्वा।

४- आप १।३१।१७

५- नित्यमुदधानान्यद्भिररिक्तानि स्युर्गृहमेधिनोर्व्रतम्।- आप २।१। १५

६- मध्वामं मार्गं मांसं भूमिर्मूलफलानि रक्षा गव्यूतिर्निवेशनं युग्यघासश्चोग्रतः प्रतिगृह्णाति। एतान्यपि नाऽनन्तेवास्याहृतानीति गौतमः।-आप १।१८।१,२

खाने वाले को पाप होता है। अतः ऐसी वस्तु को पत्ते पर रखकर देनी चाहिए, हाथ से या लोहे के पात्र से नहीं।[1]

सामान्य आचारों के अन्तर्गत प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में वेदाध्ययन करने का नियम भी है। वसिष्ठ का उपदेश है कि इस प्रकार वेदाध्ययन करने के बाद पुनः शयन न करे, प्रत्युत कुछ धर्मकार्य ही करे।[2] शिखा धारण करने के विषय में वसिष्ठ का ही कथन है कि 'सभी वर्णों के लोग अपने कुल की प्रथा के अनुसार केश धारण कर सकते हैं अथवा शिखा को छोड़कर शेष केशों को मुक्त रखें।[3]

धार्मिक आचारों के अन्तर्गत सन्ध्योपासना एक महत्त्वपूर्ण आचार है। इसकी प्रशंसा में बौधायन ने प्रजापति के दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनके अनुसार जो ब्राह्मण प्रातःकालीन एवं सायंकालीन सन्ध्याएँ उचित काल में नहीं सम्पादित करते, वे ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे प्रमादी द्विजाति को राजा शूद्रों के कार्य में लगाये।[4] दिन में मित्र देव के दो मन्त्रों द्वारा सूर्य की स्तुति करनी चाहिए। प्रातःकालीन सन्ध्या सूर्योदय से पर्याप्त पहले आरम्भ करनी चाहिए तथा सूर्योदय होने पर समाप्त करनी चाहिए।[5] इसी प्रकार सायंकालीन सन्ध्या सूर्य के अस्त होने पर आरम्भ करे और नक्षत्रों के दिखायी पड़ने पर समाप्त करे।[6] सन्ध्योपासना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बौधायन की उक्ति है कि प्रातः और सायं सन्ध्योपासना करने से जीवन में दिन एवं रात्रि की परम्परा अविच्छिन्न रहती है।[7] सन्ध्योपासना करने वाला आने वाली रात्रि से

१- हस्तदत्तास्तु ये स्नेहा लवणव्यञ्जनानि च। दातारं नोपतिष्ठन्ति भोक्ता भुञ्जीत किल्बिषम्।।
प्रदद्यान्न तु हस्तेन नायसेन कदा च नेति। व १४।३१,३२

२- व १२।४६,४७

३- नियतकेशवेषाः सर्वे वा मुक्तकेशाः शिखावर्जम्।- व २।२१

४- अनागतां तु ये पूर्वामनतीतां तु पश्चिमाम्।
सन्ध्यां नोपासते विप्राः कथं ते ब्राह्मणा स्मृताः।।
सायं प्रातस्सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत।।- बौ २।७।१५

५- बौ २।७।१२,१३ सुपूर्वामपि पूर्वामुपक्रम्योदित आदित्ये समाप्नुयात्। अनस्तमित उपक्रम्य सुपश्चादपि पश्चिमाम्।

६- सन्ध्ययोश्च सम्पत्तावहोरात्रयोश्च सन्ततिः।-बौ २।७।१४

संबद्ध हो जाता है और वरुण देवता उसका वध नहीं करते।[१]

इस प्रकार के अन्य भी आचारनियम धर्मसूत्रों में विवेचित हैं। वस्तुतः, धर्मसूत्रों ने मानवजीवन के प्रत्येक पक्ष को और सभी क्रियाओं को तदनुरूप आचार का स्पष्ट निर्देश कर नियमित एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। जीवन का शायद ही कोई अंग ऐसा हो जिस पर धर्मसूत्रकारों की दृष्टि नहीं गयी हो। आचार की व्यवस्था धर्मसूत्रों का प्रधान लक्ष्य है, अतः सभी धर्मसूत्र मुख्यतः आचार का विवेचन एवं निर्देश करते दिखायी पड़ते हैं।

१- रात्र्या चाऽपि सन्धीयते। न चैनं वरुणो गृह्णाति।-बौ ध सू २।७।१६-२०

अध्याय ६

धर्मसूत्रों में नारी एवं यौनजीवन

नारी समाज का अभिन्न अंग होती है। मानवजाति और सभ्यता के विकास में उसकी अपनी विशिष्ट भूमिका है। किसी भी समाज का अध्ययन उसके नारीसमाज की स्थिति का पर्यवेक्षण किये विना स्वभावतः अपूर्ण होता है। श्री जतीन्द्र विमल चौधुरी के शब्दों में 'किसी भी देश की सभ्यता का सबसे उत्तम ज्ञान वहाँ की स्त्रियों की दशा का पूर्ण अध्ययन करने पर ही प्राप्त होता है। स्त्री अपने जीवन में पुत्री, पत्नी और माता के रूपों में न केवल यथाशक्ति पुरुष को संरक्षण और प्रेरणा प्रदान करती है, अपितु अपने अस्तित्व का मूल्य देकर भी उसके हितों की रक्षा करती है।'[१] जिस समाज में नारी के उपर्युक्त गुणों का सही मूल्याङ्कन होता है और वह अपनी महान् भूमिका का निर्वाह करने के लिए समर्थ होती है वह समाज एक संस्कृत और आदर्श समाज होता है। उसमें श्रेष्ठ संस्कृति और कल्याणकारी जीवन-पद्धति का जन्म होता है। इसके विपरीत, जिस समाज में नारी पंगु और दलित होकर एक भौतिक सुख-साधनमात्र बनकर रह जाती है वह समाज निश्चय ही अशान्ति और अधोगति की ओर उन्मुख हो जाता है।

१- "The civilization of a country is best understood by a thorough study of the position of its women. The women in the various phases of her life as Daughter, Wife and mother not only protects and invigorates the man to the best of her power, but safeguards his interests even at her own cost."
-Jatindra Bimal Chaudhury, *Position of Women in the Vedic Ritual*, *p.1*

भारतीय नारी के अतीत का इतिहास उसके उत्थान एवं पतन की एक मिश्रित कहानी है। संहिताओं के काल में नारी की दशा का जो चित्र उपलब्ध होता है वह निराशाजनक नहीं है। इस युग में नारी पूर्णतः पुरुष की सहधर्मिणी थी। पुरुषों के समान वह भी वैदिक सूक्तों की द्रष्ट्री थी और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने के लिए स्वतन्त्र होती थी।[१] प्राचीन वैदिक युग में जीवनपर्यन्त अविवाहिता रहकर आध्यात्मिक चिन्तन में रत रहने वाली स्त्रियों का भी अभाव नहीं था। ऐसी स्त्रियों को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था।[२] विदेहराज जनक की सभा में महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य को अपनी विद्वत्ता से चकित कर देने वाली गार्गी वाचक्नवी[३] तथा उनसे ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा करने वाली मैत्रेयी[४] तत्कालीन नारी की बौद्धिक प्रगति के उदाहरण प्रस्तुत करती है। सामाजिक दृष्टि से भी आरम्भिक वैदिक काल में नारी को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वह पुरुषों के साथ सामाजिक उत्सवों में भाग लेती थी, अलंकृत होकर सभाओं में जाती थी।[५] 'समन' नाम से उल्लिखित प्रतियोगिताओं को देखने के लिए भी उसे घर से बाहर जाने की पूर्ण छूट थी।[६]

यज्ञक्रिया तथा अन्य गृह्य संस्कारों में प्राचीन भारतीय नारी का सक्रिय योगदान होता था। यज्ञ की दृष्टि से तो वह एक सदस्य के रूप में अपरिहार्य होती थी। पुरुष के लिए विवाह करना यज्ञसम्पादन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होता था और पत्नीहीन व्यक्ति यज्ञ का अधिकारी नहीं हो सकता था।[७] हवि और वेदी का निर्माण जैसे अनेक याज्ञिक अनुष्ठानों में पत्नी भी सहयोग देती थी।[८] अश्वमेधयज्ञ में अश्व का वध

१- अथर्ववेद, ११।५।८

२- हारीत ने ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है: 'द्विविधा स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवधूश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्या। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे उपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।

३- बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।६,८

४- तदेव,२।४।३, ४।५।४

५- अथर्ववेद २।३६।१

६- ऋग्वेद, ६।१७५।३, १०।८६।१०, १।४८।६, १।१२४।८, ४।५८।८

७- अयाज्ञिको वा एष यो अपत्नीकः।- तैत्तिरीयब्राह्मण, २।२।२।६

८- शतपथब्राह्मण, १०।२।३।१, १०।२।३।३, ३।८।२।१-६

होने के अनन्तर राजमहिषी भी यज्ञ की एक प्रतीकात्मक क्रिया में भाग लेती थी और श्रेष्ठ पुत्र प्राप्ति की कामना से मृत अश्व के निकट शयन करती थी। इसी प्रकार वरुणप्रघास नाम की क्रिया में यजमान की पत्नी के प्रेमियों के विषय में प्रश्न किये जाते थे।[१] यज्ञ के समय पत्नी भी दीक्षा ग्रहण करती थी। उसके वस्त्रों के ऊपर से योक्त्र का सन्नहन किया जाता था। यह योक्त्र मुंज् की तीन रस्सियों को बटकर बनाया जाता था और यह क्रिया उपनयन का प्रतीक होती थी।

पत्नी को पुरुष का आधा भाग मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी उसे सम्मानित किया है। शतपथब्राह्मण के शब्दों में 'जाया पुरुष का आधा भाग है, अतः जब तक पुरुष विवाह नहीं करता तब तक वह सन्तान नहीं उत्पन्न करता और अपूर्ण होता है। जब वह विवाह कर लेता है एवं सन्तानोत्पत्ति करता है तब पूर्ण होता है।[२] पत्नी को यज्ञ का पिछला अर्धभाग माना गया है।[३] पत्नी अपना आधा भाग है।[४] पत्नी समृद्धि और श्री का रूप होती है।[५] गृह की प्रतिष्ठा भी पत्नी ही है।[६]

किन्तु वैदिक काल की नारी का उपर्युक्त वर्णन एक सम्पूर्ण चित्र नहीं प्रस्तुत करता। संहिताकाल में ही स्त्री पर सामाजिक बन्धन कसे जाने लगे थे। मैत्रायणी-संहिता[७] में स्त्रियों का सभाओं में सम्मिलित होना पसन्द नहीं किया गया है। मैत्रायणी-संहिता में ही स्त्री को अनृतवादिनी कहा गया है और दुर्भाग्य की देवता निर्ऋति के साथ संबद्ध किया गया है।[८] तैत्तिरीयसंहिता में नारी की शारीरिक हीनता का

१- शतपथब्राह्मण, १।३।१।१२,१३; तैत्तिरीयब्राह्मण, ३।३।३।२-३

२- अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया,तस्माद्यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो तावद्भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।- शतपथब्रा०४।२।१।१०

३- जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी।- शतपथब्रा० १।३।१।१२, २।५।२।२६, ३।८।२।२, पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्याध्वर्युर्जघनार्धः पत्नी। - शतपथब्रा० १।६।२।३

४- अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी।- तैत्तिरीयब्रा० ३।३।३।५

५- श्रियै वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः।- शतपथब्रा० १३।२।६।७
श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः।- तैत्तिरीयब्रा० ३।६।४।७-८

६- गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा।- शतपथब्रा० २।३।३।१

७- मैत्रायणीसंहिता ४।७६

८- तदेव, ३।६।३

उल्लेख किया गया है और यज्ञ में सोमक्रय के अधिकार से वञ्चित किया गया है।[१] स्त्री के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों की निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- 'स्त्रियों के साथ मित्रता नहीं निभ सकती।'[२] यदि बहुत सी स्त्रियाँ एक साथ चल रही हों तो उनमें जो बालक भी पुरुष होता है वही आगे चलता है।[३] स्त्री अनृत का रूप होती है।[४] स्त्री नृत्य एवं गीत पसन्द करती है और जो पुरुष नृत्य करता है एवं गीत गाता है उस पर वह अधिक आसक्त होती है।[५] पति ही स्त्री की प्रतिष्ठा है।[६] स्त्रियाँ पुरुष का ही अनुसरण करती हैं।[७] स्त्रियाँ दुःख का साधन हैं। इन्हें देवों ने क्रोध, आलस्य, नींद, भूख, वासना और द्यूतक्रीडा जैसी बुराइयों के साथ मनुष्य को कष्ट देने के लिए उत्पन्न किया है।[८] ब्राह्मण ग्रन्थों में आयी हुई ये स्त्रीविषयक उक्तियाँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि किस प्रकार नारी को शनैःशनैः पददलित करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। शांखायनब्राह्मण ने तो उसे यज्ञ की वेदी के निकट से भी हटा दिया और अयज्ञिय घोषित कर दिया।[९] ब्राह्मण काल के अन्त में स्त्री उन अनेक कार्यों से वञ्चित कर दी गयी जो वह यज्ञ में सम्मानपूर्वक करती थी और वे कार्य ऋत्विजों के हाथ में आ गये।[१०]

स्त्रीधर्म

धर्मसूत्रों ने सभी प्रकार से पति की सेवा को ही परम धर्म घोषित किया है। विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में 'स्त्रियों के लिए पति से भिन्न यज्ञ, व्रत या उपवास का

१- तैत्तिरीयसंहिता ६।५।८।२

२- न वै स्त्रैणं सख्यमस्ति। शतपथब्रा० ११।५।१।६ द्र०ऋग्वेद, १०।६:।१

३- यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम इत्यनूच्य इतराः।- शतपथब्रा० १।३।१।६

४- अनृतं स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत।- शतपथब्रा० १४।१।१।३१

५- तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैताः निमिश्लतमा इव।- शतपथब्रा० ३।२।४।६

६- पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा।- शतपथब्रा० २।६।२।१४

७- तस्मात्स्त्रियः पुंसो ऽनुवर्त्मानो भावुकाः।- शतपथब्रा० १३।२।२।४

८- जैमिनीयब्राह्मण, १।६८ ९-अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिविहिताः।- शांखायनब्रा० २७।४

१०- शतपथब्रा० १।१।४।१३, ४।३।१।८५

विधान नहीं है। पति की ही सेवा करने से स्त्री स्वर्ग में गौरव प्राप्त कर लेती है।[1] यही नहीं, पति की सेवा में विघ्न न हो इस उद्देश्य से सौभाग्यवती स्त्री के लिए उपवासव्रत भी निषिद्ध किया गया है। कहा गया है कि इस प्रकार पति के जीवित रहते उपवास व्रत करने वाली स्त्री पति के आयु को क्षीण करती है और स्वयं नरक प्राप्त करती है। इसके विपरीत, पति की मृत्यु पर ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री पुत्रहीना होने पर भी स्वर्ग की अधिकारिणी घोषित की गयी है।[2] पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए वसिष्ठ कहते हैं: 'जो पतिपरायणा स्त्रियाँ निरन्तर पवित्र और सत्यशील रहती हैं, वे मृत्यु के बाद अपने पतियों के साथ ही निवास करती हैं और इसके विपरीत आचरण करनेवाली स्त्रियाँ शृगालिनी के रूप में जन्म लेती हैं।[3]

पति की अनुपस्थिति में पत्नी के लिए संयम का जीवन विहित है। पति के प्रवासकाल में आभूषण धारण करना और दूसरों के घर जाना वर्जित किया गया है।[4] स्त्री के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन पति को समर्पित करना ही धर्म है और उसी से सुख की कामना उचित है। गौतम ने सामान्य रूप से भी संयम का उपदेश दिया है। वे कहते हैं 'स्त्री को वाणी, दृष्टि और कर्म का संयम रखना चाहिए अर्थात् जितने से व्यावहारिक कार्य संभव हों उतना ही बोले। देखने वालों की ओर न देखे और अपने कुटुम्ब के कार्यों में ही व्यस्त रहे।[5] इससे यह संकेत मिलता है कि स्त्री धीरे-धीरे घर की ही दीवालों के भीतर बन्द होती जा रही थी और पर्दा की प्रथा भी आरम्भ हो रही थी। विष्णुधर्मसूत्र में स्त्री का घर के द्वार और खिड़की पर भी खड़ा होना अनुचित

१- नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषतेयत्तु तेन स्वर्गे महीयते॥- वि २५।१५

२- पत्यौ जीवति या योषिदुपवासव्रतं चरेत्।
आयुः सा हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ - वि २५।१६-१७

३- पतिव्रतानां गृहमेधिनीनां सत्यव्रतानां च शुचिव्रतानाम्।
तासां तु लोकाः पतिभिः समाना गोमायुलोका व्यभिचारिणीनाम्॥

४- भर्तरि प्रवसितेऽप्रतिकर्मक्रिया। परगृहेष्वनभिगमनम्।- वि २५।९-१०

५- वाक्चक्षुकर्मः कर्मसंयता।-गौ २।६।३ द्रष्टव्य- हरदत्त की व्याख्या।

बताया गया है।[1] गौतमधर्मसूत्र ने पति के संन्यास लेने पर पत्नी द्वारा संयम का जीवन व्यतीत करना धर्मसम्मत बताया है। इसी प्रकार विद्याध्ययन के लिए प्रवास करने वाले व्यक्ति की पत्नी को बारह वर्षों तक पति के लौटने की प्रतीक्षा करनी होती थी।[2]

धर्मसूत्रों में नारी की जो अवस्था दिखायी पड़ती है उसमें भी एकरूपता का पूर्ण अभाव है। कहीं वह विशेष सम्मान की अधिकारिणी है तो कहीं उसे शूद्र की कोटि में रखा गया है। स्त्री के विषय में विचार सभी धर्मसूत्रों में हुए हैं। स्त्रीधर्म का विवेचन करने वाले पृथक् अध्याय गौतम, वसिष्ठ तथा विष्णु के धर्मसूत्रों में उपलब्ध हैं।[3] बौधायनधर्मसूत्र २।२ में सम्पत्ति के विभाजन से संबद्ध नियमों के साथ ही स्त्रीधर्म भी विवेचित है। इनके अतिरिक्त धर्मसूत्रों में अनेक प्रसंगों में स्त्रीविषयक जो नियम दिये गये हैं वे भी तत्कालीन नारी की अवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं।

सभी प्रकार से पति के अनुकूल और अधीन बने रहना ही धर्मसूत्रों की दृष्टि में नारी का श्रेष्ठ धर्म है। गौतम ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि श्रौत या गृह्य किसी भी प्रकार के धर्मकार्य में स्त्री स्वतन्त्र नहीं होती,अपितु अपने पति के ही धर्मानुष्ठान का अनुसरण करती है।[4] हरदत्त ने गौतम के विधान को जिस प्रकार स्पष्ट किया है उससे उपर्युक्त नियम का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि पति की अनुमति के विना स्त्री स्मार्त्त या पौराणिक धर्मकार्यों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं कर सकती थी। बौधायन ने भी स्त्री के सम्पत्ति-विषयक अधिकार के प्रसंग में उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध किया है।[5] किन्तु बौधायन का वास्तविक तात्पर्य केवल अर्थिक अधिकार से नहीं है। वे स्त्री की सामान्य परतन्त्रता का ही निर्देश करते हैं।[6] इस कथन को वे एक उद्धरण द्वारा पुष्ट करते हैं जिसके अनुसार स्त्री की कुमारी के रूप में पिता, युवावस्था में पति एवं

१- द्वारदेशगवाक्षेष्वनवस्थानम्।- वि २५।११

२- प्रव्रजिते तु निवृत्तिः प्रसङ्गात्। द्वादश वर्षाणि ब्राह्मणस्य विद्यासम्बन्धे।-गौ २।६।१६,१७

३- गौ धसू२।६,वसिष्ठ अध्याय ५, विष्णु० अध्याय २५,२६

४- अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री।-गौ २।६।१

५- न स्त्री स्वातन्त्र्यं विन्दते।- बौ २।३।४५

६- अथाप्युदाहरन्ति- पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीति॥- बौ २।३।४६

वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है और वह स्वतन्त्र जीवन व्यतीन करने योग्य नहीं होती। वसिष्ठधर्मसूत्र[1] भी इस पद्य को अपने इस कथन के समर्थन में उद्धृत करता है कि स्त्री स्वतन्त्र नहीं होती, पुरुष ही उसका संरक्षक या स्वामी होता है।[2] विष्णुधर्मसूत्र सभी कर्मों में स्त्री की अस्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए विभिन्न अवस्था में पिता, पति और पुत्र के अधीन रहने का उपदेश देता है।[3]

धर्मसूत्रों ने स्त्री को उसके पति के जीवन से भिन्न कर नहीं देखा है। सभी पुण्यफलों में पति और पत्नी समान अधिकारी माने गये हैं। धन के उपार्जन में भी उनका सहभागित्व स्वीकार किया गया है।[4] उन दोनो का ही परिवार की सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है।[5] स्त्री के समर्पित जीवन का उदाहरण धर्मसूत्रों में संकेतित विधवा की स्थिति में देखा जा सकता है। आपस्तम्ब के अनुसार विधवा को एक वर्ष तक मधु, मांस, मदिरा एवं नमक का परित्याग करना चाहिए और भूमि पर ही शयन करना चाहिए। इसके बाद यदि वह पुत्रहीना होती थी तो नियोग द्वारा केवल एक पुत्र उत्पन्न कर सकती थी।[6] वसिष्ठ ने भी उपर्युक्त विधान छः मास के लिए विहित किया है।[7] स्मृतियों में विधवा के लिए अत्यन्त कठोर एवं विरक्तिपूर्ण जीवन उपदिष्ट है। कम से कम धर्मसूत्रों में इस प्रकार की कठोरता के दर्शन नहीं होते।

पत्नी का महत्त्व

स्त्री को सर्वाधिक महत्त्व गृहस्थाश्रम में पत्नी के रूप में प्राप्त हुआ है। वहाँ वह गृहस्वामिनी है और पति के साथ समान रूप में गृह्य कर्मों की व्यवस्था में भाग लेती है। आपस्तम्ब ने परिवार के अन्य सदस्यों को पति और पत्नी की आज्ञा का पालन

१- व ५।३
२- अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना।- व ५।१
३- सर्वकर्मस्वस्वतन्त्रता। बाल्ययौवनवार्धक्येष्वपि पितृभर्तृपुत्राधीनता।-वि २५।१२-१३
४- तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु।- आप २।१४।१८,१९
५- कुटुम्बिनौ धनस्येशाते।- आप २।२९।३
६- बौ २।४।७-९
७- व १७।५५-५६

करते हुए उनके हितकार्यों में संलग्न रहने का उपदेश दिया है।[1] गृहस्थाश्रम में पत्नी के रूप में स्त्री का जो महत्त्व दृष्टिगत होता है उसके मुख्यतः दो कारण हैं : प्रथम, वह धार्मिक कृत्यों में पति की सहयोगिनी है, तथा द्वितीय, वह सन्तानोत्पत्ति का साधन है। सहधर्मिणी और जाया- इन दो रूपों में ही नारी को प्रशंसित और सम्मानित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में ही पत्नी यज्ञ में एक प्रमुख सदस्य बन गयी थी। धर्मसूत्र गृहस्थाश्रम की धार्मिक क्रियाओं में ही स्त्री को प्रमुख स्थान देते हैं। दैनिक अग्निहोत्र कर्म के लिए स्थापित की जाने वाली गृह्याग्नि प्रायः विवाह मण्डप में प्रज्वलित अग्नि ही होती थी, जो वधू के घर से लायी जाती थी। गौतम ने उस अग्नि को भार्यादि अथवा दायादि माना है।[2] किन्तु बौधायन के अनुसार यह अग्नि भार्यादि होती थी।[3] वसिष्ठ भी इसी पक्ष के समर्थक हैं।[4] इसी गृह्याग्नि में देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ अर्थात् अतिथि सत्कार, स्वाध्याय एवं वैश्वदेव बलिकर्म किये जाते थे। गृह्याग्नि की स्थापना के विना एवं पत्नी के सहयोग का अभाव होने पर गृहस्थाश्रम का कोई भी धर्मकार्य असंभव होता था। अतिथि-सत्कार हो अथवा देवों की बलि का कार्य हो - पत्नी का प्रमुख योगदान होता था। यदि धर्मकार्य सम्पन्न कराने में पत्नी सहयोगिनी नहीं हो पाती थी तो पुरुष को दूसरा विवाह कर लेने की भी अनुमति धर्मसूत्रों ने दी है।[5] गृहस्थाश्रम के धर्मकार्यों में पति का साथ देना स्त्री के लिए भी गौरवास्पद होता था और किसी पुरुष की अनेक पत्नियों में सवर्णा पत्नी को ही यह सम्मान प्राप्त होता था।[6]

गृह्य कर्मों में पत्नी का सहभागित्व विवाह-संस्कार से ही आरम्भ होता था। पतिगृह जाते ही वह गृह्याग्नि की स्थापना में पति का साथ देने एवं पाकयज्ञ की हविनिर्माण का दायित्व ग्रहण कर लेती थी। गृहस्थाश्रम के कर्म पति और पत्नी दोनो समान रूप से अंश ग्रहण करते हुए सम्पन्न करते थे, इसका स्पष्ट संकेत आपस्तम्ब ने

१- तयोरनुमतेऽन्येऽपि तद्धितेषु वर्तेरन्।- आप २।२६।४

२- भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा।- गौ १।५।६

३- भार्यादिरग्निस्तस्मिन् कर्मकरणं प्रागग्न्याधेयात्।- बौ २।४।२२

४- वैवाह्यमग्निमिन्धीत।- व ८।३

५- आप २।११।१२-१३

६- सवर्णासु बहुभार्यासु विद्यमानासु ज्येष्ठया सह धर्मकार्यं कुर्यात्।- वि २६।१

किया है।[1] गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम में पत्नी को पति के सभी धार्मिक कर्मों में सहयोग देने का अधिकार एवं गौरव प्राप्त था इससे पति-पत्नी का सम्पूर्ण जीवन एक पवित्र अटूट संबन्ध का रूप धारण करता था और पत्नी अपने पति के वर्त्तमान जीवन के साथ ही नहीं, अपितु परलोक में भी इस सम्बन्ध के बने रहने की कल्पना कर उसके धार्मिक कर्मों में तत्पर रहती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति भी एक पूर्ण धार्मिक कर्त्तव्य बन गये थे और चूँकि स्त्री इस कर्त्तव्यपालन में अपरिहार्य थी इसलिए उसका एक विशेष महत्त्व बना रहा। वसिष्ठ ने [2] गृहस्थ के जिन तीन कर्मों स्वाध्याय, यज्ञ एवं प्रजनन का उल्लेख किया है उनमें सन्तानोत्पत्ति में विशेषतः स्त्री का महत्त्व स्पष्ट है। प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने पुत्र का माहात्म्य वर्णित किया है। अन्ततः, नारी का कुछ महत्त्व यदि उसके मातृत्व के कारण ही सुरक्षित दिखायी पड़ता है तो उसका श्रेय प्रकृति या ईश्वर के विधान को है जिसने उसे यह विशिष्टता प्रदान की है।

गृहिणी के रूप में नारी की प्रशंसा धर्मसूत्रों में भी उपलब्ध होती है। यद्यपि इस रूप में नारी एक संकुचित दायरे में अवरुद्ध प्रतीत होती है तथापि सम्पूर्ण परिवार की सुख और शान्ति का दायित्व वहन करने का महान् कर्त्तव्य करती है। इस पारिवारिक शान्ति के अभाव में कोई भी धार्मिक या आर्थिक प्रगति नहीं सम्भव हो सकती थी। गृहस्थी की वस्तुओं को सुरक्षित और स्वच्छ रखना तथा अपव्यय न करना गृहिणी के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत निर्दिष्ट है।[3] विष्णुधर्मसूत्र ने परदे की प्रथा को पसन्द किया है और घर के द्वार या खिड़कियों पर स्त्रियों का खड़ा होना अनुचित माना है।[4] इससे यह सन्देह नहीं रह जाता कि धर्मसूत्रकाल के अन्त में स्त्री अधिकाधिक घर की दीवालों के भीतर सीमित हो चली थी। घर के भीतर उसे पति के मनोनुकूल सभी कार्य

१- आप ध सू २।१।१ 'पाणिग्रहणादधिगृहमेधिनोर्व्रतम्' में गृहमेधिनोः के द्विवचन से स्पष्ट है कि गृह्यकर्म दोनो में से किसी एक के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकते थे। वैश्वदेव बलि विधुर भी कर सकता था। - द्र० हरदत्त की वृत्ति।

२- युक्तः स्वाध्याये यज्ञे प्रजनने च।- व ८।११

३- सुसंस्कृतोपस्करता। अमुक्तहस्तता। सुगुप्तभाण्डता।- वि २५।४-६

४- द्वारदेशगवाक्षेष्वनवस्थानम्।- वि २५।११

करने होते थे। अतिथिसत्कार में तत्पर रहना और परिवार के सदस्यों के भोजन की व्यवस्था करना - ये ही उसके प्रमुख कार्यक्षेत्र थे और उसकी स्थिति गौण हो गयी थी। पति को सुखी एवं चिन्तामुक्त रखना उसका परम धर्म था। धार्मिक क्रिया में भी शनैःशनैः पुरुष का प्राधान्य स्थापित हो गया और स्त्री की भूमिका नाम मात्र की रह गयी।

पातिव्रत्य के आदर्श ने नारी की स्थिति और भी संकुचित कर दी। धर्मसूत्रों की निम्नलिखित उक्तियाँ स्त्री की तत्कालीन अवस्था पर्याप्त स्पष्ट कर देती हैं- 'स्त्री का यह धर्म है कि वह अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य का मन से भी चिन्तन न करे।[१] जो स्त्रियाँ पति के सुख हेतु सतत प्रयत्नशील रहती हैं वे स्वर्गलोक प्राप्त करती हैं।[२] पति के अनुकूल व्रत का आचरण करना सास, श्वशुर, गुरुजन, देवता तथा अतिथि की पूजा ही नारी का धर्म है।[३] सौभाग्यवती के लिए कोई अन्य व्रत या उपवास नहीं है। जो स्त्री अपने पति के जीवित रहते उपवास का व्रत करती है वह अपने पति की आयु को क्षीण करती है और मृत्यु के बाद नरक प्राप्त करती है।[४] वानप्रस्थाश्रम में भी प्रायः पत्नी अपने पति का अनुसरण करती थी और वन में उसके साथ रहकर आश्रमधर्म के पालन में सहयोगिनी होती थी। ऐसी भी स्थिति होती थी जब पति के वानप्रस्थाश्र में प्रवेश करने पर पत्नी अपने पुत्रों के साथ ही रहती थी और उनके परिवार की व्यवस्था में योगदान देती थी।[५] इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन त्यागमय एवं दूसरों - पति एवं पुत्रों - के कल्याण हेतु समर्पित था।

स्त्री के प्रति कतिपय अधिक उदारतापूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी धर्मसूत्रों में उपलब्ध होती हैं। सामान्यतः स्त्री के प्रति सम्मान का व्यवहार उत्तम माना गया है। आपस्तम्ब ने यह आदेश दिया है कि यदि कोई स्त्री वन में अथवा किसी निर्जन स्थान

१- नातिचरेद् भर्तारम्।- गौ २।६।२

२- भर्तृहिते यतमानास्स्वर्गं लोकं जयेरन्।- बौ २।३।४८

३- भर्तुः समानव्रतचारित्वम्। श्वश्रूश्वसुरगुरुदेवतातिथिपूजनम्।- वि २५।२-३

४- वि २५।१६

५- शंखलिखित ने भी पतिपूजन को ही नारी के लिए स्वर्गहेतु माना है।(५।

में दिखायी पड़े तो उसे सम्मानपूर्वक संबोधित कर यह जानना चाहिए कि उसे कोई कष्ट तो नहीं है और अपेक्षित होने पर उसकी यथोचित सहायता करनी चाहिए।[1] धर्मसूत्रों ने नारी के लिए उन अपराधों में भी वध का दण्ड नहीं बताया है जिनमें पुरुष अपराधी वध्य होता है। सामान्यतः वह अवध्या है। प्रायश्चित्त एवं तिरस्कार ही उसके लिए कठोर दण्ड हैं। बहनों एवे पुत्रियों को पहले भोजन कराने की प्रशंसा करते हुए गौतमधर्मसूत्र ने नारी के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2] धर्मसूत्रकाल में स्त्रियों से कोई कर नहीं लिया जाता था।[3] इस काल में भी नारी को समाज और परिवार में अपने पति के वर्ण एवं वयस् के अनुसार ही सम्मान मिलता था। विवाहिता स्त्रियों का अभिवादन उनके पति की आयु के अनुसार करने का नियम आपस्तम्बधर्मसूत्र में स्पष्टतः उल्लिखित है, किन्तु यहाँ भी नारी के प्रति यह भेद किया गया है उसका अभिवादन करते समय अपने नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए, अपितु अपने लिए सर्वनाम का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु आपस्तम्ब माता तथा आचार्यपत्नी के अभिवादन में उपर्युक्त नियम का पालन उचित नहीं मानते हैं।[4]

माता के रूप में नारी परम सम्मान और श्रद्धा की अधिकारिणी घोषित की गयी है। कुछ आचार्यों ने उसका स्थान आचार्य से भी श्रेष्ठ माना है।[5] आपस्तम्ब का निर्देश है कि माता के पतिता हो जाने पर भी उसकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वह पुत्र के लिए अनेक प्रकार के कर्म करती है।[6] गौतम ने भी किसी भी स्थिति में माता के साथ अनुचित व्यवहार न करने का आदेश दिया है।[7] प्रत्येक स्थिति में माता का भरण-पोषण करना पुत्र का कर्त्तव्य माना गया है।[8] माता के महत्त्व का उल्लेख करते

१- अरण्ये वा स्त्रियम्।-आप १।१४।२८ द्र० हरदत्त की भाष्य।

२- भोजयेत् पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थविराञ्जघन्यांश्च।-गौ १।५।२३

३- आप २।२६।११ सर्ववर्णानां च स्त्रियः। द्र० सत्या० २७।५।२०६

४- सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यौ च न नाम्ना। मातरमाचार्यदारं चेत्येके।-आप १।१४।२०,२१

५- आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके।- गौ १।२।५६

६- मातापुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि।-आप १।२८।९

७- न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः।- गौ ३।३।१५

८- पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः।- बौ २।३।४३, तुलनीय- व १३।३०

हुए वसिष्ठधर्मसूत्र ने यह उद्धरण भी दिया है कि आचार्य उपाध्याय से दस गुना अधिक पूज्य होता है, आचार्य की अपेक्षा पिता सौ गुना और पिता की अपेक्षा माता सहस्र गुना अधिक पूजनीया होती है।[१]

आचार्यपत्नी का भी धर्मसूत्रों के समाज में विशिष्ट सम्मानपूर्ण स्थान था। वह आचार्य के समान ही पूज्या थी।[२] आचार्यपत्नी के प्रति भी वे सभी सेवाकार्य विहित किये गये हैं, जो आचार्य के प्रति हैं, केवल उनका चरणस्पर्श और उच्छिष्टभक्षण वर्जित है।[३] युवती पूज्या स्त्रियों के प्रति व्यवहार में कुछ मर्यादा निर्धारित कर दी गयी थी, जिसका प्रयोजन कामभावना का वर्जन मात्र ही था। युवती गुरुपत्नी तथा भ्रातृजाया का युवक पुरुष द्वारा चरणस्पर्श किये जाने का निषेध इसी प्रकार की मर्यादा का उदाहरण है।[४] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्यपत्नी भी यदि आचार्य से निम्नवर्ण की होती थी तो उसे दूर से ही अभिवादन किया जाता था।[५]

नारी के प्रति धर्मसूत्रों की एक चिन्तनीय दृष्टि उन स्थलों पर दिखायी पड़ती है जहाँ उसे शूद्र के समकक्ष बना दिया गया है। चान्द्रायण आदि व्रतों में स्त्री और शूद्र से भाषण निषिद्ध है।[६] स्त्री और शूद्र का आचमन-नियम समान बताया गया है।[७] शूद्र और स्त्री के साथ यात्रा ही वर्जित की गयी है।[८] इसी प्रकार स्त्री के वध का प्रायश्चित्त

१- अथाप्युदाहरन्ति-उपाध्यायद्दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता।
पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते॥- व १३।४८

२- तद्भार्यापुत्रेषु चैवम्।- गौ १।२।३७

३- अन्यत्रोपसंग्रहणादुच्छिष्टाशनाच्चाऽऽचार्यवदाचार्यदारे वृत्तिः।- आप १।७।२७
प्रसाधनोच्छादनस्नापनोच्छिष्टवर्जं च तत्पत्न्याम्।-बौ १।३।३८, तुलना० वि ३२।५-६

४- नोपंग्रहणं भ्रातृभार्याणां स्वसॄणाम्।-गौ १।६।८
द्र० गौ १।२।४० नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन।
बौ १।३।३४ भ्रातृपत्नीनां युवतीनां च गुरुपत्नीनां जातवीर्यः।

५- हीनवर्णानां गुरुपतनीनां दूरादभिवादनं न पादोपसंस्पर्शनम्।- वि ३२।५

६- स्त्रीशूद्रैर्नाऽभिभाषेत मूत्रपुरीषे नाऽवेक्षेत।- बौ ३।८।२२ द्र० वि ४६।२५
स्त्रीशूद्रपतितानां च वर्जयेच्चाभिभाषणम्। पवित्राणि जपेन्नित्यं जुहुयाच्चैव शक्तितः॥

७- सकृदुभयं स्त्रियाश्शूद्रस्य च।- बौ १।८।१७

८- न पतितैर्न स्त्रिया न शूद्रेण।- बौ २।६।२२

भी शूद्रपुरुष के वध के समान कहा गया है।[१] धर्मसूत्रों की दृष्टि में स्त्री यज्ञ की भी अधिकारिणी नहीं है। गौतम ने स्त्री के लिए यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने योग्य भी नहीं माना है।[२] आपस्तम्ब ने भी स्त्री द्वारा अन्न का हवन वर्जित किया है।[३] इससे भी अधिक आश्चर्यजनक व्यवहार का उदाहरण धर्मसूत्रों के उन वाक्यों में मिलते है, जिनमें पति और पत्नी का एक साथ भोजन करना निन्दित है।[४] वसिष्ठधर्मसूत्र में वाजसनेयक का यह मत भी उल्लिखित है कि पति और पत्नी के एक साथ भोजन करने पर उनकी सन्तान पौरुषहीन होती है।[५] जब विष्णुधर्मसूत्र किसी विवाद में स्त्री के लेख की प्रामाणिकता अस्वीकार करता है तब वह स्पष्ट ही धर्मसूत्रकाल की नारी की गिरी हुई सामाजिक प्रतिष्ठा का ही संकेत करता है। नारी की निकृष्ट सामाजिक स्थिति का उदाहरण दासी और शूद्र वर्ण की स्त्री है। धर्मसूत्रों के समाज में दासियों से स्वेच्छया यौनसम्बन्ध हो सकते थे और उन्हें बन्धक रखा ज़ा सकता था। यदि एक व्यक्ति के यहाँ नियुक्त दासी को कोई दूसरा व्यक्ति कुछ काल तक ही अपनी सेवा में (जिसमें निश्चय ही यौनसंबन्ध भी सम्मिलित था) लगाने में समर्थ होता था, तो उस दासी पर उसका अधिकार मान्य होता था।[६] इन स्थितियों में नारी एक चल सम्पत्ति बनी हुई थी। ऋग्वेद में भी ऐसे वाक्य उपलब्ध हैं जिनमें नारी की इस निकृष्ट स्थिति का संकेत है।[७] अक्षसूक्त से तो यह स्पष्ट ही है कि स्त्री को जुए के दाँव पर लगाना भी अस्वाभाविक नहीं था। प्रो० इन्द्र ने भारतीय नारी की स्थिति के विषय में ठीक ही कहा है कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का ह्रास किसी एक विशेष काल से आरम्भ नहीं हुआ, अपितु इस प्रकार के पतन के चिह्न भारतीय इतिहास के सभी

१- शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातः।- बौ १।१६।३

२- गौ २।६।१५ न भोजयेत्... स्त्रीग्रामयाजकाजापाल...।

३- आप २।१५।१७, सत्या० २७।३।५१ न स्त्री जुहुयात्।

४- गौ १।६।३२, वि ६८।४६, वैखा०१०।१

५- भार्यया सह नाश्नीयादवीर्यवदपत्यं भवतीति वाजसनेयके विज्ञायते।

६- गौ २।३।३६ द्र० हरदत्त की वृत्ति 'कथमन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुंजान उपेक्षते, कथं वा बहुफलारामं, कथं वा दासीं यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम्।

७- ऋ० ७।२६।३

कालों में पाये जा सकते हैं, यद्यपि बाद के युगों में यह अधोगति अधिक स्पष्ट और त्वरित हो गयी है।[१] धर्मसूत्रों में तत्कालीन यौनजीवन का जो चित्र उपलब्ध होता है उससे नारी की हीन स्थिति पर और प्रकाश पड़ता है। आगे आने वाले पृष्ठों में इस पर पुनः दृष्टि डाली जायगी।

सम्पत्ति के अधिकार की दृष्टि से भी धर्मसूत्रकाल में नारी की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। बौधायन ने श्रुति का यह वचन उद्धृत किया है कि स्त्रियाँ शक्तिहीना होती हैं और सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं।[२] सामान्यतः, पति के जीवित रहते पत्नी के किसी भी प्रकार के आर्थिक अधिकार का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उनमें कोई विभाजन नहीं होता, वे सभी कार्यों में विवाहकाल से ही सहभागी होते हैं।[३] पति की मृत्यु पर गौतमधर्मसूत्र के अनुसार[४] पुत्र, पुत्रिकापुत्र, सपिण्ड, सगोत्र के अभाव में ही पत्नी सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी, किन्तु विष्णुधर्मसूत्र के काल तक इस अधिकार में यह उल्लेखनीय अन्तर आ गया था कि पति की मृत्यु के बाद पत्नी और पत्नी के अभाव में पुत्री उत्तराधिकारिणी[५] मानी जाती थी। आपस्तम्ब ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री को दाय की अधिकारिणी माना है।[६] संयुक्त परिवार में एक भाई की मृत्यु पर उसका धन दूसरे भाई को मिल जाता था। विधवा स्त्री वहाँ भी इस अधिकार से वञ्चित हो जाती थी।[७] दायविभाग के प्रसंग में विष्णुधर्मसूत्र ने विधवा स्त्री को अपने पुत्रों को प्राप्य भाग के अनुसार अंश देने का उल्लेख किया है।[८]

१- "It appears that the deterioration of the status of women did not begin from any specific point of time. The traces of such degradation can be found in all periods of Indian history, though in the later ages degradation is much more marked and still more rapid.
-The Status of Women in Ancinet India, p.10

२: निरिद्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः।- बौ २।३।४७

३- जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु।- आप २।१४।१६,१७

४- पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य।- गौ ३।१०।१६

५- द्र० वि १७।४-५ अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि।

६- दुहिता वा।-आप २।१५।४

७- गौ ३।१०।२५,२६ असंसृष्टिविभागः प्रेतानां ज्येष्ठस्य। संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्।

८- वि १८।३४ मातरः पुत्रभागानुसारेण भागापहारिण्यः।

स्त्री के विशेष धन 'स्त्रीधन' का उल्लेख सभी धर्मसूत्रों ने किया है। यह मुख्यतः स्त्री को विवाह के समय उपहारस्वरूप प्राप्त आभूषण आदि के रूप में होता था। माता की मृत्यु पर यह धन सामान्यतः पुत्रियों को मिलता था।[१] कभी- कभी यह धन पति को या उस स्त्री के पिता को भी प्राप्त होता था।[२] विष्णुधर्मसूत्र में अविवाहिता पुत्रियों को भी पुत्रों के समान अंश देने की बात कही गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री के उपर्युक्त आर्थिक अधिकार व्यावहारिक दृष्टि से उतने संरक्षित नहीं थे, जितने सिद्धान्त रूप में स्वीकृत थे। इसका मुख्य कारण नारी की हीन एवं पुरुषाश्रित सामाजिक स्थिति थी।

स्त्रीहिंसा के निमित्त से धर्मसूत्रों ने जिस प्रकार के दण्ड एवं प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है उससे भी नारी की हीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण वर्ण की स्त्री के वध का प्रायश्चित्त क्षत्रिय पुरुष के वध के समान होता था।[३] आत्रेयी (ऋतुस्नाता ब्राह्मण स्त्री) के वध का अधिक दोष माना गया है। इसका कारण संभवतः यही था कि इस प्रकार की स्त्री ब्राह्मण सन्तान उत्पन्न कर सकती थी।[४] क्षत्रिय वर्ण की स्त्री के वध का प्रायश्चित्त वैश्य पुरुष के तथा वैश्य स्त्री के वध का प्रायश्चित्त शूद्र वर्ण के पुरुष के वध के समान विहित है।[५] बौधायन के अनुसार तो ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण की स्त्री का वध करने पर शूद्र पुरुष या गौ के वध के समान ही प्रायश्चित्त होना चाहिए।[६]

धर्मसूत्रों में नारी की अपवित्रता और पवित्रता के विषय में भी अनेक बातें कही गयी हैं। स्त्री-जाति के साथ यह विडम्बना दिखायी पड़ती है कि जिस निमित्त से

१- स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च।- गौ ३।१०।२२; मातुरलङ्कारं दुहितस्साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा।- बौ २।३।४४; मातुः पारिणेयं स्त्रियो विभजेरन्।- व १७।४६

२- वि १७।१८,२० ब्राह्म आदि चार उत्तम विवाहों में पति को और अन्य चार में पिता को।

३- व २०।३७ अनात्रेयी राजन्यहिंसायाम्।

४- व २०।२६; आप १।२४।६; बौ १।१८।१७; गौ ३।३।८, ३।४।१२

५- राजन्यां वैश्यहिंसायाम्। वैश्यां शूद्रहिंसायाम्।- व २०।३८,३९

६- बौ १।१८।३ शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातः।
द्र० बौ २।१।१०, गौ ३।४।१७

वह मातृत्व और पत्नीत्व के योग्य होती है एवं गृहस्थाश्रम में सम्मानित होती है उसी निमित्त से वह अपवित्र और वर्जनीया भी मानी गयी है। स्त्री का मासिक धर्म उसकी प्रकृतिरचित विशेषता है। इसके अभाव में वह सन्तान उत्पन्न करने में अक्षम होती है, किन्तु इस अवस्था में धर्मसूत्र उसे पूर्णतः निर्वासिता एवं अपराधिनी-जैसा जीवन व्यतीत करने को बाध्य करते हैं। रजस्वला स्त्री का स्पर्श तो वर्जित ही किया गया है,[१] उसको देखना एवं उससे भाषण करना भी निषिद्ध किया गया है।[२] इसी प्रकार रजस्वला का अन्न अभक्ष्य घोषित किया गया है[३] और अंजन एवं लेप की वस्तुएँ भी अग्राह्य बतायी गयी हैं।[४] विष्णुधर्मसूत्र में रजस्वला स्त्री द्वारा स्पृष्ट अन्न का भक्षण कर लेने पर सात रात्रि तक उपवास का कठोर प्रायश्चित्त विहित है।[५] वसिष्ठधर्मसूत्र एक पग और आगे बढ़कर कहता है कि जिन ब्राह्मणों के घर में रजस्वला स्त्रियाँ होती हैं वे शूद्रतुल्य होते है।।[६] वसिष्ठधर्मसूत्र ने ऐसी अवस्था में स्त्री के लिए जो आचार विहित किये हैं उनसे यही प्रतीत होता है मानो वह कोई प्रायश्चित्त करने के लिए बाध्य हो।[७] नारी की अपवित्रता के विषय में यदि इस प्रकार की विरक्तिपूर्ण धारणाओं ने भी उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को संकुचित करने में योगदान दिया हो तो आश्चर्य नहीं।

यह बात कुछ असंगत प्रतीत होती है कि यौनसंबन्ध के प्रयोजन से नारी की उपर्युक्त अपवित्रता ही पवित्रता का साधन मान ली गयी है। यदि किसी स्त्री के साथ व्यभिचार हुआ हो तो धर्मसूत्र के अनुसार मासिक धर्म से वह पवित्र हो जाती है। इस

१- गौ २।५।८, बौ १।११।३२ ऋतुमत्यां च।

२- वि ८१।६-९, ७१।५८; द्रष्टव्य- आप १।९।१३ ब्रह्माध्येष्यमाणो मलवद्वाससेच्छन् सम्भाषितुं ब्राह्मणेन सम्भाष्य तया सम्भाषेत। सम्भाष्य तु ब्राह्मणेनैव सम्भाष्याऽधीयीत।

३- रजस्वलाकृष्णशकुनिपदोपहतम्।- गौ २।८।१० द्र० वि ५१।१६ रजस्वलासहोपपतिवेश्मनां च।

४- तदाहुः। अञ्जनाभ्यञ्जनमेवास्या न प्रतिग्राह्यं तद्धि स्त्रिया अन्नमिति। तस्मात्तस्यै च तत्र च बीभत्सन्ते मेयमुपागादिति।

५- वि ५१।१७-१८

६- उदक्यास्त्वासते येषां ये च केचिदनग्नयः।
कुलं चाश्रोत्रियं येषां सर्वे ते शूद्रधर्मिण इति।- व ५।१०

७- व ५।७

विषय में वसिष्ठधर्मसूत्र के पास कहने को बहुत कुछ है।[1] यथा-'स्त्री अद्वितीय रूप में पवित्रता के साधन से युक्त है, वह कभी पूर्णतः अपवित्र नहीं होती, प्रति मास स्राव द्वारा उसका पाप दूर हो जाता है।[2] स्त्रियाँ पहले तीन देवों की होती हैं- सोम, गन्धर्व और अग्नि की। उसके बाद वे पुरुष के अधिकार में आती हैं, धर्म के अनुसार वे अपवित्र नहीं हो सकतीं। सोम ने उन्हें शुद्धता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी दी और अग्नि ने सभी अंगों में सार्वकालिक पवित्रता प्रदान की। अतएव स्त्री दोषरहित होती है।[3] अग्निदेव ने स्त्रियों को सबके द्वारा भोग्य बनाया। इस कारण वे सभी प्रकार की अशुद्धि से मुक्त होती हैं।संभोग के लिए स्त्रियाँ सदैव पवित्र होती हैं।[4] धर्मसूत्रों की इस उदारता का कारण यही है कि नारी यौनसुख एवं सन्तान की उत्पत्ति का साधन है और इनकी प्राप्ति के लिए उसकी पवित्रता स्वीकार्य है। सम्भवतः इसी प्रकार की पवित्रता की मान्यता से प्रेरित होकर श्रेष्ठता एवं पवित्रता का दावा करने वाला ब्राह्मण वर्ण का पुरुष भी शूद्र वर्ण की स्त्री से यौनसंबन्ध करने में संकोच नहीं अनुभव करता था। धर्मसूत्रों ने तो भोगार्थ संबन्ध हेतु शूद्रा पत्नी की व्यवस्था मान भी ली थी। इन विचारों के मूल में जो प्रयोजन है उस पर मनन करने पर हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जहाँ प्रसिद्ध विद्वान् हापकिन्स[5] पहुँचे हुए हैं, 'स्त्री एक चलसम्पत्ति बनी हुई है, उसके गुणों या अवगुणों की अर्थवत्ता एवं अस्तित्व केवल पुरुष के सन्दर्भ में ही है- उसके यौनसुख,

---

१- रजसा शुध्यते नारी नदी वेगेन शुध्यति।
भस्मना शुध्यते कांस्यं पुनःपाकेन मृन्मयम्॥- व ३।५८
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति।- व ५।५

२- न त्याज्या दूषिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते।
पुण्यकालमुपासीत ऋतुकालेन शुध्यति ॥- व २८।३; बौ २।४।४

३- पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ता सोमगन्धर्ववह्निभिः।गच्छन्ति मानुषान्पश्चान्नैता दुष्यन्ति धर्मतः॥
तासां सोमोददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम्। अग्निश्च सर्वमेध्यत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः॥

४- वत्सः प्रस्नवने मेध्यः शकुनिः फलशातने।
स्त्रियश्च रतिसंसर्गे श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥- बौ १।६।२ द्र० व २८।८,६

५- "Woman is only a chattel, her good points or her defects have their meaing and being only with reference to the man - to his sexual pleasure, his feeling of power and vanity.- E.W. Hopkins, *The Position of the Ruling Caste in Anciet India. J A O S, 1897.*

शक्तिबोध एवं अहंकार के सन्दर्भ में ही है।'

धर्मसूत्रों में नारी के प्रति जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि उसका 'काम' नामक मनोविकार से संबन्ध ही उसकी अवमानना का प्रधान हेतु है। वह भोग्या है, अतएव निन्दनीया है। कामभावना के संयम हेतु उसका वर्जन अपरिहार्य है। इसी प्रयोजन हेतु अनेक ग्रन्थों में नारी से विरक्ति उत्पन्न करने के लिए उसके विषय में घोर कटु बातें भी कही गयी हैं। उसकी यौनेच्छा एवं अविश्वसनीयता का उत्साहपूर्वक अतिरंजित वर्णन भी किया गया है। अनेक स्थलों पर धर्मसूत्र में भी इसी उपदेश का स्वर सुनायी पड़ता है कि 'स्त्री से दूर रहो अन्यथा वह तुम्हें पथभ्रष्ट कर देगी।' ब्रह्मचारी के आचारनियम के प्रसंग में इस प्रवृत्ति का उदाहरण देखा जा सकता है। इसके विपरीत धर्मसूत्रों में यौनभावना के संयम एवं सन्तुलन का भी प्रयास दिखायी पड़ता है। यहाँ हम धर्मसूत्रों में प्रतिबिम्बित यौनजीवन तथा यौनसंबन्ध-विषयक मान्यताओं की समीक्षा करेंगे जिससे तत्कालीन नारी की सामाजिक स्थिति पर और अधिक प्रकाश पड़ेगा।

नारी और विवाह-व्यवस्था

धर्मसूत्रों में विवाह के विषय में जो नियम और प्रतिबन्ध दिये गये हैं उनसे भी तत्कालीन नारी की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विवाह नारी के जीवन की परम महत्त्वपूर्ण घटना है। वस्तुतः, यह उसका एकमात्र संस्कार है। नारी के जीवन की सार्थकता विवाह के माध्यम से ही सिद्ध होती है। गृहस्थाश्रम के प्रकरण में हमने विवाह के महत्त्व पर विचार किया है। यहाँ हम इस महान् संस्था पर नारी के पक्ष से विचार करेंगे। धर्मसूत्रों में विवाह के विषय में जो कुछ कहा गया है वह एक ओर नारी की सामाजिक एवं पारिवारिक स्थिति का और दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के यौनजीवन का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करता है।

धर्मसूत्रों की व्यवस्था का मेरुदण्ड गृहस्थाश्रम है और गृहस्थाश्रम का आरम्भ विवाह से होता है। विवाह संस्कार स्वतः एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। मानव के यौनजीवन को संयमित एवं सन्तुलित करने की दिशा में यह एक महान् व्यवस्था है और परिवार एवं समाज की संरचना की आधारशिला है। भारतीय संस्कृति में विवाह का जो स्वरूप है उसे हम डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं : 'विवाह का

हिन्दू आदर्श सारतः एक पुरुष और एक स्त्री के बीच साहचर्य है, जो जीवन के चार महान् लक्ष्यों- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष- की सिद्धि के लिए मिलकर रचनात्मक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। इस प्रयोजन के अन्तर्गत सन्तान का प्रजनन, उसकी देखभाल और पालन-पोषण और एक उत्कृष्टतर सामाजिक व्यवस्था में सहयोग देना भी है।"[1]

जहाँ तक आदर्श की बात है, धर्मसूत्रों की दृष्टि में भी विवाह का उपर्युक्त लक्ष्य सर्वोपरि है। गृह्याग्नि की स्थापना विवाहकाल से होती थी।[2] सभी संस्कारों एवं देवपूजन के कर्मों में इस अग्नि का उपयोग होता था। इसी में अग्निहोत्र होम भी होता था। एक दृष्टि से विवाह सभी प्रकार के धार्मिक कर्मों का मूल माना गया था। इसके अतिरिक्त पुत्र की उत्पत्ति को परम महत्त्व दिया गया है उससे भी विवाह व्यवस्था स्वतः परम महिमामण्डित हो गयी है। पुत्र द्वारा ही पितृ ऋण से मुक्ति, अमरत्व की प्राप्ति, अनन्त लोकों की उपलब्धि और पाप के भय से मुक्ति बताकर धर्मसूत्रों ने यत्नपूर्वक पुत्र उत्पन्न करने का उपदेश भी दिया है।[3] उत्तम पुत्र की प्रशंसा भी प्रायः धर्मसूत्रों ने की है और इस बात पर विशेष बल दिया है कि उत्तम विवाह से ही उत्तम पुत्र की प्राप्ति सम्भव है।[4] धर्मसूत्रों की व्यवस्था में विवाह का महत्त्व, मुख्यतः धार्मिक एवं पारलौकिक है, यौन-जीवन का संयमन गौण बना हुआ है।

धर्मसूत्रों ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है- ब्राह्म, प्राजापत्य,

---

१- डॉ० राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, अनुवादक- विराज, १६६७, पृ०१८६

२- गौ १।५।६ भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा।
ऋणमस्मिन्सन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवने मुखम्॥
प्रजाभिरग्रे अमृतत्वमश्श्यामित्यपि नियमो भवति।
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपमिति॥-व १७।१,४,५
अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य लोकोऽस्तीतिश्रूयते।- व १७।२

३- तस्माद्यत्नवान् प्रजामुत्पादयेत्।ओषधमन्त्रसंयोगेन।- बौ २।१६।११,१२

४- बौ २।१६।६, गौ १।४।२४, पुनन्ति साधवः पुत्राः। द्रष्टव्य गौ १।४।१६भी
'यथायुक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा भवति।-आप २।१२।४, सत्या० २७।४।३६,
बौ १।२१।२

आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच।[१] वेद के ज्ञाता, चरित्रवान्, पितृपक्ष तथा मातृपक्ष के बान्धवों से युक्त, शीलवान् वर को दो वस्त्रों और आभूषणों से सजाकर जब कन्या दी जाती है तो ब्राह्म विवाह होता है।[२] आपस्तम्ब के अनुसार वर के कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या और स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर यह विवाह किया जाता है।[३] बौधायन ने ऐसे व्यक्ति के विवाहार्थ कन्या की याचना करने पर कन्यादान करना ब्राह्मविवाह के अन्तर्गत बताया है।[४] वसिष्ठ के अनुसार इसमें जल के साथ संकल्प कर कन्या दी जाती है।[५] प्राजापत्य विवाह में 'सहधर्मश्चर्यताम्' मन्त्र कहते हुए वस्त्रों से अलंकृत कन्या का प्रदान होता है। इसमें दूसरे आश्रम और दूसरे विवाह का निषेध मन्त्र द्वारा ही हो जाता है यही इस विवाह की विशेषता है।[६] आर्ष विवाह में वर अथवा उसके बान्धव कन्या के पिता को गोमिथुन प्रदान करते हैं।[७] दैवविवाह वह विवाह है, जिसमें यज्ञ की वेदी पर दक्षिणा के समय ऋत्विज् का कर्म करने वाले पुरुष को अलंकृता कन्या प्रदान की जाती है।[८] प्रेम करने वाली कन्या के

१- गौ १।४।४-११, बौ १।२०।१-६, वि अध्याय २४

२- ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नायेदद्यादाच्छाद्यालंकृताम्।- गौ १।४।४

३- ब्राह्मे विवाहे बन्धुशीललक्षणसम्पन्नश्रुतारोग्याणि बुध्वा प्रजां सहत्वकर्मभ्यः प्रतिपदयेच्छक्तिविषयेऽलङ्कृत्य।-आप २।११।१७

४- श्रुतिशीले विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने कन्या दीयते स ब्राह्मः।- बौ १।२०।२

५- इच्छत उदकपूर्वं यां दद्यात्स ब्राह्मः। -व १।३०; विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार आमन्त्रित कर गुणवान् को कन्या देना ब्राह्म विवाह है। आहूय गुणवते कन्यादानं ब्राह्मः।- वि २४।१६

६- गौ १।४।५ संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति। द्र० हरदत्त की व्याख्या- 'यद्यपि ब्राह्मादिष्वपि सह धर्मचर्यमन्त्रः भवति तथाऽप्यऽन्तादनया सह धर्मश्चरितव्यः नाऽऽश्रमान्तरं प्रवेष्टव्यं नापि स्यन्तरमुपयन्तमिति मन्त्रेण समयः क्रियते।' इस भेद के लिए द्रष्टव्य बौ १।२०।३, वि २४।२२, आप एवं वसिष्ठ० में इसका उल्लेख नहीं है।

७- गौ १।४।६ आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात्। द्र० बौ १।२०।४ पूर्वां लाजाहुतिं हुत्वा गोमिथुनं कन्यावते दत्त्वा ग्रहणमार्षः। आप २।११।१८ आर्षे दुहितृमत मिथुनौ गावौ देयौ। व १।३२ गोमिथुनेन चार्षः। वि २४।२१ गोमिथुनग्रहणेनार्षः।

८- गौ १।४।७ अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवोऽलंकृत्य। बौ १।२।५ दक्षिणासु नीयमानास्व- न्तर्वेदि ऋत्विजे स दैवः। आप २।११।१६ दैवे यज्ञतन्त्र ऋत्विजे प्रतिपादयेत्।

साथ वर का अपनी इच्छा से स्वयं संबन्ध करना गान्धर्व विवाह होता है।[1] आसुर विवाह वह है जिसमें कन्या के अभिभावक को धन द्वारा सन्तुष्ट कर विवाह किया जाय।[2] वसिष्ठ ने इसके स्थान पर मानुष विवाह का उल्लेख किया है।[3] राक्षस विवाह में बलपूर्वक कन्या के अभिभावक को परास्त कर तथा कन्या का अपहरण कर विवाह किया जाता है।[4] वसिष्ठ ने इसे ही 'क्षात्रविवाह' कहा है। पैशाच विवाह में सोयी हुई, मत्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ बलपूर्वक संबन्ध होता था।[5]

यहाँ हम इनमें से उन भेदों पर कुछ अधिक निकट से दृष्टिपात करेंगे जो नारी की सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं। विवाह के विषय में धर्मसूत्रों की मान्यता उदार प्रतीत होती है। श्रेष्ठ विवाह पर जोर देते हुए भी धर्मसूत्र स्त्री-पुरुष के किसी भी प्रकार के सहमतिपूर्ण अथवा असहमतिपूर्ण सम्बन्धों के फलस्वरूप आरम्भ होने वाले सहजीवन को विवाह की मान्यता देने को प्रस्तुत-सा दिखायी पड़ता है। इन विवाहभेदों में जहाँ धर्मपूर्वक कन्या को अभिभावक द्वारा कन्यादान देने की विधि है वहीं धन देकर कन्या के अभिभावक को विवाह करने के लिए राजी करना, बलपूर्वक कन्या का हरण करना और सोई हुई, मूर्च्छित या प्रमत्त कन्या के साथ संभोग भी विवाह की परिधि में मान लिया गया है। इन विवाहों को आसुर, राक्षस तथा पैशाच

व १।३१ यज्ञतन्त्रे वितत ऋत्विजे कर्मकुर्वते कन्यां दद्यादलंकृत्य तं दैवमित्याचक्षते।
वि २४।२० यज्ञस्थ ऋत्विजे दैवः।

१- इच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः।- गौ १।४।८, सकामेन सकामायां मिथस्संयोगो गान्धर्वः। बौ १।२०।६, मिथः कामात्सांवर्तेते स गान्धर्वः।-आप २।११।२० तुलना- व १।३३, वि २४।२३ द्वयोः सकामयोर्मातापितृरहितो योगो गान्धर्वः।

२- गौ १।४।९ वित्तेनाऽऽनतिः स्त्रीमतामासुरः। बौ १।२०।७ धनेनोपतोष्याऽऽसुरः। आप २।१२।१ शक्तिविषयेण द्रव्याणि दत्त्वाऽऽवहेरन् स आसुरः।

३- पणित्वा धनक्रीतां स मानुषः।- व १।३५ तु० वि २४।२४ क्रयेण आसुरः।

४- प्रसह्याऽऽदानाद्राक्षसः। - गौ १।४।१०; तुलना- बौ १।२०।८ प्रसह्य हरणाद्राक्षसः। आप २।१२।२ दुहितृमतः प्रोषयित्वाऽऽवहेरन् स राक्षसः। वि २४।२५, व १।३४

५- असंविज्ञातोपसंगमात्पैशाचः।- गौ १।४।११, सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वोपयच्छेदिति पैशाचः।- बौ १।२०।९, द्र० वि २४।२६

की संज्ञा दी गयी है।[1] विवाहयोग्य अवस्था वाले युवक तथा युवती का पारस्परिक आकर्षण होने पर स्वयं विवाह करना भी गान्धर्व विवाह के नाम से अनुमोदित है।[2]

उपर्युक्त विवाहभेदों में जिनमें धार्मिक प्रयोजन जितना अधिक प्रबल तथा यौनलिप्सा जितनी अधिक गौण है उनको उतना ही प्रशंसनीय माना गया है। प्रथम चार विवाहप्रकारों- ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा दैव - को ब्राह्मण के लिए उचित माना गया है। इनमें भी पूर्ववर्ती विवाह बाद वाले की अपेक्षा श्रेयस्कर समझा गया है।[3] बाद के चार विवाह अन्य वर्णों के लिए उपयुक्त हैं।[4] गौतम ने भी प्रारम्भिक चार प्रकार के विवाहों को ही धर्मानुकूल माना है, किन्तु कुछ आचार्यों के इस मत को भी उद्धृत किया है कि गान्धर्व और आसुर विवाह भी धर्मसंगत हो सकते हैं।[5] सामान्यतः चार प्रकार के विवाहों को ही विशेष मान्यता दी गयी है। इन चारो विवाहों में स्त्री का अपने विवाह के विषय में कोई अधिकार नहीं था और उसकी सहमति या असहमति का प्रश्न ही नहीं उठता था। वह पूर्णतः अपने अभिभावक के हाथों परतन्त्र थी, किन्तु सहज प्रेम एवं स्त्री-पुरुष के पारस्परिक यौनाकर्षण से स्थापित विवाह-सम्बन्धों में स्त्री अपनी पसन्द के अनुकूल निर्णय लेती थी। ऐसे विवाहों की स्वेच्छाचारिता धर्मसूत्र को अभीष्ट नहीं थी, अतएव गान्धर्वविवाह को उत्तम विवाहों में नहीं गिना गया है।

गान्धर्व अथवा प्रेमविवाह

धर्मसूत्रों ने व्यक्ति को विवाह के विषय में परतन्त्र रखते हुए भी उसकी स्वतन्त्रता का भी अनुमोदन किया है। स्पष्टतः, तत्कालीन समाज में भी स्वेच्छया परस्पर आकर्षण अथवा प्रेम के कारण विवाह योग्य स्त्री-पुरुष स्वयं यह संबन्ध बना लेते थे और इसकी स्वाभाविकता अथवा उच्च प्रतिष्ठित कुलों में अधिक प्रचलन देखकर ऐसे विवाहों को भी मान्यता प्रदान की गयी। निश्चय ही, इस प्रकार के विवाह

१- गौ १।४।६-११ २- इच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः।- गौ १।४।८

३- तेषां चत्वारः पूर्वे ब्राह्मणस्य तेष्वपि पूर्वः पूर्वश्श्रेयान्।- बौ १।२०।१०
एतेष्वाद्याश्चत्वारो धर्म्याः।-वि २४।२७

४- बौ १।२०।११ उत्तरेषामुत्तरोत्तरः पापीयान्।

५- चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः। षडित्येके।- गौ १।४।१२-१३

राजाओं द्वारा किये जाते थे। इसी कारण गान्धर्व विवाह को धर्मसूत्र क्षत्रिय वर्ण के अनुकूल मानता है।[१] बौधायन ने इसे वैश्य के योग्य भी बताया है।[२] किन्तु साथ ही यह भी कहा है-' कुछ आचार्य सभी वर्णों के लिए गान्धर्व विवाह की अनुमति देते हैं, क्योंकि वह प्रेम के ऊपर आश्रित होता है।'[३] पारस्परिक आकर्षण के अतिरिक्त गान्धर्व विवाह में दो बातें विशेषतः उल्लेखनीय होती थीं। प्रथमतः समानवर्ण की कन्या के प्रति प्रेम तथा द्वितीयतः माता-पिता की अनुमति का अभाव।[४] इस प्रकार का विवाह तभी सम्भव होता होगा, जब कन्या युवावस्था में पहुँच गयी रहती थी और अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द वातावरण में होती थी। जो पुरुष बहुविवाह करते थे, वे भी निश्चय ही इस विधि का आश्रय लेने के लिए स्वतन्त्र होते थे। धर्मसूत्रों ने गान्धर्व विवाह को ब्राह्म आदि के समकक्ष तो नहीं माना है, किन्तु इस पर कोई आपत्ति भी नहीं प्रकट की है। अन्य भेदों के विषय में स्थिति प्रायः भिन्न प्रतीत होती है।

कन्या द्वारा स्वयंवरण भी धर्मसूत्र को मान्य है। धर्मसूत्र कन्या को यह स्वतन्त्रता प्रदान करता है कि यदि पिता आदि अभिभावक कन्या का विवाह न कर सकें तो वह स्वयं उत्तम पति का वरण कर ले।[५] वसिष्ठ के अनुसार कुमारी कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने पर स्वयं पति का वरण करने को स्वतन्त्र होती थी।[६] ऐसी स्थिति में कन्या जो विवाह करती थी वह गान्धर्व विवाह ही हो सकता था। प्राचीन स्वयंवर वस्तुतः पिता द्वारा ही आयोजित किया जाता था और कन्या को इतनी ही स्वतन्त्रता होती थी कि वह अपनी पसन्द व्यक्त करे। तदनन्तर कन्यादान आदि की विधियाँ सम्पन्न होती थीं। यतः गान्धर्व विवाह कामभावना से प्रेरित होता था, अतः इसे

१- गान्धर्वोऽपि राजन्यानाम्।- वि २४।२८

२- पञ्चमाष्टमौ वैश्यशूद्राणाम्।- बौ १।२०।१३

३- गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषा स्नेहानुगतत्वात्।- बौ १।२०।१६

४- सकामां कामयमानः सदृशीं यो निमुह्ययात्स गान्धर्वः।- व १।३३
द्वयोः सकामयोर्मातापितृरहितो योगो गान्धर्वः।- वि २४।२३

५- त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनात्सृज्य पित्र्यानलंकारान्।- गौ २।६।२०
ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्।
ऋतुत्रये व्यतीते तु प्रभवत्यात्मनः सदा॥- वि २४।४०

६- कुमार्यृतुमती त्रीणि वर्षाण्युपासीत। त्रिभ्यो वर्षेभ्यः पतिं विन्देत्तुल्यम्।- व १७।६७-६८

धर्मसूत्रों के समाज में प्रोत्साहन नहीं मिला। गन्धर्वों के स्त्रीविषयक आसक्ति के आधार पर ही इसे गान्धर्व भी कहा गया है।[१]

कन्याहरण अथवा राक्षस एवं पैशाच विवाह

बलपूर्वक कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह करना धर्मसूत्रों में राक्षस विवाह कहा गया है।[२] इसी को वसिष्ठ ने क्षात्र विवाह कहा है।[३] मुख्यतः यह विवाहविधि क्षत्रिय वर्ण के पुरुषों में रही होगी।[४] राक्षस की अपेक्षा निकृष्ट विवाह पैशाच विवाह था, जिसमें धोखे से किसी कन्या की दुर्बलता का लाभ उठाकर कोई पुरुष पहले यौनसंबन्ध करता था और उसे पत्नी बना लेता था। यह विशुद्ध रूप से बलात्कार ही था, जिसकी गणना विवाह प्रकारों में कर दी गयी है। इसका पैशाच नाम इसीलिए पड़ा होगा कि इसमें पिशाच के समान चुपके से कन्या के साथ यौनसंबन्ध कर अनन्तर उसे ग्रहण कर लिया जाता था। इस विवाह को वस्तुतः विवाह के भेदों में गिनना संगत नहीं प्रतीत होता है। सम्भवतः इसीलिए आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ ने अपने धर्मसूत्रों में इसकी गणना नहीं की है।[५] महामहोपाध्याय काणे ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन धर्मसूत्रों के काल में इस प्रकार के विवाह का अन्त हो चुका था।[६] किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हाँ, आपस्तम्ब और वसिष्ठ की दृष्टि में इस प्रकार के स्त्री-पुरुष संबन्ध को विवाह न मानने का तर्कसंगत आग्रह ही माना जा सकता है। वसिष्ठ तो बलात्कार द्वारा दूषित की गयी कन्या के मन्त्रों द्वारा अन्य पुरुष से विवाह करने का विधान करते हैं।[७] ऐसा प्रतीत होता है कि बलात्कार के बाद कन्या

१- स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः।- तैत्तिरीयसं० ६।१।६।५ ऐतरेयब्रा० ५।१

२- प्रसह्य हरणाद्राक्षसः।- बौ १।२०।८, प्रसह्ययाऽऽदानाद्राक्षसः।- गौ १।४।१० द्र० वि २४।२५ ३- व १।३४ यां बलेन सहसा प्रमथ्य हरन्ति स क्षात्रः।

४- महाभारत में उक्ति है- प्रसह्ये हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।

५- आप २।११।१७-२० तथा २।१२।१-२, व १।२८-२६

६- काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६८

७- बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥- व १७।७३

के अभिभावकों को विवश होकर ऐसी अपराधी पुरुष के साथ कन्या का विवाह करना पड़ता था और ऐसा पुरुष भी उस कन्या को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता था। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार इस प्रकार का विवाह वैश्य एवं शूद्र वर्णों के अन्तर्गत ही उचित माना जाता था।[1]

राक्षस और पैशाच विवाहों के विषय में प्राचीन धर्मशास्त्रियों का क्या दृष्टिकोण था, इसको हम म०म० काणे के उद्धरण से स्पष्ट करते हैं: 'जब ऋषियों ने राक्षस एवं पैशाच को विवाह-प्रकारों में गिना तो इसका तात्पर्य यह नहीं होगा कि उन्होंने पकड़ी हुई या लुक-छिपकर भ्रष्ट की गयी कन्या के विवाह को वैधता दी है। उनके कथन से इतना ही प्रकट होता है कि वे दोनो अपहरण के दो प्रकार हैं, न कि वास्तविक विवाह के प्रकार।[2]

कन्याक्रयण अथवा आसुर विवाह

कन्या के अभिभावक को धन देकर और कन्या का क्रय कर विवाह करना भी धर्मसूत्रों में एक प्रकार का विवाह माना गया है। इसे आसुर विवाह कहा गया है।[3] वसिष्ठ ने इसे ही मानुष विवाह की संज्ञा दी है।[4] यद्यपि आर्ष विवाह में भी कन्यादान करनेवाला वर से गोमिथुन प्राप्त करता था,[5] किन्तु यह किसी प्रकार से कन्या का मूल्य नहीं होता था। इसके विपरीत आसुर विवाह में कन्या का क्रय होता था और धन की कोई सीमा नहीं होती थी। इस प्रकार के विवाह का संकेत ऋग्वेद में भी मिलता है।[6] वसिष्ठधर्मसूत्र में कन्या के पिता को एक रथ और सौ गायें देने का वैदिक उद्धरण भी दिया गया है।[7] इसी धर्मसूत्र में चातुर्मास्य के प्रसंग में आये हुए इस वैदिक वचन का

१- बौ १।२०।१३
२- काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६८
३- गौ १।४।६, बौ १।२०।७, वि २४।२४
४- (पणित्वा धनक्रीतां) स मानुषः।- व १।३५
५- गोमिथुनेन चार्षः।- व १।३२, द्र० वि २४।१, गौ १।४।६
६- ऋ० १।१०९।२ द्र० निरुक्त ६।९
७- तस्माद्दुहितृमतेऽधिरथं शतं देयमितीह क्रयो विज्ञायते।- व १।३६

भी उल्लेख है कि जो स्त्री पति द्वारा क्रय की गयी होती है, वह पाप करती है। वह दूसरों से संबन्ध बना लेती है।[१] इस प्रकार के विवाह की बौधायनधर्मसूत्र में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कटु आलोचना की गयी है- 'जो नारी धन देकर खरीदी गयी होती है वह पत्नी नही होती। वह दैवकार्यों मे सहधर्मिणी होने के योग्य नहीं होती, न ही वह पित्र्य कर्मों में साथ देने योग्य होती है। कश्यप ने ऐसी स्त्री को दासी कहा है। जो अधम व्यक्ति लोभ के कारण धन देकर पुत्री को विवाह हेतु देते हैं, वे स्वयं अपना ही विक्रय करते हैं, वे अत्यन्त पापी होते हैं, वे घोर नरक में गिरते हैं और अपने वंश की सातवीं पीढ़ी तक को नष्ट कर देते हैं। वे बार-बार जन्म लेते हैं और मरते हैं।[२] जो सौदा कर पुत्री को देता है वह अपने उत्तम कर्मों के फलों को ही बेच देता है।[३]

धर्मसूत्रों का पक्षपात उत्तम विवाह के प्रति है। राक्षस, पैशाच तथा आसुर विवाह तत्कालीन समाज में कैसे समझे जाते थे यह उनके लिए प्रयुक्त नामों से ही स्पष्ट है। जो स्त्री-पुरुष संबन्ध नारी की प्रतिष्ठा के प्रतिमूल थे वे धर्मसूत्रों की दृष्टि में भी निन्दनीय हैं। धर्मसूत्र न केवल विवाह के प्रयोजन की पवित्रता पर ध्यान देता है, अपितु स्त्रीपुरुष के वैवाहिक संबन्ध को अधिक विस्तृत सामाजिक आधार देने के लिए अनेक प्रतिबन्धों एवं नियमों की भी व्यवस्था करता है। किन्तु जहाँ उत्तम कहे गये विवाहों में नारी पूर्णतः परतन्त्र थी, वहाँ आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह में वह असहाय, अबला और अपमानिता होकर ऐसी स्थिति को स्वीकार करने के लिए बाध्य थी जो मानवोचित नहीं कहा जा सकता। वह बहुत कुछ पशु या चलसम्पत्ति की कोटि में पहुँची हुई दिखायी देती है।

१- या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरतीति ह चातुर्मास्येषु।- व १।३७ द्र० मैत्रायणीसं०, १।१०।११ तथा काठकसंहिता, ३६।५ अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति।

२- क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्॥
शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः।
आत्मविक्रयिणः पापाः महाकिल्बिषकारकाः॥
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चाऽऽसप्तमं कुलम्।
गमनागमनं चैव सर्वं शुल्को विधीयते॥-बौ १।२१।४-५

३- सुकृतांशन्वा एष विक्रीणीते यः पणमानो दुहितरं ददाति।- बौ २।२।१५

विवाह हेतु स्त्री की योग्यता

विवाह के सन्दर्भ में स्त्री के विषय में कुछ आवश्यक बातों का विचार धर्मसूत्रों में किया गया है। कन्या का विवाह असमान गोत्र एवं असमान प्रवर में ही विहित था और इसका उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गयी थी।[1] विवाह हेतु कन्या की योग्यता का विचार करते हुए गौतम ने उसके लिए 'अनन्यपूर्वा' और 'यवीयसी' विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे उनका तात्पर्य यह है कि जिस कन्या से विवाह करना हो वह पहले किसी दूसरे को विवाहित न हो या वाग्दत्ता न हो। साथ ही वह वर से अवस्था में छोटी हो।[2] विष्णुधर्मसूत्र ने स्त्री के सौन्दर्य और स्वभाव पर ध्यान देते हुए रोगी, शरीर में अधिक या हीन अङ्गों वाली, लाल रंग के केशों वाली और अधिक बोलने वाली कन्या को वर्जनीया बताया है।[3] विवाह के पूर्व कन्या को देखने की प्रथा धर्मसूत्रकाल में किसी न किसी रूप में प्रचलित प्रतीत होती है।

धर्मसूत्रों ने ऐसी कन्या के वर्जन का निर्देश दिया है जिसके भाई न हों। इसका कारण यह बताया गया है कि भ्रातृहीना कन्या अपने पिता के वंश या सम्पत्ति के लिए ही पुत्र उत्पन्न करती है।[4] स्पष्ट है कि इस प्रकार की कन्या से विवाह करने पर गृहस्थाश्रम के वैश्वदेव बलि, अतिथिसत्कार आदि आवश्यक कर्त्तव्यों का सम्पादन करने में पुरुष असमर्थ रहता होगा और ऐसी पत्नी अपने पति के साथ रहकर सहधर्मचारिणी का दायित्व निभाने में असमर्थ रहती होगी। यह अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता कि ऐसी कन्याओं का विवाह प्रायः ऐसे पुरुषों से होता होगा जो पहले से ही विवाहित होकर गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करते रहे होंगे अथवा इस प्रकार की अभ्रातृका स्त्री से विवाह करने वाला पुरुष धार्मिक प्रयोजन से पुनः दूसरा विवाह करने

१- असमानप्रवरैर्विवाहः- गौ १।४।२ द्र० वि २४।६, शंख ४।१, सत्या० २७।४।३०, बौ २।१।३८, वि २४।१०, गौ १।४।३, व ८।२, बौ १।२।३, आप १।२१।८

२- गौ १।४।१, द्र० हरदत्त- 'अन्यस्मै वाचाप्यदत्ताम्' । वसिष्ठ ने 'अनन्यपूर्वाम्' के स्थान पर 'अस्पृष्टमैथुनाम्' विशेषण का प्रयोग कर इसी तथ्य का उल्लेख किया है।

३- वि २४।१२-१६

४- तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम्।- गौ ३।१०।१८ , द्रष्टव्य व १७।१६ विज्ञायत अभ्रातृका पुंसः पितृनभ्येति प्रतीचीनं गच्छति पुत्रत्वम्।

को स्वतन्त्र होता होगा। ऐसी स्थिति का धर्मसूत्रों ने अनुमोदन भी किया है, जिसे अभिवेदन कहा गया है।

वसिष्ठधर्मसूत्र में विवाह के विषय में एक विचित्र व्यवस्था दृष्टिगत होती है। बड़े भाई के विवाह के बाद ही छोटे भाई का और बड़ी बहन के विवाह के बाद ही छोटी बहन का विवाह उचित ठहराते हुए इस क्रम का उल्लंघन दोषपूर्ण एवं धर्मविरुद्ध माना गया है। उल्लंघन की निन्दा अनेक धर्मसूत्रों में की गयी है,[१] किन्तु वसिष्ठ ने इसके संशोधन की जो विधि बतायी है वह नारी की प्रतिष्ठा के साथ एक उपहास ही प्रतीत होता है। उनके अनुसार यदि छोटे भाई का विवाह पहले हो तो वह अपनी होने वाली पत्नी को पहले बड़े भाई को अर्पित करे और उसके द्वारा लौटाये जाने पर वह स्वयं विवाह करे। इसी प्रकार यदि छोटी बहन का विवाह पहले हो गया हो तो बड़ी बहन से बाद में जो पुरुष विवाह करे वह उस स्त्री को पहले छोटी बहन के पति को अर्पित करे और तब स्वयं विवाह करे।[२] उल्लेखनीय है कि वसिष्ठधर्मसूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य धर्मसूत्र में इस प्रकार विवाह के नाटक की व्यवस्था नहीं दी गयी है। यह सम्भव है कि इस प्रकार की प्रथा कुछ स्थानों पर रही हो, किन्तु बाद में विवाह करने वाले पुरुष या स्त्री के सम्मान के विरुद्ध होने के कारण इसका शीघ्र ही परित्याग कर दिया गया हो।

स्त्री की विवाह-वय

धर्मसूत्रों का पक्षपात स्त्री का अल्प वय में विवाह करने के प्रति है। पुरुष के लिए विवाह की कोई निश्चित अवस्था नहीं थी, किन्तु स्त्रियों का युवावस्था से पूर्व ही विवाह कर देना उत्तम एवं धर्मानुकूल माना गया है। गौतम के अनुसार कन्या का

१- परिवित्ता परिवेत्ता या चैनं परिविन्दति।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः॥
परिवित्तः परिवेत्ता दाता यश्चाऽपि याजकः।
कृच्छ्रद्वादशरात्रेण स्त्री त्रिरात्रेण शुद्ध्यतीति॥ - बौ २।२।३६

२- परिवित्तिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत तां चैवोपयच्छेत्।
अथ परिविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत तां चैवोपयच्छेत्।
अग्रेदिधिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत तां चोपयच्छेत्।
दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत् ॥- व २०।७-१०

कन्या का विवाह उसका रजोदर्शन होने से पहले ही कर दिया जाना उचित माना गया है और ऐसा न करले वाला पिता दोषी समझा गया है।[१] उन्होंने कुछ आचार्यों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि कन्या का विवाह उसके वस्त्र धारण करने अथवा लज्जा का अनुभव करने की अवस्था से पहले ही कर देना चाहिए।[२] बौधायनधर्मसूत्र भी कन्या के शीघ्र विवाह पर बल देते हुए कहता है- ' जब कन्या नग्निका (लज्जाभाव से शून्य होने के कारणा नग्न घूमने वाली) हो तभी उसका विवाह गुणवान् ब्रह्मचारी से कर देना चाहिए, गुणवान् वर के अभाव में गुणहीन व्यक्ति से भी विवाह कर देना उचित है, किन्तु रजस्वला होने पर अपने घर में रखना उचित नहीं है। जो पिता कन्या के ऋतुमती होने के तीन वर्ष के भीतर ही उसका विवाह नहीं कर देता वह निश्चय ही भ्रूणहत्या के तुल्य पाप का भागी होता है।[३] बौधायन ने ऐसी कन्या को निर्देश दिया है कि वह स्वयं भी ऋतुकाल के बाद तीन वर्षों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर गुणहीन वर का भी वरण कर ले।[४] विवाह की उचित अवस्था पार कर लेने पर कन्या का विवाह वसिष्ठधर्मसूत्र में भी कन्यादान करने वाले के लिए अशुभ बताया गया है। एक उद्धरण देते हुए कहा गया है कि जिस कन्या का पिता के प्रमाद के कारण उचित अवस्था पार कर जाने पर विवाह होता है वह देर से दी गयी गुरुदक्षिणा के समान दाता का ही विनाश कर देती है।[५] वसिष्ठ के अनुसार भी कन्या का विवाह नग्निका अवस्था में कर देना चाहिए, क्योंकि ऋतुमती कन्या का जितनी बाद ऋतुकाल आता है उतनी बार

१- प्रदानं प्रागृतोः। अप्रयच्छन्दोषी।- गौ २।६।२१-२२

२- प्राग्वाससः प्रतिपत्तेरित्येके।- गौ २।६।२३

३- दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम्॥
त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यः कन्यां न प्रयच्छति।
स तुल्यं भ्रूणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम्॥- बौ ४।१।१२-१३

४- त्रीणि वर्षाण्यृतुमती कांक्षेत पितृशासनम्।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम्।
अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत्॥- बौ ४।१।१५-१६

५- पितुः प्रमादात् यदीह कन्या वयः प्रमाणं समतीत्य दीयते।
सा हन्ति दातारमुदीक्षमाणा कालातिरिक्ता गुरुदक्षिणेव॥- व १७।६६

माता-पिता को भ्रूणहत्या का पाप लगता है।[1] विष्णुधर्मसूत्र में कन्या के शीघ्र विवाह का आग्रह इतना अधिक है कि विवाह के पूर्व ही जिस कन्या का पिता के घर रहते हुए मासिक धर्म आरम्भ हो जाता है उसे वृषली अथवा पतिता कहा गया है और ऐसी कन्या से स्वेच्छया विवाह करने वाले पुरुष को दोषी नहीं माना गया है।[2] इन नियमों से यही सिद्ध होता है कि समाज में कन्या का अल्पावस्था में विवाह कर देना माता-पिता के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय बन गया था और इससे कालान्तर में बालविवाह और बेमेल विवाह जैसी बुराइयों को प्रोत्साहन मिला। धर्मसूत्रों और स्मृतियों ने कन्या के विलम्ब से विवाह के लिए भयंकर दोषों का जो अतिरंजित वर्णन किया उससे तत्कालीन नारी और भी परतन्त्र एवं असहाय हो गयी। माता-पिता की केवल एक ही चिन्ता रह गयी थी कि किस प्रकार यथाशीघ्र कन्या का बोझ उतारें और तब वर की योग्यता या अवस्था का विचार किये विना निर्दयतापूर्वक कन्या को अपने घर से विदा करना ही कर्तव्य बन गया। इसी प्रकार के विचारों से यह स्थिति भी उत्पन्न हो गयी कि कन्या का जन्म ही अभिशाप समझा जाने लगा।

विधवा की स्थिति

धर्मसूत्रों में विधवा स्त्री के लिए जो नियम दिये गये हैं उनसे नारी की स्थिति पर और प्रकाश पड़ता है। पति की मृत्यु के बाद स्त्री को सभी प्रकार से सुखों का परित्याग कर कठोर जीवन व्यतीत करना होता था। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार ऐसी स्त्री एक वर्ष तक मधु, मांस, मद्य ओर नमक का प्रयोग नहीं करती थी और भूमि पर शयन करती थी। बौधायन द्वारा उद्धृत मौद्गल्य के मतानुसार उसे छः मास तक उपर्युक्त नियमों का आचरण करना होता था।[3] छः मास के व्रत का विधान वसिष्ठ ने

१- प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता। ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति ॥
यावन्तः कन्यामृतवः स्पृशन्ति तुल्यैः सकामाभियाच्यमानाम्।
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्यां मातापितृभ्यामिति धर्मवादः॥- व १७।७०-७१

२- पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
सा कन्या वृषली ज्ञेया हरंस्तां न विदुष्यति॥- वि २४।४१

३- संवत्सरं प्रेतपत्नी मधुमांसमद्यलवणानि वर्जयेदधश्शयीत। षण्मासानिति मौद्गल्यः।
-बौ २।४।७-८

भी किया है।[1] विष्णुधर्मसूत्र के काल तक विधवा के व्रत की यह अवधि सम्पूर्ण शेष जीवन के लिए निर्धारित हो गयी थी और सती हो जाने की प्रेरणा भी दी जाने लगी थी।[2] इस प्रकार जीवनपर्यन्त संयम का आचरण करने वाली विधवा की प्रशंसा करते हुए इस धर्मसूत्र में कहा गया है- 'जो साध्वी स्त्री पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती है वह पुत्रहीना होने पर भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समान स्वर्ग प्राप्त करती है।'[3]

स्त्री का पुनर्विवाह

सामान्यतः विधवा स्त्री अपने पुत्र के संरक्षण में सादगी और संयम का जीवन व्यतीत करती थी। पुत्र से उसे भोजन और वस्त्र जैसी जीवन-निर्वाह की न्यूनतम सुविधाएँ प्राप्त थीं और संयुक्त परिवार में वह अन्य संबन्धियों के घरेलू कार्यों में सहायक बनकर रहती थी। किन्तु कभी-कभी विधवा स्त्री दूसरे पुरुष से विवाह कर लेती थी। स्त्री एक पुरुष को छोड़कर भी दूसरा विवाह भी कर सकतीथी। इस प्रकार से द्वितीय बार विवाहिता स्त्री के लिए पुनर्भू संज्ञा का प्रयोग हुआ है। उस स्त्री के द्वितीय पति द्वारा उत्पन्न पुत्र को पौनर्भव कहा गया है।[4] सहोढ पुत्र की गणना से भी यह संकेत मिलता है कि एक पति से गर्भवती होने पर भी उसी अवस्था में दूसरे पुरुष से विवाह करने की घटनाएँ भी होती थीं। इस स्थिति में विवाहानन्तर उत्पन्न पुत्र द्वितीय पति का सहोढ पुत्र होता था। पतित या उन्मत्त पति को छोड़कर भी स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी। 'पुनर्भू' की व्याख्या करते हुए वसिष्ठ ने इस प्रकार के पतिपरित्याग का उल्लेख किया है।[5] बौधायन ने भी केवल ऐसी ही स्त्री को पुनर्भू माना है,जिस स्त्री का

१- व १७।५५
२- मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।- वि २५।१४
३- मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥- व२५।१७
४- कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः।- गौ ३।१०।३१
५- या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति।
- व १७।२०

पति दीर्घकाल तक परदेश की यात्रा से न लौटे वह भी पुनर्विवाह कर सकती थी।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की पुत्रवती प्रोषितपतिका के लिए प्रतीक्षा की यह अवधि क्रमशः ५,५,४ और ३ वर्ष और पुत्रहीना के लिए क्रमशः ४,३,२ और १ वर्ष बतायी गयी है, किन्तु उसके लिए पति के ही कुल या सपिण्ड पुरुष से विवाह करना उचित ठहराया गया है।[2] इस प्रकार की स्त्री पुनः विवाह नहीं करती थी तो उसे विधवा का जीवन व्यतीत करना होता था।[3] यदि वह विवाह करती थी तो कुल के पुरुष के रहते अन्य पुरुष से विवाह उचित नहीं समझा जाता था।[4] गौतम के अनुसार पति के संन्यासी होने पर स्त्री के लिए भी निवृत्ति का जीवन ग्रहण करना ही धर्म था और विद्याध्ययन के लिए परदेश गये हुए ब्राह्मण की पत्नी को १२ वर्षों तक प्रतीक्षा करनी होती थी।[5]

ऐसी विधवा स्त्री का, जिसका पति से यौनसमाग न हुआ हो, पुनः विवाह की अनुमति धर्मसूत्रों ने दी है। वसिष्ठ ने स्पष्ट रूप से कहा है- 'यदि किसी कन्या का पति की मृत्यु के समय मन्त्रों से विवाह हुआ हो, किन्तु संबन्ध न हुआ हो, तो उसका पुनः विवाह संस्कार हो सकता है।[6] मन्त्रों द्वारा विवाह न होने की स्थिति में वह कन्या कुमारी ही मानी गयी है। वसिष्ठ के शब्दों में यदि वाग्दत्ता का भावी पति विवाह से पूर्व मर जाता है और उसका मन्त्र द्वारा विवाह न हुआ हो तो वह कुमारी ही रहती है और

१- क्लीबं त्यक्त्वा पतितं वा याऽन्यं पतिं विन्देत्तस्यां पुनर्भ्वां यो जातस्स पौनर्भवः।
-बौ २।३।२७

२- व १७।७८-७९

३- प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत। ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत्। यदि धर्मार्थाभ्यां प्रत्यनुकामा न स्याद्यथा प्रेत एवं वर्त्तितव्यं स्यात्।- व१७।७५-७७

४- न तु खलु कुलीने विद्यमाने परगामिनी स्यात्।- व१७।८० महामहोपाध्याय काणे के अनुसार वसिष्ठ में यह व्यवस्था नहीं आ सकी है। इसी कारण वे लिखते हैं कि पति का पता ठिकाना न होने पर पत्नी को क्या करा चाहिए इस विषय में वसिष्ठ मौन हैं। द्र० धर्म० का इति अनुवाद, ख०१, पृ० १४५; किन्तु ऊपर स्पष्ट है कि वसिष्ठ ने पुनर्विवाह की व्यवस्था की है।

५- गौ २।६।१६,१७

६- पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
स चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥- व १७।७४

अपने पिता के पास रहती है।[१] पुनर्विवाह के प्रति गौतम एवं आपस्तम्ब का दृष्टिकोण कुछ कठोर है। गौतम ने 'अनन्यपूर्वा' अर्थात् जिसका किसी पुरुष से विवाह न हुआ हो ऐसी स्त्री से विवाह करना उचित माना है और आपस्तम्ब ने 'पूर्ववत्या' (जो पहले किसी से विवाहिता हो) से संबन्ध को दोषपूर्ण बताकर उसकी निन्दा की है।[२] विष्णुधर्मसूत्र के समय तक पुनर्विवाह के प्रति दृष्टिकोण उदारतापूर्ण नहीं था, अतएव इसमें विधवा के ब्रह्मचर्य अथवा सती होने का ही विधान किया गया है।[३] इतना निर्विवाद है कि धर्मसूत्रों ने स्त्री के पुनर्विवाह की अनुमति देकर समाज की एक बुराई को दूर करने का लक्ष्य सामने रखा है। स्त्री के विषय में आपस्तम्ब ने उल्लेख किया है कि कन्या कुल के लिए प्रदान की जाती है।[४] इससे पति की मृत्यु के बाद उसे उसी कुल के दूसरे पुरुष से संबद्ध होने का संकेत मिलता है। यह सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की उदारता का दुरुपयोग किया जाने लगा और विधवा का जीवन असुरक्षित एवम् अपमानपूर्ण होता गया। इससे बाद के धर्मसूत्रकारों ने ऐसे नियम के प्रति अरुचि प्रदर्शित की है। धर्मसूत्रों में विधवा के पुनर्विवाह की अपेक्षा नियोग के विषय में अधिक विचार हुआ है और यह प्रथा तत्कालीन नारी की स्थिति में घोर पतन का सबसे प्रबल प्रमाण है।

नियोग

नियोग की चर्चा प्रायः सभी धर्मसूत्रों में हुई है। पुत्र की महत्ता से इस प्रथा का उद्भव हुआ होगा। पुत् नाम के नरक से रक्षा के लिए, मृत्यु के बाद पिण्डोदक क्रिया के सम्पादन हेतु और सम्पत्ति का उत्तराधिकार ग्रहण करने के लिए धर्मसूत्रकाल में पुत्र की महत्ता चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी और येन केन प्रकारेण अपनी पत्नी से पुत्र प्राप्त करना गृहस्थ के जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया था। इसमें सन्देह नहीं कि इसी आवश्यकता ने नियोग को प्रश्रय दिया । नियोग दो स्थितियों में विहित किया गया है।

१- अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतादौ वरो यदि।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा॥- व१७।७२

२- आप २।१३।२ ३- वि २५।१४

४- कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति।- आप २।२७।४

१- पति की मृत्यु पर पुत्रहीना विधवा एक वर्ष या छः मास तक विधवोचित संयम का जीवन व्यतीत करने के बाद कुल के श्रेष्ठ जनों की अनुमति लेकर अपने देवर से अथवा उसके अभाव में देवर के सपिण्ड या सगोत्र पुरुष से यौनलिप्सा का परित्याग कर एक पुत्र उत्पन्न होने तक संबन्ध रखती थी।[१] २- पति स्वयं असमर्थ और रोगी होने पर भी अपनी पत्नी को सपिण्ड पुरुष से नियोग हेतु प्रेरित करता था और इस प्रकार पुत्र-प्राप्ति का प्रयत्न करता था।[२]

धर्मसूत्रों में यह एक विवादास्पद बिन्दु है कि इस प्रकार नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र किसका माना जाये- क्षेत्री अर्थात् स्त्री के पति का अथवा बीजी या नियोगी का ? पुत्रों के अन्तर्गत क्षेत्रज पुत्र की गणना इस तथ्य का संकेत करती है कि वह पुत्र सामान्यतः स्त्री के पति का माना जाता था, अन्यथा बीजी का। पति के जीवित रहते नियोग हुआ हो तो क्षेत्री का ही पुत्र होता था। यदि देवर से भिन्न पुरुष द्वारा नियोग हुआ हो तो वह पुत्र उत्पन्न करने वाले का अथवा पति और उत्पादयिता दोनो का होता था। ऐसी भी मान्यता थी कि यदि क्षेत्री उस पुत्र का भरणपोषण करे तो वह क्षेत्री का ही होता था।[३] वसिष्ठधर्मसूत्र में एक उद्धरण देकर नियोग से उत्पन्न पुत्र जनयिता का माना गया है। परलोक में वह पुत्र वीर्य देने वाले का होता है अतएव स्त्री की परपुरुष संबन्ध से रक्षा का उपदेश इस धर्मसूत्र में मिलता है।[४] किन्तु वसिष्ठ ने यह भी संकेत

१- अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात्। पिण्डगोत्रर्षिसमबन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा।
- गौ २।६।४-६

२- मृतस्य प्रसूतो यः क्लीबव्याधितयोर्वाऽन्येनाऽनुमतेन स्वे क्षेत्रे स क्षेत्रजः।- बौ ध सू २।३।१७

३- जनयिमुरपत्यम्। समयादन्यस्य। जीवतश्च क्षेत्रे। परस्मात्तस्य। द्वयोर्वा। रक्षणासु भर्तुरेव।
- गौ २।६।६-१४

४- अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः।
जनचितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमिति॥- व १७।६
इस विवाद की ओर संकेत करते हुए वसिष्ठ का कथन है कि दोनो ही प्रकार के मत माने जाते हैं नियोग से उत्पन्न पुत्र स्त्री के पति का भी हो सकता है और जिसके द्वारा नियोग हुआ हो उसका भी। 'क्षेत्रिणः पुत्रो जनयितुः पुत्र इति विवदन्ते। तत्रोभयथाप्युदाहरन्ति।' व १७।६,७
बौ २।३।३६ में भी 'अप्रमत्ता रक्षथ' आदि वचन आया है। यह जनक का अपने शिष्यों के प्रति उद्बोधन है। औपजंघनि आचार्य के अनुसार केवल औरस पुत्र ही पुत्र होता है।

दिया है कि यदि विधिपूर्वक नियोग न हुआ हो तो उत्पन्न पुत्र उत्पादयिता का होता है और यदि विधिपूर्वक नियोग हुआ हो तो वह पुत्र क्षेत्री और बीजी दोनो का होता है।[1] आपस्तम्बधर्मसूत्र में पुत्र उत्पन्न करने वाले का होता है इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थ से एक उद्धरण भी दिया गया है।[2] ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी पुत्र उत्पादयिता का मानकर कहा गया है कि अन्य पुरुष द्वारा उत्पादित पुत्र व्यर्थ होता है। उसका मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिए, भले ही वह सुखदायी हो, क्यों कि वह अन्त में अपने पिता (उत्पादयिता) के घर ही पहुँचता है।'[3] संभवतः नियोग के पीछे यह भी धारणा थी कि कन्या कुल को प्रदान की जाती है, अतः पति द्वारा सन्तान न होने पर कुल के पुरुष और विशेषतः देवर से नियोग कर उसे कुल की वृद्धि के लिए पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार के विवाद का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि नियोग की प्रथा व्यर्थ समझी जाने लगी और उसका शनैः शनैः परित्याग भी हो गया। सम्भव है यह प्रथा आरम्भ से ही सभी स्थानों पर मान्य न हो।

सिद्धान्त रूप में इस नियोग प्रथा के लिए अनेक वर्जनाएँ थीं। प्रथमतः, नियुक्त पुरुष (बीजी) पति का सपिण्ड होना चाहिए, यथासम्भव देवर, देवर के अभाव में सपिण्ड, सपिण्ड के अभाव में सगोत्र ओर उसके अभाव में उसी जाति का पुरुष हो।[4] विष्णुधर्मसूत्र में किसी ब्राह्मण द्वारा भी नियोग विहित है।[5] किन्तु जैसा कि गौतम

१- अनियुक्तायामुत्पन्न उत्पादयितुः पुत्रो भवतीत्याहुः। स्याच्चेन्नियोगिनोः।- व १७।६३,६४

२- उत्पादयितुः पुत्र इति हि ब्राह्मणम्। अथाप्युदाहरन्ति-
इदानीमेवाहं जनकः स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा। यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन्।
रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने। तस्माद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः॥
- आप २।१३।५-६ यही पद्य बौ २।३।३४-३५ में भी आया है।

३- द्र० निरुक्त ३।१-३ ; ऋग्वेद ७।४।७-८ इस प्रकार हैः
परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः॥
न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेत नव्यः॥

४- गौ २।६।६-८

५- नियुक्तायां सपिण्डेनोत्तमवर्णेन वोत्पादितः क्षेत्रजो द्वितीयः।- वि १५।३

ने भी उल्लेख किया है कुछ आचार्य इतनी लम्बी शृङ्खला मानने को तैयार नहीं हैं। आपस्तम्ब ने सगोत्र से भिन्न पुरुष द्वारा नियोग की निन्दा की है।[१] स्वयं गौतम ने इस नियम का उल्लेख किया है कि देवर से भिन्न पुरुष द्वारा उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र को माता के पूर्व पति की सम्पत्ति का भाग नहीं मिलता है।[२] बौधायन ने भी केवल देवर का ही उल्लेख किया है।[३] इस नियोग में भी पति की मृत्यु पर परिवार के श्रेष्ठ जनों की और पति के जीवित रहते पति की अनुमति आवश्यक होती थी। इस प्रकार नियोग को एक सामाजिक मान्यता मिल जाती थी और यह विधिपूर्वक सम्पन्न होता था।

नियोग में कुछ प्रतिबन्ध इस प्रकार होते थे- जो विधवा पागल, दुश्चरित्रा, रोगिणी और अधिक अवस्था वाली हो उसके विषय में नियोग न हो। स्त्री के युवती होने के समय से आरम्भ कर सोलह वर्ष के भीतर ही नियोग होना चाहिए। रोगी पुरुष से नियोग संबन्ध नहीं होना चाहिए।[४] जो विधवा स्त्री वन्ध्या हो, जिसके पुत्र उत्पन्न हो चुके हों, जिसके पुत्र गर्भ का स्राव हो जाता हो, जिसके बच्चे मृत होते हों, जो पुत्रोत्पत्ति की इच्छुक न हो ऐसी स्त्री से नियोग नहीं कराया जाना चाहिए।[५]

मूलतः नियोग का उद्देश्य विशुद्ध रूप से सन्तान प्राप्ति का था और इसमें यौन सुखोपभोग का वर्जन किया गया था। अतएव गौतम ने यह स्पष्ट रूप से चेतावनी दी है कि इस प्रकार केवल एक ही पुत्र उत्पन्न किया जाय।[६] इस पुत्रोत्पत्ति हेतु यौनसंबन्ध में रतिभाव का वर्जन करने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गयी है- 'नियुक्त पुरुष को प्राजापत्य मूहूर्त्त में स्त्रीगमन करना चाहिए और संभोगकाल में रतिक्रीडा का वर्जन करना चाहिए। स्त्री को अपने शरीर में घृत का लेप करना चाहिए। पुरुष को चाहिए कि वह उस स्त्री को कठोर या अश्लील वचनों से अपमानित न करे।[७] किन्तु शीघ्र ही नियमों एवं प्रतिबन्धों का बोझ स्त्री-पुरुष की स्वाभाविक कामभावना के लिए असह्य हो

१- सगोत्रस्थानीयां न परेभ्यस्समाचक्षीत।- आप २।२७।२

२- देवरवत्यामन्यजातमभागम्।- गौ ३।१०।२१

३- अत ऊर्ध्वं गुरुभिरनुता देवराज्जनयेत् पुत्रमपुत्रा।- बौ २।४।६

४- द्र० बौ २।४।६ एवं व १७।५६

५- व १७।५७-६० ६- नातिद्वितीयम्।- गौ २।६।८

७- प्राजापत्ये मुहूर्ते पाणिग्राहवदुपचरेदन्यत्र संप्रहास्य वाक्पारुष्यदण्डपारुष्याच्च।- व १७।६१

गया और नियोग में यौनसुख की लिप्सा बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप यह प्रथा घृणास्पद बन गयी। आपस्तम्ब ने इसका निर्णय इसी आधार पर किया है कि अब लोग इन्द्रियों पर संयम नहीं करते और स्त्री के लिए भी पति के अतिरिक्त किसी भी दूसरे पुरुष से संबन्ध एक जैसा ही अपमानजनक, पाणिग्रहण की प्रतिज्ञा के विरुद्ध और नरक देने वाला है। अतः इस प्रकार के नियोग की अपेक्षा वैवाहिक पवित्रता का निर्वाह श्रेयस्कर है।[१]

यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि नियोग के पीछे आर्थिक कारण नहीं थे, किन्तु वस्तुतः सम्पत्ति का उत्तराधिकार एवं विधवा को पति के रिक्थ में अंश भी नियोग का एक निमित्त था। वसिष्ठ ने एक बार यह निषेध किया है कि रिक्थ के लोभ से नियोग न हो, किन्तु साथ ही इस मत का भी उल्लेख किया है कि प्रायश्चित्त कर रिक्थ हेतु भी नियोग हो सकता है।[२] इसी धर्मसूत्र में यह भी कहा गया है कि नियोग होने पर विधवा को अपने पति की सम्पत्ति में से अन्न, वस्त्र, अनुलेपन आदि प्राप्त करने का अधिकार होता था।[३] डॉ० काणे ने इस प्रथा के पीछे आर्थिक कारण होने का खण्डन किया है,[४] परन्तु व्यावहारिक रूप में यह कारण विद्यमान था इसमें सन्देह नहीं।

नारी की स्थिति को ह्रासोन्मुख करने में नियोग की प्रथा का कम योगदान नहीं था। अन्ततः इस प्रथा में नारी किस रूप में दिखायी पड़ रही है? क्षेत्र, क्षेत्री और बीजी शब्दों का भावार्थ ही उसकी स्थिति स्पष्ट कर देता है। वह एक खेत के समान ही थी जिसे जमींदार की असमर्थता या अभाव में दूसरा भी बो सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मसूत्रों की यह व्यवस्था केवल पुत्र के महत्त्व के कारण ही प्रेरित नहीं थी। इसके पीछे विधवा की समस्या के समाधान का प्रयास भी था, परन्तु जब इससे नारी का सम्मान उत्तरोत्तर नष्ट होने लगा तो यह व्यवस्था स्वतः समाप्त हो गयी। इसके स्थान पर इस समस्या का जितना संबन्ध पुत्र से था उसकी व्यवस्था धर्मसूत्रों ने यह

१- तदिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नम्। अविशिष्टं हि परत्वंपाणेः। तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः। नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात्।- आप २।२७।४-७

२- रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः। प्रायश्चित्तं वाप्युपदिश्य नियुञ्जादित्येके।- व १७।६५-६६

३- व १७।६२

४- काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग१, अनुवाद,पृ० ३३६

की कि यदि एक भाई का पुत्र हो तो उसके सभी भाई पुत्रवान् हो जाते हैं। इसी प्रकार एक पुरुष की कई पत्नियों में से एक से भी पुत्र उत्पन्न हो तो सभी पुत्रवती हो जाती हैं।[1] इस व्यवस्था से एक धार्मिक आस्था से संबद्ध और आर्थिक समस्या का समाधान तो हुआ, किन्तु विधवा स्त्री की स्थिति सदैव के लिए उपेक्षित हो गयी। एक विकट सामाजिक समस्या का समाधान न हो सका।

यौनजीवन

धर्मसूत्रों में नारी की स्थिति के सन्दर्भ में इस अध्याय के पिछले पृष्ठों में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह तत्कालीन यौनजीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। धर्मसूत्रकाल का यौनजीवन बहुत कुछ अस्तव्यस्त प्रतीत होता है। यही कारण है कि धर्मसूत्र प्रायः सभी प्रकार के विषयों पर व्यवस्था करते समय यौनजीवन को संयमित करने के लिए व्यग्र एवं सतर्क दिखायी पड़ते हैं। एक ओर यदि धर्मसूत्र वर्णव्यवस्था बनाये रखने की चिन्ता में हैं तो दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के अनुलोम एवं प्रतिलोम यौनसम्बन्धों से असंख्य वर्णसंकर जातियों की समस्या बढ़ती हुई दिखायी पड़ती है। एक ओर यदि वे विवाह को नियमबद्ध करते हैं तो दूसरी ओर अनेक प्रकार के यौनसम्बन्धों को भी स्वीकृति देनी पड़ती है और वैवाहिक एकनिष्ठता का उल्लंघन अनेक रूपों में फैलता जा रहा है। एक ओर वे पद-पद पर संयम एवं सदाचार का उपदेश देते हैं, तो दूसरी ओर विविध प्रकार के व्यभिचारों का अस्तित्व भी दिखायी पड़ता है।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत लौकिक जीवन के तीन पुरुषार्थों धर्म, अर्थ और काम का सामंजस्य ही आदर्श है। इस कारण काम की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसके संयमपूर्ण उपभोग और अन्ततः त्याग का ही उपदेश धर्मसूत्रों की व्यवस्था के अन्तर्गत भी दिया गया है। धर्मसूत्रों की दृष्टि से 'काम' एक घृणास्पद वस्तु नहीं है, एक नियन्त्रित, संरक्षित एवं प्रतिबन्धित विषय है। यह एकमात्र गृहस्थाश्रम

१- बहूनामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्नरः। सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रवन्तः इति श्रुतिः॥
बह्वीनामेकपतनीनामेका पुत्रवती यदि। सर्वास्तास्तेन पुत्रेण पुत्रवन्त्य इति श्रुतिः॥
- व १७।११

एकमात्र गृहस्थाश्रम का विषय है। ब्रह्मचर्याश्रम कामवासना से शून्य केवल विद्याध्ययन एवं आत्मसंयम की शिक्षा का काल था। इस काल में न केवल यौनसम्बन्धों का पूर्ण निषेध किया गया था अपितु सभी प्रकार की कामुकता एवं शृङ्गारभावना को उत्तेजित करने वाले पदार्थों एवं विचारों का सर्वथा परित्याग करने का कठोर निर्देश दिया गया था। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री की ओर देखना और उसका स्पर्श करना वर्जित था।[१] वह स्त्री से उतना ही वार्तालाप कर सकता था जितना आवश्यक था।[२] यहाँ तक कि यदि गुरुपत्नी युवती होती थी तो उसका चरणस्पर्श भी निषिद्ध था।[३] मधु, मांस, गन्ध, अंजन, अभ्यंजन, सुखपूर्वक स्नान, संगीत, नृत्य आदि से विमुख रखना ब्रह्मचारी के प्रमुख कर्तव्यों में सम्मिलित था।[४] ये सभी कामुकता को स्फुरित करने वाले विषय थे, अतएव इनका यत्नपूर्वक त्याग अनिवार्य समझा जाता था। आपस्तम्ब के अनुसार नग्न स्त्री को देखना, फूल सूँघना, मुसकाना, स्त्री के मुख का चुम्बन, मन में उसकी कामना करना और अकारण स्पर्श करना इन सबका वर्जन अनिवार्य नियम था।[५]

ब्रह्मचर्याश्रम में कामभावना और यौनसम्बन्ध के परित्याग का इतना अधिक महत्त्व था कि व्यवहार में ब्रह्मचर्य वीर्यरक्षा का पर्यायवाची बन गया। यहाँ तक कि भय या रोग के कारण अथवा स्वप्न में भी वीर्यस्खलन एक प्रकार का अपराधपूर्ण व्रतभंग मान लिया गया था और उसके लिए प्रायश्चित्त एवं होम का विधान था।[६] ब्रह्मचारी के लिए मैथुन कर्म निकृष्टतम एवं अत्यन्त गर्हित पाप था। इस प्रकार संभोगरत होने वाले ब्रह्मचारी को 'अवकीर्णी' कहा गया है और उसके लिए एक रोमांचकारी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। इसमें चतुष्पथ पर गर्दभ की बलि देकर उसके चर्म को धारण कर, लाल रंग का मिट्टी का पात्र लेकर सात घरों से अपने दुष्कर्म का उल्लेख करते हुए

१- स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम्।- गौ १।२।२२

२- यावदर्थसम्भाषी स्त्रीभिः।- बौ १।३।२४, आप १।३।१६

३- नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन।-गौ १।२।४०, वैखानस ने युवती परस्त्री का प्रणाम निषिद्ध किया है। वैखा ६।११, द्र० बौ १।३।३४, आप १।२२।२३-२८,

४- गौ १।२।१६, बौ १।३।२५, वि २८।२६

५- आप १।७।३-१०

६- गौ ३।५।२०, वि २८।५१

भिक्षा माँगने की व्यवस्था थी और यह प्रायश्चित्त एक वर्ष के लिए करना होता था।[1] यह घोर प्रायश्चित्त निश्चित रूप से पुरुष को आरम्भ में ही काम के प्रति आतंकित करने के लिए पर्याप्त था। सामान्यतः इसका अनुसरण किया जाता होगा, इसमें सन्देह है। इतना तो स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य कामभावना की दृष्टि से कठोर दमन का जीवन था।

गृहस्थ का यौनजीवन

धर्मसूत्रों ने काम का सेवन गृहस्थाश्रम के लिए ही सुरक्षित रखा है, किन्तु उसका उन्मुक्त एवं वासनापूर्ण सेवन उनको अभीष्ट नहीं है। उनमें विवाह से गृहस्थ का यौनजीवन आरम्भ होता है और स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों की सीमा विवाह की परिधि में ही रखी गयी है। उसके बाहर सभी प्रकार के यौनाचरण अपराध एवं पाप माने गये है। विवाहव्यवस्था की सीमा में भी अनियमित यौनजीवन धर्मविरुद्ध ठहराया गया है। गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ भी अनेक नियमों के पालन का निर्देश दिया गया है। यौनजीवन का लक्ष्य पुत्रोत्पत्ति था, कामवासना की मूल प्रवृत्ति की तुष्टि नहीं। धर्मसूत्र गृहस्थ के यौनजीवन को एक धार्मिक और आध्यात्मिक दिशा देना चाहते थे। गृहस्थाश्रम के पूर्व यौनजीवन घोर अपराध था और गृहस्थाश्रम में एक पवित्र कर्त्तव्य था। उसके बाद वानप्रस्थाश्रम में भोगमुक्त सहजीवन की कल्पना की गयी थी। संन्यास तो काम, क्रोध, मोह आदि सभी मानसिक विकारों एवं इच्छाओं से पूर्णतः विरक्ति का जीवन था ही। इससे स्पष्ट है कि धर्मसूत्रों की व्यवस्था में मनुष्य का यौनजीवन सम्पूर्ण जीवन का एक गौण एवं लघु अंश था।

यतः गृहस्थ का यौनजीवन सन्तति हेतु था, अतः उत्तम कुल की ऐसी कन्या से जिसका पहले किसी से संबन्ध न हुआ हो, उसके माता-पिता द्वारा कन्यादान देने पर विवाह करना आदर्श था। उस विवाहिता पत्नी के साथ ऋतुकाल में पत्नीगमन[2] का आदेश देते हुए धर्मसूत्र कहता है : 'जो पुरुष ऋतुमती पत्नी से तीन वर्ष तक मैथुन नहीं करता वह भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। जो पुरुष

१- सत्या० २६।७।१६, वि २८।४८-५०

२- ऋतावुपेयात्।- गौ १।५।१, ऋतौ च सन्निपाते दारेणऽनुव्रतम्।- आप २।१।१७
ऋतुकालगामी स्यात्पर्ववर्जं स्वदारेषु।- व २।२१; द्र० वैखा० १०।१

ऋतुस्नाता पत्नी के निकट रहते हुए भी उससे मैथुनरत नहीं होता, उसके पूर्वज उस मास उसकी पत्नी के रजोस्राव में ही पड़े रहते हैं।[1] इस सम्बन्ध में और भी कहा गया है कि जो पुरुष धर्माचरण करनेवाली पत्नी के साथ मैथुन के नियम का उल्लंघन करता है वह प्रायश्चित्त स्वरूप सौ प्राणायाम करे।[2] विष्णुधर्मसूत्र ने पर्वों एवं पत्नी की अस्वस्थता के दिनों को छोड़कर अन्य ऋतुकालीन दिनों में संभोग न करने पर तीन दिन के उपवास का प्रायश्चित्त बताया है।[3] सन्तानोत्पत्ति के इस पवित्र कर्त्तव्यपालन में सहयोग न देने वाली पत्नी के लिए बौधायनधर्मसूत्र ने सामाजिक तिरस्कार एवं परित्याग का भी विधान कर डाला है : 'जो स्त्री पति की इच्छा रहते हुए भी मैथुन से विरत रहती है और औषधि आदि द्वारा सन्तानोत्पत्ति में बाधा पहुँचाती है उसे ग्राम के लोगों के समक्ष भ्रूणघ्नी घोषित कर घर से निकाल देना चाहिए।'[4]

धर्मसूत्रकाल में स्त्री के मस्तिष्क पर ऐसी व्यवस्था का कितना आतंक रहा होगा यह अनुमान किया जा सकता है और क्या वह इस आतंक के कारण पुत्रोत्पत्ति के महान् धर्म के नाम पर भोग्या मात्र बनकर नहीं रह गयी होगी? धीरे-धीरे वह भोग्या बनी भी, इसके प्रमाण धर्मसूत्र में ही उपलब्ध हो जाते हैं। वसिष्ठ ने उद्धरण देकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि स्त्री में मैथुन की अद्भुत क्षमता होती है। इन्द्र ने उसे इस हेतु वरदान दिया है और प्रसव के एक दिन पूर्व भी वह अपने पति को सन्तुष्ट करने के लिए सक्षम होती है।[5] यदि यौनसम्बन्ध केवल सन्तति के लिए था तो स्त्री के

१- त्रीणि वर्षाण्ययृतुमतीं यो भार्यां नाऽधिगच्छति।
स तुल्यं भ्रूणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम्॥
ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
पितरस्तस्य तन्मासं तस्मिन् रजसि शेरते॥- बौ ४।१।१६,२०

२- ऋतुस्नातां न चेद् गच्छेन्नियतां धर्मचारिणीम्।
नियमातिक्रमे तस्य प्राणायामशतं स्मृतम्॥- बौ ४।१।२३

३- पर्वानारोग्यवर्जमृतावगच्छन्पत्नीं त्रिरात्रमुपवसेत्।- वि ५४।८

४- भर्तुः प्रतिनिवेशेन या भार्या स्कन्दयेदृतम्।
तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं निर्धमेद् गृहात्॥- बौ ४।१।२२

५- अपि च काठके विज्ञायते। अपि नः श्वो विजनिष्यमाणा पतिभिः सह शयीरन्निति स्त्रीणामिन्द्रदत्तो वर इति।- व१२।२४

गर्भवती होने पर उससे संभोग की अनुमति देने का क्या औचित्य हो सकता है ? वस्तुतः, धर्मसूत्र की यह व्यवस्था कामवासना की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय में धर्मशास्त्रकारों की आत्मप्रवञ्चना का द्योतक है। कुछ धर्मसूत्रकारों ने इस प्रवृत्ति की स्वाभाविकता को समझा है और वे भोगार्थ यौनसम्बन्ध को स्वीकृति प्रदान करते हैं। गौतम के शब्दों में 'गृहस्थ निषिद्ध दिनों को छोड़कर किसी भी काल में पत्नी से संभोगरत हो सकता है।'[1] आपस्तम्ब भी इसका समर्थन करते हैं और ऋतुकाल के मध्य भी सकाम होने पर या पत्नी की इच्छा देखकर संभोग की अनुमति देते हैं।[2]

धर्मसूत्रों ने गृहस्थ के यौनजीवन को संयमित रूप प्रदान करने के लिए असंख्य विधि एवं निषेध के नियम दिये हैं। अपनी पत्नी के साथ संबन्ध में भी अनेक बातों का ध्यान रखना होता था। मैथुन के लिए एक विशेष वस्त्र 'स्त्रीवास' धारण करने की भी प्रथा थी। इस वस्त्र का उपयोग धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में वर्जित था।[3] केवल मैथुन काल तक ही पति और पत्नी का एक शय्या पर शयन उचित समझा जाता था और उसके बाद स्नान आदि द्वारा शुद्धि अनिवार्य होती थी। दिन में संभोग निषिद्ध था और इसका उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त करना होता था।[4] इसी प्रकार अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी, चतुर्दशी को संभोग वर्जित था।[5] श्राद्ध के अन्न का भोजन करने पर मैथुन रत होना अत्यन्त गर्हित था।[6] देवमन्दिर, श्मशान, शून्यगृह और वृक्षों के नीचे पत्नीगमन निषिद्ध था।[7] व्रत, दीक्षा एवं वेद के विधिपूर्वक अध्ययन की अवधि में में भी संभोग परित्याज्य था।[8] पत्नी की रुग्णावस्था में या स्वयं रोगी होने पर गृहस्थ

१- सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्।- गौ १।५।२
२- अन्तरालेऽपि दार एव। ब्राह्मणवचनाच्च संवेशनम्।- आप २।१।१८-१९
३- आप २।१।२०-२३, २।२।१,
४- आप २।१।१८-१९, वि ६९।६, बौ २।१।२
५- बौ २।२१।२०, आप २।१।८,९; वि ६९।१
६- श्राद्धं दत्त्वा भुक्त्वा च मैथुनं योधिगच्छति।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं रेतसो भुजः॥- व ११।३७
७- न शून्यालयेषु। न वृक्षमूलेषु।- वि ६९।७-८
८- आप २।५।१५, वि ६९।५,६

को यौनसम्बन्ध से दूर रहने का आदेश दिया गया है।[१] रजस्वला स्त्री से संभोग की अत्यन्त कटु शब्दों में भर्त्सना करते हुए प्रायश्चित्त विहित किये गये थे।[२]

यौनसम्बन्धों की सीमा निर्धारित करते हुए धर्मसूत्रों ने केवल विवाह व्यवस्था के अधीन होने वाले स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को ही धर्मानुकूल ठहराया है। उसके बाहर के सभी सम्बन्ध दुष्कर्म एवं पाप बताये गये हैं और उनके लिए प्रायश्चित्तों का निर्देश किया गया है। परस्त्रीगमन के लिए गौतम ने दो वर्ष के ब्रह्मचर्य का और आपस्तम्ब ने तीन वर्ष तक पतित व्यक्ति के समान प्रायश्चित्त का विधान किया है।[३] परस्त्रीगामी ब्राह्मण श्राद्ध भोजन में निमन्त्रित करने योग्य नहीं माना गया है।[४] इस प्रकार के यौनसम्बन्ध में स्त्री और पुरुष दोनो ही दोषी माने गये हैं।[५] वैखानसधर्मसूत्र का कथन है कि परस्त्रीगमन से पुरुष की समृद्धि, ज्ञान से प्राप्त यश सभी कुछ नष्ट हो जाता है।[६] आपस्तम्ब ने तो जानबूझकर किसी युवती स्त्री को प्रलोभित करने का प्रयत्न दण्डनीय अपराध माना है और इसके लिए आर्थिक दण्ड की व्यवस्था की है। गुरुपत्नीगमन चार महापातकों में से एक है और इसके लिए कठोरतम शारीरिक दण्ड एवं प्रायश्चित्त की व्यवस्था सभी धर्मसूत्रों में पायी जाती है।[७] अगम्या स्त्रियों की एक लम्बी सूची भी धर्मसूत्रों में देखी जा सकती है, जिनमें निकट सम्बन्ध की स्त्रियों- मित्रपत्नी, मित्रभूता स्त्री, बहन, कुल की स्त्री, शिष्यवधू, पुत्रवधू से संभोग गुरुतल्पगमन के समान पातक माना गया है।[८] मामा की बहन, पिता की बहन, अपनी बहन, बहन की पुत्री, पुत्रवधू,

---

१- नाकल्पां नारीमभिरमयेत्।- गौ १।६।२६ द्रष्टव्य- वि ६६।११-१६

२- गौ ३।५।३४ (तीन दिन का कृच्छ्रव्रत)

३- द्वे परदारे।- गौ ३।४।२६, द्र० आप २।२७।११

४- आप २।२७।२१

५- पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरेच मैथुने दोषः।- आप २।१३।३

६- वैखा १०।१, हारीत १।२७

७- गौ ३।५।८-१०, बौ २।१।१२-१४, आप १।२५।१-३, १।२६।१५-१७, सत्या०२६।६।७५-७७, २६।७।५०, व २०।१३, वि ३५।१,२,६

८- सखीसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्नुषायां गवि च गुरुतल्पसमः।- गौ ३।५।१२

मामी तथा मित्रपत्नी को बौधायन ने अगम्या के रूप में गिनाया है।[1] विष्णुधर्मसूत्र में इन स्त्रियों से मैथुन गुरुपत्नीगमन के तुल्य माना गया है और उसके लिए पापों से निष्कृति का एकमात्र उपाय अग्नि में प्रवेश बताया गया है।[2] आपस्तम्ब ने बड़ी बहन आदि श्रेष्ठ स्त्रियों की सखियों , पिता की प्रिय स्त्रियों एवं विवाहिता परस्त्री से मैथुन को पतन का कारण माना है, यद्यपि वे अन्य आचार्यों का यह मत भी उद्धृत करते हैं कि केवल गुरुपत्नीगमन से ही पतन होता है।[3]

मनुष्य के यौनाचार को संयमित एवं नियन्त्रित करने के लिए धर्मसूत्रकारों ने अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों के वर्जन का कठोर एवं भयावह आदेश दिया है। यौनदुर्बलता एवं स्त्रीसान्निध्य से सदैव सतर्क रहने की चेतावनी दी है और केवल एक ही मार्ग खुला छोड़ा है और वह है विवाह का। यह बात दूसरी है कि वे बहुपत्नीत्व और भोगार्थ विवाह को भी स्वीकृति प्रदान करते हैं।

बहुपत्नीत्व

वैदिक काल में बहुपत्नीत्व किसी न किसी रूप में विद्यमान था। ऋग्वेद एवम् अथर्ववेद में सपत्नियों के उल्लेख मिलते हैं।[4] तैत्तिरीयसंहिता, शतपथब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण एवं तैत्तिरीयब्राह्मण में अनेक पत्नियों की चर्चा हुई है।[5] यज्ञ के प्रसंग में राजाओं की चार रानियों - महिषी, वावाता, परिवृक्ता एवं पालागली - के नाम आये हैं।[6] प्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों - कात्यायनी एवं मैत्रेयी - का बृहदारण्यकोपनिषद् में नामोल्लेख हुआ है।[7] धर्मसूत्रों के काल में भी बहुपत्नीत्व व्यापक रूप में प्रचलित था और जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे अनेक कारणों से यह

१- मातुलपितृष्वसा भगिनी भागिनेयी स्नुषा मातुलानी सखिवधूरित्यगम्याः।- बौ २।४।११

२- आप १।२१।६,१०   ३- वि ३४।१-२, ३६।४-५

४- ऋग्वेद १०।१४५, १।१०५।८, सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। अथर्ववेद३।१८ में सपत्नीबाधन का सूक्त।

५- तैत्तिरीयसंहिता ६।६।४, ऐतरेयब्रा० १२।११, तैत्तिरीयब्रा० ३।८।४, शतपथब्रा० १३।४।१।८, ऐतरेयब्रा०३३।१

६- शतपथब्राह्मण १३।४।१।८   ७- बृहदारण्यकोपनिषद् ५।५।१-२,२।४।१

तत्कालीन यौनजीवन की अस्तव्यस्तता का अङ्ग बन गया था। प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने विभिन्न वर्णों की पत्नियों का उल्लेख किया है। बौधायन, वसिष्ठ एवं विष्णुधर्मसूत्र में ब्राह्मण की वर्णों के अनुसार चार, क्षत्रिय की तीन और वैश्य की दो पत्नियों की अनुमति दी गयी है।[१] गौतम ने सम्पत्तिविभाजन के प्रकरण में इस प्रकार के नियम दिये हैं कि उनसे बहुपत्नीत्व प्रमाणित होता है।[२] विभिन्न वर्ण की पत्नियों में सवर्णा स्त्री का प्रमुख स्थान होता था और धार्मिक कार्यों में वही पति का साथ देती थी।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णव्यवस्था की कठोरता बढ़ने के साथ-साथ असमान वर्ण की स्त्री से विवाह सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय हो गया। धर्मसूत्रों ने भी सवर्णा पत्नी को जो धार्मिक एवं आर्थिक विशेषाधिकार दिये हैं उससे यह स्पष्ट है कि असवर्ण विवाह व्यवहार में उत्तम नही समझा जाता था। इसके स्थान पर समान वर्ण की ही कई स्त्रियों से विवाह प्रचलित होने से बहुपत्नीत्व चलता रहा। एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करने की अनुमति धर्मसूत्रों ने भी दी है। इस पर विचार करने से पूर्व हम शूद्रा पत्नी की स्थिति पर दृष्टिपात करेंगे।

धर्मसूत्रों के समाज में उच्चवर्ण के पुरुष शूद्रा स्त्री से भी विवाह कर लेते थे। गौतम, बौधायन तथा वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में एवं विष्णुधर्मसूत्र में शूद्रा पत्नी का उल्लेख है और शूद्रा पत्नी से उत्पन्न पुत्र की चर्चा भी सम्पत्तिविभाजन के प्रकरण में हुई है।[४] श्राद्ध एवं श्रौतयज्ञ की अग्नि का आधान करने के बाद शूद्रापत्नी से संबन्ध विशेषतः वर्जित है।[५] शूद्रापत्नी के साथ धर्मकार्य निषिद्ध है।[६] वास्तविकता यह थी कि

१- बौ १।१६।२,३ तेषां वर्णानुपूर्व्येण चतस्रो भार्या ब्राह्मणस्य। तिस्रो राजन्यस्य। द्वे वैश्यस्य। एका शूद्रस्य। द्र० व १।२४-२५ तिस्रो ब्राह्मणस्य भार्या वर्णानुपूर्वेण द्वे राजन्यस्य एकैका वैश्यशूद्रयोः। शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जं तद्वत्। द्रष्टव्य- वि २४।१-४,शंख ४।७,८

२- गौ ३।१०।१३-१५ में ज्येष्ठा पत्नी का उल्लेख। १।१०।३३-३७ में ब्राह्मण की क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की पत्नियों का उल्लेख है।

३- वि २६।२, सत्या० २७।३।१

४- गौ ३।१०।३७ द्रष्टव्य बौ १।१७।२ ब्राह्मणात्क्षत्रियायां ब्राह्मणो वैश्यायाम्बष्ठः शूद्रायां निषादः। व १७।३८ भी द्रष्टव्य।

५- सद्यः श्राद्धी शूद्रातल्पगस्तत्पुरीषे मासं नयति पितॄन्।- गौ २।६।२३, द्र० व १८।१७

६- न त्वेव द्विजः शूद्रया।- वि २६।४

शूद्रा स्त्री से द्विजाति पुरुष केवल भोगार्थ संबन्ध रखते थे। इसे स्वीकार करते हुए वसिष्ठ ने कहा हैः 'शूद्रा पत्नी केवल रमण के लिए होती है, धर्म के लिए नहीं।'[१] इससे भी अधिक स्पष्ट कथन विष्णुधर्मसूत्र का हैः 'द्विजाति का शूद्रा से विवाह कभी भी धार्मिक पुण्य नहीं उत्पन्न करता, केवल कामान्ध होकर भोग के लिए ही द्विजाति पुरुष शूद्रा स्त्री से विवाह करता है।'[२] वसिष्ठ ने शूद्रा-विवाह का स्पष्ट निषेध किया है। वे कहते है : ' ऐसा न करे। ऐसा करने से इस लोक में कुल का अपकर्ष होता है और परलोक में स्वर्ग नहीं मिलता।'[३] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यदि द्विजाति भूल से भी शूद्रा से विवाह कर ले तो वह शीघ्र ही अपने कुल और सन्तानों को शूद्रा की कोटि में गिरा देता है। देवता, पितृगण एवम् अतिथ उसके द्वारा अर्पित अन्न ग्रहण नहीं करते और वह नरक में गिर जाता है।[४] वर्ण एवं कुल की पवित्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार के शूद्राविवाह के प्रति अरुचि एवं घृणा बढ़ने लगी थी, यह धर्मसूत्रों के ही उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है।

बहुपत्नीत्व को समर्थन कुछ परिस्थितियों के कारण भी प्राप्त था। सामान्यतः केवल एक सवर्णा पत्नी का होना आदर्श व्यवस्था के रूप में मान्य था। आपस्तम्ब ने यह कहा भी है कि यदि श्रौत, गृह्य एवं स्मार्त कर्मों में श्रद्धा रखने वाली, धार्मिक कर्मों में सहयोग देने में समर्थ तथा पुत्रवती एक पत्नी विद्यमान हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।[५] बौधायनधर्मसूत्र ने भी अनेक कारणों से पत्नीपरित्याग की अनुमति दी है : 'कोई सन्तान न उत्पन्न करने वाली वन्ध्या पत्नी का दसवें वर्ष में, केवल पुत्रियाँ

१- कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव न धर्माय।- व १८।१८
बौधायन ने भी शूद्रापत्नी के भोगार्थ होने का उल्लेख किया है।-बौ २।३।३०

२- द्विजस्य भार्या शूद्रातु धर्मार्थं न भवेत्क्वचित्।
रत्यर्थमेव सा तस्य रागान्धस्य प्रकीर्तिता॥- वि २६।५

३- तथा न कुर्यात्। अतो हि ध्रुवः कुलापकर्षः प्रेत्य चास्वर्गः।- व १।२६-२७

४- हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानापि शूद्रताम्॥
दैवपित्र्याविधेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।नाश्नन्ति पितृदेवास्तु न च स्वर्गं स गच्छति॥
- वि- २६।६-७

५- धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्।

उत्पन्न करने वाली पत्नी का बारहवें वर्ष में, जिसके बच्चे मर जाते हैं उसका पन्द्रहवें वर्ष में, तथा कटुभाषिणी स्त्री का तत्काल परित्याग करना चाहिए।[१] वसिष्ठ ने पत्नीपरित्याग का एक कारण व्यभिचार भी माना है। वे कहते हैं, 'इन चार प्रकार की पत्नियों का परित्याग कर देना चाहिए- जो पति के शिष्य से, अथवा पति के गुरु से यौनसम्बन्ध स्थापित करे, निम्न वर्ण के पुरुष से व्यभिचार करे अथवा जो पति की हत्या का प्रयत्न करे।[२] इसके साथ वसिष्ठ के ही धर्मसूत्र में यह भी कहा गया है कि पापयुक्त, विवादशीला, गृहत्यागिनी, बलात्कार द्वारा धर्षिता, चोरों के हाथ में पड़ी हुई पत्नी का परित्याग न करे। ऐसी पत्नी में मासिक स्राव तक प्रतीक्षा करे। उससे वह पवित्र हो जाती है।[३]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक पत्नीपरित्याग के कारणों का संबन्ध है, विवाहविच्छेद का एक प्रारम्भिक रूप धर्मसूत्रकाल में भी विद्यमान था, किन्तु सामान्यतः दूसरी पत्नी ग्रहण करने के साथ-साथ पूर्व पत्नी भी पतिगृह में ही रहती थी। धर्मसूत्रों के काल की बहुपत्नीकता का यही स्वरूप था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अभ्रातृका स्त्रियों से विवाह करने वाले पुरुष भी बहुपत्नीकत्व का आश्रय लेने के लिए विवश होते थे। अकारण पत्नी का परित्याग करना आपस्तम्बधर्मसूत्र की दृष्टि में एक घोर पाप था, जिसके लिए छः मास तक प्रायश्चित्त करना होता था।[४] धर्मकार्य एवं पुत्रोत्पत्ति में समर्थ होने पर पत्नी-परित्याग या दूसरा विवाह अधर्म था।

१- अप्रजां दशमे वर्षो स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्॥- बौ २।५।६

२- चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या।
पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या॥- व २१।१०

३- स्वयं विप्रतिपन्ना वा यदि वा विप्रवासिता।
बलात्कारोपभुक्ता वा चोरहस्तगतापि वा॥
न त्याज्या दूषिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते।
पुष्पकालमुपासीत ऋतुकालेन शुध्यति॥- व २८।२-३

४- दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिधाय 'दारव्यतिक्रमिणे भिक्षा'मिति सप्ताऽगाराणि चरेत्।
सा वृत्तिः षण्मासान्।- आप १।२८।१६

विधवा के लिए अनुमत नियोग की प्रथा ने भी प्रत्यक्ष रूप से बहुपत्नीकता की वृद्धि में योगदान दिया। यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि जो विधवा आरम्भ में नियोग का अनुसरण कर अपने पतिकुल के किसी दूसरे पुरुष से यौनसम्बन्ध आरम्भ करती होगी वह धीरे-धीरे उसकी पत्नी बन जाती होगी। कन्याओं की अधर्म के भय से छोटी अवस्था में विवाह करने की तत्परता का भी एक अनिवार्य परिणाम यह भी हुआ होगा कि योग्य एवं धनसम्पन्न पुरुष बहुपत्नीकता की ओर उन्मुख हुए होंगे। इस प्रकार धर्मसूत्रों के काल में ऐसी अनेक परिस्थितियाँ थीं जिनमें बहुपत्नीकता को पर्याप्त प्रश्रय एवं समर्थन मिला हुआ था।

व्यभिचार एवं वेश्यावृत्ति

विवाह-व्यवस्था की परिधि से बाहर स्त्री-पुरुष के यौनसम्बन्धों को व्यभिचार के अन्तर्गत गिना जाता है। धर्मसूत्रों की दृष्टि इस विषय पर बड़ी कठोर है, किन्तु तत्कालीन समाज में व्यभिचार का अस्तित्व अनेक रूपों में था, यह धर्मसूत्रों की दण्ड एवं प्रायश्चित्त व्यवस्था से स्वतः प्रमाणित है। विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों में यौनसम्बन्ध से अनेक प्रकार की वर्णसंकर जातियाँ विद्यमान थीं। इन जातियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। परस्त्रीगमन जैसे व्यभिचार के लिए धर्मसूत्रों ने कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। निम्न वर्ण की स्त्री से व्यभिचार कम दण्डनीय होता था और उच्च वर्ण की स्त्री से अधिक दण्डनीय। शूद्र वर्ण के पुरुष के लिए मृत्युदण्ड तक विहित था।[१] परस्त्रीगामी को श्राद्धभोजन में आमन्त्रित करने योग्य भी नहीं समझा जाता था।[२] इसके लिए दो वर्ष के ब्रह्मचर्य का प्रायश्चित्त भी विहित किया गया था।[३]

व्यभिचारिणी स्त्री के लिए धर्मसूत्रों में सुधार की व्यवस्था की गयी है। गौतम ने ऐसी स्त्री के लिए एक वर्ष तक संयमपूर्ण एकान्तवास का आदेश दिया है।

१- बौ २।४।१ अब्राह्मणस्य शारीरो दण्डसंग्रहणे भवेत् ।द्र० आप २।२७।८,६; वि ५।४०-४३; व २१।२-५,१६,१७; गौ २।३।२ आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च।

२- उपपतिः यस्य च सः।-गौ २।६।१६-१७ द्र० आप २।१७।२१ श्वित्रशिपिविष्टः परतल्पगाम्यायुधीयपुत्रश्शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यामित्येते श्राद्धे भुञ्जाना पंक्तिदूषणा भवन्ति।

३- गौ ३।४।२६

४- स्त्री याऽतिचारिणी गुप्ता पिण्डं तु लभेत।- गौ ३।४।३५

आपस्तम्ब ने शूद्र से मैथुनरत होने वाली स्त्री को व्रत एवं उपवास से कृश बना देने का निर्देश दिया है।[१] विष्णुधर्मसूत्र में भी स्त्री के लिए प्रायश्चित्त विहित है।[२] स्त्री के लिए मन, वाणी और कर्म से पतिनिष्ठ रहना ही धर्मसूत्रों में श्रेष्ठ धर्म माना गया है। इस कारण मन से भी परपुरुष का चिन्तन करना एक घोर पाप समझा गया है। इसके लिए स्त्री को एक मास तक कठोर व्रत का प्रायश्चित्त है। वाणी से परपुरुष के प्रति पतितुल्य व्यवहार करना और भी बड़ा पाप है।[३] वस्तुतः परपुरुष संबन्ध करने पर स्त्री को एक वर्ष तक घृत से भींगा हुआ वस्त्र पहन कर, कुश की चटाई या गोबर पर शयन करते हुए व्रत करने का नियम दिया गया है।[४] व्यभिचार हेतु स्त्री के लिए अनेक प्रकार के व्रत भी विहित है।[५]

व्यभिचार के विरुद्ध धर्मसूत्रों की कठोर दण्ड एवं प्रायश्चित्त की व्यवस्था का समाज पर कितना प्रभाव था यह कहना कठिन है, किन्तु वर्णसंकरों के अतिरिक्त जारज पुत्रों के उल्लेख एक भिन्न प्रकार का चित्र भी उपस्थित करते हैं। सम्पत्ति-विभाजन के प्रकरण में कानीन, गूढज, सहोढ पुत्रों की गणना की गयी है। 'कानीन' अविवाहिता स्त्री का पितृगृह में गुप्त रूप से उत्पन्न किया गया पुत्र होता था।[६] गूढोत्पन्न पुत्र घर में चोरी छिपे पैदा हुआ पुत्र होता था।[७] 'सहोढ' पुत्र उस स्त्री का पुत्र होता था, जो विवाह के समय किसी अन्य पुरुष के सम्बन्ध से गर्भवती रही हो।[८] गौतम ने गूढोत्पन्न पुत्र को रिक्थभाक् तथा कानीन एवं सहोढ पुत्र को गोत्रभाक् बनाकर इस प्रकार के व्यभिचारोत्पन्न पुत्रों का अस्तित्व स्वीकार किया है।[९]

१- आप २।२७।१०

२- सकृदुष्टा स्त्री यत्पुरुषस्य परदारे तद्व्रतं कुर्यात्।- वि ५३।८

३- व २१।६-७ ४- व २१।८ ५- व २१।१३

६- यं पितृगृहेऽसंस्कृता कामादुत्पादयेत्मातामहस्य पुत्रो भवतीत्याहुः।- व १७।२२, द्र० बौ २।३।२४

७- गृहे च गूढोत्पन्न षष्ठः।- व १७।२४, गृहे गूढोत्पन्नोऽन्ते ज्ञातो गूढः।- बौ २।३।२२

८- या गर्भिणी संस्क्रियते सहोढः पुत्रो भवति।- व १७।२७

९- पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धरिक्थभाजः। कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्र-

धर्मसूत्रों के समाज में कुछ निम्न वर्ण की स्त्रियों की जीवन अपनी जाति के व्यवसाय के फलस्वरूप अधिक व्यभिचारलिप्त होता था। वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्रियाँ कृषिकर्म एवं मजदूरी के कार्य अधिक करती थीं और इन कार्यों में उनके धन के प्रलोभन से व्यभिचारिणी होने की संभावना अधिक रहती थी। बौधायन ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्रियाँ अनियन्त्रित होती हैं।[1] दासी की स्थिति के विषय में हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि वह अपने आश्रयदाता के यहाँ पुरुषों की यौनलिप्सा का आस्पद बनी हुई-सी दिखायी पड़ती है और उसका व्यभिचारपूर्ण जीवन सर्वविदित होता था। इसके अतिरिक्त समाज में कुछ ऐसी निम्न वर्ण की जातियाँ थीं जिनमें पुरुष अपनी पत्नियों को व्यभिचार के लिए जानबूझकर स्वतन्त्रता देते थे और उनके द्वारा अर्जित धन से जीवन-निर्वाह भी करते थे। बौधायन ने परस्त्रीगमन के दण्ड का विधान करते हुए कहा है कि चारणों की पत्नियों एवं रंगमंच पर नृत्य करने वाली स्त्रियों से संभोग करने वाले पुरुष को वध का दण्ड नहीं दिया जाता, क्योंकि ऐसी स्त्रियों के पुरुष ही उन स्त्रियों का संबन्ध दूसरे पुरुषों से कराते हैं अथवा अपने घर के भीतर उन स्त्रियों को दूसरे पुरुषों से यौन-सम्बन्ध की छूट देते हैं।[2] विष्णुधर्मसूत्र में इस प्रकार पत्नी की वेश्यावृत्ति से उपार्जित धन पर जीवन निर्वाह करने वाले की गणना उपपातक के दोषी व्यक्तियों में की गयी है।[3]

वेश्यावृत्ति के प्रचलन का संकेत भी प्रायः सभी धर्मसूत्रों में मिलता है। स्त्री अपने इस रूप में एक भोग्य क्रयविक्रय की वस्तु बनकर अपने सामाजिक पतन के गर्त में गिर जाती है, किन्तु वेश्या का अस्तित्व ऋग्वेदकाल में और सम्भवतः उसके पहले[4]

स्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः।- गौ ३।१०।३०-३१, द्र० वि १५।१०-१७

बलात्कार एवं कन्यापहरण की घटनाएँ भी धर्मसूत्रों के काल में होती थीं इसका प्रमाण पैशाच एवं राक्षस विवाहों के उल्लेख से मिल जाता है।

१- अनियन्त्रितकलत्रा हि वैश्यशूद्रा भवन्ति। कर्षणशुश्रूषाधिकृतत्वात्।- बौ १।२०।१४-१५

२- न तु चारणदारेषु न रंगावतारे वधः।
संसर्जयन्ति ता ह्येतान्निगुप्तांश्चालयन्त्यपि॥- बौ २।४।३

३- स्त्रिया जीवनम्- वि ३७।२५

४- द्रष्टव्य- ऋग्वेद १।१६७।४

भी था। गौतमधर्मसूत्र ने वेश्या का जीवन इतना महत्त्वहीन माना है कि उसका वध करने पर किसी भी प्रकार का प्रायश्चित्त अनिवार्य नहीं समझा है।[१] बौधायन और वसिष्ठ ने गणिका का अन्न अभक्ष्य माना है।[२] विष्णुधर्मसूत्र में वेश्यागमन के लिए प्राजापत्य व्रत का विधान है।[३] धर्मसूत्रों की इन उक्तियों से यह स्पष्ट है कि वेश्यावृत्ति एवं वेश्यागमन एक गर्हित यौनाचार के रूप में ही देखा जाता था और संभवतः धर्मसूत्र का सम्बन्ध जिस उच्च्य वर्ण के समाज से है उसमें इसका प्रचलन नगण्य था।

धर्मसूत्रों में उल्लिखित अप्राकृतिक यौनाचारों की चर्चा किये विना तत्कालीन यौनजीवन का विवेचन पूर्ण नहीं हो सकता। अतएव यहाँ उनका उल्लेख कर देना प्रासंगिक है। समाज और व्यक्ति पर सूक्ष्म एवं सतर्कतापूर्ण दृष्टि रखने वाले धर्मसूत्र मनुष्य के अप्राकृतिक या असामान्य यौनाचारों से अपरिचित नहीं हैं। प्रायः सभी धर्मसूत्रों में पुरुष द्वारा किये जाने वाले पशुमैथुन की निन्दा की गयी है और दण्ड एवं प्रायश्चित्त बताये गये हैं।

गौतम ने गौ से दुराचार को गुरुपत्नीगमन-तुल्य पातक कर्म माना है।[४] वसिष्ठ ने इसे शूद्रावध के तुल्य माना है।[५] विष्णुधर्मसूत्र में इस अपराध के लिए मध्यम साहस का दण्ड बताया गया है।[६] गो के अतिरिक्त अन्य मादा पशु से दुराचरण हेतु होम का प्रायश्चित्त अथवा सौ कार्षापण का दण्ड निर्धारित किया गया है।[७] स्त्रीयोनि से भिन्न

१- वैशिके न किञ्चित्।- गौ ३।४।२७

२- गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्नं श्राद्धसूतकम्।
चोरस्यान्नं नवश्राद्धं सर्वं पुनथ मे यवा इति ॥- बौ ३।६।१०,
गणान्नं गणिकान्न चेति।- व १४।१०

३- पशुवेश्यागमने च प्राजापत्यम्।- वि ५३।७

४- सखीसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्नुषायां गवि च गुरुतल्पसमः।-गौ ३।५।१२, वि ५३।३ में इसके लिए गोव्रत का प्रायश्चित्त है।

५- गां गत्वा शूद्रावधेन दोषो व्याख्यातः।- वि २३।६

६- वि ५।४२ गोगमने च।

७- गौ ३।४।३६ अमानुषीषु गोवर्जं स्त्रीकृते कूष्माण्डैघृतहोमाः। वि ५।४४ पशुगमने कार्षापणशतं दण्ड्यः। द्र० वि ५३।७ भी। पशुषु मैथुनाचरणम्।- वि ३८।४ में पशुमैथुन को जातिभ्रंशकर पाप माना गया है।

स्थान पर वीर्यस्खलन द्वारा किये गये निषिद्ध मैथुन कर्म की चर्चा सभी धर्मसूत्रों ने की है और इस दुष्कर्म को दण्डनीय एवं पापपूर्ण कर्म माना है।[१] बौधायन ने इसे स्तेन एवं भ्रूणहत्या के तुल्य पापकर्म माना है।[२] वसिष्ठधर्मसूत्र में इस अप्राकृतिक यौनाचार को एक उद्धरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है: 'जो स्वपत्नी के मुख में मैथुन करता है उसके पितृगण उस मास उसके रेतस् का भक्षण करते है।[३] स्पष्टतः वसिष्ठ का संकेत वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित असामान्य यौनकर्मो की ओर है। विष्णुधर्मसूत्र [४] ने इस प्रकार के सभी असामान्य यौनाचरण की गणना की है ओर पुरुषों के समलिङ्गी यौनकर्म से भी अपना परिचय प्रकट किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्मसूत्रकारों को मानव के मनोविज्ञान का गहन ज्ञान था। उन्होंने अपने सामाजिक परिवेश में इस प्रबल मूलप्रवृत्ति का असाधारण प्रभाव देखा था और इसके नियन्त्रण की परम आवश्यकता का अनुभव किया था। गौतम ने तो अपनी पुत्री से भी दूरी रखने का निर्देश दिया है।[५] आपस्तम्ब ने श्रोत्रिय की अतिशय कामुकता का उल्लेख एक सर्वविदित तथ्य के रूप में किया है।[६]

१- अनार्जवपैशुनप्रतिषिद्धाचारानाद्यप्राशनेषु शूद्रायां च रेतः सिक्त्वाऽयोनौ च दोषवति च कर्मण्यपि सन्धिपूर्वेऽब्लिङ्गाभिरप उपस्पृशेद्वारुणीभिरन्यैर्वा पवित्रैः।- गौ ३।७।७

२- यथा स्तेनो यथा भ्रूणहैवमेष भवति योऽयोनौ रेतस्सिञ्चति।- बौ ३।७।२ इसके लिए प्रायश्चित्त हेतु द्र० गौ ३।७।४-७, बौ ४।२।१३, आप १।२६।७
हरदत्त ने गौ ३।७।७ की व्याख्या में 'अयोनौ' से 'आस्यादिषु' (मुख आदि में) किन्तु आप १।२६।७ की व्याख्या में 'जलादौ' अर्थ लिया है। गोविन्दस्वामी बौ ४।२।१३ की व्याख्या में 'खट्वादि' अर्थ लेते हैं।

३- व १२।२१,२३

४- पुंस्ययोनावाकाशेऽप्सु दिवा गोयाने च सवासाः स्नानमाचरेत्।- वि ५३।४
वि ३८।५ में पुरुष के समलिङ्गी यौनाचरण को जातिभ्रंशकर माना गया है।

५- न चैनां श्लिष्येन्न कन्याम्।- गौ १।६।३१

६- आप २।१४।१३ के 'तस्मात् वस्तश्च श्रोत्रियस्य स्त्रीकामतमाविति।' अंश पर पर हरदत्त की वृत्ति है: 'श्रोत्रियस्य स्त्रीकामतमत्वमाचार्यकुले चिरकालं ब्रह्मचारिवासात्।' हरदत्त का संकेत यही है कि अधिक समय तक आचार्यकुल में कामभावना का दमन करते हुए निवास करने के कारण श्रोत्रिय परवर्ती जीवन में अधिक कामुक होता है।

मानव के यौनजीवन को संयमित एवं नियन्त्रित करना धर्मसूत्रों का प्रधान लक्ष्य है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि धर्मसूत्रों की कठोर व्यवस्था का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि यौनविषयक दुराचरण के विरुद्ध एक प्रबल लोकमत की पुष्टि हुई।

योग से भोग की ओर

धर्मसूत्रों की समाज व्यवस्था में मनुष्य के समक्ष अपने जीवन का तीन चतुर्थांश यौन-सुख की लिप्सा से शून्य रखने का आदर्श उपस्थित किया गया है। गृहस्थाश्रम के संयमपूर्ण यौनजीवन के बाद व्यक्ति को वानप्रस्थ्य एवं संन्यास आश्रम में कामभावना का पूर्णतः त्याग कर आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि में तल्लीन हो जाना ही भारतीय संस्कृति में श्रेयस्कर माना गया है। वानप्रस्थ्य अपनी पत्नी के साथ रह सकता था।[१] इस अवस्था में पत्नी अपने पति की एक घनिष्ठ मित्र होती थी और उसे एक निष्काम जीवन व्यतीत करन में सहयोग देती थी। संन्यास के लिए तो जितेन्द्रिय होना एक अनिवार्य योग्यता थी।[२] उसका ऊर्ध्वरेता होना आवश्यक था।[३] सर्वथा मैथुन का त्याग उसके प्रमुख व्रतों में गिनाया गया है।[४] वह किसी के भी साथ इन्द्रियसंसर्ग का वर्जन करता था।[५] उसका सम्पूर्ण समय सभी प्रकार से मुक्त परमतत्त्व के चिन्तन में व्यतीत होता था। वह भोग का सम्पूर्ण त्याग कर पूर्णतः योग में तल्लीन होता था। इस प्रकार धर्मसूत्रों ने यौनसुखलिप्सा का ही नहीं, अपितु सभी इन्द्रियों एवं सभी इच्छाओं के दमन को ही जीवन में मानसिक शान्ति एवं जीवनानन्तर मोक्ष का साधन माना है। विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (७२।७)

१- आप २।२८।८; वैखानस ने चार प्रकार के सपत्नीक वानप्रस्थ गिनाये हैं। वैखा० ८।७

२- बौ २।१७।१६ अथाप्युदाहरन्ति-
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमाः जितेन्द्रियाः। भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद् भवति भिक्षुक इति॥

३- गौ १।३।११ ऊर्ध्वरेताः। द्र० व ६।५

४- 'मैथुनस्य च वर्जनम्' बौ २।१८।२

५- न चेन्द्रियसंसर्गं कुर्वीत केनचित्।- व १०।२८

अध्याय ७

धर्मसूत्रों में राजधर्म न्याय एवं दण्ड

गुणधर्म अथवा राजधर्म धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।[1] सभी धर्मसूत्रों में इस विषय से संबद्ध नियमों को थोड़े अधिक विस्तार के साथ संकलन मिलता है। समाज की व्यवस्था में राजा की प्रमुख भूमिका होती है। प्रजा में धर्म की रक्षा का दायित्व उसी का होता है और वही दण्ड देकर अधर्म को रोकता है। अतः धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में स्वभावतः राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन अपरिहार्य हो गया है। राजतन्त्र में न्यायव्यवस्था पूर्णतः राजा के अधीन होती थी, अतः उसके लिए व्यवहार की विधियाँ भी धर्मसूत्रों में व्यवस्थित की गयी हैं। धर्मसूत्रों में विवेचित राजधर्म को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है-

---

१- बौ १।१।३ की व्याख्या में गोविन्दस्वामीः 'स च स्मार्तो धर्मः पञ्चविधो भवति- वर्णधर्मः आश्रमधर्मः वर्णाश्रमधर्मः गुणधर्मः निमित्तधर्मश्चेति। अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञो रक्षणं गुणधर्मः।' द्रष्टव्य- चिन्नस्वामिशास्त्री की टिप्पणी- 'गुणं कञ्चनोपादाय तदवलम्बनेन विधीयमानो धर्मो गुणधर्मः'(बौधायनधर्मसूत्र,चौखम्बा संस्करण, पृ० २)।

(क) राजा, उसका व्यक्तित्व, कर्त्तव्य एवम् अधिकार।
(ख) राज्य की सुरक्षा के उपाय।
(ग) न्याय एवं दण्ड व्यवस्था।
(घ) सम्पत्ति के उत्तराधिकार का कानून।

यहाँ इस अध्याय में हम राजा, उसके व्यक्तित्व, उसके कर्त्तव्य एवं विशेषाधिकार, राज्य की सुरक्षा के उपाय, न्यायव्यवस्था तथा दण्डविधान का विवेचन करेंगे।

राजा- उसका महत्त्व एवं व्यक्तित्व

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार 'राजा और वेद का विद्वान् ब्राह्मण- ये दोनो ही लोक में प्रजा से व्रतों का पालन कराते हैं। संकर जातियों के साथ चारो वर्णों के मनुष्य, वृक्ष आदि बढ़ने वाले एवं लुप्तचेतना वाले पदार्थों, पशु आदि चलने वाले जीव, उड़ने वाले पक्षी और सरीसृप- ये सभी प्रकार के प्राणी एवं पदार्थ राजा और वेदज्ञ ब्राह्मण के ही अधीन होते हैं।'[१] राजा का महत्त्व उसके लोकरक्षण एवं प्रजानुरंजन के कर्मों के कारण है। वह धर्म के नियमों एवं आदेशों का पालन कराने के लिए शक्तिसम्पन्न है।

राजा के महत्त्व का संकेत करते हुए गौतम ने कहा है- 'राजा ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी का शासक एवं स्वामी होता है।'[२] गुणवान् राजा का सिंहासन विद्वान् ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सभी से ऊँचा होना चाहिए और वह ब्राह्मणों द्वारा भी आशीर्वाद आदि से सम्माननीय होता है।[३]

राजा के गुण एवं दोष

धर्मसूत्रों ने गुणवान् राजा की ही प्रशंसा की है और उसके चरित्र पर बल दिया है। राजा के गुणों एवं योग्यताओं का निर्देश करते हुए गौतम ने कहा है- 'राजा शास्त्रानुकूल आचरण करने वाला तथा सत्य एवं निष्पक्ष वचन बोलने वाला होना

१- द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः। तयोश्चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्यान्तः संज्ञां चलनपतनसर्पणानामायत्तं जीवनम्।- गौ १।८।१-२
विज्ञायते। ब्रह्मपुरोहितं राष्ट्रमृध्नोतीति।- व १९।४

२- राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्।- गौ २।२।१

३- तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः। तेऽप्येनं मन्येरन्।- गौ २।२।७-८

चाहिए।[1] वह तीन वेदों का तथा आन्विक्षिकी का विद्वान् होना चाहिए। इन विद्याओं में उसे नियमपूर्वक गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[2] उच्चकोटि का चरित्र राजा के लिए एक अनिवार्य योग्यता है, अतएव गौतम ने निर्देश दिया है कि राजा मन से तथा शरीर से सदैव पवित्र रहे। वह जितेन्द्रिय एवं गुणी हो तथा उत्तम आचरण वाले सहायकों से युक्त एवं साम, दान आदि उपायों से सम्पन्न हो।[3] न्याय करते समय प्रजा के प्रति निष्पक्षता राजा का एक श्रेष्ठ गुण है। उसे यत्नपूर्वक सदैव प्रजा के हित में संलग्न रहना चाहिए।[4] आपस्तम्ब राजा के लिए विलासिता का वर्जन करने का विधान करते हैं। उनका कथन है कि राजा के लिए यह उचित है कि भोजन, वस्त्र आदि की दृष्टि से अपने गुरुओं एवं मन्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुख-सुविधापूर्ण जीवन न व्यतीत करे।[5] आपस्तम्ब ने ही उत्तम एवं धर्मानुकूल आचरण करने वाले राजा को मधुपर्क का अधिकारी माना है।[6] कर्त्तव्यशील राजा ही दोनो लोकों को प्राप्त करता है।[7] राजा को व्यसनरत नहीं होना चाहिए। उसे मृगया, जुआ, स्त्रियों एवं सुरापान में रुचि नहीं रखनी चाहिए।[8] उसे लोकव्यवहार में भी कुशल होना चाहिए और किसी से वार्त्तालाप करने से पहले मुसकराने का अभ्यास करना चाहिए। उसे वध्य व्यक्ति के प्रति भी रोष व्यक्त नहीं करना चाहिए।[9] उसे सुन्दर स्वरूप बनाये रखना चाहिए।[10]

१- साधुकारी साधुवादी।- गौ २।२।२
२- त्रय्यामान्वीक्षिक्यां वाऽभिनीतः।- गौ २।२।३
'अभिविनीतः गुरुभिः सम्यक् शिक्षितः।' - वृत्तिकार हरदत्त।
३- शुचिर्जितेन्द्रियो गुणवत्सहायोपायसम्पन्नः।- गौ २।२।४
४- समः पजासु स्यात् हितमासां कुर्वीत।- गौ २।२।५,६
५- गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत्।- आप २।२५।१०
६- आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा च धर्मयुक्तः।- आप २।८।६
धर्मयुक्त इति राज्ञो विशेषणम्।- वृत्तिकार हरदत्त।
७- एवंवृत्तो राजोभौ लोकावभिजयति।- आप २।११।४
८- मृगयाक्षस्त्रीपानाभिरतिं परिहरेत्।- वि ३।५०
९- स्मितपूर्वभाषी स्यात्। वध्येष्वपि न भ्रूकुटीमाचरेत्।- वि ३।८९,९०
१०- सुदर्शनश्च स्यात्।- वि ३।८६

राजा के कर्त्तव्य

राजा के कर्त्तव्य बहुविध हैं। उसके पद और जीवन का प्रमुख लक्ष्य है धर्म का पालन कराना। इस प्रकार राजा धर्म के आचरण की दृष्टि से उसका साधन या निमित्त है। उसका व्यक्तित्व सहज ही धर्म का अभिन्न अङ्ग बन जाता है। इसी कारण उसे एक दैवी स्वरूप प्रदान किया गया है। धर्म अथवा मनुष्यों के लिए विहित नैतिक आचारनियम यदि व्यवहार में न लाये जायें तो उनका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। व्यवहार में ही उन नियमों की सार्थकता है और राजा ही इस व्यवहार का प्रेरक एवं नियन्त्रक माना गया है। राजा के धर्म एवं कर्त्तव्यों के अन्तर्गत उस पर जो विविध प्रकार के दायित्व होते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं -

(१) सभी प्रकार के वर्णाश्रमधर्म की रक्षा।
(२) प्रजा और राज्य की बाह्य आक्रमणों एवम् आन्तरिक आपत्तियों से रक्षा।
(३) प्रजाहित के लिए प्रशासन का कार्य।
(४) अपराधों को रोकना एवं दण्ड देना।
(५) आर्थिक व्यवस्था अर्थात् प्रजा की सम्पत्ति की सुरक्षा एवं करग्रहण।
(६) सांस्कृतिक कर्त्तव्य- प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति के कार्यों को प्रोत्साहन देना।

राजा के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए ही गौतम ने कहा है: 'दण्ड और उपदेश द्वारा उचित कर्मों को कराकर, वृष्टि द्वारा तथा रोग आदि उपद्रवों की शान्ति द्वारा प्रजा की सभी प्रकार से अभिवृद्धि करना, चोरों आदि को दण्ड देकर राज्य के नागरिकों की रक्षा करना, वर्णसंकर की प्रवृत्ति को रोकना तथा विहित कर्मों की प्रेरणा देकर एवं निषिद्ध कर्मों से विरत करते हुए धर्म का पालन कराना राजा और बहुश्रुत ब्राह्मण के ही अधीन होता है।'[1]

राजधर्म के प्रसंग में गौतम ने स्पष्टतः कहा है कि यत्नपूर्वक प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है।[2] वह ब्राह्मण आदि वर्णों एवं ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों की शास्त्र के अनुसार रक्षा करे, जिससे वे अपने धर्म का निर्बाध पालन कर सकें और जो

१- प्रसूतीरक्षणमसंकरो धर्मः।-गौ १।८।३ तथा उस पर हरदत्त का भाष्य।
२- हितमासां कुर्वीत।- गौ २।२।६

अपने धर्म से भ्रष्ट हो रहे हों उनका निग्रह कर उन्हें पुनः वर्णाश्रमधर्म में स्थापित करे।[१] अभिषिक्त राजा के वर्णधर्म के अन्तर्गत सभी प्राणियों की रक्षा के कार्य को विशेष कार्य बताया गया है।[२] बौधायन के शब्दों में भी 'ब्रह्मा ने क्षत्रिय में बल का आधान किया और राज्य की वृद्धि के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ करने और दान देने के अतिरिक्त प्राणियों तथा धन की रक्षा को उनका विशेष कर्त्तव्य विहित किया।'[३] वसिष्ठ के अनुसार भी प्राणियों की रक्षा राजा का स्वधर्म है और इस धर्म के पालन से ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है।[४] राजा के प्रधान धार्मिक कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए वसिष्ठ ने ही आगे कहा हैः 'राजा देश, धर्म, जाति तथा कुल के धर्मों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चारो वर्णों को अपने-अपने धर्म में स्थापित करे और यदि वे अपने धर्म से विचलित होते हैं तो उन्हें दण्ड दे।[५] राजधर्म के प्रकरण में ही विष्णुधर्मसूत्र में प्रजापरिपालन तथा वर्णों एवम् आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थापित करना राजा का कर्त्तव्य बताया गया है।[६]

राज्य की रक्षा के लिए राजा को बाह्य आपत्तियों से सावधान रहना होता था। उसे दूसरे विजयेच्छु राजाओं के आक्रमणों का सामना करना पड़ता था। अतएव धर्मसूत्रों में शत्रु पर विजय प्राप्त करना राजा का एक अतिरिक्त एवं विशिष्ट कर्त्तव्य माना गया है।[७] अपने प्रभावविस्तार की इच्छा से अन्य राजाओं पर विजय पाने के लिए अथवा आक्रमणकारी शत्रु राजाओं से अपने देश एवं जन की रक्षा करने के लिए राजा को अनिवार्यतः युद्धभूमि में उतरना पड़ता था और इस हेतु प्रचुर उपाय करने होते थे। राजशास्त्रविषयक समस्त ग्रन्थों में राजधर्म के अन्तर्गत शत्रु राजा को अपने अधीन बनाने या पराजित करने के उपायों का वर्णन उपलब्ध होता है। धर्मसूत्रों में भी राजा

१- वर्णानामाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चेतान्स्वधर्मेस्थापयेत्।- गौ २।२।६,१०

२- राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्।- गौ २।१।७

३- क्षत्रे बलमध्ययनयजनदानशस्त्रकोशभूतरक्षणसंयुक्तं क्षत्रस्य वृद्ध्यै।- बौ १।१८।३

४- स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात्सिद्धिः।- व १९।१

५- देशधर्मजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णानस्वधर्मे स्थापयेत्। तेष्वपचरत्सु दण्डं धारयेत्।- व १९।७,८

६- प्रजापरिपालनम्। वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।- वि ३।२।,३

७- योगश्च विजये।- गौ २।१।१३

के इस कठिन पराक्रमपूर्ण कर्म का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। गौतम ने राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा वर्णधर्म के प्रसंग में की है। उनके अनुसार दूसरे शत्रु से भय होने पर राजा को विशेष रूप से सुरक्षा के उपाय करने चाहिए। उसे स्वयं रथादि वाहन पर आरूढ होकर हाथ में धनुष् लेकर रक्षा कार्य के लिए तत्पर रहना चाहिए। उसे प्राणों का मोह त्यागकर युद्धभूमि में सबसे आगे रहना चाहिए, मृत्यु का भय त्यागकर युद्ध करना चाहिए और पलायन नहीं करना चाहिए।[१] बौधायन ने भी युद्ध में पलायन न करना राजा का एक पवित्र कर्त्तव्य बताया है।[२]

विष्णुधर्मसूत्र राजा को अधिक कूटनीतिपूर्ण निर्देश देते हुए कहता है कि शत्रु, मित्र, उदासीन और मध्यम राजाओं के प्रति साम, भेद, दान और दण्ड नाम के उपायों का यथोचित रूप से अवसर के अनुरूप व्यवहार करे। सन्धि, विग्रह, दान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव की नीति अवसर के अनुरूप अपनाये। चैत्र या मार्गशीर्ष मास में शत्रु पर आक्रमण करे अथवा उस स्थिति में आक्रमण करे जब शत्रु विपत्तिग्रस्त होकर दुर्बल हो गया हो।[३] यदि कोई शत्रु आक्रमण करता है तो उस स्थिति में सभी प्रकार से अपने राष्ट्र की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है। युद्ध में शरीर त्याग होने की धर्मसूत्र ने प्रशंसा की है: 'राजा के लिए युद्ध में शरीर त्याग करने के समान कोई धर्म नहीं है। गौ, ब्राह्मण, राजा, मित्र, धन तथा पत्नी की रक्षा में मृत व्यक्ति स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं।[४]

यद्यपि धर्मसूत्रों ने हिंसा का वर्जन किया है, तथापि युद्ध में विपक्षी का वध दोषपूर्ण नहीं माना गया है।[५] प्रजापालन राजा का धर्म है और यह कार्य शस्त्र से ही सम्भव है।[६] बौधायनधर्मसूत्र में एक उद्धरण देकर इस नियम की पुष्टि की गयी है कि

१- भये विशेषेण। चर्या च रथधनुर्भ्याम्। संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च।-गौ १।१८।६

२- संग्रामे न निवर्तेत।- बौ १।१८।६

३- शत्रुमित्रोदासीनमध्यमेषु सामभेददानदण्डान्यथार्हं यथाकालं प्रयुञ्जीत। सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावांश्च यथाकालमाश्रयेत्। चैत्रे मार्गशीर्षे वा यात्रां यायात्। परस्य व्यसने वा।- वि ३।३८-४१

४- परेणाभियुक्तश्च सर्वात्मना स्वं राष्ट्रं गोपायेत्। नास्ति राज्ञां समरे तनुत्यागसदृशो धर्मः। गोब्राह्मणनृपमित्रधनदारजीवितरक्षणार्थे हतास्ते स्वर्गलोकभाजः।- वि ३।४३-४५

५- न दोषो हिंसायामाहवे।- गौ २।१।१७

६- शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेनजीवेत्।-व २।१७

वेदाध्ययन कराने वाले उच्च्व कुल में भी उत्पन्न आततायी का वध करने में कोई दोष नहीं होता। इस प्रकार के आततायी का वध करने में भ्रूणहत्या का पाप नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में क्रोध ही क्रोध के ऊपर परावर्तित होता है।[१] विष्णुधर्मसूत्र में भी राजा को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह दुष्टों का वध करे।[२]

किन्तु युद्धभूमि में भी विपक्षी राजा के ऊपर प्रहार करते समय राजा को कतिपय नैतिक नियमों का पालन करना होता था। ये नैतिक नियम उसके धर्म के अंग हैं। गौतम के अनुसार विना घोड़े वाले, सारथिहीन, अस्त्ररहित, हाथ जोड़कर प्राणों की भिक्षा माँगने वाले, बिखरे हुए केशों वाले, भय से भागने वाले, भागने में असमर्थ होकर बैठे हुए, छिपने का प्रयत्न करते हुए, ऊँचे स्थान या वृक्ष पर चढ़े हुए प्रतिपक्षी को मारना अधर्म है। इसी प्रकार स्वयं को दूत या गौ या ब्राह्मण कहने वाले अवध्य होते हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न प्रकार की चेष्टा करने वाले शत्रु का वध निर्दोष होता है।[३] बौधायनधर्मसूत्र में भी तीक्ष्ण एवं बर्छीदार अस्त्रों से प्रहार का निषेध किया गया है और भीत, सुरापान से मत्त, पागल, चेतनाहीन, कवचादि सुरक्षा के साधन से विवर्जित, स्त्री, बालक, वृद्ध एवं ब्राह्मण के साथ युद्ध वर्जित है, किन्तु आततायी का वध धर्मसम्मत माना गया है।[४] आपस्तम्ब ने राजा को युद्धभूमि में वैसा ही आचरण करने का आदेश दिया है जैसा युद्ध में निष्णात लोग कहते हैं और उन्होंने भी हथियार डाल देने वाले तथा युद्ध क्षेत्र में हाथ जोड़कर दया की भीख माँगने वाले और पलायन करने वाले प्रतिपक्षी का वध निन्दनीय बताया है।[५]

१- अध्यापकं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्।
न तेन भ्रूणहा भवति मन्युस्तु मन्युमृच्छतीति॥ - बौ १।१८।१२

२- दुष्टांश्च हन्यात्।- वि ३।३७

३- अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरुढदूत-गोब्राह्मणवादिभ्यः।- गौ २।१।१८

४- न कर्णिभिर्न दिग्धैः प्रहरेत्। भीतमत्तोन्मत्तप्रमत्तविसन्नाहस्त्रीबालवृद्धब्राह्मणैर्न युध्येताऽन्ययत्राऽऽततायिनः।-बौ १।१८।१०,११

५- युद्धे तद्योगायोपायमुपदिशन्ति तथाप्रतिपत्तव्यम्। न्यस्तायुधप्रकीर्णकेशप्राञ्जलिपराङ्गवृत्तानामार्या वधं परिचक्षते।- आप २।१०।११-१२

विष्णुधर्मसूत्र में युद्धविषयक नैतिकता पर कुछ और प्रकाश पड़ता है। राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि दूसरे देश पर विजय प्राप्त कर वहाँ की धार्मिक परम्पराओं का उन्मूलन न करे।[1] विजित देश का राजकुल यदि निकृष्ट न हो तो उसका उन्मूलन न करे, प्रत्युत उस कुल के ही योग्य उत्तराधिकारी को राजा के पद पर आसीन कराये।[2] ऐसे विजयी राजा को यह भी निर्देश दिया गया है कि वह विजित देश में मृगया, द्यूत, स्त्रियों के साथ कामकेलि तथा मद्यपान आदि व्यसनों में रत न होवे, वाणी और दण्ड की कठोरता का वर्जन करे, वहाँ की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न न करे, शत्रु के नगर में जो प्राचीनद्वार और तोरण आदि सांस्कृतिक महत्त्व के स्मारक हों उन्हें नष्ट न करे।[3] उपर्युक्त नियमों से यह स्पष्ट है कि धर्मसूत्रों की दृष्टि में युद्ध विनाश एवं विध्वंस की विभीषिका से मुक्त होते थे और युद्धों का प्रमुख प्रयोजन शत्रु राजा को पराजित करना होता था, उसके देश या उसकी प्रजा को नष्ट करना नहीं। इस प्रकार युद्ध भी मानवता की भावना से प्रभावित होते थे। धर्मसूत्रों ने जिस प्रकार के युद्ध की कल्पना की है वह वस्तुतः धर्मयुद्ध कहा जा सकता है।

प्रतिपक्षी राजा के विरुद्ध युद्ध करना केवल राजा का ही कर्त्तव्य नहीं था, अपितु उसके अधीन जीविकोपार्जन करने वाले क्षत्रियों का भी यह नैतिक दायित्व था कि वे युद्ध में उसका साथ दें, अश्वारूढ एवं आयुधों के सज्जित होकर युद्ध करें तथा कथमपि पराङ्मुख न हों।[4]

आन्तरिक सुरक्षा

राज्य के भीतर प्रजा को मुख्यतः चोरों से भय होता था। इनसे प्रजा की सम्पत्ति सुरक्षित रखना राजा का धर्म था। आपस्तम्ब ने ऐसे ही राजा को आदर्श माना

१- परदेशावाप्तौ तद्देशधर्मान्नोच्छिन्द्यात्।- वि ३।४२

२- राजा परपुरावाप्तौ तु तत्र तत्कुलीनमभिषिञ्चेत्। न राजकुलमुच्छिन्द्यात्। अन्यत्राकुलीनराजकुलात्।- वि ३।४७-४६

३- मृगयाक्षस्त्रीपानाभिरतिं परिहरेत्। वाक्पारुष्यदण्डपारुष्ये च। नार्थदूषणं कुर्यात्। आद्वाराणि नोच्छिन्द्यात्।- वि ३।५०-५३

४- क्षत्रियश्चेदन्यस्तमुपजीवेत्तद्वृत्त्या।- गौ २।१।१६

है जिसके राज्य में ग्राम अथवा वन में भी चोरों का भय नहीं होता।[1] विशेषतः ब्राह्मण की सम्पत्ति की रक्षा स्वर्गफल देने वाला कर्म माना गया है। एक उद्धरण के अनुसार 'जो राजा ब्राह्मण की सम्पत्ति चुराने वाले चोर से धन छीनकर ब्राह्मण को वापस दिलाने के प्रयत्न में मृत्यु प्राप्त करता है वह एक प्रकार का यज्ञ करता है, जिसमें उसका शरीर ही यूप होता है और असीमित दक्षिणा दी जाती है।[2] आपस्तम्बधर्मसूत्र में चोरों से प्रजा की रक्षा के लिए राजा को निम्नलिखित निर्देश दिया गया है : 'ग्रामों एवं नगरों में रक्षकों के रूप में तीन उच्च वर्णों के, उत्तम आचरण वाले तथा सत्यभाषण करने वाले पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए। उनके सेवकों में भी ये उत्तम गुण होने चाहिए। इस प्रकार नियुक्त रक्षाधिकारी नगर की प्रत्येक दिशा में एक योजन तक चोरों से रक्षा करें और ग्राम में नियुक्त अधिकारी ग्राम के चारो ओर एक क्रोश की सीमा में रक्षा करें। यदि इन सीमाओं के भीतर किसी प्रकार की सम्पत्ति की चोरी होती है तो चोरी गया धन इन रक्षाधिकारियों से वसूल किया जाय।[3] इस प्रकार रक्षाधिकारियों का राज्य की आन्तरिक सुरक्षा में पूर्ण उत्तरदायित्व होता था।

चोरों से रक्षा के लिए धर्मसूत्रों ने छोटी या बड़ी चोरी के रूप में किये गये अपराधों पर कठोर दण्ड की भी व्यवस्था की है, जिन पर हम आगे दण्डव्यवस्था के प्रकरण में विचार करेंगे। विष्णुधर्मसूत्र में भी कहा गया है कि राजा चोर द्वारा चुराया गया सम्पूर्ण धन छीनकर धन के स्वामी को अर्पित करे और यदि चोर न पकड़ा जा सके तो उतना धन अपने कोश से दे।[4] ब्राह्मण के धन की चोरी के लिए धर्मसूत्रों ने अत्यन्त कठोर दण्ड का विधान किया है और उसके साथ ही यह भी कहा है कि यदि राजा चोर के उपस्थित होने पर भी उसे दण्ड नहीं देता तो स्वयं राजा ही पाप का भागी

१- क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करभयं न विद्यते।- आप २।२५।१५

२- ब्राह्मणस्वान्यपजिगीषमाणो राजा यो हन्यते तमाहुरात्मयूपो यज्ञोऽनन्तदक्षिण इति। - आप २।२६।२

३- ग्रामेषु नगरेषु चाऽऽर्याञ्छुचीनसत्यशीलान् प्रजागुप्तये निदध्यात्।तेषां पुरुषास्तथागुणा एव स्युः। सर्वतो योजनं नगरं तस्करेभ्यो रक्ष्यम्। क्रोशो ग्रामेभ्यः। तत्र यन्मुष्यते तैस्तत्प्रतिदाप्यम्।- आप २।२६।४-८

४- चौरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत्। कोशाद्वा दद्यात्।- गौ २।१।४६-४७;

होता है।[1] गौतम ने चोर को दण्ड न देने पर राजा के लिए प्रायश्चित्त भी निर्धारित किया है।[2] चोरी को समाप्त करने के लिए यह भी आवश्यक माना गया हे कि चोर को सहायता एवम् आश्रय देने वाले को तथा जानबूझकर चोरी की वस्तु ग्रहण करने वाले को भी दण्ड दिया जाय और गौतम ने चोर के सहायकों को भी चोर के समान ही अपराधी माना है।[3]

व्यक्तियों के जीवन की रक्षा भी राजा का प्रमुख कर्त्तव्य होता था। अतएव मनुष्यों के वध को रोकने के लिए धर्मसूत्रों ने कठोर दण्ड की व्यवस्था की है।[4] आततायी चाहें किसी भी स्थिति में क्यों न हो उसका वध निर्दोष है।[5] व्यक्तियों की शारीरिक रक्षा ही नहीं, अपितु उनके सम्मान की रक्षा के प्रति भी राजा को सचेष्ट होना पड़ता था। समाज के विभिन्न वर्गों की मर्यादा बनाये रखने के लिए राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह एक व्यक्ति द्वारा दूसरे का अपमान न होने दे। ब्राह्मण के सम्मान का विशेष ध्यान रखना होता था और यदि कोई शूद्र द्विजातियों के बराबर आसन, शयन या वार्तालाप एवं मार्ग में समानता प्राप्त करने का यत्न करता तो वह दण्ड्य होता था। यदि एक वर्ण का व्यक्ति अपने से उच्च्व वर्ण के व्यक्ति को कठोर वचनों से अपमानित करता था तो वह भी दण्ड्य होता था।[6]

स्त्रियों की सम्मानरक्षा का विशेष दायित्व राजा पर होता था। वर्णसंकर

चौरहृतं धनमवाप्य सर्वमेव सर्ववर्णेभ्यो दद्यात्।अनवाप्य च स्वकोशादेव दद्यात्।- वि३।६६

१- बौ २।१।१६ अशासनात्तु तद्राजा स्तेनादाप्नोति किल्बिषमिति। यह बौधायन द्वारा दिया गया उद्धरण है। गौ ध सू २।३।४२ अघ्नन्नेनस्वी राजा।

२- अप्रवृत्तौ प्रायश्चित्ती सः। - गौ ध सू २।३।४५

३- चोरसमः सचिवो मतिपूर्वे। प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते।- गौ २।३।४६-४७

४- बौ १।१८।१९-२० तथा १।१६। १-७, आप २।२७।१६

५- नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥- वि ५।१६० द्र० बौ १।१८।११

६- आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः। शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे। अध्यर्धं वैश्यः। ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पञ्चाशत्। तदर्धं वैश्ये। न शूद्रे किञ्चित्। ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्यौ।
- गौ २।३।५-११ द्र० आप २।२७।१५-१६ वाचि पथि शय्यायामासन इति समो भवतो दण्डताडनम् । पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्वान्यादाय वध्यः।

सन्तानों की उत्पत्ति रोकना उसका प्राथमिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य था। इसके पालन के लिए प्राण दे देने पर भी उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है ऐसा कहकर धर्मसूत्रों ने इस कर्त्तव्य के महत्त्व को ख्यापित किया है।[१] प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने स्त्री-पुरुष के नियमविरुद्ध यौनसम्बन्धों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। विशेषतः शूद्र के लिए अधिक कठोर दण्ड विहित है।। यदि वह उच्च वर्ण की स्त्रियों से सम्पर्क स्थापित करता है तो गौतम ने उसकी जननेन्द्रिय कटवा देने एवं सर्वस्वहरण कर लेने का आदेश दिया है।[२] बौधायन ने इस स्थिति में शूद्र को जलाकर मार डालने के पक्ष में नियम दिया है।[३] उच्च वर्ण के पुरुष यदि शूद्रा स्त्री से सम्बन्ध करें तो वे आपस्तम्ब के मतानुसार निष्कासन के योग्य होते हैं।[४]

मनुष्यों के जीवन एवं सम्मान की रक्षा के अतिरिक्त राजा अपने राज्यान्तर्गत पशुओं की भी रक्षा का ध्यान रखता था।[५] गो की रक्षा का विशेष महत्त्व बताया गया है और इस कार्य हेतु वर्णधर्म की अस्तव्यस्तता भी धर्मसूत्रकार को सह्य है।[६] पशुओं की रक्षा के प्रति असावधान पशुपालक भी दण्ड्य बताया गया है।[७] बौधायन ने पशुपक्षियों के वध के लिए विस्तार के साथ दण्ड बताये है।।[८] पशुओं की रक्षा के समान ही कृषि और वृक्षों की रक्षा भी राजा के कर्त्तव्यों में सम्मिलित किया गया है। गौतम ने पशुओं द्वारा कृषि को हानि पहुँचाने पर विविध प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की है।[९]

१- प्रसूतीरक्षणमसंकरो धर्मः।- गौ १।८।३

२- सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमा धनात्।- बौ २।४।२

३- शूद्र कटाग्निना दहेत्।- बौ २।३।५३

४- आप २।२६।१८-२१ तथा २।२७।८

५- आप २।२८।८,९ अनृते राजा दण्डं प्रपायेत। नरकश्चाऽत्राधिकः साम्पराये।

६- गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वाऽपि संकरे।
गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया ॥- बौ २।४।१८

७- वि ५।१३७-१३८ दिवा पशूनां वृकाद्युपघाते पाले त्वनायति पालदोषः। विनष्टपशुमूल्यं च स्वामिने दद्यात्।

८- बौ १।१९।३, ५,६,८ ९- वि ५।१४०-१४६, आप २।२८।१-११
द्र० गौ २।३।१६-२३ पशुपीडिते स्वामिदोषः। पासंयुक्ते तु तस्मिन्। पथि क्षेत्रेऽनावृते पाल-क्षेत्रिकयोः। पञ्च माषा गवि। षडुष्ट्रखरे। अश्वमहिष्योर्दश। अजाविषु द्वौ द्वौ। सर्वनाशे शदः।-

इस प्रकार धर्मसूत्रों की दृष्टि में राजा का एक प्रमुख कर्त्तव्य राज्य में सभी प्रकार से आन्तरिक शान्ति बनाये रखना है। सभी व्यक्तियों की जीवन, सम्पत्ति, सम्मान एवं कृषि की रक्षा करने के साथ-साथ सामाजिक आचारों, परम्पराओं तथा वर्ण एवम् आश्रमसम्बन्धी व्यवस्थाओं को निर्विघ्न बनाये रखने पर ही राज्य में शान्ति हो सकती थी और धर्मकार्यों की वृद्धि सम्भव थी। गौतम ने तो राज्य में शान्ति एवं समृद्धि बनाये रखने के लिए राजा को अनेक प्रकार के आभिचारिक कर्मों का आश्रय लेने की सलाह दी है। वे कहते हैं : 'राजा शालाग्नि में दैवी उत्पातों का शमन करने के लिए ग्रहों की शान्ति, अशुभ दिन के दोष, विवाह आदि में किये जाने वाले पुण्याह कर्म, यात्रा के आरम्भ में किया जाने वाला स्वस्त्ययन, आयु की प्राप्ति के लिए आयुष्य कर्म, गृहप्रवेश के कर्म, अभ्युदय प्राप्ति तथा शत्रुविनाश एवं शत्रु को वश में करने के लिए की जाने वाली आभिचारिक क्रियाएँ सम्पन्न करे।'[१] राजा ज्योतिषियों और शकुन बताने वालों से भी परामर्श लेता था,[२] जिससे दैवी उत्पातों का पूर्वज्ञान हो सके और प्रजा की रक्षा की जा सके।

शासनव्यवस्था

धर्मसूत्रों द्वारा उपदिष्ट राज्य की शासनव्यवस्था में ब्राह्मण वर्ण की सर्वत्र प्रधानता दिखायी पड़ती है। धर्मसूत्र की शासनव्यवस्था विशुद्ध राजनीतिक नहीं है। वह धार्मिक है। उसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण एवम् आश्रमधर्म में स्थापित कर आचार की ओर उन्मुख करना और सभी की लौकिक समृद्धि तथा शान्ति की रक्षा द्वारा पारलौकिक सुख की ओर प्रेरित करना है। अतएव राजा भी धर्मशास्त्रज्ञों के निर्देशों के अधीन रखा गया है। वह कथमपि निरंकुश नहीं है। यद्यपि वह शासनतन्त्र में कार्यकारिणी का प्रधान है, सर्वोच्च सम्मान का पात्र है तथापि वह न्याय दण्ड एवं कर की व्यवस्था में धर्मशास्त्र पर तथा धर्मशास्त्र की व्याख्या करने वाले विद्वान् ब्राह्मण पर आश्रित है। गौतमधर्मसूत्र में ब्राह्मण की प्रधानता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है : 'ब्राह्मण की प्रेरणा से कर्म करने वाला क्षत्रिय राजा ही समृद्ध होता है, वह दुःखी या

१- गौ २।२।१७

२- तदेव, २।२।१५-१६

त्रस्त नहीं होता, ऐसा परम्परा से हमें ज्ञान है।'[१] क्षत्र अर्थात् राजा से संयुक्त होकर ब्रह्म अर्थात् श्रोत्रिय ब्राह्मण देवों, पितरों और मनुष्यों को धारण करता है, यह प्राचीन ग्रन्थों से ही ज्ञात है।'[२]

पुरोहित

राज्य की शासनव्यवस्था में पुरोहित का परम महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। वह एक प्रकार से मूर्तिमान संविधान का रूप होता था और धार्मिक, राजनीतिक,सामाजिक या आर्थिक विवाद के विषयों में परम विश्वसनीय प्रमाण होता था। राजा सभी प्रकार के विवादों में उसकी राय लेता था और प्रजा की समृद्धि एवं सुखशान्ति के लिए उसके द्वारा बताये गये उपायों को क्रियान्वित करता था। इतना महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करने वाला पुरोहित सभी प्रकार से ज्ञानी, विद्वान्, व्यवहारकुशल एवं सदाचारी और सर्वगुणसम्पन्न होता था। गौतमधर्मसूत्र में राजा को यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि विद्यासम्पन्न श्रेष्ठकुल में उत्पन्न, सुन्दर वाणी और सुन्दर रूप वाले, प्रौढ आयु वाले, चरित्रवान्, लोक के अनुकूल आचरण वाले तथा भोग आदि से विमुख रहने वाले ब्राह्मण को पुरोहित बनावे।[३] उसी के आदेशानुसार श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, नित्य, नैमित्तिक, शान्तिक, पौष्टिक तथा आभिचारिक कर्म करे।[४]

गौतम ने अन्यत्र भी 'द्वौ लोके धृतव्रतो राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः' (अर्थात् राजा और बहुश्रुत ब्राह्मण दोनो ही लोक में व्रतों की रक्षा करते हैं) कहकर विद्वान् ब्राह्मण के महत्त्व का उल्लेख किया है।[५] उन्होंने इन्हीं दोनो के अधीन सभी स्थावर एवं जंगम प्राणियों को माना है।[६] यह बहुश्रुत ब्राह्मण ही राजा का मार्गदर्शक या सहायक

१- ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्त्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते।- गौ २।२।१४

२- ब्रह्मक्षत्त्रेण संयुक्तं देवपितृमनुष्यान्धारयतीति विज्ञायते।- गौ २।२।२७

३- ब्राह्मणं च पुरोदधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयःशीलसम्पन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्।-गौ २।२।१२

४- तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत।- गौ २।२।१३ द्र०हरदत्त की व्याख्या- 'श्रौतस्मार्तादीनि पौराणिकानि नित्यनैमित्तिकानि शान्तिकपौष्टिकान्याभिचारिकाणि कुर्वीत।'

५- गौ १।८।१ द्र०हरदत्त की वृत्ति- 'व्रतानां कर्मणांधारयितारौ तौ सर्वस्य सर्वापदो दण्डोपदेशाभ्यां निवारयितारौ।

६- गौ १।८।२

पुरोहित होता था। यह तथ्य उनकी योग्यताओं से स्पष्ट है। बहुश्रुत ब्राह्मण का लक्षण एवं उसके गुणों का उल्लेख सूत्रकार गौतम ने इन शब्दों में किया है : 'वह लोकव्यवहार, चार वेदों एवं छः वेदाङ्गों का ज्ञाता होता है। वह तर्क, इतिहास और पुराण का विद्वान् होता है। वह लोकव्यवहार एवं वेद के अनुकूल आचरण वाला हो और स्वयं चालीस संस्कारों से संस्कृत हो। वर्णधर्म में विहित यजन, अध्ययन और दान में अथवा इनके साथ याजन, अध्यापन एवं प्रतिग्रह में तत्पर रहने वाला हो। इसके अतिरिक्त वह सामयाचारिक धर्मों में शिक्षित हो।'[1]

राज्यव्यवस्था में पुरोहित के महत्त्वपूर्ण स्थान का निर्देश बौधायनधर्मसूत्र में भी स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि राजा सभी प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न पुरोहित का वरण करे और उसी के आदेशानुसार राज्य कार्य करे।[2] आपस्तम्ब के अनुसार भी राजा अपने पास लाये हुए धर्मोल्लंघन के मामले पुरोहित के पास ही भेजता था और पुरोहित उसके लिए उचित दण्ड या प्रायश्चित्त की व्यवस्था करता था। यह पुरोहित धर्मशास्त्र के साथ-साथ अर्थशास्त्र का भी विद्वान् होता था।[3]

वसिष्ठ ने भी धर्म के विषय में ब्राह्मण को ही प्रधान उपदेष्टा कहा है। वे कहते हैं- 'तीनो वर्ण ब्राह्मण के निर्देश से ही आचरण करें। ब्राह्मण धर्म की व्याख्या करे और उसका उपदेश दे। राजा भी उसी का अनुसरण करे।'[4] इसके अतिरिक्त वसिष्ठ ने पुरोहित की आवश्यकता इसलिए भी बतायी है कि वह स्वयं तो प्राणियों के पालन में लगा हुआ एक प्रकार का सत्र करता है, अतः गार्हस्थ्य कर्मों के सम्पादन के लिए पुरोहित की नियुक्ति अनिवार्य हो जाती है।[5] किन्तु पुरोहित का सम्बन्ध राजकार्य एवं न्यायव्यवस्था से भी था। यह बात उन स्थलों पर स्पष्ट हो जाती है जहाँ कहा गया है कि दण्ड्य व्यक्ति को छोड़ देने पर राजा एक रात्रि उपवास करे तथा पुरोहित तीन

१- गौ १।८।५-११ ; चालीस संस्कारों का उल्लेख गौ १।८।१४ में हुआ है।

२- सर्वतो धुरं पुरोहितं वृणुयात्। तस्य शासने वर्तेत।- बौ १।१८।७,८

३- गौ १।८।२

४- त्रयो वर्णा ब्राह्मणस्य निर्देशेन वर्तरन्। ब्राह्मणोधर्मान्प्रब्रूयात्। राजा चानुशिष्यवत्। - व १।३९-४१

५- तस्माद्गार्हस्थ्यनैयमिकेषु पुरोहितं दध्यात्।- व १९।३

रात्रि उपवास करे और अदण्ड्य व्यक्ति को दण्ड देने पर पुरोहित कृच्छ्र व्रत करे तथा राजा तीन रात्रि उपवास करे।[1] स्पष्टतः दण्डविषयक निर्णय में पुरोहित का उत्तरदायित्व अधिक होता था। पुरोहित की शास्त्रज्ञता का उल्लेख विष्णुधर्मसूत्र में भी किया गया है।[2] किन्तु इस धर्मसूत्र के समय तक शासनव्यवस्था अधिक जटिल प्रतीत होती है। राजा के प्रत्येक प्रकार के कार्यों के अलग-अलग सहायक हो गये थे और पुरोहित सम्भवतः राजा के धार्मिक कर्त्तव्यों के अनुष्ठान से ही संबद्ध था।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित की सहायता के लिए विशिष्ट ब्राह्मणों की एक समिति अवश्य रही होगी जो पुरोहित की अध्यक्षता में कार्य करती होगी। पुरोहित के निर्देशानुसार ये ब्राह्मण विभिन्न कर्त्तव्यों को पूरा करते होंगे। विष्णुधर्मसूत्र में राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह स्वयं व्यवहार देखे और विद्वान् ब्राह्मणों का सहयोग ले।[3] गौतम ने भी कहा है कि यदि राजा के लिए कोई निर्णय करना कठिन हो तो वह तीन विद्याओं में निष्णात ब्राह्मणों से परामर्श ले।[4] ऐसे ब्राह्मणों के अन्तर्गत राजज्योतिषी भी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था जिससे राजा प्रत्येक कार्य के शुभाशुभ के विषय में परामर्श करता था। गौतम का कथन है कि ज्योतिषी और शकुन बताने वाले जो कुछ कहें उसका राजा आदर करे, क्योंकि योग एवं क्षेम उन्हीं के अधीन माने गये हैं।[5] विष्णुधर्मसूत्र में भी यह स्पष्टतः कहा गया है कि राजा सभी कार्यों में ज्योतिषियों के अधीन हो।[6]

राजा के अधीन मन्त्रिपरिषद् होती थी, जिसके सदस्य विभिन्न प्रकार की व्यवस्था के उत्तरदायी होते थे। ये ही सभासद् भी होते थे। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार ये सभासद् उत्तम कुल में उत्पन्न, प्रशस्त कर्मों में रत तथा सदाचारी होने चाहिए और

१- व १६।४०-४३
२- वेदेतिहासधर्मशास्त्रार्थकुशलं कुलीनमव्यग्रं पुरोहितं च वरयेत्।- वि ३।७०
३- स्वयमेवव्यवहारान्पश्येद् विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सार्धम्।- वि ३।७२
४- विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत्।-गौ २।२।२५
५- यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत। तदधीनमपि ह्येके योगक्षेम प्रतिजानते। - गौ २।२।१५-१६
६- राजा च सर्वकार्येषु सांवत्सराधीनः स्यात्।- वि ३।७५

उनका स्वभाव ऐसा होना चाहिए कि शत्रु और मित्र के प्रति समान हों और काम, क्रोध, लोभ, भय आदि से प्रभावित होने वाले न हों।[1] विष्णुधर्मसूत्र के काल में शासनव्यवस्था के लिए स्थानीय शासन की ईकाइयाँ थीं, जिनमें सबसे निम्न स्तर पर ग्रामाध्यक्ष होता था। यह एक ग्राम के दोषों को दूर करता था, असमर्थ होने पर ग्रामाध्यक्ष देशाध्यक्ष से उनके परीहार के लिए निवेदन करता था। दशाध्यक्ष के ऊपर शताध्यक्ष का पद होता था और शताध्यक्ष के ऊपर देशाध्यक्ष होता था।[२] खानों एवं उद्योगों के निरीक्षण, कर के संग्रहण, नौकाओं की व्यवस्था, हाथियों एवं वनों की देखरेख के लिए भी विविध अधिकारी होते थे। धार्मिक कार्यों के संचालन के लिए धर्माध्यक्ष जैसे अधिकारी थे। सुवर्ण आदि की परीक्षा एवं अर्थव्यवस्था के लिए निपुण कर्मचारी नियुक्त किये जाने का भी निर्देश है। स्वभावतः साहसी एवं वीर पुरुषों को युद्ध के कार्य में सैनिकों के रूप में, देखने में उग्र स्वरूप तथा प्रवृत्ति वालों को वन आदि के उग्र कर्मों में तथा नपुंसकों को अन्तःपुर की स्त्रियों की रक्षा के कार्य में नियुक्त करने की व्यवस्था परम्परा से धर्मसूत्रकाल में भी प्रचलित थी।[३]

आन्तरिक सुरक्षा के लिए भी धर्मसूत्रकाल में अनेक रक्षाधिकारी होते थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। ये रक्षाधिकारी चोरों से ग्राम की सम्पत्ति सुरक्षित रखने की चेष्टा करते थे और चोरी होने पर उसका पता लगाने एवं चुरायी गयी सम्पत्ति को दिलाने के लिए उत्तरदायी होते थे।

शासनव्यवस्था एवं बाह्य शत्रुओं से सुरक्षा की दृष्टि से गुप्तचर भी एक महत्त्वपूर्ण राजपुरुष माना गया है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार राजा इनकी नियुक्ति अपने और शत्रु के राष्ट्र में भी करता था और गुप्तचरों के माध्यम से आन्तरिक एवं बाह्य स्थितियों का ज्ञान प्राप्त करता था।[५]

१- जन्मकर्मव्रतोपेताश्च राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः कामक्रोधभयलोभादिभिः कार्यार्थिभिरनाहार्याः।- वि ३।७४

२- वि ३।७-१५

३- आकरशुल्कतर-नाग-वनेष्वाप्तान्नियुञ्जीत। धर्मिष्ठान्धर्मकार्येषु। निपुणानर्थकार्येषु। शूरान् संग्रामकर्मसु। उग्रानुग्रेषु। षण्ढान्स्त्रीषु। - वि ३।१६-२१

४- आप २।२६।४-८

५- स्वराष्ट्रपरराष्ट्रयोश्च चारचक्षुः स्यात्।- वि ३।३५

न्यायव्यवस्था

धर्मसूत्रों में विवेचित राजधर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य न्यायव्यवस्था है। यही वह विषय है जिसके माध्यम से राजनीति धर्म के क्षेत्र में प्रवेश करती है। न्याय राजधर्म का इतना महत्त्वपूर्ण अङ्ग है कि यह धर्म का पर्यायवाची शब्द-सा बन गया है। व्यक्तियों के व्यवहार एवम् आचरण में उचित एवम् अनुचित का निश्चय करना, उनके उचित आचरण को समर्थन एवं संरक्षण देना तथा अनुचित आचरण को रोकना, उससे विरत करने के लिए दण्ड की व्यवस्था करना- यही धर्म का भी लक्ष्य है और यही न्यायव्यवस्था का भी साध्य है। न्यायव्ययवस्था के परम महत्त्व के कारण ही सभी धर्मसूत्रों ने इस विषय में स्पष्ट निर्देश दिये हैं कि न्याय करने का अधिकारी कौन हो सकता है, न्याय करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, साक्षी कौन हो सकते हैं तथा किस अपराध में किस प्रकार का एवं कितना दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार धर्मसूत्रों की न्यायव्यवस्था का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों में कर सकते हैं-

(क) व्यवहार की विधि एवं न्यायकर्त्ता।

(ख) न्याय का आधार एवं विचारणीय तथ्य।

(ग) साक्षी तथा प्रमाण।

(घ) दिव्य-विधि।

(ङ) दण्ड-विधान : विविध अपराधों के दण्ड।

व्यवहार-विधि

न्यायव्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही होता था। न्यायपूर्वक दण्ड देना उसका प्रधान कर्त्तव्य था।[१] गौतमधर्मसूत्र इस सन्दर्भ में निर्देश देता है कि न्याय करते समय राजा सम्पूर्ण प्रजा के प्रति निष्पक्ष होकर समान भाव रखे।[२] यदि राजा के लिए स्वयं कोई निर्णय करना कठिन हो तो वह त्रयी विद्या में निष्णात विद्वानों से परामर्श लेकर निर्णय करे।[३] गौतम के इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजा

१- न्याय्यदण्डत्वम्।- गौ २।१।८

२- समः प्रजासु स्यात्।- गौ २।२।५

३- विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्ययवहृत्य निष्ठां गमयेत्।- गौ २।२।२५

को न्यायविधि में सहायता देने के लिए विद्वान् न्यायधीशों का एक वर्ग भी होता था। अन्यत्र भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि 'राजा स्वयं ही न्याय करे अथवा किसी शास्त्रज्ञ ब्राह्मण को न्यायकर्त्ता के रूप में नियुक्त करे।'[1] आपस्तम्ब ने न्यायकर्त्ता ब्राह्मणों के विषय में यह विशेष रूप से उल्लेख किया है कि वे विद्यासम्पन्न, कुलीन, वृद्ध, बुद्धिमान् तथा धर्मपालन में सतत जागरूक पुरुष हों।[2] वसिष्ठ ने व्यवहार के प्रसंग में राजा या मन्त्री को अधिकारी बताया है और यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि उन्हें पक्षपात नहीं करना चाहिए।[3] विष्णुधर्मसूत्र का भी यही कथन है कि राजा स्वयं ही व्यवहारों को देखे और अपनी सहायता के लिए विद्वान् ब्राह्मणों को साथ रखे, अथवा व्यवहारों का निर्णय करने के लिए योग्य ब्राह्मण को नियुक्त करे।[4]

यद्यपि धर्मसूत्रों में व्यवहार की कार्यप्रणाली का विस्तृत एवं क्रमबद्ध वर्णन नहीं है तथापि उनमें दिये गये नियमों से यह सरलतापूर्वक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक निश्चित कार्यप्रणाली विद्यमान थी। उनमें साक्षी और लिखित प्रमाणों को जितना महत्त्व दिया गया है उससे स्पष्ट है कि व्यवहार का निर्णय कई दिनों में होता था। साक्षियों को न्यायकर्त्ता के समक्ष उपस्थित करने तथा लिखित प्रमाणों को एकत्र करने के लिए वादी-प्रतिवादी को समय दिया जाता होगा और कुछ दिनों के अन्तराल पर व्यवहार पर निश्चित तिथियों को विचार किया जाता होगा। यह तथ्य इससे भी प्रमाणित है कि गौतम ने स्पष्ट कहा है कि गाय, बैल, स्त्री और विवाह से संबद्ध विषयों का निर्णय शीघ्र करना चाहिए। इसी प्रकार जिन विषयों में निर्णय में विलम्ब होने से हानि की सम्भावना हो उनका निर्णय शीघ्र करना चाहिए।[5] व्यवहार के सन्दर्भ में साक्षियों से पूछने के लिए एक वर्ष की अवधि उचित मानी गयी है। गौतम की ही उक्ति है कि अभियुक्त या साक्षी के उत्तर न देने पर एक वर्ष तक उनके उत्तर की प्रतीक्षा

१- राजा प्राड्विपाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित्।- गौ २।४।२६

२- विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना वृद्धा मेधाविनो धर्मेष्वविनिपातिनः।- आप २।२९।५

३- राजा मन्त्री वा सदः कार्याणि कुर्यात्। द्वयोर्विवदमानयोः पक्षान्तरं न गच्छेत्।- व १६।२-३

४- स्वयमेव व्यवहारान्पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सार्धम्। व्यवहारदर्शने ब्राह्मणं वा नियुञ्ज्यात्। - वि ३।७२-७३

५- धेन्वनडुत्स्त्रीप्रजननसंयुक्ते च शीघ्रम्। आत्यायिके च।- गौ २।४।२९-३०

करनी चाहिए।[१]

व्यवहार की कार्यविधि अभ्यर्थी की प्रार्थना के बाद आरम्भ होती थी। अभ्यर्थी स्वयं राजा के निकट जाता था।[२] उसके बाद साक्षियों एवं प्रमाणों को उपस्थित करने के आदेश होते थे और अभ्यर्थी तथा अभियुक्त को अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था। साक्षी की योग्यता पर विचार करने के बाद ही उन्हें साक्ष्य के लिए बुलाया जाता था और इन साक्षियों के नाम लिखे जाते थे।[३] साक्षी को शपथ दिलायी जाती थी और तब जिससे न्यायकर्त्ता प्रश्न करता था वही बोलता था।[४] व्यवहार की निश्चित प्रक्रिया को न अपनाकर स्वच्छन्दतापूर्वक निर्णय करने को धर्मसूत्र दोषयुक्त मानता है और बौधायन ने स्पष्टतः यह उल्लेख किया है कि इस प्रकार निर्णय करने वाला राजा नरक में गिरता है।[५] आगे साक्षी के सन्दर्भ में विचार करते समय धर्मसूत्रों द्वारा विहित व्यवहार विधि के अन्य पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जायगा, यहाँ यह विचारणीय है कि धर्मसूत्रों द्वारा निर्दिष्ट न्यायव्यवस्था के आधार क्या थे और यह न्यायव्यवस्था किन बातों से प्रभावित थी।

न्याय का आधार

न्याय कार्य में राजा या न्यायकर्त्ता के लिए व्यवहार के साधन वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग, उपवेद और पुराण माने गये हैं।[६] इनके अतिरिक्त शास्त्रविहित नियमों का विरोध न करले वाले किसी देश या स्थान से संबद्ध धार्मिक आचार अथवा जाति एवं कुल की परम्पराओं को भी धर्मससूत्रों की न्यायव्यवस्था में महत्त्व दिया गया है और गौतम ने इन सभी प्रकार के नियमों को प्रमाण माना है।[७] यही नहीं, अपने-अपने वर्ग

१- संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिमायाम्।-गौ २।४।२८
२- प्राड्विवाकमध्याभवेत्।- गौ २।४।२७
३- अनिबद्धैरपि वक्तव्यम्।- गौ २।४।८
४- नासमवेतापृष्टाः प्रब्रूयुः। शपथेनैके सत्यकर्म।- गौ २।४।५ द्र० बौ १।१६।११
५- अतोऽन्यथा कर्तपत्यम्।- बौ १।१६।१८
६- तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्।- गौ २।२।१६
७- देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।- गौ २।२।२०

के व्यवहार में कृषक, व्यापारी, गोपालक, महाजन और शिल्पी भी प्रमाण हैं।[१] अतएव राजा के लिए यह आवश्यक था कि इन विभिन्न वर्गों में व्यवस्था रखने वालों से उनके विशिष्ट नियमों का ज्ञान प्राप्त करे तथा उनका ध्यान रखते हुए निर्णय करे।[२] गौतम ने न्याययुक्त अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तर्क को भी एक उपाय माना है। तर्क द्वारा विचार कर निर्णय करना ही संगत समझा गया है।[३] इन सभी उपायों से भी जब निर्णय करना कठिन होता था तब राजा तीन विद्याओं के विद्वानों का परामर्श लेता था। ऐसा करने से उसे कोई दोष नही माना जाता था और वह दोनो लोकों में कल्याण का भागी होता था।[४]

धर्मसूत्रों की न्यायव्यवस्था का भी प्रमुख तथ्य वर्ण और आश्रमों के धर्म की रक्षा करना था। विवादों का निर्णय इस दृष्टि से करने का प्रयत्न किया जाता था कि राज्य में अधर्म अथवा पाप की वृद्धि न हो। इस निर्णय के पीछे भी कर्म का सिद्धान्त क्रियाशील था। गौतम ने न्याय के ही प्रसङ्ग में कहा है कि ब्राह्मणादि वर्णों एवं ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के लोग अपने-अपने धर्म में रत रहने पर मृत्यु के बाद अपने कर्मों का फल भोगते हैं और अवशिष्ट कर्मों के फल के रूप में विशिष्ट देश, जाति, कुल, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख एवं बुद्धि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। इसके विपरीत आचरण वाले नष्ट हो जाते है। ऐसे विपरीत आचरण करने वालों को आचार्यों के उपदेश एवं राजा का दण्ड मार्ग पर ले आते है।[५] इस प्रकार राजा और आचार्य की धर्मनियमन में प्रमुख भूमिका होती है और उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६]

धर्मसूत्रों के अनुसार न्याय करना धर्म का एक महान् एवं दुष्कर कार्य है।

१- कर्षवणिक्पशुपालाकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे।- गौ २।२।२१

२- तेभ्यो यथाधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था।- गौ २।२।२२

३- न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्यययुपायः। तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत्।- गौ २।२।२३-२४

४- गौ २।२।२५-२६ द्र० इस ग्रन्थ का पृ० ३८२ टि०३

५- वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते। विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति तानाचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते।- गौ २।२।२६-३१

६- तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ।- गौ २।२।३२

बौधायनधर्मसूत्र के शब्दों में अनुचित निर्णय करने पर अधर्म का एक चौथाई अपराधी को, एक चौथाई साक्षियों को, एक चौथाई निर्णायकों को और एक चौथाई राजा को प्राप्त होता है। किन्तु जब निन्दा करने योग्य अपराधी की निन्दा होती है या उसे दण्ड दिया जाता है तब राजा पापरहित हो जाता है, सभासद् दोषमुक्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण पाप अपराधी पर पड़ता है।[१] अनुचित निर्णय करने की स्थिति में राजा के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान किया गया है।[२]

धर्मसूत्रों में विवेचित दण्डविधि का, जिसका अनुशीलन यहाँ आगे किया जायगा, अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि व्यक्ति का वर्ण एवं सामाजिक स्थान न्यायव्यवस्था को प्रभावित करते थे। अभियुक्त के वर्ण का विचार किया जाता था। वर्णव्यवस्था एवं सामाजिक मर्यादा की रक्षा, स्त्री-पुरुषों के धर्मानुकूल सम्बन्धों की रक्षा और अनुचित सम्बन्धों का वारण करना, प्राणियों की हिंसा का निषेध तथा व्यक्तियों एवं परिवारों की सम्पत्ति का अपहरण या अनधिकारपूर्ण उपभोग रोकना -- इन्हीं लक्ष्यों से धर्मसूत्रों की न्यायव्यवस्था प्रेरित है।

साक्षी तथा प्रमाण

न्यायव्यवहार में साक्षी और लिखित प्रमाणों का परम महत्त्व है। सभी धर्मसूत्रों ने साक्षियों के विषय में स्पष्ट नियमों का विधान किया है। इससे यह प्रमाणित है कि धर्मसूत्रों ने न्याय की प्रतिष्ठा पर बल दिया है और इस तथ्य का ध्यान रखा है कि किसी प्रकार व्यवहार में अन्याय न हो। न्याय करने के लिए किसी विवाद में साक्षियों से पूछताछ करना न्याकर्त्ता के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। इसी कारण गौतम ने यह निर्देश दिया है कि विवाद के जटिल होने पर साक्षियों की सहायता से सत्य का निर्धारण करना चाहिए।[३]

१- पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादो गच्छति साक्षिणम्।
पादस्सभासदस्सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥
राजा भवत्यनेनाश्च मुच्यते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं यत्र निन्द्यो ह निन्द्यते ॥- बौ १।१९।१०

२- बौ १।१९।१९ द्वादशरात्रं तप्तं पयः पिबन् कूष्माणैर्वा जुहुयात्।

३- विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था।- गौ २।१।४

साक्षी की अर्हता

साक्षियों की अर्हता का उल्लेख सभी धर्मसूत्रों ने किया है। इस प्रसंग में साक्षियों के उत्तम आचरण तथा वर्णाश्रमधर्म में निष्ठा पर भी बल दिया गया है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार 'अपने कर्म में प्रतिष्ठित, राजा के प्रति भक्तिसम्पन्न, पक्षपात और द्वेष की भावना से सर्वथा मुक्त साक्षी होने चाहिए और इनकी संख्या अधिक होनी चाहिए।[1] गुणवान् द्विजाति वर्ण के साक्षियों के उपलब्ध न होने पर उपर्युक्त गुणों से युक्त शूद्र भी साक्षी हो सकते थे । कोई ब्राह्मणेतर व्यक्ति किसी ब्राह्मण वर्ण के पुरुष को साक्षी के रूप में बुलवाने के लिए नहीं कह सकता था, किन्तु यदि किसी ब्राह्मण का पहले से ही साक्षी के रूप में नाम लिखा गया हो तो वह अब्राह्मण के विवाद में भी साक्ष्य के लिए बुलाया जा सकता था।[2] इससे स्पष्ट है कि साक्षी के श्रेष्ठ वर्ण के प्रति न्याय के प्रसंग में भी सम्मानप्रदर्शित किया जाता था। साक्षी का लक्षण बताते हुए बौधायन उसके पुत्रवान् होने पर भी विशेष ध्यान देते है।। उनके अनुसार श्रोत्रिय, राजा, संन्यासी, बन्धु-बान्धवहीन पुरुष को छोड़ कर सभी चारो वर्णों के पुत्रवान् लोग साक्षी हो सकते हैं।[3] यहाँ उल्लेखनीय है कि बौधायन ने श्रोत्रिय को साक्षी होने योग्य नहीं माना है और संभवतः उसकी पूज्यता का ध्यान रखकर ऐसा किया है, किन्तु वसिष्ठ ने श्रोत्रिय को श्रेष्ठ साक्षी बताया है। उनके अनुसार 'श्रोत्रिय, रूपसम्पन्न, उत्तम आचरण वाले साक्षी होने चाहिए।'[4] साक्षियों के वर्ण के सन्दर्भ में वेएक सूत्र में यह कहते हैं कि सभी वर्णों के लोग सभी वर्णों के लिए साक्षी हो सकते हैं,[5] किन्तु उसके ठीक बाद यह व्यवस्था भी देते हैं कि स्त्रियों के विवाद में स्त्री साक्षी हो, द्विजातियों के लिए उसी वर्ण के द्विजाति, उत्तम आचरण वाले, शूद्रों के लिए उत्तम

१- बहवः स्युरनिन्दिताः स्वकर्मसु प्रात्ययिका राज्ञां निष्प्रीत्यनमितापाश्चान्यतरस्मिन्।- गौ २।४।२
हरदत्त के अनुसार ये साक्षी श्रौत एवं स्मार्त्त कर्म करने वाले हों।- द्र०उपर्युक्त पर भाष्य।

२- अपि शूद्राः। ब्राह्मणस्त्वब्राह्मणवचनादनवरोध्योऽनिबद्धश्चेत्।- गौ २।४।३,४

३- चत्वारो वर्णाः पुत्रिणः साक्षिणस्स्युरन्यत्र श्रोत्रियराजन्यप्रव्रजितमानुष्यहीनेभ्यः।
- बौ १।१६।१६

४- श्रोत्रियो रूपवाञ्शीलवान्पुण्यवान्सत्यवान्साक्षिणः।- व १६।२८

५- सर्वेषु सर्व एव वा।- व १६।१९

आचरण के शूद्र और चाण्डाल आदि अन्त्यजों के लिए उन्हीं के समुदाय के लोग साक्षी हों।[1] साक्षी के विषय में विष्णुधर्मसूत्र में और विस्तृत उल्लेख किय गये हैं और उनकी अनर्हता एवम् अर्हता को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है: ' राजा, श्रोत्रिय, संन्यासी, जुआड़ी, चोर, दूसरे के अधीन रहने वाला व्यक्ति, स्त्री, बालक, अपराध के कार्यों को प्रोत्साहित करने वाला, अत्यन्त वृध्द, मदपान से मत्त, पागल, अभिशस्त, पवित्र, भूख या प्यास से आतुर, विपत्तिग्रस्त और रागादि में अन्धे बने हुए व्यक्ति साक्षी नहीं हो सकते।' इसी प्रकार शत्रु या मित्र, उस विवाद के विषय में स्वार्थपूर्ण रुचिवाला, निषिध्दकर्म करने वाला, पहले किसी अपराध में अभियुक्त अथवा सेवा कार्य करने वाला साक्षी नहीं हो सकता।[2] ऐसा व्यक्ति साक्षी नहीं हो सकता जो पहले से साक्षी के रूप में निर्दिष्ट न होने पर भी उपस्थित हो। किन्तु गौतम ने इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति को भी साक्ष्य में बोलने का अधिकारी बताया है।[3] साक्षी एक नहीं होना चाहिए।[4] उपर्युक्त नियमों के होने पर भी चोरी, हिंसा, वाणी से दूषित करने, किसीके ऊपर आक्रमण करने और स्त्रीगमन जैसे अपराधों में साक्षियों की योग्यता कठोरता के साथ विचारणीय नहीं थी।[5]

सभी प्रकार से सम्पन्नता साक्षी की योग्यता है। उत्तम कुल, गुणवत्ता, धनसम्पन्नता, यज्ञकर्म और तप में अभिरुचि, पुत्र, धर्म का ज्ञान, अध्ययनशीलता, सत्यभाषण और तीन विद्याओं का ज्ञान तथा वृध्दावस्था- ये साक्षी के वाञ्छित गुण हैं। इन गुणों से सम्पन्न एक व्यक्ति भी दोनो पक्षों को मान्य होने पर साक्षी हो सकता है।[6]

१- स्त्रीणां साक्षिणः स्त्रियः कुर्याद् द्विजानां सदृशाः द्विजाः।
शूद्राणां सन्तः शूद्राश्चान्त्यानामन्त्ययोनयः।।- व १६।३०

२- अथासाक्षिणः। न राजश्रोत्रिय-प्रव्रजित-कितव-तस्कर-पराधीन-स्त्रीबालसाहसिकातिवृध्दमत्तोन्मत्ताभिशस्तपतितक्षुत्तृष्णार्तव्यसनिरागान्धाः। रिपुमित्रार्थसम्बन्धिविकर्मदृष्टदोषसहायाश्च। -वि ८।१-३

३- अनिर्दिष्टस्तु साक्षित्वे यश्चोपेत्य ब्रूयात्।-वि ८।४, द्र०गौ २।४।८ अनिबध्दैरपि वक्तव्यम्।

४- एकश्चासाक्षी।- वि ८।५

५- स्तेयसाहसवाग्दण्डपारुष्यसंग्रहणेषु साक्षिणो न परीक्ष्याः।- वि ८।६

६- कुलजा वृत्तवित्तसंपन्नयज्वानस्तपस्विनः पुत्रिणो धर्मज्ञा अधीयानाः सत्यवन्तस्त्रैविद्यवृध्दश्च। अभिहितगुणसम्पन्न उभयानुमत एकोऽपि।- वि ८।८,९

जब दो व्यक्तियों में विचार होता था तब जिसने पहले वाद उपस्थित किया है उसके पक्ष के साक्षियों की पहले परीक्षा ले जाती थी। धन के लेन-देन के विवाद में जब अर्थी ऋण के रूप में दिये गये धन की माँग करता था और प्रत्यर्थी उसको पहले ही चुकता कर देने का दावा करता था तब प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित किये गये साक्षियों की भी परीक्षा की जाती थी।[१] यदि किसी निर्दिष्ट साक्षी की वाद के चलते रहने के बीच मृत्यु हो जाती थी अथवा वह देशान्तर चला जाता था तो उसके बयान को सुनने वाले साक्षी के रूप में उपस्थित होते थे और उनकी परीक्षा होती थी।[२]

विष्णुधर्मसूत्र में साक्षियों को स्पष्टतः दो प्रकार का माना गया है :
(१) जिन्होंने किसी तथ्य या घटना को प्रत्यक्ष देखा हो और (२) जिन्होंने उसके विषय में सुना हो।[३]

साक्षी का शपथग्रहण

धर्मसूत्रों में प्रतिपादित व्यवहार-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग साक्षी द्वारा शपथग्रहण होता था। शपथ दिलाने का लक्ष्य साक्षी को सत्यभाषण के लिए प्रेरित करना था। उसे सत्यभाषण के महत्त्व एवं शुभ फलों का स्मरण दिलाया जाता था और असत्यभाषण से उत्पन्न होने वाले पाप तथा लोकापवाद का भय दिखाया जाता था। गौतमधर्मसूत्र के काल में शपथग्रहण का नियम अनिवार्य नहीं था, क्योंकि गौतम ने शपथ के सन्दर्भ में यही कहा है कि कतिपय आचार्यों का विचार है कि साक्षियों को शपथ दिलाकर उनसे सत्यभाषण कराया जाय। गौतम के अनुसार साक्षियों में ब्राह्मण वर्ण से भिन्न वर्ण वाले साक्षियों कोही शपथ दिलायी जाती थी और यह शपथ घोर देवताओं के निकट राजा के समक्ष अथवा ब्राह्मणों की परिषद् में दिलायी जाती थी।[४] आपस्तम्ब के अनुसार यह शपथ सत्यभाषण की प्रतिज्ञा होती थी और किसी शुभ दिन,

---

१- द्वयोर्विवदमानयोर्यस्य पूर्ववादस्तस्य साक्षिणः प्रष्टव्याः। आधर्य कार्यवशाद्यत्र पूर्वपक्षस्य भवेत्तत्र प्रतिवादिनोऽपि।- वि ८।१०-११

२- उद्दिष्टसाक्षिणि मृते देशान्तरगते वा तदभिहितश्रोतारः प्रमाणम्।- वि ८।१२

३- समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाद्वा।- वि ८।१३

४- शपथेनैके सत्यकर्म। तद्देवराजब्राह्मणसंसदि स्यादब्राह्मणानाम्।- गौ २।४।१२-१३

प्रातःकाल, जलती हुई अग्नि और जल से परिपूर्ण घड़े के निकट राजा की उपस्थिति में करायी जाती थी और दोनो पक्षों की सहमति होने पर साक्षी से प्रश्न पूछा जाता था। यदि साक्षी का असत्यभाषण करना सिद्ध होता था तो राजा साक्षी को भी दण्ड देता था।[1] वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार शपथग्रहण के समय साक्षी को इस प्रकार संबोधित किया जाता था- ' हे साक्षी, जैसी वास्तविकता हो वैसा कहो, तुम्हारे पितृगण आकाश में आकर तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा में लटके हुए है। तुम्हारे सत्य उत्तर से वे स्वर्ग जायेंगे और असत्य भाषण से नरक में गिरेंगे।'[2] विष्णुधर्मसूत्र से भी यही स्पष्ट है कि साक्षी को शपथ दिलाने का कार्य प्रातःकाल होता था। शपथक्रिया में भी वर्ण का विचार किया जाता था। ब्राह्मण को केवल 'ब्रूहि' कहकर, क्षत्रिय को 'सत्यं ब्रूहि' कहकर शपथ दिलायी जाती थी। वैश्य को गायों, बीजों और सुवर्ण की तो शूद्रको सभी महापातकों से शपथ दिलायी जाती थी।[3] इसके बाद साक्षी को सत्यभाषण का महत्त्व बताते हुए वाक्य बोले जाते थे- 'महापातकियों और उपपातकियों को जो लोक प्राप्त होते हैं वे ही लोक मिथ्यासाक्ष्य देने वाले को भी मिलते हैं और जन्स से लेकर मृत्युपर्यन्त वह जितने उत्तम कार्य किये होता है उन सबका फल नष्ट हो जाता है।'[4]

यदि कोई व्यक्ति तथ्यों से अवगत है और बाद में साक्षी के रूप में निर्दिष्ट है किन्तु साक्ष्य के लिए बुलाये जाने पर कुछ नहीं बोलता,तो वह कूटसाक्षी के तुल्य तथा उसी के समान दण्ड का भागी माना गया है। साक्षियों की परीक्षा उनके वर्ण के अनुसार की जाती थी। जिस पक्ष का साक्ष्य सत्य प्रमाणित होता था वह वाद में विजय प्राप्त करता था और जिसका साक्ष्य असत्य सिद्ध होता था उसकी पराजय निश्चित थी।[5]

१- पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धे ऽपामन्ते राजवत्युभयतस्समाख्याप्य सर्वानुमते मुख्यस्सत्यं प्रश्नं ब्रूयात्। अनृते राजा दण्डं प्रणयेत।- आप २।२६।७-८

२- ब्रूहि साक्षिन्यथातत्त्वं लम्बन्ते पितरस्तव।
तव वाक्यमुदीक्षाणा उत्पतन्ति पतन्ति च॥- व १६।३२

३- साक्षिणश्चाहूयादित्योदये कृतशपथान्पृच्छेत्। ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्। सत्यं ब्रूहीति राजन्यम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यम्। सर्वमहापातैस्तु शूद्रम्।- वि ८।१६-२३

४- ये महापातकिनां लोका ये चोपपातकिनां ते कूटसाक्षिणामिपि। जननमरणान्तरेकृतसुकृतहारिश्च। - वि ८।२५-२६

५- जानन्तोऽपि ये साक्ष्ये तूष्णीभूता उपासते। ते कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्या दण्डेन चाप्यथ ॥

यदि राजा किसी वाद के सन्दर्भ में निर्णय दे चुका हो और उसके बाद कूटसाक्षी का असत्यभाषण ज्ञात हो तो ऐसी स्थिति में वह उस वाद की क्रियाओं को निरस्त कर देता था।[१] यदि किसी विवाद में साक्षियों के बयान में विरोध हो तो उनके बहुमत के कथनानुसार निर्णय किया जाता था, किन्तु यदि पक्ष और विपक्ष के साक्षियों की संख्या समान होती थी तो उनमें जो उत्तम गुणों वाले साक्षी होते थे उनका कथन विश्वसनीय माना जाता था और यदि उत्तम गुण वाले साक्षियों की संख्या पक्ष एवं विपक्ष में समान होती थी तो उनमें जो श्रेष्ठ ब्राह्मण होते थे उनके साक्ष्य को स्वीकार कर राजा निर्णय करता था।[२]

साक्षी का सत्यभाषण

किसी भी वाद में साक्षी का परम महत्त्व होने के कारण उसके सत्यभाषण पर ही न्याय की प्रतिष्ठा आश्रित थी। अतएव प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने सत्यभाषण के अलौकिक पुण्यफलों तथा असत्यभाषण से उत्पन्न होने वाले पापों का विस्तरेण उल्लेख कर उसे सत्य साक्ष्य देने के लिए प्रेरित किया है। गौतम के शब्दों में 'सत्यभाषण करने पर साक्षी को स्वर्ग मिलता है और विपरीत भाषण करने पर नरक में गिरता है'।[३] ऐसा साक्षी राजा द्वारा भी दण्डित होता है और उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है।[४] आपस्तम्ब के अनुसार भी साक्षी के असत्यभाषण पर उसे राजा तो दण्ड देता ही है, उसके साथ ही उसे परलोक में नरक प्राप्त होता है, किन्तु सत्यभाषण करने पर वह स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है तथा लोक में भी प्रशंसा का पात्र होता है।[५]

एवं हि साक्षिणः पृच्छेद्वर्णानुक्रमतो नृपः। यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्॥
अन्यथावादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः॥- वि ८।३७-३८

१- यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कूटसाक्ष्यनृतं वदेत्।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत्।- वि ८।४०

२- बहुत्वं प्रतिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु च गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥- वि ८।३६

३- स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः।- गौ २।४।२३

४- मिथ्यावचने याप्यो दण्डयश्च साक्षी।- गौ २।४।२३

५- नरकश्चाऽत्राधिकः साम्पराये। सत्ये स्वर्गस्सर्वभूतप्रशंसा च।- आप २।२६।६-१०

बौधायनधर्मसूत्र में भी असत्यभाषण के और भी घोर फल बताये गये हैं। असत्यभाषण से न केवल साक्षी नरक प्राप्त करता है अपितु अपने तीन पितरों एवं तीन पितामहों को अपने से पहले की सात पीढ़ियों एवं बाद की अनुत्पन्न सात पीढ़ियों को भी नष्ट करता है।[१] वसिष्ठ के अनुसार भी साक्षी के सत्यभाषण करने से उसके पितृगण स्वर्ग जाते हैं अन्यथा ऐसा कूटसाक्षी नग्न होकर, सिर के केश मुड़ाकर कपाल लेकर भूख और प्यास से व्याकुल होकर अपने शत्रु के द्वार पर भिक्षा के लिए जाता है।[२] जो व्यवहार में अपने किसी सम्बन्धी को अपराध से बचाने के लिए अथवा धन के लोभ में पक्षपातपूर्ण साक्ष्य देते हैं वे अपने धर्म एवं जन्म के कुलों के उन पितरों को भी नरक में डाल देते हैं जो स्वर्ग प्राप्त कर चुके हैं।[३] वे नरक में गिरते हैं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार कूटसाक्षी महापातकियों तथा उपपातकियों के समान कष्टपूर्ण लोक प्राप्त करते है। और उनके सम्पूर्ण जीवन के उत्तम कर्मों के फल नष्ट हो जाते हैं।[४] अतएव साक्षी को सत्यभाषण का महत्त्व समझाते हुए कहा गया है कि सत्य से ही सूर्य तपता है तथा सत्य से ही जल, अग्नि, आकाश, देवता एवं यज्ञों का अस्तित्व है।[५] सत्य की महत्ता एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों से भी बढ़कर है।

विभिन्न प्रकार के वादों में असत्य भाषण का पाप या अशुभ फल विवादास्पद वस्तु के अनुसार कम या अधिक बताकर भी धर्मसूत्रों ने साक्षी को सत्यभाषण की प्रेरणा दी है। यथा गौतम के अनुसार 'भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं के विषय में असत्यभाषण करनेपर साक्षी को दश पशुओं के वध के बराबर पाप लगता है। गौ के विषय में असत्यभाषण से सौ गायों के वध का, अश्व के विषय में एक सहस्र अश्वों के वध का, पुरुषों के विषय में दस हजार पुरुषों के वध का और भूमि के विषय में असत्य

१- त्रीनेव च पितॄन् हन्ति त्रीनेव च पितामहान्।
सप्तजातानजातांश्च साक्षी साक्ष्यं मृषा वदन्॥- बौ १।१९।१३-१४

२- व १६।३२-३३

३- स्वजनस्वार्थे यदि वार्थहेतोः पक्षाश्रयेणैव वदन्ति कार्यम्।
ते शब्दवंशस्य कुलस्य पूर्वान् स्वर्गस्थितांस्तानपि पातयन्ति॥- व १६।३७

४- वि ८।२५-२६ ५- तत्रैव २७-३५

६- अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥- वि ८।३६

भाषण से जिस वर्ण के व्यक्ति की भूमि हो उस वर्ण के एक लाख पुरुषों के वध का अथवा सम्पूर्ण मनुष्य जाति की हत्या का पाप लगता है। भूमि का अपहरण करने पर नरक की प्राप्ति होती है और जल अर्थात् कूप या तालाब के विषय में असत्यभाषण से भी भूमिविषयक असत्यभाषण का पाप होता है।[१] यौनसम्बन्धों के विषय में असत्यभाषण से भूमिविषयक असत्यभाषण के समान, मधु और घृत के विषय में क्षुद्र पशुओं के वध के तुल्य, वस्त्र, वस्त्र, स्वर्ण, धान्य और वेद-विद्या-विषयक असत्यभाषण से गोविषयक असत्यभाषण के सदृश तथा यान के विषय में असत्यभाषण से अश्वविषयक असत्यभाषण के समान पाप लगने का निर्देश भी किया गया है।[२]

बौधायन ने व्यवहार की वस्तु के अनुसार असत्यभाषण के पाप का भागी साक्षी के पितरों को भी बना दिया है। उनके अनुसार स्वर्ण के लिए मिथ्या वचन बोलकर साक्षी अपने तीन पूर्वजों को नष्ट करता है। पशु के विषय में झूठे साक्ष्य से पाँच पशुओं के वध का, गौ के विषय में सहस्र पुरुषों के वध का पाप होता है। भूमि के विषय में झूठ बोलने पर साक्षी सम्पूर्ण मानव जाति के वध का पापी होता है।[३] इसी प्रकार के पाप का उल्लेख वसिष्ठ ने भी किया है किन्तु कन्याविषयक असत्यभाषण से पाँच कन्याओं के वध के पाप का भी निर्देश किया है।[४] इस प्रकार न्यायकर्त्ता द्वारा पूछे जाने पर साक्षी को या अर्थी एवं प्रत्यर्थी को सत्यभाषण ही करना चाहिए, क्योंकि अनुचित निर्णय होने पर साक्षी, सभासद्, राजा और अपराधी सभी पाप के भागी होते हैं।[५] वस्तुतः, धर्मसूत्रों ने न्याय की प्रतिष्ठा हेतु सत्यभाषण को सभी धर्मों से श्रेष्ठ

१- क्षुद्रपश्वनृते साक्षी दश हन्ति। गोऽश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान्। सर्वं वा भूमौ। हरणे नरकः। भूमिवदप्सु।-गौ २।४।१४-१८

२- मैथुनसंयोगे च। पशुवन्मधुसर्पिषोः। गोवद्वस्त्रहिरण्यधान्यब्रह्मसु। यानेष्वश्ववत्।-गौ०२।४।१९-२०

३- हिरण्यार्थेऽनृते हन्ति त्रीनेव च पितामहान्।
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते॥
शतमश्वानृते हन्ति सहस्र पुरुषानृते।
सर्वं भूम्यानृते हन्ति साक्षी साक्ष्यं मृषा वदन्॥- बौ १।१९।१५

४- व १६।३४

५- साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडायाम्।- गौ २।४।११

माना है।[1]

दोषरहित असत्यभाषण

व्यवहार में असत्यभाषण का इतना अधिक महत्त्व होने और असत्यभाषण के घोर पापों का उल्लेख होने पर भी कतिपय स्थितियों में असत्यभाषण को धर्मसूत्रों ने अनुचित नहीं ठहराया है। उदाहरणार्थ, गौतमधर्मसूत्र कहता है कि यदि असत्यभाषण से किसी के प्राणों की रक्षा होती हो तो साक्षी को पूर्वोक्त दोष नहीं लगते, किन्तु यदि कोई व्यक्ति पापकर्म करने का अभ्यस्त है तथा परपीडारत है तो उसके जीवन की रक्षा हेतु असत्यभाषण का दोष होता है।[2] वसिष्ठ ने पाँच अवसरों पर असत्यभाषण को दोषरहित माना है- विवाह के समय, रतिक्रीडा में, जीवन के संकटापन्न होने पर, सम्पूर्ण सम्पत्ति का विनाश होने की स्थिति में तथा किसी ब्राह्मण की सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए।[3] स्पष्ट है कि सदाचारी मनुष्य के जीवन की तथा ब्राह्मण की सम्पत्ति की रक्षा धर्मसूत्र की दृष्टि में एक महान् कर्म है और उसके लिए असत्यभाषण भी किया जा सकता था, किन्तु इसमें प्रयोजन की ही प्रधानता है, असत्यभाषण को मान्यता नहीं दी गयी है, क्योंकि इस प्रकार के असत्यभाषण के लिए भी धर्मसूत्र प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार 'साक्षी सत्य से पवित्र होते हैं, जहाँ चार वर्ण के किसी पुरुष का वध हो रहा हो वहाँ असत्यभाषण भी दोषरहित है, किन्तु उसके लिए द्विजाति पुरुष कूष्माण्डी मन्त्रों से हवन करे तथा शूद्र एक दिन दस गायों को खिलाये।[4]

लेख्य

व्यवहार में साक्षी के अतिरिक्त लेख्य या लिखित विवरण भी एक विश्वसनीय प्रमाण माना गया है और विशेषतः सम्पत्ति-विषयक एवं धन के आदान-प्रदान से संबद्ध

१- सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनम्।- गौ २।४।३१

२- नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम्।न तु पापीयसो जीवनम्।- गौ २।४।२४-२५

३- उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥- व १६।३६

४- साक्षिणश्च सत्येन पूयन्ते। वर्णिनं यत्र वधस्तत्रानृतेन। तत्पावनाय कूष्माण्डीभिर्द्विजोऽग्निं जुहुयात्। शूद्र एकाह्निकं गोदशकस्य ग्रासं दद्यात्।- वि ८।१४-१७

वादों में इस प्रकार का प्रमाण निर्णय का प्रमुख आधार बन गया है। धर्मसूत्रों ने और विशेषतः अपेक्षाकृत परवर्ती काल के वसिष्ठ एवं विष्णुधर्मसूत्र ने इस प्रकार के लेख्य का विवेचन भी व्यवहार-प्रक्रिया के सन्दर्भ में किया है। वसिष्ठ ने सम्पत्ति के अधिकार का निर्णय करने के प्रसंग में लिखित (अर्थात् अधिकार देने के विषय में लिखा हुआ पत्र), साक्षी तथा भुक्ति (अर्थात् सम्पत्ति का दीर्घकाल तक उपभोग)-ये तीन प्रमाण माने हैं जिनके आधार पर कोई व्यक्ति अपहरण की गयी संपत्ति को पाने का दावा कर सकता है।[1] यदि विवाद गृह या क्षेत्रके विषय में हो तो प्रथमतः पड़ोसियों के वचन को प्रमाण माना जाता था किन्तु यदि पड़ोसियों के कथनों में विरोध होता था तो लेख पर विश्वास कर निर्णय किया जाता था। जब परस्पर विरोधी लेख्य प्रस्तुत किये जाते थे तब उस ग्राम या नगर के वृद्ध निवासियों तथा व्यापारियों या कारीगरों की सभा के कथन को प्रामाणिक माना जाता था।[2] इस प्रकार साक्षी, लिखित प्रमाण और पुनः अधिक विश्वसनीय साक्षियों के वचन का आश्रय लेकर ही निर्णय किये जाते थे।[3]

विष्णुधर्मसूत्र के सातवें अध्याय में त्रिविध लेख्य का कुछ अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। इसक अनुसार लेख्य तीन प्रकार के होते हैं : - १. राजसाक्षिक, २. ससाक्षिक तथा ३. असाक्षिक। राजसाक्षिक लेख्य इस प्रकार का लिखित विवरण होता है जो न्यायालय में राजा के आदेश से उसके लिपिक द्वारा लिखा गया हो, न्यायकर्त्ता के हाथ के चिह्न से अंकित हो तथा राजा द्वारा प्रमाणित हो। ससाक्षिक लेख्य जिस किसी स्थान पर किसी भी व्यक्ति द्वारा लिखित होता है और साक्षियों द्वारा स्वहस्ताक्षरित होता है। इसके विपरीत असाक्षिक लेख्य अर्थी या प्रत्यर्थी द्वारा स्वयं अपने हाथ से लिखित होता है और उस पर साक्षियों का हस्ताक्षर नहीं होता।[4]

धर्मसूत्रों के काल में व्यवहार में ऐसे ही लेख्य को मान्यता दी जाती थी जो

१- लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
धनस्वीकरणं पूर्वं धनी धनमवाप्नुयादिति॥- व १६।१०

२- गृहक्षेत्रविरोधे सामन्तप्रत्ययः। सामन्तविरोधे लेख्यप्रत्ययः। प्रत्यभिलेख्यविरोधे ग्रामनगरवृद्धश्रेणीप्रत्ययः।- व १६।१३-१५

३- भुक्ति अथवा सम्पत्ति के उपभोग द्वारा अधिकारप्राप्ति हेतु द्र० अध्याय ८।

४- वि ७।५ स्वहस्तलिखितमसाक्षिकम्।

बलपूर्वक न लिखाया गया हो। जालसाजी से लिखे गये लेख्य भी मान्य नहीं होते थे। यदि ससाक्षिक लेख्य भी किसी ऐसे साक्षी के हस्ताक्षर से युक्त होता था जिसे उत्कोच दिया गया हो या जो दुराचारी हो तो वह भी अप्रमाणिक हो जाता था। इसी प्रकार धन लेकर दुराचारी लेखक द्वारा लिखित लेख्य भी विचारणीय नहीं होता था। स्त्री, बालक, पराधीन पुरुष द्वारा लिखित, मदपान की स्थिति में लिखे गये, पागल, भयभीत द्वारा लिखित या मारपीट कर लिखाये गये लेख्य भी अप्रमाण होते थे।

लेख्य के सन्दर्भ में प्रमाण का लक्षण देते हुए कहा गया है कि जो देश के आचारों के विरुद्ध न हो, जिसमें प्रदत्त अधिकार का स्पष्ट उल्लेख हो तथा विषयक्रम एवं अक्षर नष्ट न हों वह प्रमाण समझना चाहिए।[१] व्यवहार में प्रमाण के रूप में लेख्य का विचार करते हुए विशेष सतर्कता बरती जाती थी, क्योंकि जिस प्रकार कूटसाक्षी मिथ्या साक्ष्य द्वारा न्याय के लिए बाधक हो सकते थे वैसे ही कूटलेख्य द्वारा भी वाद में कोई एक पक्ष अनुचित रूप से लाभान्वित हो सकता था और न्याय की हानि कर सकता था। अतएव विष्णुधर्मसूत्र में निर्देश दिया गया है कि किसी सन्दिग्ध लेख्य की प्रामाणिकता का निश्चय करने के लिए उसी व्यक्ति द्वारा लिखे गय दूसरे लेखों के साथ तुलना कर, अक्षरों के लिखने का ढंग एवं श्री आदि विशेष चिह्नों का मिलान कर तथा उस पत्रके लिखने की तिथि एवं तत्सदृश दूसरे पत्रों की लिपि का निरीक्षण करना चाहिए। यदि ऋणी, ऋणदाता, साक्षी अथवा लेखक की मृत्यु हो गयी हो तो लेख्य की प्रामाणिकता का निर्धारण उसके हाथ से लिखे गये अन्य लेखों से तुलना कर करनी चाहिए।[२]

दिव्य अथवा समयक्रिया

कुछ धर्मसूत्रों ने व्यवहार के प्रकरण में अलौकिक प्रमाणों का भी उल्लेख

१- देशाचारविरुद्धं व्यक्ताधिविधिलक्षणमलुप्तक्रमाक्षरं प्रमाणम्।- वि ७।११

२- वर्णैश्च तत्कृतैश्चिह्नैः पत्रैरेव च युक्तिभिः।
सन्दिग्धं साधयेल्लेख्यं तद्युक्तिप्रतिरूपकैः॥
यत्रर्णी धनिको वापि साक्षी वा लेखकोऽपि वा।
म्रियते तत्र तल्लेख्यं तत्स्वहस्तैः प्रमापयेत्॥ - वि ७।१२-१३

किया है। इस प्रकार के प्रमाणों को दिव्य या समयक्रिया कहा गया है।[1] ये प्रमाण दैवी चमत्कार में विश्वास के फलस्वरूप ग्रहण किये जाते थे और निश्चित रूप से इनका आश्रय उसी स्थिति में लिया जाता होगा जब तर्क, अनुमान, साक्षी, लेख्य तथा विद्वानों के अभिमत से भी निर्णय नहीं हो पाता होगा। आपस्तम्ब ने सन्देहास्पद विषयों के सन्दर्भ में दैव परीक्षण का प्रमाण के रूप में निर्देश किया है।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्रों में अपेक्षाकृत परवर्ती काल के विष्णुधर्मसूत्र ने ही व्यवहार के प्रसंग में समयक्रिया का विस्तृत विवेचन किया है। ये दैवी परीक्षण धट अर्थात् तुलाधारण, अग्नि, जल, विष तथा कोश नामों से ख्यात हैं और इनमें इन्हीं उपायों का प्रयोग कर सत्य अथवा असत्य का निर्धारण करने का निर्देश है।

राजद्रोह आदि घोर अपराधों में यह राजा या निर्णायक की इच्छा पर निर्भर होता था कि अभियुक्त से किस प्रकार की समयक्रिया करायी जाय, किन्तु धनसम्बन्धी विवादों, चोरी या लूट के व्यवहारों में जितने मूल्य की सम्पत्ति का दावा किया गया होता था उस मूल्य के अनुसार समयक्रिया होती थी। ऐसी स्थिति में मूल्य का निर्धारण स्वर्ण के रूप में किया जाता था।[3] इससे प्रकार के शपथ के लिए विष्णुधर्मसूत्र ने निम्नलिखित नियम दिये हैं- 'यदि विवादास्पद धन एक कृष्णल से कम मूल्य का हो तो शूद्र को हाथ में दूब देकर शपथ दिलानी चाहिए, दो कृष्णल से कम होने पर सोना और पाँच कृष्णल से कम होने पर जुते हुए खेत की मिट्टी देकर शपथ दिलाये।[4]

अधिक मूल्य वाली वस्तु के विवाद में कोश, घट आदि दैवी परीक्षण किये जाते थे, जिनकी विधि विष्णुधर्मसूत्र में निम्नलिखित रूप में वर्णित है-

१- **धट अथवा तुला**[5]- तुला दो खम्भों के ऊपर लटकायी जाती थी। ये दोनो खम्भे भूमि से चार हाथ ऊपर होते थे और दो हाथ चौड़े होते थे। तुला की शिक्या मजबूत लकड़ी की होती थी, उसकी लम्बाई पाँच हाथ होती थी और उसके दोनो किनारों पर पलड़े लटकाये जाते थे। उसे सुवर्णकार या कांस्यकार दोनो ओर से एक समान बना देते थे। एक पलड़े पर जिस पुरुष का दैवी परीक्षण करना होता था उसे

१- अलौकिकं प्रमाणं समयः। वि ७।१ पर वैजयन्ती टीका।

२- सन्देहे लिङ्गतो दैवेनेति विचिन्त्य।-आप २।२६।६

३- वि ६।३-४ ४- तत्रैव, ५-६ ५- वि , अध्याय १०

बैठाया जाता था और दूसरे पर उसके भार के बराबर पत्थर आदि प्रतिमान रखे जाते थे। उनको बराबर तौलकर पुरुष को उतार दिया जाता था।[१] निर्णायक तुला को और तौलने वाले व्यक्ति को संबोधित कर कहता था : 'जो नरक ब्राह्मण की हत्या करने वाले तथा कूटसाक्षी को मिलता है वही उस तुलाधार को मिलता है जो मिथ्या तौलता है। हे धट, तुम धर्म के ही दूसरे नाम हो, तुम वह सब कुछ जानते हो जो मनुष्य नहीं जानते। यह व्यक्ति जो तुम पर तौला गया है व्यवहार में अभियुक्त है, तुम हमारी इस संशय से धर्मपूर्वक रक्षा करो।[२] ऐसा कहकर उस पुरुष को फिर तौलते थे। यदि तौलते समय शिक्य अथवा अक्षदण्ड टूट जाता था तो उसे पुनः तौला जाता था। इससे संशयरहित ज्ञान होता था।

२- अग्नि - सोलह अंगुल चौड़े सात वृत्त बनाये जाते थे, जिनमें प्रत्येक के बीच सोलह अंगुल की दूरी होती थी। जिसका दिव्य परीक्षण करना होता था वह पुरुष पूर्व की ओर मुख कर दोनो हाथों को खोले रहता था, उसके हाथों पर पीपल के सात पत्ते रखे जाते थे। पत्तियों के साथ उसके हाथों को धागे से बाँध दिया जाता था। फिर उन पत्तों के ऊपर पचास पल भार वाला लोहे का अग्नि के वर्ण का दहकता हुआ चिकना गोला रखा जाता था, जिसे लिये हुए उसे सात वृत्तों से सामान्य गति से चलना होता था। सातवें मण्डल को पारकर लोहे के पिण्ड को भूमि पर गिरा देता था। यदि हाथ कहीं भी जला होता था तो वह व्यक्ति दोषी माना जाता था और यदि कहीं भी नहीं जला होता था अथवा जब जलने या न जलने का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता था तब उससे यह दिव्य पुनः कराया जाता था । इसलिए इस क्रिया के आरम्भ में ही उस व्यक्ति के हाथों में धान देकर उससे हाथ रगड़वाया जाता था जिससे उस पर पहले से अंकित जलने या कटने के चिह्न परिलक्षित हो जाते थे।[३] लोहे के जलते हुए गोले को अभियुक्त के हाथों पर रखने से पूर्व उसे इस प्रकार अभिमन्त्रित किया जाता था : 'हे अग्नि, तुम सभी पदार्थों के भीतर साक्षी के रूप में विचरण करते हो, तुम सब कुछ जानते हो, जो मनुष्य नहीं जानते। यह व्यक्ति व्यवहार में अभियुक्त है और अपनी निर्दोषता प्रमाणित करना चाहता है। तुम इस संशय से धर्म के अनुसार हमारी रक्षा करो।'[४]

१- वि १०।१-६ २- तत्रैव ६-११

३- तदेव, ११।१-१० ४- तत्रैव ११-१२

३- उदक- दिव्य परीक्षण देने वाला कींचड़, सेवार, दुष्ट ग्राह, मछलियां, जोंक आदि से वर्जित जलाशय में किसी रागद्वेषरहित पुरुष के घुटनों को पकड़कर अपनी नाभि तक गहरे जल में डुबकी लगाता था। उसके डुबकी लगाने के समय ही कोई पुरुष ऐसे धनुष से जो न अधिक कठोर हो औरा न ही ढीला हो, बाण छोड़ता था और दूसरा पुरुष शीघ्रता से उसे ले आता था। इस बीच यदि डुबकी लगाने वाला पुरुष जल से ऊपर नहीं दिखायी पड़ता तो निर्दोष माना जाता था, अन्यथा एक भी अंग दिखायी पड़ने पर दोषी समझा जाता था।[१]

४- **विष** -विष द्वारा परीक्षण में हिमालय पर उत्पन्न शृङ्ग वृक्ष का विष ही प्रयुक्त होता था, अन्य प्रकार का नहीं। विष के सात दाने घृत के साथ मन्त्र पढ़कर दिये जाते थे। यदि विष का दिन भर कोई उग्र प्रभाव नहीं होता था तो उसे निर्दोष समझकर मुक्त कर दिया जाता था।[२]

५- **कोश**- कोश नाम के अलौकिक परीक्षण को एक प्रकार का अभिचार कहा जा सकता है। इसमें उग्र देवों का आह्वान किया जाता था। उन देवों की पूजा कर उनका स्नान कराकर उस जल की तीन अञ्जलि लेकर अभियुक्त पुरुष देवता की प्रतिमा की ओर मुखकर 'इदं मया न कृतम्' कहते हुए पीता था। यदि एक, दो या तीन सप्ताह में उस व्यक्ति को रोग हो जाता था या उसके बन्धुवान्धवों में किसी की मृत्यु हो जाती थी अथवा उस पर राजा का कोप होता था तो वह दोषी माना जाता था, अन्यथा उसे निर्दोष समझा जाता था। दिव्य में जो व्यक्ति निर्दोष प्रमाणित होता था उसका धार्मिक लोग सत्कार करते थे।[३]

इन दिव्यपरीक्षणों में भी वर्ण का ध्यान रखा जाता था। जितने धन हेतु शूद्र के लिए जो दिव्य शपथ विहित था उससे दुगुने अधिक धन का विवाद होने पर वह दिव्य वैश्य के लिए, तिगुने अधिक मूल्य का होने पर क्षत्रिय के लिए और चार गुने अधिक होने पर ब्राह्मण के लिए किये जाने का नियम था, किन्तु ब्राह्मण के लिए कोश नाम की समयक्रिया नहीं की जाती थी। यदि विवादास्पद धन दो सुवर्ण से कम मूल्य

१- वि १२।१-६

२- तदेव १३।१-५

३- तदेव १४।१-५

का होता था तो ब्राह्मण के हाथ में जुते हुए खेत की मिट्टी देकर शपथ दिलायी जाती थी।[1]

यदि कोई व्यक्ति दूसरी बार अभियुक्त होता था तो अल्प मूल्य के विषय में भी दिव्य क्रिया अवश्य की जाती थी, किन्तु सज्जन एवं सच्चरित्र के रूप में प्रख्यात व्यक्ति के लिए ये परीक्षण नहीं किये जाते थे, भले ही विवादास्पद वस्तु अधिक मूल्यवान् हो।[2] तुला की समयक्रिया स्त्री, ब्राह्मण, विकलाङ्ग, दुर्बल और रोगी अभियुक्त के लिए उचित मानी गयी है, किन्तु यह क्रिया वायु बहते रहने पर नहीं की जाती थी। कुष्ठग्रस्त, असमर्थ और लोहकार अभियुक्त के लिए अग्नि द्वारा समयक्रिया नहीं की जाती थी और शरद् तथा ग्रीष्म ऋतुओं में इसका वर्जन किया जाता था। विष का प्रयोग कोढी, पित्त के रोगी तथा ब्राह्मण पर और वर्षा ऋतु में वर्जित था। उदकक्रिया भी उन लोगों के लिए नहीं की जाती थी जो दमा, श्वासकास आदि से पीडित होते थे या भीरु स्वभाव के होते थे अथवा जो जल में ही निवास कर जीवन निर्वाह करते थे। उदक की समय क्रिया हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में वर्जित थी। नास्तिक अभियुक्त के लिए कोश द्वारा परीक्षण नहीं किया जाता था, न ही देश में संक्रामक रोग या दुर्भिक्ष फैलने पर इसका प्रयोग होता था।[3]

उपर्युक्त नियम स्पष्टतः दिव्य परीक्षण के पात्र व्यक्ति की किसी दिव्य के लिए शारीरिक अक्षमता अथवा असामान्य क्षमता को ध्यान में रखकर दिये गये हैं। अधिक दुर्बल होने पर समयक्रिया में उसे स्वाभाविक हानि हो सकती थी और यदि अपने व्यवसाय से अभियुक्त उस दिव्य परीक्षणों केजल, अग्नि या विष जैसे पदार्थों से अभ्यस्त होता तो वह दोषी होने पर भी अपने अभ्यास के कारण निर्दोष सिद्ध हो सकता था।

इन अलौकिक परीक्षणों की कठोरता एवं क्रूरता निश्चय ही अभियुक्त को सत्यभाषण या अपराधस्वीकृति के लिए प्रेरित करती होगी और प्रायः इस प्रकार के

१- वि ९।१२-१७
२- प्राग्दृष्टदोषं स्वल्पेऽप्यर्थे दिव्यानामन्य तममेव कारयेत्। सत्सु विदितं सच्चरित्रं न महत्यर्थेऽपि। - वि ९।१८-१९
३- वि ९।१८-३२

कष्टप्रद परीक्षण नहीं किये जाते होंगे, किन्तु इनका विधान निश्चय ही अपराधी को आतंकित और हतोत्साहित करने के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। तर्क, अनुमान, साक्षियों एवं लेख्य द्वारा न्याय करना और व्यवहार में निर्णय करना ही संगत एवं मानवीय है। अलौकिक परीक्षण जैसे अन्धविश्वासपूर्ण एवं अनिश्चित साधनों द्वारा निर्णय करना संभवतः व्यावहारिक कारणों से सर्वमान्य नहीं हो सका और परिणामतः अधिक सुव्यवस्थित न्यायप्रणाली के विकास के साथ इन दिव्य परीक्षणों की उपयोगिता नहीं रह गयी। यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि धर्मसूत्रों में विष्णुधर्मसूत्र को छोड़कर उससे पूर्ववर्ती काल के किसी अन्य धर्मसूत्र ने दिव्यपरीक्षणों को महत्त्व नहीं दिया है।

दण्डविधान

न्यायव्यवस्था के अभिन्न अङ्ग के रूप में दण्डविधान का यथासम्भव विस्तृत निर्देश धर्मसूत्रों में उपलब्ध होता है। छोटे अपराधों के लिए भी दण्ड निर्धारित किये गबये हैं। इसका कारण यह है कि धर्मसूत्रों में राजा का प्रमुख कर्त्तव्य ही यही बताया गया है कि वह चारो वर्णों को विहित धर्म के मार्ग पर स्थापित करे और उससे भ्रष्ट होने वालों को दण्ड देकर धर्म की रक्षा करे।[१] दण्ड की व्युत्पत्ति देते हुए गौतम ने कहा है : 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' अर्थात् दमन करने के करण ही दण्डविधि को दण्ड कहा गया है। उसके द्वारा राजा धर्म का उल्लंघन करने वालों को अपने वश में करे।[२] देश, धर्म, जाति और कुल के धर्म की रक्षा के लिए दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है।[३] दण्ड के महत्त्व की घोषणा करते हुए विष्णुधर्मसूत्र कहता है-

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति निर्भयः।
प्रजास्तत्र विवर्धन्ते नेता चेत्साधु पश्यति।।[४]

यह धर्मसूत्र राजा को आदेश देता है कि वह दुष्टों को अपराध के अनुसार दण्ड

१- वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैतान्स्वधर्म स्थापयेत्।- गौ २।२।६-१०
द्र० वि ३।२-३

२- राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्। न्याय्यदण्डत्वम्।- गौ २।१।७,८

३- देशधर्मजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैतानुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान्स्वधर्मे स्थापयेत्।- व १६।७

४- वि ३।६५

दिलाये और दण्ड का न्यायविधि के अनुसार सम्यक् रूप से निर्धारण करे।[1] अपरंच, जो अपने धर्म से च्युत हो उसे राजा दण्ड दिये विना न छोड़े।[2] वह अपने राज्य में न्याय के अनुसार दण्ड दे, विदेशी शत्रु ओं का कठोर दण्ड द्वारा दमन करे और अपने मित्रों के साथ दुरंगी नीति का परित्याग कर व्यवहार की तथा ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशीलता की नीति अपनाये।[3]

वसिष्ठधर्मसूत्र में अपराध के लिए दण्ड पाने वाले व्यक्तियों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जिन व्यक्तियों को राजा से अपराध करने का दण्ड मिल जाता है वे पवित्र होकर स्वर्ग जाते हैं और धर्मात्मा बन जाते हैं।[4] किन्तु राजा यदि किसी अपराधी का दोष क्षमा कर देता है तो वह पाप स्वयं राजा के ऊपर आ पड़ता है। इसके विपरीत यदि राजा अपराधी का वध करता है तो वह धर्म द्वारा पाप का ही विनाश करता है।[5] अपराधी का वध करने पर राजा की शुद्धि स्नानमात्र से ही हो जाती है।[6] आपस्तम्ब के अनुसार भी दण्डनीय अपराधी को दण्ड न देने पर राजा ही पापी होता है।[7] दण्ड न देने पर राजा के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान किया गया है।[8] किन्तु धर्मसूत्रों ने दण्ड प्रदान में किसी प्रकार की स्वेच्छाचारिता के लिए राजा को अनुमति नहीं दी है। अपराध का निर्धारण न्याय की एक कठोर एव तर्कपूर्ण प्रक्रिया द्वारा होता था। धर्मसूत्रों के निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि अपराध

१- अपराधानुरूपं च दण्डं दण्ड्येषु दापयेत्। सम्यग्दण्डप्रणयनं कुर्यात्।- वि ३।९१-९२

२- स्वधर्ममपालयन्नादण्ड्यो नामास्ति राज्ञः।- वि ३।९४

३- स्वराष्ट्रे न्यायदण्डः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥- वि ३।९५

४- राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥- व १९।४५

५- एनो राजानमृच्छति उत्सृजन्तं सकिल्बिषम्।
तं चेद्वा घातयेद्राजा हन्ति धर्मेण दुष्कृतमिति॥- व १९।४६

६- व १९।४७

७- प्राप्तनिमित्ते दण्डाकर्मणि राजानमेनस्स्पृशति।- आप २।२८।१४

८- गौ २।३।४५ अप्रवृत्तो प्रायश्चित्ती सः। द्र० व १९।४०-४१ दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्।
त्रिरात्रं पुरोहितः।

का सम्यक् निर्धारण होने पर ही दण्ड दिया जाता था : 'तीन-चार वेदज्ञ शिष्ट पुरुषों की परिषद् के आदेशानुसार ही दण्ड देना चाहिए अथवा अपराधी को मुक्त कर देना चाहिए।[१] आर्थिक सम्पन्नता, शारीरिक बल, अपराध तथा अपराध के अभ्यास का विचार कर ही दण्ड देना चाहिए।[२] गौतमधर्मसूत्र के उपर्युक्त कथन से भी स्पष्ट है कि दण्डनिर्धारण के कतिपय मौलिक सिद्धान्त भी व्यवहार के समय सामने रखे जाते थे। आपस्तम्ब का भी कथन है कि राजा साक्षियों के आचार पर प्रश्न कर तथा शपथ दिलाकर अपराध पर विचार करे एवं दण्ड का निर्धारण करे।[३] वसिष्ठ के अनुसार भी हिंसा एवं आक्रोश के अपराधों में देश, काल, धर्म, वय तथा स्थान का विचार करते हुए दण्ड देना चाहिए तथा दण्ड देते समय शास्त्रों एवं पूर्ववर्त्ती दृष्टान्तों को आधार मानना चाहिए।[४] विष्णुधर्मसूत्र में भी अपराधी की जाति, सम्पत्ति और अवस्था का विचार कर ब्राह्मणों के साथ परामर्श कर दण्ड देने का निर्देश है।[५]

उपर्युक्त सिद्धान्तों एवं विषयों का विचार करने पर भी यदि किसी अपराधी के अपराध में सन्देह होता था तो उसे उसका लाभ मिलता था।[६] यदि निर्णय की त्रुटि के कारण किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड मिल जाता था जो बाद में निरपराध सिद्ध होता था तो उस स्थिति में धर्मसूत्र प्रायश्चित्त की व्यवस्था करते थे। तदनुसार, पुरोहित को कृच्छ्रव्रत करना होता था और राजा तीन दिन-रात्रि का उपवास करता था।[७] अपराधों के लिए क्षमादान की व्यवस्था भी धर्मसूत्रों ने की है। आपस्तम्ब के शब्दों में 'राजा को चाहिए कि वह नियमों का उल्लंघन करने वाले या किसी भी प्रकार के अपराधी को

१- अनुज्ञातं वा वेदवित्समवायवचनात्।-गौ २।३।४६

२- पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञानाद्दण्डनियोगः।- गौ २।३।४८

३- सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्येत।-आप २।११।३

४- दण्डस्तु देशकालधर्मवयोविद्यास्थानविशेषे हिंसाक्रोशयोः कल्प्यः। आगमाद् दृष्टान्ताच्च।
- व १६।६,१०

५- अपराधेषु चान्येषु ज्ञात्वा जातिं धनं वयः।
दण्डं प्रकल्पयेद्राजा संमन्त्र्य ब्राह्मणैः सह ॥- वि ५।१६४

६- न च सन्देहे दण्डं कुर्यात्।- आप २।११।२

७- व १६।४२,४३

एकान्त में बन्धन में रखे। अपराधी को बन्धन या कारागार में तब तक रखा जाय, जब तक वह यह प्रतिज्ञा न करे कि मैं नियमों का पालन करूँगा और दुष्कर्मों से दूर रहूँगा।[१] मृत्युदण्ड के अतिरिक्त अन्य प्रकार के दण्डों में क्षमादान दिया जा सकता है और क्षमादान के अधिकारी आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक या राजा होते थे।[२] यह क्षमादान भी केवल पहली बार अपराध करने पर दिया जाता था। दूसरी बार अपराध करने पर अपराधी को दण्ड से मुक्त नहीं किया जा सकता था।[३]

अपराध में सहायता करने वाले को भी धर्मसूत्र अपराधी के तुल्य ही दण्ड्य मानता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने यह सामान्य नियम दिया है कि कर्म करने के लिए उत्तेजित करने वाला, कर्म में सहायता देने वाला तथा कर्म करने वाला तीनो ही उस कर्म के फल का भोग समान रूप से करते हैं[४] तथा जो कर्म के सम्पादन में सर्वाधिक योगदान देता है वह उसके अच्छे या बुरे फल का विशेष रूप से भागी होता है। दण्ड के निर्धारण में धर्मसूत्र नेअपराधी के विद्वान् होने को अधिक दण्ड का हेतु माना है। ऐसा मानने का करण यह प्रतीत होता है कि वर्ण का उत्कर्ष होने से विद्या का भी उत्कर्ष होता है और ऐसा व्यक्ति यदि अपराध करता है तो वह अधिक दोषी है[५] क्योंकि वह निषेध के नियम एवम् अपराध के पाप को जानकर भी अपराध करता है। गौतमधर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त ने धर्मसूत्र की इस व्यवस्था का आधार यही सुझाया है, किन्तु इस प्रकार के नियम अपवादस्वरूप ही हैं। वस्तुतः धर्मसूत्रों की दण्डव्यवस्था पर सर्वत्र वर्ण का विचार प्रभावशाली है। आगे के पृष्ठों में विवेचित दण्डविधि के नियमों से यह स्पष्ट हो जायगा कि धर्मसूत्रों के कानून में उच्चवर्ण का पक्षपातपूर्ण ध्यान रखा गया है और एक ही अपराध के लिए अपेक्षाकृत निम्नवर्ण के

१- नियमातिक्रमिणमन्यं वा रहसि बन्धयेत्। आसमाप्तेः।- आप २।२७।१८,१९

२- आचार्य ऋत्विक्स्नातको राजेति त्राणं स्युरन्यत्र वध्यात्।-आप २।२७।२१

३- द्वितीययमपराधं न स कस्यचित्क्षमेत।- वि ३।६३

४- प्रयोजयिता मन्ता कर्तेति स्वर्गनरक फलेषु कर्मसु भागिनः। यो भूय आरभते तस्मिन् फलविशेषः।- आप २।२९।१,२

५- विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्।- गौ २।३।१४ द्रष्टव्य उपर्युक्त पर हरदत्त का भाष्य। 'यथा यथा वर्णोत्कर्षेण विद्योत्कर्षस्तथा तथा विहितातिक्रमे दण्डभूयस्त्वं भवति।

व्यक्ति के लिए अधिक दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

अपराधों के लिए निर्धारित दण्ड

यद्यपि धर्मसूत्रों ने छोटे-बड़े सभी प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड निर्धारित किये हैं तथापि उनकी दण्डविधि को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है-

(क) वर्णव्यवस्था तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षाविषयक दण्डविधि।
(ख) व्यभिचारनिमित्तक दण्ड।
(ग) हिंसानिमित्तक दण्ड।
(घ) सम्पत्ति रक्षाविषयक दण्ड- जिनके अन्तर्गत वस्तुओं की चोरी, भूमि के अपहरण, पशुओं तथा कृषि की क्षति एवं व्यापारिक नियमों के उल्लंघन के लिए दिये जाने वाले दण्ड सम्मिलित हैं।
(ङ) असत्यभाषण एवं कर्त्तव्यहीनता हेतु दण्ड।

(क) वर्णव्यवस्था एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु दण्ड

धर्मसूत्र वर्णों की कठोर व्यवस्था के पक्षपाती हैं। वे चारो वर्णों के सामाजिक स्तर को बनाये रखने को परम महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि दण्ड का विधान करते समय भी धर्मसूत्र अपराधी के वर्ण के विषय में अधिक चिन्ता व्यक्त करते हैं। वर्णविषयक यह पक्षपात इतना स्पष्ट है कि निष्पक्ष अध्येता को जॉन मेकेंजी का यह कथन स्वीकार करना पड़ता है: 'इन सबके साथ यह भी संबद्ध है कि जितने अपराधों को गिनाया गया है वे सभी खुले आम किये गये दुष्कर्म हैं। दण्ड का निर्णय उनके आन्तरिक पक्ष पर नहीं अपितु बाह्य पक्ष पर ही विचार कर किया गया है।'[1]

धर्मसूत्रों को यही अभीष्ट है कि सभी वर्ण अपने- अपने वर्णधर्म का पालन करें, उन्हीं कर्मों का आचरण करें जो विहित हैं, और उन कर्मों या व्यवसायों को न

१- "Closely connected with all this is the fact that the offences enumerated are all overt acts. Judgement is passed not on the inner but on the outer side of act."- *Hindu Ethics, p. 56*

गहण करें जो निषिद्ध हैं। गौतम ने राजा को यह आदेश दिया है कि वह इस प्रकार निषिद्ध आचरण करने वाले व्यक्ति का भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त धन का अपहरण कर ले।[१] विष्णुधर्मसूत्र में अयोग्य कर्मकारी के लिए भी सौ पण आर्थिक दण्ड विहित है।[२] शिक्षा देने का अधिकार उच्च वर्ण के व्यक्ति को ही था। यदि इसके विपरीत निम्न वर्ण का व्यक्ति दर्प के कारण अपने से उच्च वर्ण के व्यक्ति को शिक्षा देने का साहस करता था तो राजा उसके मुख में खौलता हुआ तेल डलवा देता था।[३] इसी प्रकार शूद्र के लिए वेद के पवित्र मन्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना निषिद्ध था अतः यदि कोई शूद्र इच्छापूर्वक मन्त्र को स्मरण करने के ध्येय से वेद-पाठ सुनने काअपराधीपाया जाता था तो उसके कानों को शीशे और जस्ते से भर दिये जाने का दण्ड होता था।[४]

जैसा कि पहले (अध्याय ४ में) स्पष्ट किया जा चुका है, धर्मसूत्र काल में दण्डविधि की दृष्टि से भी ब्राह्मण को सभी विशेषाधिकार प्राप्त थे। उसको शारीरिक दण्ड नहीं दिये जाते थे। अपराध की घोषणा, देश-निष्कासन तथा शरीर पर विशेष चिह्न अङ्कित करना ही उसके लिए दण्ड था।[५] बहुश्रुत ब्राह्मण को किसी प्रकार के दण्ड नहीं दिये जाते थे। वह वध (शारीरिक दण्ड), बन्धन, आर्थिक दण्ड, ग्राम से निष्कासन, दोषप्रचार और त्याग के योग्य नहीं होता था।[६] बौधायन ने सभी अपराधों में ब्राह्मण को अवध्य माना है[७] और चिह्नाङ्कन का ही दण्ड विहित किया है। विष्णुधर्म-

---

१- शिष्टाचरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चैलपिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम्।- गौ २।३।२४

२- वि ५।११६ अयोग्य कर्मकारी की व्याख्या वैजयन्ती टीका के अनुसार - 'यदस्य योग्यं कर्म न भवति। यथानुपनीतस्याध्ययनम्।'

३- दर्पेण धर्मोपदेशकारिणो राजा तप्तमासेचयेत्तैलमास्ये।- वि ५।२४

४- अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।- गौ २।३।४ व्याख्याकार हरदत्त ने स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'बुद्धिपूर्वमक्षरग्रहणमुपश्रवणम्... उपश्रवणशब्देन यदृच्छया ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः। - तत्रैव हरदत्त की मिताक्षरा वृत्ति।

५- न शारीरो ब्राह्मणदण्डः। कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्ककरणानि।- गौ २।३।४३,४४

६- षड्भिः परिहार्यो राज्ञा। अवध्यश्चावन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति। - गौ १।८।१२-१३

७- अवध्यो वै ब्राह्मणस्सर्वापराधेषु।- बौ १।१८।१७

सूत्र का भी यही मत है।[१]

ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति का वाणी द्वारा अपमान के लिए शूद्र को शारीरिक दण्ड था जिह्वाच्छेदन।[२] यदि क्षत्रिय कठोर वचन कहता था तो सौ कार्षापण और वैश्य एक सौ पचास कार्षापण का दण्ड देता था। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय को कठोर वचन कहता था तो पचास कार्षापण और वैश्य को कठोर वचन द्वारा अपमानित करने पर पच्चीस कार्षापण दण्ड देता था, किन्तु शूद्र को वाणी द्वारा अपमानित करने पर उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए परस्पर वाणी द्वारा अपमान हेतु जो दण्ड थे वे ही क्षत्रिय और वैश्य के लिए पारस्परिक तिरस्कार के लिए होते थे।[३]

धर्मसूत्रों की दण्डविधि के अन्तर्गत यदि शूद्र द्विजातियों के साथ बैठने, सोने, वार्तालाप करने या मार्ग में चलने पर समानता की चेष्टा करता था तो इस प्रकार के अपमानपूर्ण कार्य के लिए भी वह दण्ड्य होता था।[४] आपस्तम्ब के अनुसार इस अपराध हेतु शूद्र को डण्डे से पीटा जाता था।[५] विष्णुधर्मसूत्र में एक आसन पर बैठने का प्रयत्न करने वाले निम्नवर्ण के व्यक्ति के लिए यह दण्ड बताया गया है कि उसकी कटि पर जलते हुए लोहे से चिह्न अङ्कित कर उसका निष्कासन कर दिया जाय।[६] इस धर्मसूत्र में कतिपय अन्य अपमान के कार्यों के लिए भी कठोर दण्ड उक्त है। यथा- यदि निम्नवर्ण के पुरुष उच्चवर्ण के व्यक्ति के ऊपर थूके तो उसके दोनो ओठ काटने का दण्ड, उसकी ओर अपानवायु छोड़े तो गुदा काटने का दण्ड, द्रोह से नाम एवं जाति का उच्चारण करने पर दस अंगुल लम्बी लोहे के काँटे को तप्तकर मुख में डालने का दण्ड।[७]

१- बौ १।१८।१८ ब्राह्मणस्य ब्रह्महत्यागुरुतल्पगमनस्वर्णस्तेयसुरापानेषु कुसन्धिभगसृगाल-सुराध्वजांस्तप्तेनाऽयसा ललाटेऽङ्कयित्वा विषयान्निर्धमनम्। द्र० वि ५।२-८

२- वि ५।२३,सत्या० २०।५।२३३, वि ५।१६, आप २।२७।१४

३- शतं क्षत्त्रियो ब्राह्मणाक्रोशे। ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्त्रियवैश्यौ।- गौ २।३।६,११

४- आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः।- गौ २।३।५

५- वाचि पथि शय्यायामासन इति समीभवतो दण्डताडनम्।-आप २।२७।१५, सत्या २७।५।२३४

६- एकासनोपवेशी कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः।- वि ५।२०

७- वि ५।२१,२२,२५

अपमान के लिए आर्थिक दण्ड की भी व्यवस्था मिलती है। समान वर्ण के व्यक्ति का अपमान करने पर बारह पण तथा हीन वर्ण के व्यक्ति का अपमान करने पर छः पण, एक ही समय में उत्तमवर्ण के व्यक्ति को अपमानित करने और उससे अपमानित होने पर छः पण, अपमान का उत्तर देने पर तीन कार्षापण तथा कटु वचन बोलने पर भी तीन कार्षापण दण्ड होते थे।[२]

विष्णुधर्मसूत्र के काल में भी वर्णानुसार अपमान के दण्ड कम या अधिक होते थे। क्षत्रिय वर्ण के अपमान के लिए ब्राह्मण के अपमान के दण्ड से आधा दण्ड होता था और शूद्र को अपमानित करने पर प्रथम साहस का दण्ड विहित था।[३] तीन वेदों के विद्वान् ब्राह्मण का, किसी वृद्ध अथवा सम्पूर्ण जाति का तिरस्कार मध्यम साहस के दण्ड तथा सम्पूर्ण ग्राम या देश का तिरस्कार प्रथम साहस के दण्ड का हेतु होता था।[४] वाणी द्वारा किये जाने वाले अपमान का एक रूप यह है कि कोपभाजन व्यक्ति के लिए अश्लील शब्दों का प्रयोग करते हुए तथा उस व्यक्ति की निकट संबन्ध वाली स्त्रियों यथा माता, भगिनी, पुत्री या पत्नी के यौनांग का तथा स्वयं उन स्त्रियों से यौनसम्बन्ध करने का उल्लेख करत हुए अपमानित किया जाता है। इस प्रकार की आक्रोशाभिव्यक्ति से धर्मसूत्र भी परिचित हैं। विष्णुधर्मसूत्र में माता के अतिरिक्त अन्य संबद्ध स्त्रियों की गाली देने पर सौ कार्षापण तथा माता की गाली देने पर उत्तम साहस का दण्ड उल्लिखित है। माता की पूज्यता के कारण उसके सन्दर्भ में अधिक दण्ड होना स्वाभाविक है।[५]

मिथ्या दोषारोपण भी धर्मसूत्रों की दृष्टि में दण्डनीय अपराध है। ब्राह्मण पर पातक अथवा अन्य अपराध का मिथ्यारोपण करने पर वसिष्ठ द्वारा प्रायश्चित्त विहित है[६] किन्तु विष्णुधर्मसूत्र में आर्थिक दण्ड बताये गये हैं। तदनुसार गुरु के आक्षेप पर एक सौ कार्षापण, दूसरे पर पातक कर्म का मिथ्यारोपण करने पर उत्तम साहस का और उपपातक का आरोप करने पर मध्यम साहस का दण्ड होता था।[७] इसी प्रकार

१- वि ५।३५-३६ २- तदेव, ५।१०१-१०३

३- त्रैविद्यवृद्धानां क्षेपे जातिपूगानां च। ४- ग्रामदेशयोः प्रथमसाहसम्।- वि ५।३१-३२

५- न्यङ्गतायुक्ते क्षेपे कार्षापणशतम्। मातृयुक्ते तूत्तमम्।- वि ५।३३-३४

६- व २३।२६ ७- वि ५।२८-३०

यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के वास्तविक शारीरिक दोषों का ही उल्लेख करते हुए उसका अपमान करता था तो दो कार्षापण दण्ड होता था।[१] किसी कन्या के विषय में मिथ्या दोषप्रचार उत्तम साहस के दण्ड के लिए पर्याप्त होता था और इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कन्या के दोषयुक्त होने पर उसका दोष न बताते हुए उसका दान करता है तो उसे सौ कार्षापण दण्ड देना होता था और कन्या का भरणपोषण करना होता था।[२]

भोजन के प्रसंग में किये जाने वाले अपमान का विचार करते हुए धर्मसूत्र में ऐसे दुर्व्यवहारों को ग्रहण किया गया है जिनमें अनुचित भोजन देकर, आमन्त्रित न कर अथवा निषिद्ध पेय पदार्थ देकर अपमानित किया गया हो। ब्राह्मण को अखाद्य पदार्थ या निषिद्ध भोजन देने पर सोलह सुवर्ण तथा जातिभ्रंशकर भोजन देने पर सौ सुवर्ण दण्ड होता था।[३] श्राद्ध में प्रतिवेशी ब्राह्मण को न निमन्त्रित करना अथवा निमन्त्रित कर भोजन न देना भी अपमानजनक व्यवहार है और ऐसा व्यवहार करने वाले को पच्चीस कार्षापण दण्ड देना होता था किन्तु निमन्त्रण स्वीकार कर लेने पर भोजन न ग्रहण करने वाले को भी एक सुवर्ण माष का दण्ड और आमन्त्रित करने वाले को दूना भोजन देना पड़ता था।[४] जो व्यक्ति ज्ञानपूर्वक जातिभ्रंशकर भोजन कराता था उसका निष्कासन कर दिया जाता था।[५] सुरापान कराने वाले को तो वध के योग्य समझा गया है।[६] निन्दित भोजन द्वारा दूसरे को दूषित करनेके समान ही अस्पृश्य द्वारा उच्चवर्ण के व्यक्ति का स्पर्श दण्डनीय अपराध माना गया है।[७] यदि मासिक अपवित्रता के समय कोई स्त्री किसी द्विजाति का स्पर्श करती है तो उसे कोड़ा माने का दण्ड विहित है।[८]

१- काणखंजादीनां तथावाद्यपि कार्षापणद्वयम्।- वि ५।२७
२- दोषमनाख्याय कन्यां प्रयच्छंश्च। तां व बिभृयात्।- वि ५।४५-४६
३- वि ३।६८-६६
४- वि ५।६४-६७
५- जातिभ्रंशकरस्याभक्ष्यस्य भक्षयिता विवास्यः।- वि ५।१७३
६- सुरया वध्यः।- वि ५।१००
७- अस्पृश्यः कामकारेण स्पृश्यं स्पृशन्वध्यः।- वि ५।१०४
८- रजस्वलां शिफाभिस्ताडयेत्।- वि ५।१०४

श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति सम्मान का प्रदर्शन न करना भी धर्मसूत्रों में दण्डनीय माना गया है। जिनको मार्ग देना चाहिए उनको मार्ग न देने पर और आसन देने योग्य व्यक्ति को आसन न देने पर, पूजार्ह की पूजा न करने पर पच्चीस कार्षापण का दण्ड होता था।[१] दैव कर्म या पित्र्य कर्मों में शूद्र या संन्यासी को भोजन कराने पर एक सौ पण दण्ड था।[२] मार्ग में, उद्यान में अथवा जल के समीप मलमूत्रत्याग द्वारा अपवित्रता उत्पन्न करने पर एक सौ पण का दण्ड होता था और उस व्यक्ति से वह अशुद्धि दूर करायी जाती थी।[३]

पारिवारिक सम्बन्धों का निर्वाह न करना भी एक दण्डनीय अपराध माना गया है। विष्णुधर्मसूत्र के निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है- 'जो व्यक्ति एक वर को कन्या देने का वचन देकर उसका विवाह दूसरे पुरुष से करता है उसे चोर के समान मानकर दण्ड देना चाहिए, किन्तु यदि प्रथम वर में दोष हो तो दण्ड न दिया जाय। यही दण्ड उस वर के लिए भी होता है जो निर्दोष कन्या का त्याग करता है। निर्दोष पत्नी का परित्याग करने वाला पुरुष भी स्तेनतुल्य दण्ड का पात्र होता है।[४] यदि पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पुराहित-यजमान में कोई एक दूसरे का परित्याग करने का उपक्रम करता है तो उसे एक सौ पण दण्ड देना होता है और जिनका त्याग कर रहा हो उन्हें स्वीकार करना पड़ता है।[५]

(ख) व्यभिचार-निमित्तक दण्ड

वर्णव्यवस्था का अभिन्न अङ्ग स्त्रियों की व्यभिचार से रक्षा है। समाज में एक दूसरे वर्ण के स्त्रियों एवं पुरुषों के संबन्ध से वर्णसंकर सन्तानों की उत्पत्ति न हो इस लक्ष्य से प्रेरित होकर धर्मसूत्रों ने यौनसम्बन्ध-विषयक अपराधों के लिए कठोर दण्ड प्रस्तावित किया है। नारी के सम्मान की रक्षा होने पर ही परिवार और समाज के सम्मान की रक्षा और धर्म की व्यवस्था हो सकती है इसका अनुभव कर ही

१- वि ५।६१-६३
२- शूद्रप्रव्रजितानां दैवे पित्र्ये भोजकश्च।- वि ५।११५
३- वि ५।१०६-१०७
४- तदेव ५।१६१-१६३
५- तदेव ५।११३-११४

धर्मसूत्रकारों ने प्रजा की धनसम्पत्ति की रक्षा की अपेक्षा भी सभी वर्णों की स्त्रियों के सम्मान की रक्षा को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है और राजा के ऊपर इसका महान् उत्तरदायित्व सौंपा है। बौधायन के शब्दों में - 'सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमा धनात्।'[१]

कुमारी कन्या की रक्षा पर धर्मसूत्र और अधिक बल देते हैं और इस प्रकार स्त्री-सम्मान की रक्षा को यथोचित महत्त्व दिया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के निम्नलिखित विचार यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं - 'यदि आभूषणों आदि से अलंकृत युवक अनजान में किसी ऐसे स्थान पर जाता है जहाँ एक विवाहिता स्त्री या विवाह-योग्य कन्या बैठी हो तो उसकी भर्त्सना करते हुए उसे रोकना चाहिए और यदि वह जानबूझकर ऐसा करता है तो उसे आर्थिक दण्ड देना चाहिए।[२] जिस स्त्री या कुमारी कन्या के साथ किसी युवक द्वारा अवैघ यौनसम्बन्ध किया गया होता था उसका भरणपोषण राजा करता था।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मसूत्रकाल में भी इस प्रकार की स्त्रियों के लिए अबलाश्रम या नारीसुधारगृहों जैसी व्यवस्था थी। परस्त्री या विवाहयोग्या कन्या के साथ अवैध संबन्ध करने वाले पुरुष के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था है। आपस्तम्ब के अनुसार ऐसे पुरुष की जननेन्द्रिय अण्डकोशों के साथ कटवा दी जाती थी और विशेषतः कुमारी कन्या से मैथुन का अपराध करने वाले व्यक्ति की धनसम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाता था और उसे देश से निष्कासित कर दिया जाता था।[४] राजा को इस बात का विशेष ध्यान रखना होता था कि उपर्युक्त अपराध में उपभुक्ता स्त्री की रक्षा हो और उसके साथ पुनः दुर्व्यवहार न हो सक।[५] ऐसी स्त्रियों को जो राजा के संरक्षण में रहती थीं, प्रायश्चित्त करने का अवसर दिया जाता था। उन्हें सुधारा जाता था और उसके बाद उन्हें उनके स्वामियों या संरक्षकों के हाथों में सौंप

१- बौ २।४।२

२- अबुद्धिपूर्वमलंकृतो युवा परदारामनुप्रविशन् कुमारीं वा वाचा बाध्यः। बुद्धिपूर्वं तु दृष्टमानो दण्ड्यः।-आप २।२६।२२, सत्या० २७।५।२१३-२१४

३- अथ भृत्ये राज्ञा।- आप २।२६।२२,सत्या० २७।५।२१८

४- सन्निपाते वृत्ते शिश्नच्छेदनं सवृषणस्य। कुमार्यां तु स्वान्यादाय नाश्यः।-आप २।२६।२१,

५- रक्ष्ये चाऽत ऊर्ध्वं मैथुनात्।- आप २।२६।३

दिया जाता था।[1] प्रायश्चित्त कर लेने पर वे स्त्रियाँ फिर दोषयुक्त नहीं मानी जाती थीं। वे यज्ञ और विवाह के लिए पवित्र समझी जाती थीं क्योंकि विवाह सम्बन्ध धर्मानुसार होता है।[2]

यौनसम्बन्ध-निमित्तक अपराधों में सबसे घोर एवं गर्हित अपराध है गुरुपत्नीगमन। इसके लिए भयङ्कर प्रायश्चित्त विहित है जिनका विवेचन हम आगे पाप और प्रायश्चित्त से सम्बद्ध अध्याय में करेंगे। राजा द्वारा व्यभिचार के जिन अपराधों में दण्ड दिये जाते थे उनमें अपराध कर्म संलिप्त स्त्री और पुरुष के वर्णों का विचार किया जाता था। इस विषय पर धर्मसूत्रों की निम्नलिखित दण्डविधि द्रष्टव्य है - यदि शूद्र किसी उच्च वर्ण की स्त्री से मैथुन रत होता है तो उसकी जननेन्द्रिय कटवाकर उसकी सम्पत्ति छीन ली जाय और यदि वह अपराधी शूद्र उस स्त्री की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया हो तो उसका वध कर दिया जाय।[3] आपस्तम्ब ने और भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। उनके अनुसार आर्य वर्ण की स्त्री से व्यभिचार करने वाला शूद्र वध्य होता है।[4] इसके विपरीत यदि तीन उच्च वर्णों का पुरुष शूद्र स्त्री से व्यभिचाररत होता है तो उसके लिए देशनिष्कासन का दण्ड है।[5] परदारागमन के लिए विष्णुधर्मसूत्र की दण्डव्यवस्था इस प्रकार हैः 'सवर्णा परस्त्री के गमन हेतु पुरुष को उत्तम साहस का , अपने से हीन वर्ण की परस्त्री के गमन हेतु मध्यम साहस का दण्ड होता है, किन्तु चाण्डाल आदि निकृष्ट वर्ण की स्त्री से व्यभिचार करने वाला पुरुष वध्य होता है।[6]

ब्राह्मण वर्ण की विशेष सम्मानपूर्ण सामाजिक स्थिति के कारण ब्राह्मणी के प्रति व्यभिचार हेतु धर्मसूत्रों में कठोर दण्ड विहित हैं। बौधायन ने ऐसे अपराधों में निश्चित रूप से शारीरिक दण्ड का विधान किया है।[7] वसिष्ठधर्मसूत्र में ब्राह्मणीगमन का वर्ण

१- निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिभ्योऽवसृजेत्।- आप २।२६।४

२- चरिते यथापुरं धर्माद्धि सम्बन्धः।- आप २।२७।१

३- आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च। गोप्ता चेद्वधोऽधिकः।-गौ २।३।२-३

४- वध्यश्शूद्र आर्यायाम्।- आप २।२७।६ ५- नाश्य आर्य शूद्रायाम्।-तत्रैव ८

६- पारजायी सवर्णागमने तूत्तमसाहसं दण्ड्यः। हीनवर्णागमने मध्यमम्। अन्त्यागमने वध्यः। -वि ५।४०,४१,४३

७- अब्राह्मणस्य शारीरो दण्डस्संग्रहणे भवेत्।-बौ २।४।१

के अनुसार दण्ड इस प्रकार है- यदि क्षत्रिय पुरुष ब्राह्मणी से व्यभिचार करता है तो उसे शरपत्र में बँधवाकर आग में डाल दे और ब्राह्मणी के सिर का मुण्डन कराकर उसे श्वेत गदहे पर बैठवाकर शरीर में घृत का लेप कराकर नग्नावस्था में राजमार्ग से भ्रमण कराये। इससे वह ब्राह्मणी दोषमुक्त हो जाती है।[१] वैश्य पुरुष के सन्दर्भ में भी उपर्युक्त दण्ड है। अन्तर इतना ही है कि वैश्य पुरुष को लोहित घास में बाँधे जाने तथा उससे सम्बन्ध करने वाली ब्राह्मणी को भूरे गदहे पर बैठाने का निर्देश किया गया है।[२] इसी प्रकार शूद्र के ब्राह्मणीगमन के प्रसंग में पुरुष को सरकंडों में बाँधकर अग्नि में फेंकने और ब्राह्मणी को काले गदहे पर बैठाने का दण्ड उल्लिखित है।[३] जो दण्ड क्षत्रिय के लिए ब्राह्मणीगमन के अपराध में बताया गया है, वही वैश्य को क्षत्रियागमन पर तथा शूद्र पुरुष को वैश्य या क्षत्रिय वर्ण की स्त्री से व्यभिचाररत होने पर भी है।[४]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यभिचार के उपर्युक्त दोषों में पुरुष को ही शारीरिक दण्ड के योग्य माना गया है और उसे ही अधिक दण्ड्य बताया गया है। स्त्री के लिए एक प्रकार का सामाजिक तिरस्कार ही पर्याप्त माना गया है। स्त्री के लिए प्रायश्चित्त का विधान है और उसी से उसकी शुद्धि होने की घोषणा की गयी है, किन्तु इस प्रकार की शुद्धि उसी स्थिति में सम्भव थी जब अवैध सम्बन्ध के फलस्वरूपा सन्तान की उत्पत्ति न हुई हो।[५] शूद्र से व्यभिचारसंपृक्त होने वाली द्विजाति स्त्री के लिए

१- राजन्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येद् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा समवयज्य नग्नां श्वेतखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते।- व २१।३

२- व २१।२ वैश्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वेश्यमग्नौ प्रास्येद् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा समभ्यज्य नग्नांगौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते।

३- व २१।१ शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेद् वीरणैर्वेष्टयितवा शूद्रमग्नौ प्रास्येद् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा समभ्यज्य नग्नां कृष्णखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते।

४- एवं वैश्यो राजन्यायाम्। शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोः।- व २१।४,५

५- ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण संगताः।
अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः॥- व २१।१२

व्रत ही दण्ड होता था। आपस्तम्ब ने स्पष्ट आदेश दिया है कि इस प्रकार की स्त्री को व्रत आदि द्वारा कृश बना देना चाहिए।[१] पति की उपेक्षा कर पातिव्रत धर्म का उल्लंघन करने वाली स्त्री के लिए विष्णुधर्मसूत्र में कठोर शारीरिक दण्ड निर्धारित किया गया है। इस धर्मसूत्र के मतानुसार पति के दुर्बल होने पर जो स्त्री परपुरुषगमन करती है वह वध्य होती है।[२]

बौधायन ने कतिपय स्त्रियों के साथ यौनसम्बन्ध को दण्ड्य नहीं माना है। विशेषतः चारणों की पत्नियों एवे रंगमंच पर नृत्य करने वाली स्त्रियों से यौनसम्बन्ध के लिए वध का दण्ड नहीं होता था, क्योंकि ये स्त्रियाँ धनलिप्सा से स्वयं ही दूसरे पुरुषों को आकृष्ट कर उनसे मैथुनरत होती हैं और पुनः उनका परित्याग कर देती हैं।[३]

धर्मसूत्रों की दण्डविधि की व्यापकता का एक उदाहरण उन स्थलों पर मिलता है जहाँ वे पशुमैथुन के लिए भी दण्ड का उल्लेख करते हैं। उनका ध्यान मनुष्यों के असामान्य आचरणों पर भी है। विष्णुधर्मसूत्र में गौ से यौनसंबन्ध के लिए मध्यम साहस का तथा अन्य प्रकार के पशुगमन के लिए एक सौ कार्षापण का दण्ड बताया गया है।[४] इस प्रकार धर्मसूत्रों को न केवल स्त्री जाति के सम्मान की रक्षा ही अभीष्ट है, अपितु मनुष्यों के यौनाचार का नियमन भी उनका लक्ष्य है।

(ग) हिंसानिमित्तक दण्ड

मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों की जीवन रक्षा हेतु कठोर दण्डव्यवस्था अपेक्षित है। धर्मसूत्रों में भी हत्या अथवा प्रहार के अपराधों को रोकने के लिए अनुरूप दण्ड निर्दिष्ट हैं किन्तु दण्डविधि में अपराधी को दिये जाने वाले दण्ड के विषय में पक्षपात यहाँ भी स्पष्ट हो जाता है। एक ही प्रकार के अपराध में वर्ण के अनुसार दण्ड में

१- दार चास्य कर्शयेत्।-आप २।२७।१०

२- स्त्रियमशक्तभर्तृकां तदतिक्रमणीं च।- वि ५।१८

३- न तु चारणदारेषु न रंगावतारे वधः।
संसर्जयन्ति ता ह्येतान्निगुप्तांश्चालयन्त्यपि॥- बौ २।४।३ गोविन्दस्वामी के अनुसार चारणदारा से देवदासी और रंगावतार से पण्यस्त्री या वेश्या अभिप्रेत है।)

४- वि ५।४२,४४

अन्तर किया गया है और निम्नवर्ण के अपराधी को अधिक दण्डार्ह समझा गया है। उदाहरण के लिए यदि ब्राह्मण अन्य किसी ब्राह्मण का वध करे तो बौधायनधर्मसूत्र उसके लिए ललाट पर मनुष्य के मस्तकरहित शरीर की आकृति अङ्कित कर निर्वासन का दण्ड बताता है किन्तु एक क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण का वध करने पर उस क्षत्रिय का वध कर देने और सर्वस्वहरण करने का निर्देश देता है।[1] इसी धर्मसूत्र ने क्षत्रिय आदि के वध के अपराध हेतु राजा को गौएँ प्रदान करने का दण्ड बताया है जो दण्ड के साथ प्रायश्चित्त भी है। तदनुसार क्षत्रिय का वध करने वाला राजा को एक सहस्र गायें और एक वृषभ दे, वैश्य का वध करने वाला सौ गायें तथा वृषभ दे तथा शूद्र का वध करने वाला दस गायें तथा वृषभ दे।[2] उल्लेखनीय है कि ब्राह्मणी के अतिरिक्त अन्य वर्ण की स्त्री के तथा गौ के वध का भी प्रायश्चित्त या दण्ड वही है जो शूद्रवध का, किन्तु गौ या बैल का वध करने पर उपर्युक्त दण्ड के अतिरिक्त चान्द्रायण व्रत का भी विधान है। इसी प्रकार आत्रेयी (मासिक धर्म के बाद स्नाता ब्राह्मणी) के वध का दण्ड क्षत्रियवध के दण्ड के समान है।[3] इन नियमों से स्पष्ट है कि धर्मसूत्र एक ही वर्ण के स्त्री और पुरुष की हत्या के अपराध में भेद करता है। उन दोनो की स्थिति समान नहीं मानता है।[4] शूद्र की अवस्था तो और भी निकृष्ट है। उसके वध के लिए विहित दण्ड तथा हंस, भास, मोर, चक्रवाक, प्रचलाक, कौआ, उल्लू, कण्टक, छुछुन्दर, मेढक, डेरिका, कुत्ता, बभ्रु, नेवला आदि के वध का दण्ड समान बताया गया है।[5]

आपस्तम्ब ने किसी पुरुष की हत्या करने, चोरी और बलपूर्वक भूमि पर अधिकार करने के अपराधी शूद्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर उसका वध करने का दण्ड विहित किया है, किन्तु इन्हीं अपराधों के लिए ब्राह्मण को नेत्रों पर पट्ट

१- बौ १।१८।१८,१९

२- क्षत्रियवधे गोसहस्रमृषभैकाधिकं राज्ञ उत्सृजेद्वैरनिर्यातनम्। शतं वैश्ये दश शूद्र ऋषभश्चाऽत्राधिकः।- बौ १।१९।१-२

३- बौ १।१९।३-७

४- बौ १।१९।३ तथा ७

५- हंसभासबर्हिणचक्रवाकप्रचलाककाकोलूककण्टकडिड्डिकमण्डूकडेरिकाश्वबभ्रुनकुलादीनां वधे शूद्रवत्।- बौ १।१९।८

बँधवा देना ही पर्याप्त मान लिया है।[1] मृत्युदण्ड के योग्य अपराधियों के अन्तर्गत विष्णुधर्मसूत्र में निम्नलिखित की गणना की गयी है- राजाज्ञा की जालसाजी करने वाले, कूटलेख्य प्रस्तुत करने वाले, विषदेने वाले, आग लगाने वाले, डाकू, स्त्रियों, बच्चों या पुरुषों का वध करने वाले, दस कुम्भ से अधिक धान्य चुराने वाले अथवा तौलकर बेची जाने वाली स्वर्ण, रजत, जैसी वस्तु सौ माष से अधिक मात्रा में चुराने वाले, निम्नकुल में उत्पन्न होकर राजा का पद पाने की चेष्टा करने वाले, पुल तोड़ने वाले, डाकुओं को आश्रय तथा भोजन देने वाले तथा पति के भरण पोषण में समर्थ होने पर भी परपुरुषगामिनी स्त्री।[2] यहाँ भी द्रष्टव्य है कि मृत्युदण्ड के प्रयोजक माने गये अपराध भी गुरुता की दृष्टि से एक प्रकार के नहीं हैं। पुरुषवध, चोरी, जालसाजी तथा व्यभिचार को समान ही मानकर दण्डव्यवस्था की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुधर्मसूत्र के काल में उपर्युक्त अपराध सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थे।

हत्या के अतिरिक्त किसी व्यक्ति पर प्रहार के अपराध में भी धर्मसूत्रों ने दण्ड की व्यवस्था की है। गौतम के अनुसार यदि द्विजातिवर्ण के पुरुष पर शूद्र जानबूझकर आघात करता है तो उसने जिस अङ्ग से आघात किया हो उसे काट लिया जाय।[3] विष्णुधर्मसूत्र में प्रहार की चेष्टा करने या वस्तुतः प्रहार करने पर निम्नलिखित दण्ड निर्दिष्ट हैं- 'यदि कोई व्यक्ति अपने समान वर्ण वाले को मारने के लिए हाथ उठाता है तो दस कार्षापण दण्ड दे, पैर उठाता है तो बीस कार्षापण दण्ड दे। प्रहारार्थ लकड़ी का टुकड़ा, पत्थर और शस्त्र उठाने पर क्रमशः प्रथम, मध्यम एवम् उत्तम साहस का दण्ड होता है। यदि वह अपने समान वर्ण वाले पर प्रहार करने के उद्देश्य से उसके केश, वस्त्र या हाथ पकड़ता है तो दस पण का अर्थदण्ड दे। विना रक्त निकाले हुए चोट पहुँचाने पर बत्तीस पण और प्रहार द्वारा रक्त निकालने पर चौंसठ पण दण्ड होता है।

१- पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्वान्यादाय वध्यः। चक्षुनिरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य।
- आप २।२७।१६-१७ २- वि ५।६-१८

३- शूद्रो द्विजातीनभिसन्धायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गमोच्यो येनोपहन्यात्।- गौ २।३।१
तुलना मनुस्मृति- येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्यापराध्नुयात्।
तदङ्ग तस्यच्छेत्तव्यं तन्मनोरनुशासनम् ॥

एक हाथ, एक पैर या एक दाँत तोड़ने पर , एक कान या नाक काटने पर, किसी व्यक्ति को चलने, भोजन करने, बोलने में असमर्थ बनाने अथवा अधिक प्रहार करने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है। एक आँख फोड़ने , गर्दन, एक भुजा, एक हड्डी, एक कन्धा तोड़ने पर उत्तम साहस का दण्ड होता है। किसी व्यक्ति की दोनो आँखें फोड़ने पर अपराधी को राजा आजीवन कारावास में रखे अथवा उसकी केवल दोनो आँखें फोड़ दे। यदि एक व्यक्ति पर बहुत से व्यक्ति मिलकर प्रहार करें तो एक व्यक्ति द्वारा प्रहार किये जाने पर जो दण्ड विहित है उसका दुगुना दण्ड उनमें से प्रत्येक को दिया जाय।[१] यदि कोई दुष्कर्मी किसी व्यक्ति पर प्रहार करता हो और पीडित व्यक्ति सहायतार्थ पुकार रहा हो तो इस स्थिति में समीप में उपस्थित होने या दौड़कर पहुँचने पर भी जो व्यक्ति उसकी सहायता नहीं करता वह अधिक अपराध का भागी और प्रहार करने वाले की अपेक्षा दूने दण्ड के योग्य घोषित किया गया है।[२] प्रहार करने पर अपराधी से पीडित व्यक्ति को चिकित्सा का व्यय भी दिलाने का दण्ड निर्दिष्ट है।[३]

उपर्युक्त दण्डों की व्यवस्था करते हुए धर्मसूत्र आत्मरक्षार्थ किसी हिंसक पशु या आततायी पुरुषका वध दण्ड्य नहीं मानते। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यदि अपना गुरु, कोई बालक या वृद्ध पुरुष अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण आततायी के रूप में आता हो तो उसका विना विचारे वध कर देना चाहिए। इस प्रकार के आततायी का वध करने में कोई दोष नहीं होता।[४] किन्तु आततायियों के अन्तर्गत केवल वध करने वाले ही नहीं आते हैं। पत्नी के साथ यौनसंबन्ध करने वाले परपुरुष की गणना भी आततायियों के अन्तर्गत की गयी है।[५] यश, धन, धर्म और सम्पत्ति का अपहरण करने वाले व्यक्तियों को भी इसी कोटि में रखा गया है और उनके वध हेतु भी कोई दण्ड नहीं माना गया

१- वि ५।६०-७३

२- उत्क्रोशन्तनभिधावतां तत्समीपवर्तिनां संसरतां च।- वि ५।७४

३- सर्वे च पुरुषपीडाकरास्तदुत्थानव्ययं दद्युः।- वि ५।७५

४- गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तु मन्युमृच्छति॥- वि ५।१८९-१९०

५- वि ५।१९१-१९२

है। आततायी पुरुषों के समान ही हिंसक पशुओं का वध करना भी दण्ड्य अपराध नहीं है।[१]

(घ) सम्पत्तिरक्षा-विषयक दण्ड

प्रजा की सम्पत्ति की रक्षा धर्मसूत्रों की दृष्टि में राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। राजा व्यक्तियों के जीवन की रक्षा के साथ-साथ उनके आर्थिक साधनों की रक्षा करने पर ही उनका जीवन सुखी बना सकता है। प्रजा के सुखी होने पर ही राजा कृतकार्य होता है। धर्मसूत्र ऐसे राजा को इन्द्र के लोक का अधिकारी मानता है जो प्रजा के सुखी रहने पर ही अपने सुख का अनुभव करता है और प्रजा के दु:खी रहने पर दु:खित रहता है-

प्रजासुखे सुखी राजा तद्दु:खे यश्च दु:खित:।
स कीर्तियुतो लोकेऽस्मिन्प्रेत्य स्वर्गे महीयते।।[२]

अर्थ मनुष्य के भौतिक सुखों, सुविधाओं की प्राप्ति का साधन है। अतएव अर्थ का लोभ मानव की स्वाभाविक दुर्बलता है। धर्म द्वारा अथवा अपने परिश्रम से अर्थोपार्जन उचित है, किन्तु जब अधर्म द्वारा अनैतिक उपायों से अर्थ प्राप्त किया जाता है तब वह अपराध की कोटि में आता है। यह एक सामाजिक अपराध है और इससे अपराधी किसी अन्य व्ययिक्त को हानि पहुँचाता है। परसम्पत्तिग्रहण, परवस्तु का अपहरण अथवा अदत्त वस्तु का आदान स्तेय है। अनादिकाल से स्तेनकर्म को एक घोर अनैतिक कर्म माना गया है। धर्मसूत्रों ने ब्राह्मण के सुवर्ण की चोरी को महापातक बताया है और उसके लिए अत्यन्त भयंकर प्रायश्चित्त का निर्देश किया है। आगे आने वाले 'पाप और प्रायश्चित्त' के अध्याय में हम ब्राह्मण के धन की चोरी के लिए विहित प्रायश्चित्तों का विवेचन करेंगे। यहाँ धर्मसूत्रों में चोरी एवं दूसरों की आर्थिक क्षति करने पर जो दण्ड निर्धारित हैं उनकी समीक्षा की जायगी।

चोरी के लिए भी दण्ड निर्धारित करते समय सामान्यत: धर्मसूत्र अपराधी के वर्ण के प्रति पक्षपात करता है, किन्तु गौतम ने उच्च वर्ण वाले स्तेन के लिए अधिक

१- नखिनां शृङ्गिणां चैव दंष्ट्रिणामाततायिनाम्।हस्त्यश्वानां तथान्येषां वधु हन्ता न दोषभाक्। - वि ५।१८८

२- वि ३।९८

आर्थिक दण्ड रखा है। उनके अनुसार शूद्र से चोरी किये गये धन का आठ गुना, वैश्य से सोलह गुना, क्षत्रिय से बत्तीस गुना तथा ब्राह्मण से चौंसठ गुना दण्ड के रूप में लिया जाय, क्योंकि वर्ण का उत्कर्ष होने से विद्या का भी उत्कर्ष होता है और इस हेतु अपराध भी अधिक होता है।[१] चोर की सहायता करने वाला तथा चोरी का धन रखने वाला भी चोर के समान ही अपराधी एव दण्ड्य माना गया है।[२] प्रजा के धन की चोरी होने पर धर्मसूत्र राजा को ही उत्तरदायी मानता है। गौतमधर्मसूत्र के निर्देशानुसार यदि चोरी गयी हुई वस्तु नहीं मिल पती थी जो उसका मूल्य राजा को अपने कोश से देना होता था।[३] आपस्तम्ब ने नगर एवं ग्राम की सीमाओं के भीतर चोरी को रोकने के लिए नियुक्त राजपुरुषों से सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति कराने का आदेश दिया है।[४]

धर्मसूत्रों ने चोरी को अक्षम्य अपराध माना है। यदि राजा चोर को क्षमा कर देता है तो उसका पाप उसी के ऊपर आ जाता है।[५] जब चोर अपना अपराध स्वयं स्वीकार लेता था तब धर्मसूत्रानुसार उसे हाथ में मूसल लेकर केशों को बिखराये हुए राजा के समीप दण्ड के लिए जाना होता था। उस मूसल से राजा द्वारा प्रहार करने पर यदि उसकी मृत्यु हो जाती थी अथवा राजा उसे दण्ड दिये विना छोड़ देता था तो वह पापरहित हो जाता था।[६] प्रथमतः राजा का यह दायित्व होता था कि वह चोर की चुरायी गयी सम्पत्ति लौटाने के लिए बाध्य करे और तदनन्तर उसे अपराध के लिए दण्ड दे।[७]

१- अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य। द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम्। विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्। -गौ २।३।१२-१४

२- चोरसमः सचिवो मतिपूर्वे। प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते।- गौ २।३।४६,४७

३- कोशाद्वा दद्यात्।- गौ २।१।४७

४- तत्र यन्मुष्यते तैस्तत्प्रतिदाप्ययम्।- आप २।२६।८

५- अनुज्ञातेऽनुज्ञातारमेनः स्पृशति।- आप १।२५।५
अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥- व १६।४४

६- स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजानमियातकर्माऽऽचक्षाणः। पूतो वधमोक्षाभ्याम्।
- गौ २।३।४०-४१, स्तेनः प्रकीर्णकेशोंऽसे मुसलमादाय राजानं गत्वा कर्माऽऽचक्षीत। तेनैनं हन्याद् वधे मोक्षः। - आप १।२५।४, स्तेनोऽनुप्रवेशान्न दुष्यते।- व १६।३८

७- वि ५।८६-६०

चोर के अपराध की पुष्टि हेतु वसिष्ठधर्मसूत्र ने इस मत का उल्लेख किया है कि हाथ में शस्त्र, चुरायी गयी सम्पत्ति अथवा शरीर पर चोट के चिह्न को प्रमाण मानने चाहिए।[1]

विष्णुधर्मसूत्र में वस्तु या पशु आदि की चोरी के लिए शारीरिक एवम् आर्थिक दण्ड विहित हैं। दण्डों का गुरुत्व के आधिक्यानुसार प्रथम, मध्यम तथा उत्तम साहस के वर्गों में विभाजन भी इस धर्मसूत्र में उपलब्ध होता है। इस धर्मसूत्र की दण्डविधि इस प्रकार है :- 'गाय, अश्व, ऊँट और हाथी की चोरी करने पर अपराधी का एक हाथ और एक पैर काट लिया जाय। सस्य की चोरी करने पर एक हाथ काटने का दण्ड हो। पचास माषसे अधिक मूल्य का सोना, चाँदी या वस्त्र चुराने पर दोनो हाथ काटने का तथा पचास माष से कम मूल्य की उपर्युक्त वस्तुओं को चुराने पर मूल्य का ग्यारह गुना अर्थदण्ड होना चाहिए। सूत, कपास, गोबर, गुड़, दधि, तक्र, दूध, घास, नमक, मिट्टी, भस्म, पक्षी, मछली, घृत, तेल, मांस, मधु, टोकरी, बाँस के सामान, मिट्टी और लोहे के बर्तन चुराने पर उनके मूल्य का तीन गुना अर्थ दण्ड होता है। पुष्प, हरी फसल, लता, पल्लव, शाक, मूल और फल चुराने पर पाँच कृष्णल का दण्ड होना चाहिए। रत्न चुराने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होना चाहिए। इनके अतिरिक्त जिन वस्तुओं का नामोल्लेख धर्मसूत्र में नहीं हुआ है, उनकी चोरी होने पर उनके मूल्य के बराबर अर्थदण्ड विहित है।[2]

परवस्तुग्रहण का निषेध करते हुए आपस्तम्ब ने यह आदेश दिया है कि जो व्यक्ति अनजाने दूसर की ईंधन, जल, मूल, फूल, गन्ध, घास, शाक आदि वस्तु ग्रहण करता हो उसे राजपुरुष वाणी से भर्त्सना करते हुए रोकें, किन्तु यदि कोई जानबूझ कर दूसरे की इन वस्तुओं का ग्रहण करे तो उसके वस्त्र का अपहरण कर लेना चाहिए। किन्तु प्राणों के संकट की स्थिति में दूसरे का भोजनग्रहण करने वाला अदण्ड्य होता है।[3] गौतम ने गौ के लिए चारा, श्रौत एवं स्मार्त्त अग्नि के लिए ईंधन, देवता की पूजा

१- शस्त्रधारी सहोढो व्रणसंपन्नो व्यपदिष्टत्वेकेषाम्।- व १६।३६

२- वि ५।७७-७८ फल, शाक आदि की चोरी में गौतम ने भी पाँच कृष्णल का दण्ड कहा है। - गौ २।३।१५

३ - परपरिग्रहमविद्वानाददान एधोदके मूल पुष्पे फले गन्धे ग्रासे शाक इति वाचा बाध्यः। विदुषो वाससः परिमोषणम्। अदण्ड्यः कामकृते तथा प्राणसंशये भोजनमाददानः।- आप २।२८।११,१३

के लिए लताओं और वृक्षों फूल तथा अरक्षित वृक्षों के फल स्वामी की आज्ञा के विना ग्रहण करना अपराध नहीं माना है।[१] इन पदार्थों के ग्रहण में धर्मकार्य का प्रयोजन ही अपराधहीनता का कारण है।

कृषि की रक्षा के प्रयोजन से भी धर्मसूत्रों ने दण्ड की व्यवस्था की है। पशुओं आदि द्वारा कृषि को की गयी हानि का दण्ड क्षेत्रपति की असावधानी एवं हानि करने वाले पशु का विचार कर निर्धारित किया जाता था। यदि खेत मार्ग से सटा हुआ हो, किन्तु घिरा हुआ न हो तो उस स्थिति में पशु द्वारा हानि करने पर दोनो का दोष होता था।[२] गाय द्वारा कृषि को हानि पहुँचाने पर पाँच माष, ऊँट या गर्दभ द्वारा हानि पहुँचाने पर छः माष, घोड़े और भैंस द्वारा हानि पहुँचाने पर दस माष तथा बकरी और भेड़ द्वारा हानि होने पर दो-दो माष का दण्ड गौतमधर्मसूत्र में निर्दिष्ट है।[३] यदि सम्पूर्ण फसल इस प्रकार नष्ट कर दी गयी हो कि उसमें पुनः अंकुर न उगे तो उस खेत की पूरी उपज राजा क्षेत्रपति का हानिकर्त्ता से दिलाता था।[४] पशुओं द्वारा खेत की फसल को हानि पहुँचाये जाने पर पशु के स्वामी का ही दोष होता था, किन्तु यदि उस पशु के साथ चरवाहा लगा हो तो वही अपराधी होता था।[५] सत्याषाढ ने भी पशुप को ही दण्डनीय माना है।[६] पशु द्वारा कृषि की हानि होने पर आपस्तम्ब की दण्डव्यवस्था इस प्रकार है-'यदि गोष्ठ में बँधे हुए पशु तुड़ाकर किसी की फसल खा लेते हैं तो उन पशुओं को कृश बना देना चाहिए, किन्तु उन्हें अत्यधिक कष्ट नहीं देना चाहिए। यदि पशुओं के

१- गोग्न्यर्थे तृणमेधान्दीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्वमदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्। - गौ २।३।२५

२- पथि क्षेत्रेऽनावृत्ते पालक्षेत्रिकयोः। - गौ २।३।१८
पथि ग्रामे विवीतान्ते न दोषः। अनावृते च। -वि ५।१४७-१४८

३- गौ २।३।१९-२२ की व्याख्या में हरदत्त ने 'माष' के विषय में उशना का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है जिसके अनुसार चार काकिणी का एक माष और बीस माष का एक कार्षापण होता था- 'माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि। काकिणी तु चतुर्थांशो माषस्यैवस प्रकीर्तितः॥' विं ५।१४०-१४४ में भी पशु के अनुसार दण्ड निर्धारित हैं।

४- सर्वविनाशे शदः।- गौ २।३।२३

५- पशुपीडिते स्वामिदोषः। पालसंयुक्ते च तस्मिन्।- गौ २।३।१६-१७

६- सत्या० २७।६।३

स्वामी असावधानी बरतते हुए पशुओं को वन में खुला छोड़ देते हैंतो राजपुरुष उन पशुओं को वन से पकड़कर उनके स्वामियों को चेतावनी देते हुए सौंप दें, किन्तु यदि वे दूसरी बार भी ऐसी असावधानी करें तो उन पशुओं को घेर कर रखे और तब उन्हें वापस करे। इसके बाद असावधानी करनेपर राजपुरुष ऐसे पशुओं पर ध्यान न दें।[१] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यदि पशु खेत की फसल नष्ट कर उसमें बैठा हुआ पाया जाय तो दण्ड दूना होता है। किन्तु पशु ने थोड़ी देर फसल खायी हो अथवा भक्षण करने वाला पशु छोड़ा गया साँड़ अथवा सद्यःप्रसूता गौ हो तो कोई दण्ड नहीं होता।[२]

पशु-पक्षी के वध तथा वृक्षादि का विनाश करने पर भी उनके स्वामी को आर्थिक क्षति देय होती है। अतएव धर्मसूत्र ने इस प्रकार की आर्थिक क्षति के लिए भी दण्ड विहित किये हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित नियम द्रष्टव्य हैं- 'यदि पशुप पशुओं की रक्षा का कार्य स्वीकार कर उन्हें मर जाने दे या चोरों द्वारा अपहृत हो जाने दे तो वह उन पशुओं का मूल्य स्वामी को चुकता करे।[३] यदि कोई हाथी, अश्व,ऊँट, गाय का वध करता है तो उसके एक हाथ और एक पैर काट लिये जायें।[४] जो ग्राम्य पशुओं का वध करता है उससे सौ कार्षापण दण्ड लेकर पशुस्वामी को दिया जाय। अन्य पशु का वध करनेपर पाँच कार्षापण दण्ड लिया जाय।[५] पशु की प्रजननक्षमता नष्ट करने वाले से सौ पण का दण्ड लिया जाय।[६] पक्षी तथा मत्स्य का वध करनेपर दस कार्षापण, कीटवध पर एक कार्षापण, फल वाले वृक्षों को काटने पर उत्तम साहस का, पुष्प वाले वृक्षों को काटने पर मध्यम साहस का , लतागुल्म काटने पर सौ कार्षापण तथा घास काट देने पर एक कार्षापण दण्ड होता है। इन सभी प्रकार की हानि की स्थितियों में वृक्ष आदि के स्वामी की क्षतिपूर्ति भी विहित है।[७]यदि पशुपालक गाय अथवा भैंस आदि दूध देनेवाले पशुओं का दूध पशुस्वामी की आज्ञा के विना दुह लेता था तो उसे पच्चीस कार्षापण दण्ड देना पड़ता था।[८] वस्तुतः यह अपराध चोरी का ही रूप है।

१- आप २।२८।५,६,८-१०

२- भक्षयित्वोपविष्टेषु द्विगुणम्।- वि ५।१४५,१४६,१५०

३- अवरुध्य पशुन्मारणे नाशने वा स्वामिभ्योऽवसृजेत्।- आप २।२८।७

४- वि ५।४८ ५- तदेव ५।५०-५२ ६-वि ५।११६

७- तदेव ५।५३-५६ ८-अननुज्ञातां दुहन्पञ्चविंशतिं कार्षापणान्।-वि ५।१३६

किसी का घर, चहारदीवारी या कुटी तोड़ना भी आर्थिक अपराध है और इसके लिए मध्यम साहस के दण्ड के साथ अपराधी द्वारा पुनः निर्माण करवाने का भी निर्देश है। इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के घर में कण्टकादि पीडाकारी पदार्थ फेंकने वाले, सार्वजनिक वस्तु का अपहरण करनेवाले से तथा भेजी गयी वस्तु को बीच में स्वयं ले लेने वाले से सौ पण दण्ड लेने का नियम है।[१] किसी समूह या ब्राह्मणों द्वारा प्रेषित धन का गबन करनेवाल को देश से निष्कासित करन का नियम है।[२] द्यूतक्रीडा में अनृत एवं कपट का आचरण करने वाला तथा ग्रन्थिभेदक या गिरहकट भी चोर के तल्य ही दण्डनीय होते हैं। इसके लिए विष्णुधर्मसूत्र में दण्ड निर्धारित है। द्यूतक्रीडा में कूटपाशों का प्रयाग करने वाले के हाथ काटने तथा धोखे की चाल चलने वाले व्यक्ति के अंगूठा तथा तर्जनी काटने एवं गिरहकट के हाथ काटने का नियम दिया गया है।[३]

आर्थिक हानि उत्पन्न करने के अपराधी वे भृत्य भी माने गये हैं जो कृषिकर्म या पशुपालन के लिए नियुक्त किये जाते थे। आपस्तम्ब के एतद्विषयक कतिपय दण्डनियम इस प्रकार हैं- यदि कोई व्यक्ति कृषिकर्म के लिए खेत लेकर उसमें कृषि करने का यत्न नहीं करता और इस प्रकार वह खेत व्यर्थ रह जाता है तो उस व्यक्ति के समृद्ध होने पर राजा उससे क्षेत्रपति को संभावित फसल का मूल्य दिलावे।[४] इसी प्रकार कृषिकर्म में नियुक्त भृत्य यदि जमींदार के वश में नहीं रहता तो उसका ताडन करना चाहिए।[५] ताडन का दण्ड पशुओं के उस चरवाहे के लिए भी बताया गया है जो कार्य छोड़ देता है।[६] भृत्यनियोजन -सम्बन्धी नियम एवं दण्ड का निर्देश विष्णुधर्मसूत्र में भी इस प्रकार किया गया है- 'अपने से उच्च वर्ण के व्यक्ति को सेवक के रूप में नियुक्त करने वाला उत्तम साहस का दण्ड पावे। यदि मजदूर समय से पहले कार्य छोड़ देता है

१- वि ५।१०८-११२ २- गणद्रव्यापहर्त्ता विवास्यः।- वि ५।१६७

३- वि ५।१३४-१३६

४- आप २।२८।१ क्षेत्रं परिगृह्योत्थानाभावात्फलाभावे यस्समृद्धस्य भावि तदपहार्यः।

५- अवशिनः कीनाशस्य कर्मन्याये दण्डताडनम्।-आप २।२८।२ व्याख्याकार हरदत्त ने इस सूत्र की एक दूसरी व्याख्या का भी निर्देश किया है कि खेती न करने वाला मजदूर निर्धन हो तो वह दण्डताडन का भागी होता है।

६- आप २।२८।३ तथा पशुपस्य।

तो वह सम्पूर्ण भृतिमूल्य स्वामी को देता था राजा को एक सौ पण दण्डस्वरूप दे। इसके अतिरिक्त उसकी असावधानी के कारण जो कुछ क्षति हुई हो उसकी पूर्ति करें यदि क्षति दुर्घटनावश हुई हो तो उसकी पूर्ति न करे। इसी प्रकार यदि नियोजक भृत्य को समय से पहले हटा देता है तो वह उसे पूरे समय का मूल्य दे तथा राजा को सौ पण दण्डस्वरूप दे, किन्तु यदि भृत्य का दोष हो तो नियोजक दण्ड्य नहीं होता।[१]

भूमि का स्वामित्व व्यक्ति के अचल धन के रूप में महत्त्वपूर्ण होता है। अतएव उसकी रक्षा के लिए राजा की ओर से अथवा परम्परया भुक्ति के आचार पर प्रत्येक क्षेत्रपति की भूमिसीमा निर्धारित होती थी। इस प्रकार की सीमा के चिह्नों को नष्ट करने वाला उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता था और उससे पुनः उन चिह्नों को स्थापित कराया जाता था।[२] भूमि बन्धक रखने के सन्दर्भ में निम्नलिखित दण्डविधि विष्णुधर्मसूत्र में द्रष्टव्य है: 'जो व्यक्ति एक गोचर्ममात्र भूमि पहले एक ऋणदाता को बन्धक रखता है ओर विना ऋण लौटाये दूसरे ऋणदाता को बन्धक रखता है वह वध्य है, अर्थात् ताडन या बन्धन द्वारा दण्ड्य है, किन्तु यदि भूमि गोचर्ममात्र से कम हो तो उसे सोलह सुवर्ण का दण्ड होता है।[३] जितनी भूमि की उपज से एक पुरुष एक वर्ष तक भोजन कर सके उतनी भूमि को गोचर्ममात्रा कहा गया है।[४]

व्यापार एवं व्यवसाय में किये जाने वाले अपराध भी आर्थिक अपराधों के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं। इन अपराधों में कम तौलने, कम मूल्य देने, मिलावट करने, नकली सामान या निषिद्ध वस्तु का विक्रय करने जैसे अपराध आते हैं। विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में ' तुला या बाट में गड़बड़ी करने वाले अथवा इनके कूट न होने पर भी कूट बताने वाले को, मिलावटी या नकली सामान बेचने वाले को उत्तम साहस का दण्ड दिया जाता था। जो व्यापारी दूसरे देश सो आयातित वस्तु को कम मूल्य पर चाहते हुए उनका विक्रय रोक देता है अथवा जो सामूहिक वस्तु को अकेले ही

१- वि ५।१५१,१५३-१५६

२- सीमाभेत्तारमुत्तमसाहसं दण्डयित्वा पुनः सीमां लिङ्गान्वितां कारयेत्।- वि ध सू ५।१७२

३- वि ५।१८१-१८२

४- एकोऽश्नीयाद्यदुत्पन्नं नरः संवत्सरं फलम्।
गोचर्ममात्रा सा क्षोणी स्तोका वा यदि वा बहु॥- वि ५।१८३

अधिक मूल्य पर बेचकर स्वयं लाभान्वित होता था तो वह भी उत्तम साहस के दण्ड के योग्य होता था।[१] यदि कोई व्यापारी क्रेता से मूल्य लेकर वस्तु नहीं दता था तो उस व्यापारी से राजा ब्याजसहित धन क्रेता को दिलवाता था और स्वयं सौ पण दण्ड लेता था। इसी प्रकार यदि क्रेता वस्तु नहीं लेता था तो उसे ही हानि भी उठानी पड़ती थी।[२] यदि कोई व्यापारी राजा द्वारा निषिद्ध वस्तु बेचता था तो उस वस्तु का अपहरण कर लिया जाता था।[३] यदि कोई दूसरे की वस्तु अनधिकृत व्यक्ति के हाथों अनजान क्रय करता था तो वह अपराधी नहीं होता था, किन्तु उसे वह वस्तु स्वामी को लौटानी होती थी।[४] यदि वह जानबूझकर और छिपाकर उस परायी वस्तु का क्रय करता था तो क्रेता और विक्रेता दोनो चोर के समान दण्ड्य होते थे।[५] किसी व्यापारीमण्डल की संविदा का उल्लंघन करने वाला देशनिष्कासन के योग्य माना गया था। निक्षेप की वस्तु को अपहरण करने वाला और अनिक्षिप्त वस्तु को निक्षिप्त बताने वाला भी चोर के समान दण्ड्य होता था। निक्षेप का अपहरण करने वाले से राजा ब्याजसहित स्वामी को धन दिलवाता था।[६] अभक्ष्य एवं अविक्रेय अन्न बेचने पर उत्तम साहस का दण्ड होता था।[७] निषिद्ध मांस बेचने पर एक हाथ तथा एक पैर काटने का दण्ड था।[८] उच्चपदस्थ व्यक्ति की दोषपूर्ण चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को उत्तम साहस का,अन्य रोगियों की दोषपूर्ण चिकित्सा करने पर मध्यम साहस का तथा पशु की दोषपूर्ण चिकित्सा करने पर प्रथम साहस का दण्ड विहित है।[९]

(ङ) असत्यभाषण एवं कर्त्तव्यहीनता हेतु दण्ड

उपर्युक्त सामान्य दण्डविधि के अतिरिक्त न्यायव्यवस्था के विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए भी धर्मसूत्रों ने दण्ड विहित किये हैं। यदि व्यवहार के समय कोई साक्षी असत्यभाषण करता था तो राजा उसे दण्ड देता था।[१०] विष्णुधर्मसूत्र में

१- वि ५।१२२-१२६
२- वि ५।१२७-१२६
३- तदेव ५।१३०
४- तत्रैव १६४-१६५
५- यद्यप्रकाशं हीनमूल्यं च क्रीणीयात्तदा क्रेता विक्रेता च चौरवच्छास्यौ- वि ध सू ५।१६६
६- वि ५।१६६-१७०
७- तदेव ५।१७४
८- वि ५।४६
९- तदेव ५।१७५-१७७
१०- अनृते राजा दण्डं प्रणयेत्।- आप २।२६।८

सामान्यतः ज्ञान, जाति तथा धार्मिक कर्मों के विषय में मिथ्या भाषण करने वाले के लिए दो सौ पण दण्ड निर्धारित किया गया है।[१] किसी वस्तु को देने की प्रतिश्रुति कर न देना भी असत्यभाषण का एक रूप है और इसके लिए प्रथम साहस का दण्ड है।[२] व्यवहार के समय असत्यभाषण करने वाले कूटसाक्षी का सर्वस्व अपहरण करना विहित है।[३] उत्कोच लेने वाले कर्मचारी एवं सभासदों को भी दण्डित किये जाने का नियम दिया गया है।[४] अपने कर्त्तव्यपालन में असावधानी करते हुए दण्डनीय अपराधी को छोड़ देने वाला तथा निरपराध को दण्डित करने वाला न्यायाधीश अपराधी से दुगुने दण्ड का भागी बताया गया है।[५]

असत्यभाषण के समान ही विना बुलाये हुए साक्षी के रूप में शपथग्रहण करने आया हुआ व्यक्ति भी दण्ड्य माना गया है। ऐसे व्यक्ति से सौ पण दण्ड लेने का निर्देश धर्मसूत्र में किया गया है।[६] पिता और पुत्र के विवाद में साक्षी होने वाले को दश पण और ऐसे विवाद् में मध्यस्थ बनने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता था।[७] सम्पत्ति आदि का अधिकार प्रमाणित करने के लिए जो व्यक्ति जालसाजी करता था और जाली राजाज्ञा पत्र या झूठा लेख्य बनाने का दोषी पाया जाता था उसे दण्ड दिया जाता था।[८] राजाज्ञा का उल्लंघन भी दण्डनीय अपराध होता था और यदि कोई व्यक्ति राजा द्वारा बन्द कराये गये घर को खोलने का अपराध करता था तो उससे एक सौ पण दण्ड देना होता था।[९]

धर्मसूत्रों के काल में करापवञ्चन अथवा अनुचित करग्रहण के लिए भी दण्ड

१- श्रुतजातिकर्मणामन्यथावादी कार्षापणशतद्वयं दण्ड्यः।- वि ५।२६

२- वि ५।१७८

३- कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहारः कार्यः।- वि ५।१७६

४- उत्कोचोपजीविनां सभ्यानां च।- वि ५।१८०

५- दण्डं प्रमोचयन्दण्ड्याद् द्विगुणं दण्डमावहेत्।
नियुक्तश्चाप्यदण्ड्यानां दण्डकारी नराधमः॥- वि ५।१६५

६- वि ५।११८ ७- तदेव ५।१२०-१२१

८- कूटशासनकर्तृश्च राजा हन्याात्। कूटलेख्यकारांश्च।- वि ध सू ५।६-१०

९- समुद्रगृहभेदकश्च।- वि ५।११७

विहित थे। विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में 'यदि नाविक भूमि से ले जाये जाने वाली वस्तु का शुल्क ग्रहण करता है तो दश पण दण्ड दे। यदि करादान के लिए नियुक्त कोई अधिकारी अथवा नाविक किसी ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, भिक्षु, गर्भवती स्त्री या तीर्थयात्री से शुल्क लेता है तो उसे भी दश पण का दण्ड होता है और लिया गया शुल्क लौटाना पड़ता है।[१] यदि कोई व्यक्ति तैरकर नदी पार करता हैं और शुल्क बचा लेता है तो वसिष्ठ के अनुसार वह शुल्क के सौ गुना दण्डस्वरूप दे।[२]

धर्मसूत्रों की दण्डविधि के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे अपराध और दण्ड की व्यवस्था करते समय मानवजीवन के प्रायः सभी कार्यक्षेत्रों पर दृष्टिपात करते हैं। उनका विषय-विस्तार व्यापक है। व्यावहारिक जीवन का शायद ही कोई पक्ष धर्मसूत्रकारों के सूक्ष्म निरीक्षण से बच पाया है। वर्णव्यवस्था और व्यक्तियों के सम्मान की रक्षा, नारी जाति का सम्मान एवं व्यक्तियों के यौनजीवन का नियम मनुष्यों एवं प्राणियों के जीवन की हिंसादि से सुरक्षा तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अपरहण आदि लोभप्रेरित दुष्कर्मों से बचाकर प्रजा का जीवन सुखी बनााना - यही धर्मसूत्रों की दण्डविधि का प्रयोजन एवं लक्ष्य है। आदर्श राज्य के रूप में धर्मसूत्रों की कल्पना एक ऐसे राज्य की है, जिसमें कोई चोर न हो, कोई परस्त्रीगामी न हो, दुष्ट वचन बोलने वाला न हो और न कोई डकैती एवं हिंसा आदि साहस के कार्य हेतु दण्ड्य हो। ऐसे आदर्श राज्य का लक्ष्य प्राप्त करने वाला राजा इन्द्र के लोक का भागी माना गया है-

यस्य चौरः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्।।

- विष्णुधर्मसूत्र, ५।१९६

१- वि ध सू ५।१३१-१३३
२- बाहुभ्यामुत्तरञ्छतगुणं दद्यात्।- व ध सू १९।२५

अध्याय ८

धर्मसूत्रों की अर्थव्यवस्था : व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं राजस्व

धर्मसूत्रों में एक पूर्ण विकसित अर्थव्यवस्था दिखायी पड़ती है। गौतमधर्मसूत्र से आरम्भ कर विष्णुधर्मसूत्र के काल तक अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध सभी प्रकार के कानून व्यवहार में आ चुके थे। इस काल में उन सभी प्रकार के आर्थिक नियमों की संहिता व्यवहार में थी, जो हमारे आज के युग में विद्यमान हैं । व्यक्ति के अर्थोपार्जन पर धर्मसूत्रकाल में भी राजा का प्रत्यक्ष नियन्त्रण था और इस कारण करापवञ्चन की सम्भावना नगण्य थी। इस आर्थिक व्यवस्था को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए तथा जनसमुदाय से सम्पत्ति-विषयक कानूनों का पालन कराने के लिए अधिकारियों एवं कर्मचारियों की विस्तृत शृङ्खला कार्यरत थी इसके भी स्पष्ट संकेत धर्मसूत्रों में मिलते हैं। बाजारों में होने वाले क्रय-विक्रय तथा आयात-निर्यात पर भी राजा की सतर्कतापूर्ण दृष्टि रहती थी और वह अपने अधिकारियों के माध्यम से उनका निरीक्षण करता था। ऋण और वृद्धि के ऊपर भी राजा का नियन्त्रण था और उसकी ओर से ब्याज की दरें निर्धारित होती थीं। सम्पत्ति के अधिकार एवं स्वामित्व-विषयक आर्थिक कानूनों का जो विस्तृत विवेचन सभी धर्मसूत्रों में हुआ है उससे तत्कालीन अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

इन सम्पत्ति-विषयक नियमों या कानूनों को हम दो शीर्षकों में ग्रहण कर सकते हैं-

(१) **व्यक्तिगत सम्पत्ति-विषयक नियम-** जिसके अन्तर्गत सम्पत्ति के स्वामित्व-विषयक सामान्य सिद्धान्त, सम्पत्ति का विभाजन, व्यक्तियों में ऋण के आदान-प्रदान, प्रतिभूति का भोग एवं स्वामित्व, व्यापार एवं व्यवसाय तथा व्यक्तियों की विशेष व्यक्तिगत सम्पत्ति के कानून समाविष्ट हैं।

(२) **राजकीय सम्पत्ति-विषयक नियम-** जिनमें राजा की आय के स्रोत, करग्रहण, अस्वामिक धन, उत्तराधिकारी-विहीन धन, युद्ध में विजित शत्रुधन तथा अपराधियों से प्राप्त अर्थदण्ड से सम्बद्ध कानून आते हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति-विषयक नियम या कानून

धर्मसूत्रों में विवेचित राजधर्म में प्रजा के जीवन की रक्षा के साथ ही उसकी सम्पत्ति की रक्षा भी राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बताया गया है और व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व-विषयक विवादों के निर्णय हेतु विस्तृत कानून दिये गये हैं जो अर्थव्यवस्था के कार्य में उसका मार्गनिर्देशन करते थे। किसी भी व्यक्ति के विधिसम्मत आर्थिक अधिकार का हनन न हो यह देखना राजा का दायित्व था। इस कारण धनसम्बन्धी विवादों में न्याय की महत्ता बहुत अधिक थी। सम्भवतः सम्पत्ति के स्वामित्व को लेकर तत्काकलीन समाज में भी विवाद अधिक होते थे इसी कारण सभी धर्मसूत्रों ने स्वामित्व, उत्तराधिकार एवं दायविभाग विषयों पर विशेष एवं प्रचुर विस्तार से विचार किया है।

स्वामित्व के सामान्य सिद्धान्त

गौतमधर्मसूत्र ने धन के स्वामित्व का निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किया है: - 'कोई भी व्यक्ति पिता आदि के अभाव में प्राप्त रिक्थ, स्वयं क्रय की गयी वस्तु, भाइयों से विभाजन में प्राप्त धन, वन आदि प्रदेशों में उपलब्ध स्वामिविहीन वस्तुओं और किसी खोई हुई वस्तु को प्राप्त कर राजा को अर्पित करने के बाद प्राप्त अंश का

स्वामी होता है।[1] इनके अतिरिक्त अपने वर्ण की वृत्ति के कारण प्राप्त विशेष धन भी व्यक्ति का स्वत्व माना गया है यथा ब्राह्मण का दान में प्राप्त धन पर, क्षत्रिय का युद्ध में विजित धन पर तथा वैश्य एवं शूद्र वर्णों के व्यक्तियों का अपने कर्म द्वारा उपार्जित धन पर स्वाभाविक स्वामित्व होता है।[2] राजा की सेना में लड़ने वाला योद्धा युद्ध में स्वयं जीते गये धन का अधिकारी होता था।[3] वैश्य वर्ण का व्यक्ति कृषि, वाणिज्य, पशुपालन एवं ब्याज से जो कुछ प्राप्त करता था उसका विधिसम्मत स्वामी होता था।[4] गौतमधर्मसूत्र के एक सूत्र से यह स्पष्ट है कि शूद्र वर्ण का व्यक्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित था। वह जो कुछ धन सञ्चय करता था उस पर उसके सेव्यमान स्वामी का अधिकार होता था, स्वयं उसका नहीं।[5]

भुक्ति का सिद्धान्त

धन के स्वामित्व हेतु भुक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी धर्मसूत्रों में हुआ है। इसके अनुसार किसी सम्पत्ति का निरन्तर कुछ वर्षों तक भोग करते रहने पर उस पर भोक्ता का अधिकार मान्य हो जाता है। गौतम के शब्दों में- 'यदि कोई व्यक्ति उन्मत्त अथवा अल्पबुद्धि नहीं है और उसकी सम्पत्ति को कोई दस वर्षों तक अपने अधिकार में रखकर भोग करता है तो वह सम्पत्ति उस भोक्ता की हो जाती है।[6] जैसा कि वृत्तिकार हरदत्त ने स्पष्ट किया है इस प्रकार भोक्ता का स्वामित्व स्वीकार करते समय ऐसा मान लिया जाता रहा होगा कि उस सम्पत्ति को उसके स्वामी ने भोक्ता को दान के रूप में अर्पित कर दिया है, अन्यथा वह इतने दीर्घ काल तक चुप क्यों रहता।[7] इस

१- स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु।-गौ २।१।३९

२- ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम्।क्षत्रियस्य विजितम्। निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः।- गौ २।१।४०-४२

३- जेता लभेत सांग्रामिकं वित्तम्।- गौ २।१।२०

४- वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम्।-गौ २।१।५०

५- तदर्थोऽस्य निचयः स्यात्।- गौ २।१।६५

६- अजडापौगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परैः सन्निधौ भोक्तुः।- गौ २।३।३४

७- स एव भोगः स्वामिनः सकाशाद्दानादिरूपेण तस्य धनस्य निर्गतं सूचयति। कथमपरथेतावन्तं कालमेवमर्थमपरलोके तूष्णीमासीतेति।- हरदत्त, गौ २।३।३४ की वृत्ति।

सिद्धान्त का एक स्वाभाविक दुरुपयोग यह हो सकता था कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' लोकोक्ति चरितार्थ होने लगती और शक्तिशाली या सम्मानित व्यक्ति दूसरे की भूमि या अन्य प्रकार की सम्पत्ति का भोग कर लेते। इसका अनुमान कर ही धर्मसूत्रों ने उपर्युक्त नियम में यह संशोधन कर दिया है कि श्रोत्रिय, परिव्राजक अथवा राजपुरुष को दस वर्ष तक भी दूसरे सम्पत्ति का भोग करने पर उसका स्वामित्व नहीं प्राप्त होता।[१] यहाँ श्रोत्रिय और परिव्राजक के सन्दर्भ में धार्मिक निष्ठा के कारण और राजपुरुष के सन्दर्भ में भय से सम्पत्ति का मौलिक स्वामी उपेक्षा करने के लिए बाध्य हो सकता है अतः इनके द्वारा अधिकार एवं भोग किये जाने पर भी स्वामित्व नहीं माना जाता था।[२] गौतम ने ही यह व्यवस्था भी दी है कि गाय, बैल आदि पशु, उपवन, वाटिका अथवा भूमि और दासियों पर दस वर्ष से कम समय भी उपभोग होने पर स्वामित्व हो जाता है।[३] सम्भवतः इसका कारण यह था कि उपर्युक्त तीनो स्वभावतः इस प्रकार के हैं कि स्वामी द्वारा उपेक्षित होने पर दूसरे व्यक्ति द्वारा उनका सरलता से भोग किया जा सकता है। ऐसी स्थितियों में उपेक्षा करने वाले स्वामी की अप्रत्यक्ष सहमति मान ली जाती होगी।[४]

वसिष्ठधर्मसूत्र में एक उद्धरण देते हुए आठ प्रकार की सम्पत्तियों पर दूसरे व्यक्ति द्वारा दस वर्ष तक भोग होने पर भोक्ता का स्वामित्व प्रतिपादित किया गया है। ये आठ प्रकार के धन हैं: - पैतृक धन, क्रीत वस्तु, बन्धक रखा हुआ धन, पत्नी को पति के परिवार से प्राप्त उपहार रूप धन, दान, यज्ञ कराने पर मिला हुआ धन, फिर से एक साथ मिले हुए दायादों की सम्पत्ति और श्रम करने से प्राप्त वेतन।[५] किन्तु इसी

१- न श्रोत्रियप्रव्रजितराजपुरुषैः।- गौ २।३।३५ यहाँ 'राजपुरुष' द्वारा सभी बलशाली व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है। 'राजपुरुषग्रहणं सर्वेषां बलवतामुपलक्षणम्।' उपर्युक्त सूत्र पर हरदत्त ।

२- द्रष्टव्य -हरदत्त 'श्रोत्रियप्रव्रजितयोर्धर्मतृष्णयोपेक्षेति राजपुरुषस्य तु भयेन।' गौ २।३।३५ वृत्ति।

३- पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः।- गौ २।३।३६

४- हरदत्त का निम्नलिखित औचित्य-प्रतिपादन द्रष्टव्य हैः 'कथमनन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुञ्जान उपेक्षेत, कथं वा बहुफलारामं कथं वा दासीं यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम्।' गौ ध सू के उपर्युक्त सूत्र पर वृत्ति।

५- अथाप्युदाहरन्ति- पैतृकं क्रीतमाधेयमन्वाधेयं प्रतिग्रहम्। यज्ञादुपगमो वेणिस्तथा धूम-शिखाष्टमीति॥ तत्र भुक्तानुभुक्तदशवर्षम्।-व १६।१६,१७ तुलना- याज्ञ० २।२४, मनु०८।१४८

सन्दर्भ में इस धर्मसूत्र में एक अन्य उद्धरण में अपवाद का नियम भी प्रस्तुत किया गया है: 'गिरवी रखा हुआ धन, सीमा, अवयस्क की सम्पत्ति, धरोहर, बन्द कर रखी गयी निधि, स्त्रियों , राजा के धन, और श्रोत्रिय के धन पर भुक्ति के कारण दूसरे का स्वामित्व नहीं होता।[1]

विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार 'यदि दो व्यक्तियों का किसी बन्धक रखी हुई भूमि या अचल सम्पत्ति के विषय में विवाद है, जो दोनो के पास बन्धक हो तो जिस व्यक्ति की उस पर विना बलप्रयोग के भुक्ति हो उसी का उस भूमि की उपज पर स्वामित्व होता है।[2] विष्णुधर्मसूत्र के काल तक आर्थिक अधिकारों को और अधिक सुरक्षा प्रदान की गयी थी इसका प्रमाण निम्नलिखित कथन से मिलता है : ' जो धन वैधानिक रूप से (दान, क्रय द्वारा) प्राप्त किया गया है उस पर प्राप्तकर्त्ता का ही स्वामित्व होता है। ऐसे धन को कोई दूसरा उससे नहीं ले सकता।[3]

वंशपरम्परा से भुक्त भूमि आदि पर उत्तराधिकारी का सहज स्वामित्व होता है इस सिद्धान्त का निर्देश विष्णुधर्मसूत्र की इन पंक्तियों में किया गया है : ' यदि किसी सम्पत्ति पर पिता का नियमपूर्वक वैधानिक भुक्ति द्वारा अधिकार है तो उसकी मृत्यु के बाद पुत्र का भी अधिकार हो जाता है। उसके अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती है। यदि किसी भूसम्पत्ति का निरन्तर तीन पीढ़ियों तक भोग किया गया है तो चौथी पीढ़ी के पुरुष का उस पर स्वाभाविक स्वामित्व होता है, भले ही उसके लिए उसके पास लिखित प्रमाण न हो।[4]

१- अथाप्युदाहरन्ति। आधिः सीमा बालधनोनिक्षेपोपनिधिस्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न संभोगेन हीयते ॥- व १६।१८

२- ययोर्निक्षिप्त आधिस्तौ विवदेतां यदा नरौ।
यस्य भुक्तिः फलं तस्य बलात्कारं विना कृता ॥- वि ५।१८४

३- सागमेनतु भोगेन भुक्तं सम्यग्यदा तु यत्।
आहर्ता लभते तत्र नापहार्य तु तत्क्वचित्॥- वि ५।१८५

४- पित्रा तु यद्द्रव्यं भुक्त्वाचारेण धर्मतः।
तस्मिन् प्रेते न वाच्योऽसौ भुक्त्या प्राप्तं हि तस्य तत्॥
त्रिभिरेव तु या भुक्ता पुरुषैर्भूर्यथाविधि।
लेख्याभावेऽपि तां तत्र चतुर्थः समवाप्नुयात्॥- वि ५।१८६-१८७

धन के स्वामित्व-निर्धारण हेतु तीन प्रमुख प्रमाणों का कतिपय धर्मसूत्रों में उल्लेख है। उनमें 'भुक्ति' भी एक प्रमाण के रूप में परिगणित है। वसिष्ठ के अनुसार लिखित, साक्षी और भुक्ति के तीन प्रकार के प्रमाण कहे गये हैं। इन्हीं के आधार पर कोई धनी अपने पूर्व धन को प्राप्त कर सकता है।[१]

सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा

स्वामित्वविषयक उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्तों से दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम तो यह कि धर्मसूत्रों ने सम्पत्ति के अधिकार को एक नितान्त स्वाभाविक एवं मौलिक अधिकार माना है। दूसरे, सम्पत्ति ही वह विषय थी, जिसके लिए अधिकांश विवाद उठ सकते थे और अन्याय किया जा सकता था। अतएव धर्मसूत्रों ने इस आवश्यकता का अनुभव किया है कि सम्पत्तिविषयक कानून अत्यन्त स्पष्ट हों, जिससे राजा व्यक्तियों के आर्थिक अधिकारों की रक्षा कर सके एवं विवाद उत्पन्न होने पर न्याय कर सके। धर्मसूत्रों ने इन आर्थिक कानूनों में पैतृक धन के विभाजन, उत्तराधिकार, ऋण, प्रतिभूति एवं वृद्धि तथा क्रय-विक्रय के नियम आते हैं।

अवयस्क की सम्पत्ति की रक्षा स्वयं राजा उस समय तक करता था जब तक वह वयस्क (व्यवहारप्राप्त) नहीं हो जाता था अथवा आचार्यकुल से ब्रह्मचर्य समाप्त कर नहीं लौट आता था।[२] राजा को बाल, अनाथ एवं स्त्री के धन की रक्षा का निर्देश विष्णुधर्मसूत्र में भी दिया गया है।[३] धर्मसूत्रकाल में सम्पत्ति के स्वामित्व के प्रमाणस्वरूप लेख्य का प्रचलन था। यह लेख्य निश्चय ही राजपुरुष द्वारा प्रमाणित होता होगा। धर्मसूत्र में राजसाक्षिक लेख्य को महत्त्व देकर गिनाया गया है। ऐसा लेख्य राजा के न्यायालय में उसके आदेश से उसके कायस्थ (अर्थात् लिपिक) द्वारा लिखा[४] जाता था और उसके अध्यक्ष (न्यायाधीश) के हस्ताक्षर से युक्त होता था। राजा स्वयं भी

१- लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
धनस्वीकरणं पूर्वं धनी धनमवाप्नुयादिति॥- व १६।१०

२- रक्ष्यं बालधनमा व्यवहारप्रापणात्। समावृत्तेर्वा।- गौ २।१।४८-४६, तुलना व १६।८

३- वि ५।१८७ में भूमिविषयक लेख्य का स्पष्ट उल्लेख है।

४- अथ लेख्यं त्रिविधम्। राजसाक्षिकं ससाक्षिकमसाक्षिकं चं राजाधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षकरचिह्नितं राजसाक्षिकम्।- वि ७।१-३

भी जिस ब्राह्मण को धन या भूमि का दान करता था उसका विस्तृत विवरण वस्त्र पर अथवा ताम्रपट्ट पर लिखवाकर एवं अपनी मुद्रा से अङ्कित कर उसके स्वामित्व का प्रमाण देता था, जिससे भावी शासकों को उसके विषय में जानकारी हो सके। दूसरे राजा द्वारा किसी ब्राह्मण आदि को दान दी गयी भूमि का अपहरण न करना राजा का कर्त्तव्य बताया गया है।[१] इस प्रकार धर्मसूत्रकाल में व्यक्तियों के सम्पत्तिविषयक अधिकारों की रक्षा के लिए एक उत्तम व्यवस्था विकसित दिखायी पड़ती है।

दायविभाग

सभी धर्मसूत्रों ने व्यक्ति के आर्थिक अधिकार के रूप में दायविभाग के नियम दिये हैं। दाय[२] अथवा रिक्थ पैतृक सम्पत्ति को कहा गया है। यह दायविभाग पिता अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्रों में करता था अथवा उसकी मृत्यु के बाद उसके सभी पुत्र अपने में रिक्थ का विभाजन कर लेते थे। दायविभाग कब करना चाहिए इस विषय में गौतम ने उपर्युक्त दोनो विकल्पों का उल्लेख किया है। उनका कथन है : 'पिता की मृत्यु के बाद पुत्र रिक्थ का विभाजन करें अथवा माता के रजोदर्शन की आयु समाप्त होने पर पिता के जीवनकाल में ही उसकी इच्छा से विभाजन कर सकते है।'[३] गौतम के उपर्युक्त नियम में पुत्र रिक्थ का विभाग करें, इससे यह स्वभावतः निष्कर्ष निकलता है कि पिता की मृत्यु के बाद माता को कोई अंश नहीं मिलता था। हाँ, उस स्थिति में पुत्रों के लिए यह नैतिक कर्त्तव्य माना गया है कि वे माता का उसको जीवनपर्यन्त भरणपोषण करें।[४] बौधायनधर्मसूत्र एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र को पिता के जीवनकाल में ही दायविभाग अभीष्ट है। दोनो ने ही 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्'[५] कहकर मनु के

१- वि ३।८!-८३

२- तत्र दायो दातव्यं द्रव्यम्।-गाविन्दस्वामी, बौ २।३।२ का भाष्य।

३- ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं भजेरन्। निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छति।- गौ ३।१०।१-२

४- द्र० हरदत्त- 'पितृशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादेव सिद्धे पुत्रग्रहणं नियमार्थम्। तेन पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेदित्यादिवचनजातमाचार्यस्याभिमतं न भवति। पुत्रा एव सर्वं धनादिकं गृहीत्वा मातरं यथावद्रक्षेयुरिति मन्यते।- गौ ३।१०।१ की वृत्ति।

५- बौ २।३।२, आप २।१४।११

उदाहरण पर पिता को ही विभाग का कार्य सौंपा है। आपस्तंम्ब ने तो स्पष्ट कहा है कि पिता जीवित रहते ही पुत्रों में दाय का विभाजन करे।[1] वसिष्ठ ने आश्रमों में दायविभाग ('अथ भ्रातृणां दायविभागः')[2] का विवेचन किया जो इस तथ्य का स्पष्ट संकेत देता है कि उनके मतानुसार पिता की मृत्यु के बाद ही पुत्रों में दायविभाग होता था, किन्तु पुनः विष्णुधर्मसूत्र में पिता द्वारा ही दायविभाग का नियम उपलब्ध है : 'यदि पिता अपने पुत्रों में अपनी सम्पत्ति का विभाजन करता है तो वह अपनी इच्छा से जैसा उचित समझे वैसा विभाग करे।'[3] विभिन्न धर्मसूत्रों के उपर्युक्त वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मसूत्रकाल में सामान्यतः पिता स्वयं अपने पुत्रों में दायविभाग करता था और यही श्रेयस्कर माना जाता था। पिता की आकस्मिक अथवा दायविभाग किये विना मृत्यु होने पर भाइयों को अपने में समान रूप से रिक्थ का विभाजन करना होता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मसूत्रों के काल में बड़े संयुक्त परिवार के प्रति आग्रह नहीं था, प्रत्युत कोई व्यक्ति जैसे ही यह अनुभव करता था कि उसके सभी पुत्र आत्मनिर्भर होने योग्य हो गये हैं वैसे ही उनमें दाय का विभाग कर देता था। गौतम एवं आपस्तम्ब ने इन दोनों स्थितियों का संकेत किया है। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण दाय ग्रहण करता था और अपने अन्य भाइयों का भरणपोषण करता था। इस प्रकार वह परिवार के कर्त्ता के रूप में पिता का स्थान ग्रहण करता था।[4] स्पष्टतः यह संयुक्त परिवार की परम्परा के अनुरूप था। किन्तु धर्मसूत्र का पक्षपात विभाजन की ओर है, क्योंकि विभाजन होने से धर्म की वृद्धि होती है।[5] सभी भाइयों के पृथक् परिवार बन जाते हैं और सभी परिवारों में वैश्वदेव बलिकर्म, देवपूजन, पितृश्राद्ध होते

१- जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य।- आप २।१४।१

२- व १७।४०

३- पिता चेत्पुत्रान्विभजेत्तस्य स्वेच्छा स्वयमुपार्जितेऽर्थे।-वि १७।१

४- सर्वं वा पूर्वजः स्वेतरान्बिभृयात्पितृवत्।- गौ ३।१०।३ ज्येष्ठो दायाद इत्येके।-आप २।१४।६

५- विभागे तु धर्मवृद्धिः।- गौ ३।१०।५ द्र० आप २।१४।१ पर हरदत्त की वृत्ति - 'यदा पुत्राणां पृथक्पृथक् धर्मानुष्ठाने शक्तिश्रद्धे भवतः सोऽपि कालः।' मनु ने भी 'तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रियेत्' (९।१११) कहकर इसी ओर संकेत किया हे।

हैं और इस प्रकार धार्मिक कृत्यों का क्षेत्र बढ़ता है।

विभाग में अंशनिर्धारण

धर्मसूत्रों के काल में दायविभाग में अंशनिर्धारण की एकरूपता नहीं थी। चार प्रकार की परम्परा प्रचलित थी। प्रथमतः, पिता सभी पुत्रों को सम्पत्ति का समान अंश देता था। दूसरे, ज्येष्ठ पुत्र को कुछ विशेष सम्पत्ति प्राप्त होती थी। तीसरे, सभी पुत्रों को किसी-न-किसी प्रकार का विशेष धन दिया जाता था। चौथे, पिता स्वेच्छया विना किसी नियम का पालन करते हुए दाय का विभाग करता था। प्रथम दो विकल्पों का उल्लेख बौधायनधर्मसूत्र में हुआ है जिसमें कहा गया है कि सभी पुत्रों में [१] समान विभाजन होना चाहिए, किसी को विशेष धन नहीं देना चाहिए अथवा ज्येष्ठ पुत्र उस पैतृक सम्पत्ति में से उत्कृष्ट द्रव्य विशेष अंश के रूप में प्राप्त करे।[२] गौतम ने तीसरे विकल्प का भी उल्लेख किया है और विष्णुधर्मसूत्र में पिता द्वारा स्वेच्छया विभाजन का निर्देश है।[३]

ज्येष्ठ पुत्र का विशेष अंश

दायविभाग में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष धन देने का नियम प्राचीन धर्मसूत्रों में उपलब्ध होता है। सम्भवतः, आरम्भ में यही प्रथा प्रचलित थी, बाद में उसमें संशोधन हुए होंगे। बौधायन एवं आपस्तम्ब ने ज्येष्ठ पुत्र को विशेष धन देने के पक्ष में तैत्तिरीयसंहिता की एक पंक्ति उद्धृत की है, जिसके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को अतिरिक्त धन देकर उसके प्रति विशेषता प्रकट करते हैं। तैत्तिरीयसंहिता की पंक्ति भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है कि आरम्भ में विषम विभाजन का ही नियम था। ज्येष्ठ पुत्र

१- पुत्रों से यहाँ उन्हीं पुत्रों का तात्पर्य है जो सवर्णा पत्नी के औरस पुत्र हों। 'अयं तु समो विभागः सवर्णापुत्राणामौरसानां समानगुणानां च। न त्वसवर्णापुत्राणामनौरसानामसमानगुणानाम्।' - गोविन्दस्वामी बौ २।३।३ पर भाष्य।

२- समशस्सर्वेषामविशेषात्। वरं वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठः।- बौ २।३।३,४

३- गौ ३।१०।५-८, वि १७।१

के विशेष अंश के विषय में धर्मसूत्रों में विभिन्नता है। गौतम के अनुसार उसे 'सम्पत्ति का बीसवाँ भाग, एक दन्तपंक्ति वाले एक नर और एक मादा पशु का जोड़ा, दोनो ओर दाँतों वाले दो पशुओं से जुती हुई गाड़ी और एक बैल अतिरिक्त अंश के रूप में प्राप्त होता था।[१]

बौधायन के अनुसार उसे श्रेष्ठ बहुमूल्य वस्तु अथवा सम्पत्ति का दसवाँ भाग भी विशेष सम्पत्ति के रूप में मिलता था।[२] आपस्तम्ब ज्येष्ठ पुत्र को विशेष धन देने के नियम के विरुद्ध प्रतीत होते हैं, किन्तु पुनः वसिष्ठधर्मसूत्र इसका पक्षपाती है और गौतमधर्मसूत्र के समान ही सभी पुत्रों का कुछ विशेष धन निर्दिष्ट करता है। तदनुसार ज्येष्ठ पुत्र दो अंश और गायों एवं अश्वों का नवाँ भाग प्राप्त करता है।[३] विष्णुधर्मसूत्र के काल तक विशेष अंश का नियम समाप्त दिखायी पड़ता है। कम से कम सवर्णा पत्नी के औरस पुत्रों के अन्तर्गत ज्येष्ठ पुत्र को इस प्रकार का अतिरिक्त अंश नहीं मिलता था।

बहुपत्नीक व्यक्ति की प्रथमा पत्नी से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र को पन्द्रह गायें और एक बैल का उद्धार मिलता था।[४] किन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र किसी दूसरी सवर्णा पत्नी से होता था तो उसे एक बैल अतिरिक्त अंश के रूप में मिलता था इस प्रकार का नियम भी उपलब्ध होता है।[५] विभाग करते समय भी ज्येष्ठा पत्नी के पुत्र को अधिक लाभ अपनी माता की स्थिति के कारण मिलता था।यदि ज्येष्ठ पुत्र किसी अन्य सवर्णा पत्नी से उत्पन्न होता था तो उसमें और ज्येष्ठा पत्नी के पुत्रों में (भले ही वे उस पुत्र से छोटे हों) समान अंशों में विभाग होता था।[६] बौधायन ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ओर शूद्र वर्णों के लिए ज्येष्ठ पुत्र का उद्धार अंश क्रमशः गौ, अश्व, बकरा और भेड़[७] दिये

१- विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मिथुनमुभयतोदद्युक्तो रथो गोवृषः।- गौ ३।१०।५

२- वरं वा रूपमृद्धरेज्ज्येष्ठः। दशानां वैकमुद्धरेज्ज्येष्ठः।- बौ २।३।४,६

३- द्व्यंशं ज्येष्ठो हरेत्। गवाश्वस्य चानुदशमम्।- व १७।४२-४३

४- ऋषभषोडशा ज्यैष्ठिनेयस्य।- गौ ३।१०।१३

५- ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्य।७ गौ ३।१०।१२

६- समधा वाऽज्यैष्ठिनेयेन यवीयसाम्।- गौ ३।१०।१५

७- चतुर्णां वर्णानां गोश्वाजावयो जयेष्ठांशः।- बौ २।३।६

जाने का भी उल्लेख किया है।

अन्य पुत्रों का अतिरिक्त अंश

सवर्णा पत्नी के अन्य औरस पुत्रों में मध्यम पुत्र को एक आँख वाले, बूढ़े, विना सींग और विना पूँछ वाले पशु अतिरिक्त मिलते थे और ऐसे छोटे पुत्र को भेड़, अन्न, लोहे के पात्र, घर, बैलों से जुती हुई गाड़ी और अन्य प्रकार के पशुओं में से एक-एक पशु अतिरिक्त प्राप्त होते थे।[1] वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार भेड़, बकरी और घर कनिष्ठ पुत्र के विशेष अंश थे और लोहे के पात्र, भोजन के बर्तन एवं काठ के उपकरण मध्यम पुत्र के विशेष भाग होते थे।[2] इस अतिरिक्त अंश को 'उद्धार' कहा गया है। उद्धार के अनन्तर अवशिष्ट धन का सभी औरस पुत्रों में समान रूप से विभाग होता था।[3]

उद्धार के विषय में एक विकल्प यह भी था कि वे सभी पुत्र इच्छानुसार एक-एक प्रकार का धन ग्रहण करते थे, अथवा दस-दस पशु प्राप्त करते थे।[4] इसके साथ ही गौतमधर्मसूत्र ने यह अपवाद नियम भी दिया है कि किसी भाई को दस एक खुरवाले पशु या दस सेवक-सेविकाएँ नहीं दी जाती थीं।[5] एक ही पुरुष की कई पत्नियाँ होने पर दायविभाग की एक अन्य विधि भी अपनायी जाती थी जिसका उल्लेख गौतम ने किया है। इसके अनुसार 'प्रत्येक माता के पुत्रों का अपने-अपने भाग में विशेष अंश होता है।'[6] व्याख्याकार हरदत्त इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं[7]- 'जितनी माताएँ पुत्रवती हों उनमें धन का विभाग करने पर प्रत्येक के जितने पुत्र हों उनके भागों को एकत्र कर

१- काणखोरकूटकणेटा मध्यमस्यानेकाश्चेत्। अविर्धान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतुष्पदां चेकैकं यवीयसः।- गौ ३।१०।६,७

२- व १७।४४,४५

३- समथा चैतरत्सर्वम्।-गौ ३।१०।८

४- एकैकं वा धनरूपं काम्यं पूर्वः पूर्वो लभतेदशकं पशूनाम्।- गौ ३।१०।६,१०

५- नैकशफद्विपदाम्।- गौ ३।१०।११

६- प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः।- गौ ३।१०।१५

७- एतदुक्तं भवति- यावत्यो मातरः पुत्रवत्यास्तावता विभक्ते धन एकस्या यावन्तः पुत्रास्तेषां भागानेकीकृत्य तत्र तत्र वर्गे यो यो जयेष्ठस्तस्य विंशतिभागो जयेष्ठस्येत्यादिर्भागविशेष इति। - गौ ३।१०।१५पर वृत्ति।

उसमें ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देकर विभाग होता है।

सम्पत्तिविभाजन में पुत्रों की विद्या का भी महत्त्व था। विद्यासम्पन्न पुत्र अपने उपार्जित धन में से विद्याहीन अन्य भाइयों को अंश नहीं भी दे सकता था। इसी प्रकार विद्याध्ययन से विरत भाई अपने उपार्जित धन का सभी भाइयों में समान विभाजन करने के लिए बाध्य था।[1] स्पष्टतः, उपर्युक्त नियम संयुक्त परिवारों में प्रचलित था। यदि पिता द्वारा दायविभाग करने के बाद कोई पुत्र उत्पन्न होता था तो वह केवल पिता के अंश का ही भागी होता था।[2] इसी प्रकार यदि विभाजन के बाद किसी भाई की पुत्रहीन रहते ही मृत्यु हो जाती थी तो उसका भाग ज्येष्ठ भाई को प्राप्त होता था। विभाजन के बाद पुनः एक में मिले हुए किसी भाई के पुत्रहीन मरने पर उसका भाग सहोदर भ्राता को मिलता था, जिसके साथ मिलकर वह पुनः निवास करता था।[3]

असवर्णा पत्नी के पुत्रों का दायभाग

धर्मसूत्रों के काल में बहुपत्नीत्व का कही-कहीं प्रचलन था और किसी व्यक्ति की अन्य वर्ण की पत्नियाँ भी हो सकती थीं। अनुलोम विवाह की प्रथा के अनुसार किसी ब्राह्मण की क्षत्रिय, वैश्य एवं कभी शूद्र वर्ण की पत्नी भी हो सकती थी। उन असवर्णा पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों के लिए धर्मसूत्रों ने वर्णानुसार विषम भाग की व्यवस्था की है। गौतम के अनुसार 'यदि ब्राह्मण का क्षत्रिय वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र ज्येष्ठ हो और सद्‌गुणी हो तो उसे ब्राह्मणी पत्नी के पुत्रों के (जो उससे छोटे हों) तुल्य भाग मिले। उसे ज्येष्ठ पुत्र का उद्धार न दिया जाय। यदि किसी ब्राह्मण के केवल क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण की पत्नियों से पुत्र हों तो उनके बीच उसी प्रकार विभाग हो जैसा ब्राह्मणी एवं क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्रों में । यदि क्षत्रिय पुरुष के क्षत्रिय वर्ण एवं वैश्य वर्ण की पत्नियों से पुत्र हों तो उनमें भी उपर्युक्त विधि से ही विभाग हो (अर्थात् वैश्य स्त्री का पुत्र ज्येष्ठ एवं गुणवान् होने पर अपने से छोटे क्षत्रियापुत्र के तुल्य भाग प्राप्त करे।) यदि किसी ब्राह्मण के केवल शूद्र वर्ण की पत्नी से ही उत्पन्न पुत्र हो और यदि वह

१- स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात्। अवैद्याः समं विभजेरन्।- गौ ३।१०।२८,२९

२- विभक्तजः पित्र्यमेव।- गौ३।१०।२७

३- असंसृष्टिविभागः प्रेतानां ज्येष्ठस्य। संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्।- गौ ३।१०।२५,२६

शिष्य के समान सेवापरायण हो तो वह जीवननिर्वाह भर के लिए भाग प्राप्त करता है।[१] उसके तुल्य ही भाग उस पुत्र को भी मिलता है जो प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न हो।[२]

बौधायन ने उपर्युक्त प्रकार के पुत्रों में दायविभाग की एक अन्य विधि निर्दिष्ट की है, जिसके अनुसार पुत्रों को अपनी माता के वर्ण अनुसार क्रमशः चार, तीन, दो और एक अंश प्राप्त होता था। औरसपुत्र के उत्पन्न होने पर अन्य असवर्ण पुत्र सम्पत्ति का तृतीय अंश ही प्राप्त करते थे।[३] जहाँ गौतम ने ठीक नीचे के वर्ण की पत्नी से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र को विशेष उद्धार से वञ्चित किया है, वहाँ बौधायन उसे यह अंश प्रदान करते हैं।[४] आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विभाग का ध्यान नहीं दिया है, किन्तु वसिष्ठ ने ब्राह्मणी और क्षत्रिय पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों को क्रमशः तीन और दो भाग देकर अवशिष्ट का अन्य पुत्रों में समान विभाजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।[५] उन्हीं के अनुसार, यदि कोई पुत्र स्वयं कुछ धन का उपार्जन किये होता था तो उसे दुगुना भाग दिया जाता था।[६]

विष्णुधर्मसूत्र के सम्पूर्ण अध्याय १८ में विस्तार से विभिन्न वर्ण की पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों के भाग का निर्धारण किया गया है कि अस्पष्टता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। प्रासंगिक होने पर भी यहाँ उस विवेचन को प्रस्तुत करना अनावश्यक है।

१- ब्राह्मणस्य राजन्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसंपन्नस्तुल्यभाक्।
ज्येष्ठांशहीनमन्यत्। राजन्यावैश्यापुत्रसमवाये यथा स ब्राह्मणीपुत्रेण।
क्षत्त्रियाच्चेत्। शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना।
- गौ ३।१०।३३-३७

२- शूद्रापुत्रवत्प्रतिलोमास्तु।- गौ ३।१०।४३

३- नानावर्णस्त्रीपुत्रसमवाये दायं दशांशान् कृत्वा चतुरस्त्रीन् द्वावेकमिति यथाक्रमं विभजेरन्।
औरसे तूत्पन्नेऽसवर्णास्तृतीयांशहराः।- बौ २।३।१०,११

४- सवर्णापुत्रानन्तरापुत्रयोरनन्तरापुत्रश्चेद्गुणवान् स ज्येष्ठांशं हरेत्।- बौ २।३।१२,
तुलना गौ ३।१०।३४

५- व १७।४७-५० यदि ब्राह्मणस्य ब्राह्मणीक्षत्रियावैश्यासु पुत्राः स्युः। त्र्यंशं ब्राह्मण्याः पुत्रो हरेत्।
द्व्यशं राजन्यायाः पुत्रः। सममितरे विभजेरन्।

६- येन चैषां स्वयमुत्पादितं स्याद् द्वयं शमेन हरेत्।- व १७।५१

पुत्रियों का अंश

धर्मसूत्रों के अनुसार दाय का विभाग पुत्रों में ही होता है, पुत्री को कोई भाग नहीं मिलता है। इसके समर्थन में धर्मसूत्रों में तैत्तिरीयसंहिता का यह विचार उद्धृत है कि स्त्रियाँ शक्तिहीना होती हैं और दाय की अधिकारिणी नहीं होतीं।[१] इन नियमों के होने पर भी सम्पत्तिविभाजन के समय पुत्री को कुछ विशेष प्रकार का धन देने का निर्देश गौतम, बौधायन एवं वसिष्ठ ने किया है। स्त्री की सम्पत्ति उसकी अविवाहिता पुत्रियों का मिलती थी। सभी पुत्रियों के विवाहिता होने पर स्त्रीधन विवाहिता निर्धन पुत्रियों को मिलता था।[२] इस स्त्रीधन के अन्तर्गत माता के आभूषण तथा 'साम्प्रदायिक' (नाना- नानी से परम्परया प्राप्त) धन पुत्री को प्राप्त होते थे।[३] पुत्री को वह सम्पत्ति भी मिलती थी जो उसकी माता को विवाह के समय उपहार के रूप में प्राप्त हुआ हो। वसिष्ठधर्म- सूत्र में इसे पारिणेय कहा गया है।[४] आपस्तम्ब ने पुत्र के अभाव में पुत्री को ही दाय का अधिकारी घोषित किया है। इस दृष्टि से वे अन्य धर्मसूत्रकारों की अपेक्षा अधिक आधुनिक हैं। विष्णुधर्मसूत्र भी आपस्तम्बधर्मसूत्र का ही समर्थक है।[५] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार स्त्री की मृत्यु होने पर यदि उससे उत्पन्न पुत्री हो तो उसे स्त्रीधन प्राप्त होता था।[६]

पित्र्य भाग

पुत्रों में सम्पत्ति विभाग करते समय पिता अपने तथा अपनी पत्नी के निर्वाह के लिए कुछ अंश अपने अधिकार में रखता था। इसका संकेत गौतम ने उस स्थल पर किया है, जब वे विभागानन्तर उत्पन्न पुत्र को इसका अधिकार प्रदान करते है।[७] रथ

१- निरिन्द्रिया ह्यायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः।- व १७।५१
२- स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च।- गौ ३।१०।२२
३- मातृरलङ्कारं दुहितरस्याम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा।- बौ२।३।४४
४- मातुः पारिणेयं स्त्रियो विभजेरन्।- व १७।४६
५- दुहिता वा। आप २।१४।४, तदभावे दुहितृगामि।- वि १७।५
६- वि १७।२१
७- विभक्तजः पित्र्यमेव।-गौ ३।१०।२७

और काठ के उपकरण पिता के विशेष अंश होते हैं।[1]

पति और पत्नी में किसी प्रकार का सम्पत्ति-विभाजन मान्य नहीं था, क्योंकि पाणिग्रहण के बाद से दोनो सभी कर्मों में सहभागी होते हैं। पुण्यफल की प्राप्ति तथा धनोपार्जन में भी दोनो सहयोगी होते हैं अतएव यदि पति के प्रवासकाल में पत्नी किसी प्रकार का दान करती है तो उसे स्तेय नहीं माना जाता।[2] कोई भी पुरुष अपनी सम्पत्ति का ही पुत्रों में विभाग करता था। उसे अपने पिता की यदि किसी को दिये गये ऋण की वापसी आदि जैसी सम्पत्ति मिली हो, जो पिता के जीवनकाल में प्राप्त न हो सकी हो, तो वह उसे अपने पुत्रों में विभक्त करने के लिए बाध्य नहीं होता था। वह उस धन का विभाग करे अथवा न करे यह उसकी इच्छा पर निर्भर होता था।[3]

स्त्रीधन

यद्यपि दायविभाग में स्त्री को किसी प्रकार का भाग दिये जाने का विधान धर्मसूत्रों में नहीं है, तथापि कुछ विशेष प्रकार के धन पर उसका अधिकार होता था। इस धन को धर्मसूत्रों में स्त्रीधन कहा गया है। इस धन के अन्तर्गत मुख्यतः स्त्री को अपने विवाह के अवसर पर प्राप्त आभूषण आदि अपने माता-पिता से या नाना-नानी से प्राप्त उपहार सम्मिलित होते थे।[4] इस स्त्रीधन का पुत्रों में विभाग नहीं होता था। यह धन उस स्त्री की मृत्यु पर अवविवाहिता पुत्री या निर्धन विवाहिता पुत्री को मिलता था।[5] इसी धन को बौधायन साम्प्रदायिक धन कहते हैं।[6] भगिनीशुल्क पर भी माता का अपने जीवनकाल तक अधिकार होता था। कहीं-कहीं उसके जीवन-काल में ही सहोदर

१- रथः पितुः परिभाण्डं च गृहे।- आप २।१४।८

२- जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु। तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु च। न हि भर्तृविप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदशिति।- आप २।१४।१६-२०

३- पैतृकं तु यदा द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम्॥- वि १८।४३

४- अलङ्कारो भार्यायाः ज्ञातिधनं चेत्येके।- आप २।१४।६

५- गौ ३।१०।२२ स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। द्र० व १७।४६

६- बौ २।३।४४ द्र० गोविन्दस्वामी- 'सम्प्रदायागतो लब्धस्साम्प्रदायिकः मातामहेन मातामह्या वा स्वमात्रे यद् दत्तं तत्साम्प्रदायिकम्।'

भाइयों का अधिकार मान्य होता था।[1] भगिनीशुल्क उस धन को कहा गया है जो भगिनी का दान देने के लिए पिता वरपक्ष से प्राप्त करता था। ऐसी प्रथा आसुर एवम् आर्ष विवाहों में प्रचलित थी।[2] विष्णुधर्मसूत्र में स्त्रीधन को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है : 'किसी स्त्री को उसके पिता,उसकी माता, पुत्रों एवं भाइयों से जो कुछ मिला हो, विवाह केपूर्व जो कुछ प्राप्त हुआ हो, पति के दूसरा विवाह करने (अधिवेदन) परप्राप्त, अपने सम्बन्धियों से मिला उपहार, विवाह का शुल्क और विवाह के बाद मिला हुआ उपहार स्त्रीधन होता है।[3] ब्राह्म आदि चार प्रकार के विवाहों में पत्नी की कोई सन्तान उत्पन्न किये विना मृत्यु होने पर स्त्रीधन पर पति का अधिकार होता था किन्तु अन्य चार प्रकार के विवाहों में वह स्त्रीधन स्त्री के पिता को प्राप्त होता था। सन्तान होने के बाद स्त्रीधन पर पुत्री का ही अधिकार होता था।[4]

अविभाज्य धन

दायविभाग के समय कुछ विशेष प्रकार की सम्पत्ति का विभाग निषिद्ध था। यथा जल, धार्मिक कर्म के लिए सञ्चित धन, बने हुए भोजन और परिवार में किसी एक भाई से संबद्ध दासियों का विभाग नहीं होता था।[5] विष्णुधर्मसूत्र में इस सूची में वस्त्र, पत्र,सामान्य चारागाह, अलंकार तथा पुस्तक की गणना की गयी है।[6] पति के

१- भगिनीशुल्कः सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः। पूर्वं चैके।-गौ ३।१०।२३,२४

२- भगिनीप्रदाननिमित्तं पित्रा यद् गृहीतं द्रव्यमासुरार्षविवाहयोस्तस्मिमृते तस्या भगिन्या एव सोदर्या भ्रातरस्तेषां भवति।- हरदत्त, गौ ३।१०।२३ पर वृत्ति।

३- पितृमातृसुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतमाधिवेदनिकं बन्धुदत्तं शुल्कमन्वाधेयकमिति स्त्रीधनम्। - वि १७।१६

४- वि १०।१६-२१

५- उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः। स्त्रीषु च संयुक्तासु।- गौ ३।१०।४४,४५

६- वस्त्रं पत्रमलङ्कारः कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमं प्रचारश्च न विभाज्यं च पुस्तकम्॥- वि १८।४४
पत्र- नन्दपण्डित के अनुसार 'वाहन' गाड़ी या घोड़ा।
मनु० ६।२१६ में भी यही पद्य है जिसमें 'पुस्तकम्' के स्थान पर 'प्रचक्षते' प्रयोग है। कुल्लूक ने भी 'पत्र' का अर्थ वाहन किया है। किन्तु विज्ञानेश्वर ने पत्र का अर्थ ऋण के विषय में लिखित पत्र अर्थ लिया है।

जीवनकाल में स्त्रियों द्वारा धृत आभूषणों का विभाग भी वर्जित था।[1]

संसृष्ट भाग

धर्मसूत्रों ने ऐसी स्थितियों का भी अनुमान कर नियम-निर्देश किये हैं जब एक बाद विभक्त होकर पुनः कुछ या सभी भाई संयुक्त होकर रहने लगें।इस प्रकार संयुक्त होने वाले व्यक्ति को संसृष्ट अथवा संसृष्टी कहा गया है। इस प्रकारमिलेहुए एक भाई के सन्तानहीन मरनेपर उसके साथ का दूसरा संसृष्टी उसका दायभाग प्राप्त करता था।[2] किन्तु यदि संसृष्ट होने के कुछ समय वाद संसृष्टी पुनः पृथक् होने के ध्येय से सम्पत्ति का विभाग करते थे तो उस स्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश नहीं मिलता था और यदि कोई भाई पिता से प्राप्त धन का उपयोग किये विना स्वयं धन उपार्जित किये होता था तो उस धनका अन्य भाइयों में विभाग करने के लिए बाध्य नहीं होता था। स्वयम् उपार्जित धन का स्वेच्छया विभाग कर भी सकता था और नहीं भी कर सकता था।[3]

उत्तराधिकार के नियम

किसी भी सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु पर उत्तराधिकार का प्रश्न स्वभावतः उठता है। मनुष्य की धनलालसा क कारण स्वामिहीन धन क लिए अन्यायपूर्वक अधिकार का भय भी स्वाभाविक है। प्राचीनकाल से ही कभी-कभी उत्तराधिकार विवादास्पद रहा होगा। धर्मसूत्रों में प्रतिबिम्बित अर्थव्यवस्था में उत्तराधिकारके कानूनोंका महत्त्व देकर स्पष्ट किया गया है। इस विषय पर सभी धर्मसूत्रों ने प्रकाश डाला है।

पिता की मृत्यु पर पुत्र ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना गया है। पुत्रों के

१- पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते॥- वि १७।२२

२- भ्रात्रादिभिः संसृष्टं धनं यस्य सः संसृष्टी, साधारणधनोऽविभक्तो विभज्य संसृष्टश्च।
- गौ ३।१०।२६पर हरदत्त की वृत्ति। 'संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्।- गौ ३।१०।२६

३- वि १८।४१-४२

अनेक भेदों का धर्मसूत्रों में उल्लेख है, जिनमें कुछ उत्तराधिकारी स्वीकृत हैं,तो अन्य इस अधिकार से वञ्चित कर दिये गये हैं। उत्तराधिकार की समस्या प्रायः वहीं उठती थी जहाँ किसी भूस्वामी का किसी प्रकार का कोई पुत्र नहीं होता था। ऐसी स्थिति में गौतम ने प्रथमतः पुत्रिकापुत्र का उत्तराधिकारी माना है और उसके अभाव में सपिण्ड, सगोत्र, एक ऋषि वाले पुरुष को अथवा मृत व्यक्ति की पत्नी को धन का अधिकारी स्वीकार किया है।[१] इस स्थिति में पुत्रहीना विधवा सपिण्ड पुरुष से नियाग द्वारा पुत्र उत्पन्न कर सकती थी परन्तु देवर के रहते हुए अन्य पुरुष से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्नकरने पर वह पुत्र उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था।[२]

उत्तराधिकार के विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र का अत्यन्त संक्षिप्त नियम इतना ही है कि पुत्र के अभाव में जो निकट सपिण्ड हो वह सम्पत्ति का अधिकारी हो।[३] पुत्र के अभाव में वे पुत्री को अधिकारिणी मानते हैं[४] और नियोग, पुत्रिकापुत्र आदि का कोई उल्लेख नहीं करते। इस दृष्टि से उनके विचार अधिक आधुनिक हैं। उन्होंने सभी प्रकार के सपिण्ड या सगोत्र के अभाव पर राजा को स्वामिहीन धन का अधिकार दिया है।[५]

पुत्रहीन की पत्नी के लिए नियोग का निर्देश वसिष्ठधर्मसूत्र में भी किया गया है[६] किन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि रिक्थ के लोभ में नियोग न हो।[७] इस धर्मसूत्र में भी छः प्रकार के पुत्रों को उत्तराधिकारी माना गया है और उनके अभाव में सपिण्ड अथवा पुत्रस्थानीय को धन का विभाग करने की अनुमति दी गयी है। उनके भी अभाव

१- पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य।- गौ ३।१०।१६ इस सूत्र की वृत्ति में हरदत्त ने स्पष्ट किया है कि मृत व्यक्ति की पत्नी को सम्पत्ति में से केवल जीवननिर्वाह योग्य एक अंश मिलता था।

२- बीजं वा लिप्सेत। देवरवत्यामन्यजातमभागम्।- गौ ३।१०।२०-२१

३- पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः।- बाप २।१४।२

४- दुहिता वा।- आप २।१४।३

५- सर्वाभावे राजा दायं हरेत्।- आप २।१४।४

६- व १७।५६-६४

७- रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः।- व १७।६५

में आचार्य एवं अन्तेवासी धन का भाग प्राप्त करते थे और सभी प्रकार के उत्तराधिकारियों का अभाव होने पर वह धन राजाको प्राप्त होता था।[१] किन्तु ब्राह्मण का धन वह स्वयं न ग्रहण कर वेद के विद्वानों में वितरित करा देता था।[२]

विष्णुधर्मसूत्र में उत्तराधिकार के नियम और अधिक स्पष्ट किये गये हैं। इसके अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु पर उसका धन विधवा पत्नी को प्राप्त होता था, उसके अभाव में पुत्री का। यदि पुत्री भी न हो और मृत व्यक्ति का पिता जीवित हो तो पिता को धन प्राप्त होता था। पिता के अभाव में ताता को, उसके अभाव में भाई को, भाई के न होने पर भ्रातृपुत्र का उस धन पर अधिकार होता था। उपर्युक्त सम्बन्धियों के अभाव में बन्धु, सकुल्य अथवा सहाध्यायी पूर्ववर्ती के अभाव में अधिकारी होते थे। सभी का अभाव होने पर राजा वह धन प्राप्त करता था, किन्तु ब्राह्मण का धन ब्राह्मणों को, वानप्रस्थ का धन आचार्य अथवा शिष्य को प्राप्त होता था।[३]

यहाँ उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्रों ने दायविभाग और पिता की मृत्यु पर प्राप्त होने वाले अधिकार से अधर्मपूर्वक धन का व्यय करने वाले पुत्र को वञ्चितकर दिया गया है, भले ही वह ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो।[४] धर्मयुक्त पुत्र ही भागी मान गये हैं।[५] इसी प्रकार क्लीब और पतित भी इस अधिकार से वञ्चित होते थे।[६] बौधायन ने व्यवहार करने में असमर्थ, अन्ध, जड, व्यसनी, असाध्य रोग से ग्रस्त, कोई भी कार्य करने में असमर्थ की भी गणना की है और केवल इनका भरण-पोषण करन का निर्देश दिया है।[७] वसिष्ठ के अनुसार क्लीब और उन्मत्त का धन राजा को प्राप्त होता था अतः

१- यस्य पूर्वेषां षण्णां न कश्चिद् दायादः स्यात्सपिण्डाः पुत्रस्थानीया वा तस्य धनं विभजेरन्। तेषामलाभ आचार्यान्तेवासिनो हरेयाताम्। तयोरलाभे राजा हरेत्।- व १७।८१-८३

२- व १७।८४,८७

३- वि १७।४-१६

४- यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीत।- आप २।१४।१५

५- सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः।- आप २।१४।१४

६- क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य।- आप २।१४।१

७- अतीतव्यवहारान् ग्रासाच्छादनैर्बिभृयुः। अन्धजडक्लीबव्यसनिव्याधितादींश्च ।अकर्मिणः। - बौ २।३।३८-४०

अतः इनका भरणपोषण राजा द्वारा ही किया जाता था।[1] किन्तु गौतम ने उनका धन ग्रहण करने वाले दायादों पर ही यह उत्तरदायित्व सौंपा है।[2] विष्णुधर्मसूत्र में भी यही विचार व्यक्त है।[3] गौतम के काल में जड व्यक्ति का पुत्र अपने पिता को प्राप्य धन का अधिकारी होता था[4] और विष्णुधर्मसूत्र के काल में पतित, कलीब, अचिकित्स्य रोगी के औरस पुत्र सम्पत्ति के अधिकारी माने जाते थे।[5]

धनके उत्तराधिकार में सबसे गर्हित स्थिति पतित व्यक्ति की होती थी। उसको तथा उसके पुत्रको न तो सम्पत्ति का अंश मिलता था और न भरणपोषण भर की ही सुविधा प्राप्त होती थी।[6] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार पतित का पुत्र यदि पतनीय कर्म करने के बाद उत्पन्न हो तो उसे सम्पत्ति का यह अधिकार प्राप्त हो सकता था।[7] इसी प्रकार प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र को भी यह अधिकार नहीं था और उससे उत्पन्न पुत्र को अपने पितामह की सम्पत्ति में से कोई भाग नहीं मिल सकता था। उन पर इतना ही अनुग्रह किया जाता था कि उनका अंश ग्रहण करने वाले भरण-पोषण कर देते थे।[8]

पुत्रों के भेद

उत्तराधिकार के सन्दर्भ में आपस्तम्बधर्मसूत्र को छोड़कर सभी धर्मसूत्रों ने पुत्रों के भेद गिनाये हैं। इनमें कुछ को सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है तो अन्य इससे वञ्चित किये गये हैं। गौतम ने औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और

१- क्लीबोन्मत्तान्राजा बिभृयात्। तद्गामितवाद्रिक्थस्य।- व १७।३५-३६
२- जडक्लीबौ भर्तव्यौ।- गौ ३।१०।४१
३- पतितक्लीबाचिकित्स्यरोगविक्लास्त्वभागहारिणः। रिक्थग्राहिभिस्ते भर्तव्याः।-- वि १५।३२-३३
४- अपत्यं जडस्य भागार्हम्।- गौ ३।१०।४२
५- तेषां चौरसाः पुत्राः भागहारिणः।-वि १५।३७
६- पतिततज्जातवर्जम्।- बौ २।३।४१, न तु पतितस्य।- वि १५।३५
७- पतनीये कर्मणि कृते त्वनन्तरोत्पन्नाः।- वि १५।३६
८- प्रतिलोमासु स्त्रीषु चोत्पन्नाश्चाभागिनः। तत्पुत्राः पैतामहेऽप्यर्थे। अंशग्राहिभिस्ते भरणीयाः।
- वि १:।३७-३८

अपविद्ध इन छः प्रकार के पुत्रों को रिक्थभागी माना है। इनसे हीन स्थिति अन्य छः प्रकार के पुत्रों की है, जिन्हें कानीन, सहोढ, पौनर्भव, पुत्रिकापुत्र, स्वयंदत्त एवं क्रीत कहा गया है। औरस आदि छः प्रकार के पुत्रों के अभाव में ही कानीन आदि को भाग मिलता था, किन्तु यह भाग केवल चतुर्थांश होता था।[१] बौधायन ने १४ पुत्रों के उल्लेख किये हैं।[२] उन्होंने शूद्रा पत्नी से उत्पन्ननिषाद और पारशवनामक दो भेद और गिनाये हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि गौतम एवं बौधायन के धर्मसूत्रों के कालों के बीच इतना अन्तर आ गया था कि पुत्रिकापुत्र को भी पूर्णतः रिक्थभागी माना जाने लगा था। बौधायनधर्मसूत्र में दिया गया एक उद्धरण सात प्रकार के पुत्रों को रिक्थभागी घोषित करता है।[३] यहाँ आचार्य औपजङ्घनि का यह मत भी उद्धृत है कि केवल औरस पुत्र ही सम्पत्ति का अधिकारी होता है।[४]

वसिष्ठधर्मसूत्र में द्वादशपुत्रों की परम्परा ही ग्रहण की गयी है।[५] किन्तु उसमें सम्पत्ति के अधिकार के विषय में गौतम एवं बौधायन की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर है। वसिष्ठधर्मसूत्र में औरस, क्षेत्रज, पुत्रिका, पौनर्भव, कानीन और गूढोत्पन्न को ही दायाद कहा गया है।[६] अन्य छः प्रकार के पुत्र सहोढ, दत्तक, क्रीत, स्वयमुपागत, अपविद्ध तथा शूद्रापुत्र अदायाद बान्धव माने गये हैं[७] और इन्हें पूर्वोक्त छः प्रकार के पुत्रों के अभाव में ही सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त होता है।[८] वसिष्ठ की व्यवस्था में दायाद एवं अदायाद पुत्रों के वर्गों में यह अन्तर द्रष्टव्य है कि दत्तक एवम् अपविद्ध

१- पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः।
कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः।
चतुर्थांशिनःऔरसाद्यभावे।-गौ ३।१०।३०-३२

२- बौ २।३।१४-३०

३- अथाप्युदाहरन्ति। औरसं पुत्रिकापुत्रं क्षेत्रजं दत्तकृत्रिमौ।
गूढजं चापिविद्धं च रिक्थभाजः प्रचक्षते॥- बौ २।३।३१

४- तेषां प्रथम एवेत्याहौपजङ्घनिः।- बौ २।३।३३

५- द्वादश इत्येव पुत्राः पुराणदृष्टाः।- व १७।१२

६- इत्येते दायादा बान्धवास्त्रातारो महतो भयादित्याहुः।-व १७।२५

७- व १७।२६-३८   ८- व १७।३६

नाम के पुत्रों की स्थिति पूर्वापेक्षा हीन हो गयी है। उन्हें गौतम के काल में प्रथम वर्ग में गिना जाता था, किन्तु वसिष्ठधर्मसूत्र के काल में वे द्वितीय वर्ग में आ गये थे। इसके विपरीत पुत्रिका, पौनर्भव तथा कानीन, जो गौतम के काल में द्वितीय वर्ग में थे, वसिष्ठधर्मसूत्र के समय प्रथम अर्थात् दायाद पुत्रों के वर्ग में कर दिय गये। सम्भवतः ये परिवर्तन तत्कालीन आवश्यकताओं से किये गये होंगे, अथवा इस प्रकार की भिन्नता भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रही होगी। वसिष्ठधर्मसूत्र में शूद्रापुत्र अदायाद पुत्रों में उल्लिखित है, जबकि कृत्रिम पुत्र का, जो गौतम के अनुसार दायाद होता था, कोई उल्लेख नहीं है।

विष्णुधर्मसूत्र में वरिष्ठताक्रम से निम्नलिखित बारह पुत्रों को गिनाया गया है, जिनमें पूर्ववर्ती पुत्र या पुत्रों के अभाव में उत्तरवर्ती दायभागी होता था- औरस, क्षेत्रज, पुत्रिकापुत्र, पौनर्भव, कानीन, गूढोत्पन्न, सहोढ, दत्तक, क्रीत, स्वयमुपगत, अपविद्ध तथा यत्रक्वचनोत्पादित।[१] इनमें पूर्ववर्ती बाद वाले की अपेक्षा श्रेयस्कर होता है। वही दायभागी होता है और अन्य प्रकार के पुत्रों का भरणपोषण करता है।[२] विष्णुधर्मसूत्र में वसिष्ठधर्मसूत्र की ही सूची ग्रहण की गयी है, अन्तर केवल इतना है कि वसिष्ठ के शूद्रापुत्र के स्थान पर 'यत्रक्वचनोत्पादित' पुत्र का उल्लेख है। यहाँ पुत्रों के उपर्युक्त भेदों का धर्मसूत्रों के अनुसार संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगाः-

१- **औरस**- सवर्णा विवाहिता पत्नी से पुरुष द्वारा स्वयम् उत्पादित पुत्र औरस होता है।[३] इसे श्राद्ध, पिण्डदान, रिक्थभाग की दृष्टि से सर्वथा श्रेष्ठ माना गया है।

२- **क्षेत्रज** - किसी मृत व्यक्ति, नपुंसक या असाध्य रोग से ग्रस्त पुरुष की पत्नी जब कुल के श्रेष्ठ जन की अथवा पति की अनुमति से देवर से अथवा उसके अभाव में किसी सपिण्ड से निर्दिष्ट विधिसहित संबन्ध कर पुत्र उत्पन्न करती थी[४]

१- वि १५।१-२७

२- एतेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्। स एव दायहरः। स चान्यान्बिभृयात्। - वि १५।२८-३०

३- सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्रं विद्यात्।-बौ २।३।१४
स्वयमुत्पादितः स्वक्षेत्रे संस्कृतायां प्रथमः।- व १७।१३
स्वे क्षेत्रे संस्कृतायामुत्पादितः स्वमौरसः प्रथमः। -वि १५।२

४- मृतस्य प्रसूतो यः क्लीबव्याधितोवाऽन्येनाऽनुमतेन स्वे क्षेत्रे स क्षेत्रजः।-बौ २।३।१७

वह पुत्र क्षेत्रज कहलाता था। ऐसा पुत्र द्विपिता माना जाता था और उसे पिण्डदान करते समय प्रत्येक पिण्ड के साथ अपने दोनो पिताओं का नाम लेना होता था।[१]

३- **पुत्रिकापुत्र**- जब पुत्रहीन पिता अपनी पुत्री का विवाह इस संविदा के साथ करता था कि उससे जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र होकर रहेगा तब ऐसे पुत्र को पुत्रिकापुत्र कहा जाता था। गौतम के अनुसार पुत्री के विवाह के समय ही अग्नि और प्रजापति के लिए आज्याहुति देकर संकल्प हो जाता था।[२] भ्रातृहीना कन्या से उसके पुत्रिका होने की आशंका से ही विवाह करना उचित नहीं माना जाता था।[३] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार जो भ्रातृहीना कन्या पुत्रिका विधि द्वारा न प्रदान की गयी हो वह भी पुत्रिका ही होती है।[४] इस प्रकार दौहित्र पुत्रिकापुत्र होता था।[५]

४- **पौनर्भव**- जिस पत्नीका पहले किसी अन्य पुरुष से विवाह हुआ हो, उससे उत्पन्न पुत्र पौनर्भव होता है। ऐसा प्रायः उस स्थिति में हाता था जब पहला पति नपुंसक या पतित होता था।[६] वसिष्ठ के अनुसार ऐसी स्त्री भी पुनर्भू कहलाती थी जा एक पति से विवाहिता होने पर उसे छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ रहती थी और फिर प्रथम पति के कुल में प्रवेश करती थी। विधवा स्त्री का भी पुनः विवाह होने पर उससे उत्पन्न पुत्र पौनर्भव कहलाता था।[७]

द्रष्टव्य - व १७।१४, ५६-६१
नियुक्तायां सपिण्डेनोत्तमवर्णेन वोत्पादितः क्षेत्रजो द्वितीयः।- वि १५।३

१- अथाप्युदाहरन्ति। द्विपितुः पिण्डदानं स्यात्पिण्डे पिण्डे च नामनी।
त्रयश्च पिण्डाष्षण्णां स्युरेवं कुर्वन्न मुह्यतीति॥- बौ २।३।१६

२- पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य।
अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम्।-गौ ३।१०।१६-१७

३- तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम्।- गौ ३।१०।१८

४- पुत्रिकाविधिनाप्रतिपादितापि भ्रातृविहीना पुत्रिकैव।७ वि १५।६

५- अभ्युपगम्य दुहितरि जातं पुत्रिकापुत्रमन्यं दौहित्रम्।- बौ २।३।१५, द्रष्टव्य व १७।१५-१७

६- क्लीबं त्यक्त्वा पतितं वा याऽन्यं पतिं विन्देत्तस्यां पुनर्भ्वा यो जातस्स पौनर्भवः।-बौ २।३।२७

७- या कौमारं भर्त्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भू भवति।
या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्त्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पूनर्भूर्भवति।
- व १७।१९-२०

५- कानीन- अविवाहिता कन्या से पिता की अनुमति के विना पुरुषसम्बन्ध होने से उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता था।[१] वसिष्ठ के अनुसार वह मातामह का पुत्र होता था, किन्तु विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार उसका पुत्र होता था, जो पुरुष उस कन्या से पाणिग्रहण करता था।[२]

६- गूढोत्पन्न - जो पुत्र घर में गुप्त रूप से उत्पन्न होता था और उसके उत्पन्नहोने का ज्ञान बाद में होता था वह गूढोत्पन्न कहलाता था।[३] वह उस पुरुष का पुत्र होता था जिसकी पत्नी से उत्पन्न हुआ रहता था।[४]

७- सहोढ- यदि ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक कोई पुरुष ऐसी स्त्री से विवाह करता था जो विवाह के समय गर्भवती हो तो उससे उत्पन्नपुत्र सहोढ कहलाता था और पाणिग्रहण करने वाले का पुत्र होता था।[५]

८- दत्तक - जो पुत्र माता-पिता द्वारा अथवा उनमें से किसी एक द्वारा प्रदत्त होनेपरपुत्र के रूप में ग्रहण किया जाता था वह दत्तक कहलाता था। वह उसका पुत्र होता था जिसे उसको वास्तविक माता-पिता प्रदान करते थे।[६]

९- क्रीत - जो वास्तविक माता और पिता को धन देकर खरीद कर पुत्र के रूप में ग्रहण किया गया हो उसे क्रीत पुत्र कहते थे। वह क्रय करने वाले का पुत्र होता था।[७] वसिष्ठधर्मसूत्र में इस सन्दर्भ में राजा हरिश्चन्द्र द्वारा अजीगर्त से उनके पुत्र शुनःशेप के क्रय किये जाने का उल्लेख किया है।[८]

१- असंस्कृतामनतिसृष्टां यामुपयच्छेत्तस्यां यो जातस्स कानीनः।- बौ २।३।२४

२- यं पितृगृहेऽसंस्कृता कामादुत्पादयेन्मातामहस्य पुत्रो भवतीत्याहुः।- व १७।२२, द्र० वि १५।१२ स च पाणिग्राहस्य।

३- गृहे गूढोत्पन्नोऽन्ते ज्ञातो गूढः।- बौ २।३।२२ द्रष्टव्य- व १७।२४, वि १५।१३

४- यस्य तल्पजस्तस्यासौ।- वि १५।१४

५- या गर्भिणी संस्क्रियते विज्ञाता अविज्ञाता वा तस्यां यो जातः स सहोढः।- बौ २।३।२५ द्रष्टव्य- व १७।२७, वि १५।१५-१७

६- मातापितृभ्यां दत्तोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते स दत्तः।- बौ २।३।२० द्रष्टव्य- व १७।२८-२९, वि १५।१९

७- बौ २।३।२६ मातापित्रोर्हस्तात्क्रीतोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते सः क्रीतः। द्र० व १७।३०, वि १५।२१

८- व १७।३१-३२

१०- **स्वयमुपगत या स्वयंदत्त**- जो माता ओर पिता से विहीन होकर स्वयम् आकर पुत्र बनकर रहने लगता था वह स्वयमुपगत या स्वयंदत्त पुत्र होता था और वह जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता था उसका पुत्र होता था।[१]

११- **अपविद्ध** - माता और पिजा द्वारा अथवा उनमें से किसी एकस द्वारा परित्यक्त होनेपर जो पुत्र के रूप में ग्रहण किया जाता था उसे अपविद्ध पुत्र कहते थे।[२]

१२- **कृत्रिम** - कृत्रिम पुत्र का उल्लेख गौतमधर्मसूत्र[३] एवं बौधायनधर्मसूत्र में हुआ है। बौधायन के अनुसार जाति आदि से सदृश होने पर और पुत्र बनन की इच्छा देखकर जिसे पुत्र के रूप में स्वीकार किया जाता था वह कृत्रिम कहलाता था।[४]

१३- **शूद्रापुत्र** - वसिष्ठ ने शूद्रा स्त्री से उत्पन्न पुत्र का उल्लेख किया है।[५] बौधायन ने शूद्रापुत्र के भी दो भेद किये हैं, निषाद जो ब्राह्मण द्वारा शूद्रा पत्नी से उतपन्न हो तथा पारशव, जो केवल भोगार्थ किसी शूद्रा स्त्री से सम्बन्ध करने पर उत्पन्न हो।[६]

१४- **यत्रक्वचनोत्पादित** - जिस किसी स्त्री से उत्पन्नपुत्र को विष्णुधर्मसूत्र में बारहवें भेद के रूप में गिनाया गया है। विष्णुधर्मसूत्र के व्याख्याकार ने 'यत्रक्वचन' से शूद्रा विवक्षित होने का भी अनुमान किया है।[७]

१- मातापितृविहीनो यः स्वयमात्मानं दद्यात्स स्वयंदत्तः।-बौ २।३।२८
तुलना- व १७।३३ इस सन्दर्भ में भी शुनःशेप का दृष्टान्त दिया गया है।
द्रष्टव्य - व १७।३५, वि १५।२२-२३

२- बौ २।३।२३ मातापितृभ्यामुत्सृष्टोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते सोऽपविद्धः।
द्र० व १७।३६, वि १५।२४-२६

३- गौ ३।१०।३० पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः।

४- सदृशं यं सकामं स्वयं कुर्यात्स कृत्रिमः।- बौ २।३।२१

५- व १७।३८ शूद्रापुत्र एव षष्ठो भवतीत्याहुरित्येतेदायादबान्धवाः।

६- द्विजातिप्रवराच्छूद्रायां जातो निषादः। कामात्पारशव इति स्मृतः।- बौ २।३।२९-३०

७- वि १५।२७ यत्र क्वचनोत्पादितश्च द्वादशः। द्र० नन्दपण्डित की व्याख्या- 'उक्तविषयेभ्योऽन्यत्र यत्र क्वचन स्वीयायां परकीयायां वा सवर्णायामसवर्णायां वा ऊढायामनूढायां वा क्षतायामक्षतायां वा इत्यादितः।... अथवा यत्र क्वचनेत्यनेनानूढा शूद्रा विवक्षिता तस्यां जातो द्वादशः पुत्र इति व्याख्येयम्।'

ऋण एवं वृद्धि

धर्मसूत्रों की श्रेष्ठ अर्थव्यवस्था का प्रमाण वहाँ भी देखा जा सकता है, जहाँ उनमें व्यक्तियों में परस्पर धन के आदान-प्रदान के विषय में भी नियमों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। गौतम, बौधायन, वसिष्ठ एवं विष्णुधर्मसूत्र में ऋणपर ऋणी द्वारा देय उचित वृद्धि का तथा मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारी द्वारा देय या अदेय ध्रण का निर्देश किया गया है।

कुसीद अर्थात् ब्याज पर धन चलाना वैश्य के लिए धनोपार्जन के एक स्रोत क रूप में विहित है।[१] गौतम के अनुसार ब्राह्मण दूसरे व्ययिक्त द्वारा कुसीद कराकर उससे भी धनार्जन कर सकता था।[२] बौधायनधर्मसूत्र मं शास्त्रसम्मत वृद्धिसे अधिक वृद्धि लेना भ्रूणहत्या से भी घोर पापपूर्ण माना गया है। जो एक व्यक्ति से अल्प वृद्धि पर धन लकर दूसरे को अधिक वृद्धि पर ऋण देता है वह वार्धुषिक कहलाता है और वह सभी धर्मों में गर्हित होता है।[३] यही नहीं, सूदखोर ब्राह्मण को बौधायन व्यवहार की दृष्टि से शूद्रवत् मानते हैं।[४] किन्तु ऐसा प्रतीत हाता है कि ब्राह्मण भी कुसीद के प्रलोभन से मुक्त नहीं होते थे। अतएव बौधायन ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण को भी इतनी छूट देत हैं कि वे धार्मिक कर्म न करने वाले, कंजूस, नास्तिक और पापी को धन दे सकते हैं।[५]

१- वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम्।-गौ२।१।५० वैश्यः कुसीदमुपजीवेत्।-बौ १।१०।२२
कृषिर्वाणिज्यं पाशुपाल्यं कुसीदं च।- व २।१६
कृषिगोरक्षावाणिज्यकुसीदयोनिपोषणानि वैश्यस्य।- वि २।१३

२- गौ २।१।६ कुसीदं च।

३- अथाप्युदाहरन्ति। यस्समर्घणं गृह्य महार्घं यः प्रयोजयेत्।
स वै वार्धुषिको नाम सर्वधर्मेषु गर्हितः।
वृद्धिं च भ्रूणहत्या च तुलया समतोलयत्।
अतिष्ठद् भ्रूणहा कोट्यां वार्धुषिकस्समकम्पतेति।- बौ १।१०।२४
यह उद्धरण कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ ० २।४१-४२ में भी है। वहाँ प्रथम पंक्ति इस प्रकार है- 'समर्थं धान्यमुद्धृत्य महार्घं यः प्रयच्छति।'

४- गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत्॥- बौ १।१०।२५

५- कामं तु परिलुप्तकृत्याय कदर्याय नास्तिकाय पापीयसे पूर्वौ दद्याताम्।- बौ १।१०।२६

वसिष्ठधर्मसूत्र में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए वार्धुषी का स्पष्ट निषेध किया गया है किन्तु धार्मिक कृत्यरहित एवं पापी को वृद्धि पर दुगुने मूल्य पर सोना, तीन गुने मूल्य पर धान्य, रस पुष्प,मूल एवं फल तथा आठ गुने मूल्य पर तोल कर बेची जाने वाली वस्तु देन की छूट दी है।[१]

गौतम की व्यवस्था को आधार मानने पर यह स्पष्ट है कि धर्मसम्मत वृद्धिप्रत्येक मास बीस कार्षापण पर पाँच माष होती थी अर्थात् मूलधन का अस्सीवाँ भाग या सवा प्रतिशत।[२] बौधायन ने पच्चीस कार्षापण पर पाँच माष अर्थात् एक प्रतिशत मासिक वृद्धि मानी है।[३] वसिष्ठधर्मसूत्र में वसिष्ठ के ही नाम से दिये गय एक उद्धरण में गौतम के मत को ग्रहण किया गया है,[४] किन्तु साथ ही वर्णानुसार एक, दो,चार एवं पाँच प्रतिशत वृद्धि का भी निर्देश है जो विष्णुधर्मसूत्र में भी समान रूप से उपलब्ध होता है।[५] विष्णुधर्मसूत्र में यह भी विकल्प मिलता है कि ऋणी न जितना ब्याजा देन का वचन दिया हो उतना ब्याज दे। किन्तु एक वर्ष बीतने पर उपर्युक्त निर्धारित प्रतिशत के अनुसार ब्याज अवश्य दे।[६] गौतम न कुछ आचार्यों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि एक वर्ष पूर्ण हो जाने पर ऋणी से वृद्धि नहीं लेनी चाहिए, किन्तु उनका अपना मत यह है कि जितन समय में मूलधन दुगुना हो जाता हो उतने ही समय तक वृद्धि लेनी चाहिए।[७] इसी प्रकार उनका कथन है कि यदि ऋणी धन लौटाने की इच्छा करे किन्तु ऋणदाता अधिक ब्याज पाने के लोभ से धन वापस न ले

१- व २।४०,४३-४७

२- कुसीदवृद्धिधर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी स्यात्।- गौ २।३।२६

३- पञ्चविंशतिस्त्वेव पञ्चमाषकी स्यात्।-बौ १।१०।२३

४- वसिष्ठवचनप्रोक्ता वृद्धिंवार्धुषिके शृणु।
पञ्च माषास्तु विंशत्या एवं धर्मो न हीयते॥-व २।५०

५- द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं स्मृतम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामानुपूर्वशः॥- व २।५८
द्विकं त्रिकं चतुष्कं पञ्चकं च शतं वर्णानुक्रमेण प्रतिमासम्।- वि ६।२

६- सर्वे वर्णा स्वप्रतिपन्नां वृद्धिं दद्युः। अकृतामपि वत्सरातिक्रमेण यथाविहिताम्।- वि ६।३-४

७- नातिसंवत्सरीमेके। चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य।- गौ २।३।२७-२८

तो उस धन पर वृद्धि देय नहीं होती। राजा द्वारा रोक लगा देने पर भी ऋण पर वृद्धि नहीं दी जाती है।[१]

चक्रवृद्धि ब्याज भी धर्मसूत्रकाल में प्रचलित था। इस प्रकार की वृद्धि में मूलधन तथा उस पर निश्चित किये गये ब्याज को छोड़कर दोनो के योग को मूलधन मानकर पुनः ब्याज लिया जाता था। जब समय के आधार पर ब्याज निर्धारित रहता था तो उसे कालवृद्धि कहते थे।[२] गोतमधर्मसूत्र में चार प्रकार की वृद्धि उल्लिखित है: १-कारिता, २-कायिका, ३-शिखा और ४- अधिभोगा।[३] हरदत्त की व्याख्या के अनुसार देश, काल, कार्य और अवस्था के अनुसार स्वयं ही निर्धारित कम या अधिक वृद्धि कारिता वृद्धि होती है। शारीरिक श्रम द्वारा चुकायी जाने वाली वृद्धि कायिका है। जो प्रतिदिन दी जाती हो वह शिखावृद्धि है, क्योंकि शिखा के समान बढ़ती है। अधिभोगा का अर्थ बन्धक रखी हुई भूमि आदि के फलों के भोग से है।[४] गौतम ने यह भी व्यवस्था की है कि पशुओं से प्राप्त घी, दूध, ऊन, कम्बल, चामर आदि लोम, खेत की उपजऔर बैल आदि वाहन के साधनों के विषय में ब्याज पाँचगुने से अधिक नहीं होना चाहिए।[५] विष्णुधर्मसूत्र में वृद्धि की सीमा इस प्रकार बतायी गयी है- सुवर्ण पर मूलधन का दुगुना, धान्य पर तीन गुना, वस्त्र पर चार गुना, रस जैसे पदार्थों पर आठ गुना। दासियों की सन्तान और गाय जैसे मादा पशुओं के बछड़े आदि वृद्धि के रूप में ग्रहण किये जाते थे। जिन पदार्थों से मद बनाया जाता था उन पर और कपास, सूत, चमड़ा, वस्त्र, ईटों तथा कोयलों पर वृद्धि सदैव देय (अक्षया) होती थी। अन्य पदार्थों पर इतनी ही वृद्धि ली जा सकती थी जितनी से मूलधन दूना हो जाता था।[६] उपर्युक्त आधिभोगा

१- दित्सतोऽवरुद्धस्य च।- गौ २।३।३०
दीयमानं प्रयुक्तमर्थमुत्तमर्णस्यागृह्णतस्ततः परं न वर्धते।- वि ६।१०

२- चक्रकालवृद्धिः।- गौ २।३।३१, द्रष्टव्य इस सूत्र पर हरदत्त = 'यावता कालेन यावती वृद्धिस्तामपि मूलीकृत्य तावतो मूलस्य पुनर्वृद्धिचक्रवृद्धिः।- - इयतः कालस्येयती वृद्धिरिति यत्र समयेन गृह्यते सा कालवृद्धिः।'

३- कारिता कायिकाशिखाधिभोगाश्च।- गौ २।३।३२

४- द्र० गौ २।३।३२ की मिताक्षरावृत्ति ।

५- कुसीदपशूपजलोमक्षेत्रशदबाह्येषु नातिपञ्चगुणम्।- गौ २।३।३३

६- वि ६।११-१७

वृद्धि भी कई प्रकार के नियमों से नियन्त्रित होती थी। यदि बन्धक रखी हुई वस्तु का ऋणदाता भोग करता था तो उस पर अन्य कोई वृद्धि नहीं देनी पड़ती थी। उसका भोग ही वृद्धि का रूप होता था।[१] ऋणदाता को बन्धक रखी हुई वस्तु के नष्ट हो जाने पर अपनी होर से वह द्रव्य लौटाना पड़ता था, किन्तु द्वेषवश या राजा द्वारा नाश किये जाने पर वह द्रव्य लौटाने के लिए बाध्य नहीं था।[२] वृद्धि के अन्तिम सीमा तक पहुँचने पर भी आधि लौटा दी जाती थी, किन्तु यदि पहले से लौटाने का निश्चय न हुआ होता था तो अचल सम्पत्ति को उत्तमर्ण नहीं लौटाता था। उसे अधमर्ण से सम्पूर्ण धन प्राप्त कर लेने पर ही लौटाता था।[३] उत्तमर्ण अपने धन को अधमर्ण स किसी भी उचित विधि द्वारा वसूल कर सकता थां राजा उसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। यदि अधमर्ण राजा के यहाँ उत्तमर्ण के विरुद्ध आवेदन करता था और आक्षेप लगाता था ता अधमर्ण को ही उस धन के बराबर दण्ड देना होता था। यदि उत्तमर्ण राजा के यहाँ अधमर्ण क विरुद्ध प्रार्थना करता था तो राजा अधमर्ण से उसे पूरा धन दिलाता था और दस प्रतिशत अपने अंश के रूप में वसूल करता था, ऐसी स्थिति में उत्तमर्ण भी अपना धन प्राप्त करनेपर उसमें से पाँच प्रतिशत राजा को कर देता था। यदि उत्तमर्ण द्वारा माँगे गये धन का एक भाग का भी अधमर्ण द्वारा लेना सिद्ध हो जाता था तो अधमर्ण को सम्पूर्ण धन देना पड़ता था।[४]

ऋण के विषय में उत्पन्न विवादों का निर्णय करने के लिए तीन प्रकार के प्रमाण बताये गये हैं, लिखित, साक्षी और समयक्रिया। जो ऋण किसी साक्षी के समक्ष लिय गये होते थे उन्हें उस साक्षी की ही उपस्थिति में लौटाने का नियम था। संविदापत्र

१- भुक्ताधिर्न वर्धते।-गौ २।३।२६ आधि की व्याख्याहरदत्त के अनुसार 'विश्वासार्थं यदाधीयते कांस्याभरणादि स आधिः।' द्र० वि ६।५ आध्युपयोगे वृद्ध्यभावः।

२- देवराजोपघातादृतेविनष्टमाधिमुत्तमर्णो दद्यात्।- वि ६।६ गौ २।३।३६के अनुसार भी व्यक्ति के अपराध के विना नष्ट होने पर वह देय नहीं होता था।

३- वि ६।७-६ अन्तवृद्धौ प्रविष्टायामपि। न स्थावरमाधिमृते वचनात्। गृहीतधनप्रवेशार्थमेव यत्स्थावरं दत्तं तद्गृहीतधनप्रवेशे दद्यात्।

४- साध्यमानश्चेद्राजानमभिगच्छेत्तत्समं दण्ड्यः। उत्तमर्णश्चेद्राजानमियात्तद्विभावितोऽधमर्णो राज्ञे धनदशभागसंमितं दण्डे दद्यात्। प्राप्तार्थश्चोत्तमर्णो विंशतितममंशम्। सर्वापलाप्येकदेशविभावितो -ऽपि सर्वं दद्यात्।- वि ६।१८-२२

लिखकर ऋण लेने पर उसे लौटा देने पर लिखित पत्र फाड़ दिया जाता था। जब अधमर्ण ऋण का कुछ अंश लौटाता था और संयोगवश उस समय उत्तमर्ण के पास संविदापत्र नहीं होता था तब उत्तमर्ण धन प्राप्ति के विषय में अपने हाथ से लिखकर अधमर्ण को 'रसीद' दे देता था।[१] उपर्युक्त नियमों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि ऋण एवं वृद्धि के विषय में धर्मसूत्रकाल की व्यवस्था आधुनिक अर्थव्यवस्था के समान ही पूर्ण विकसित थी।

उत्तराधिकारी द्वारा देय ऋण

ऋण लेने वाले व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसका रिक्थ ग्रहण करे वाले उत्तमर्ण को लिया हुआ धन लौटाने के लिए उत्तरदायी होते थे।[२] यदि ऋण लेने वाला व्यक्ति संन्यासी बन जाता था अथवा बीस वर्षों से कहीं अन्यत्र गया हुआ होता था तो उसक द्वारा लिया गया ऋण उसके पुत्र या पौत्र को चुकाना होता था, किन्तु इसके बाद के सम्बन्धियों को बाध्य नहीं किया जा सकता था।[३] निर्धन अवस्था में मृत व्यक्ति का ऋण उस व्यक्ति द्वारा देय होता था जो उसकी विधवा को स्वीकार करता था।[४] यदि कई भाई एक साथ अविभक्त रूप में रहते थे तो उनमें से किसी एक द्वारा लिये गये ऋण को उसकी मृत्यु होने पर जो भाई बचे होते थे उनको देना पड़ता था। विभाजन केपूर्व पिता द्वारा लिया गया ऋण वे सभी अविभक्त भाई देते थे, किन्तु विभाजन हो जाने पर वे अपने दायभाग के अनुसार ऋण के अंश देते थे। कुटुम्ब के प्रयोजन से जो ऋण लिया जाता था उसे देना कुटुम्ब के किसी भी सदस्य का कर्त्तव्य होता था।[६]

१- वि ६।२३-२६ तस्य च भावनास्तिस्रो भवन्ति लिखितं साक्षिणः समयक्रिया च।
ससाक्षिकमाप्तं ससाक्षिकमेव दद्यात्। लिखितार्थे प्रविष्टे लिखितं पाटयेत्।
असमग्रदाने लेख्यासंनिधाने चोत्तमर्णः स्वलिखितं दद्यात्।

२- रिक्थभाजः ऋणं प्रतिकुर्युः।- गौ २।३।३७
सपुत्रस्य वाप्यपुत्रस्य वा रिक्थग्राही ऋणं दद्यात्।- वि ६।२६

३- धनग्राहिणि प्रेते प्रव्रजिते द्विदश समाः प्रवसिते वा तत्पुत्रपौत्रैर्धनं देयम्। नातः परमनिच्छुभिः।
- वि ६।२७-२८

४- वि ६।३० निर्धनस्य स्त्रीग्राही।

अदेय ऋण

व्यापार के लिए ऋण लेने वाले, विवाह में शुल्क देने का वचन देने वाले, मदपान अथवा द्यूतक्रीडा के निमित्त ऋण लेने वाले तथा राजा द्वारा आर्थिक दण्ड लगाये गये व्यक्ति की मृत्यु पर उनके पुत्र ऋण आदि देने के भागी नहीं होते थे।[१] पति और पुत्र द्वारा लिया गया ऋण पत्नी से तथा किसी स्त्री द्वारा लिया गया ऋण उसके पति या पुत्र से नहीं लिया जा सकता था[२] किन्तु गोप, शौण्डिक (मदनिर्माता), शैलूष (नर्तक या नट), रजक और व्याध की स्त्रियाँ जो ऋण लिये होती थीं वह उनके पतियों को देना पड़ता था।[३] इसका कारण यह था कि उपर्युक्त स्त्रियों के उपार्जन पर ही उनके पतियों की भी जीविका चलती थी और स्त्रियों की ही उनके परिवार में प्रमुख भूमिका होती थीं। वे स्त्रियाँ ही धन का लेन-देन करती थीं।[४] कोई भी पिता अपने पुत्र द्वारा लिये गये ऋण का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं होता था।[५]

प्रतिभू

ऋण के आदान-प्रदान में जिस प्रकार विश्वास हेतु आधि या बन्धक रखने की व्यवस्था थी उसी प्रकार किसी विश्वस्त सा सम्पन्न व्यक्ति को प्रतिभू बनाने की भी प्रथा प्रचलित थी। प्रतिभू तीन प्रकार की स्थितियों - दर्शन, प्रत्यय और दान- में होते थे। दर्शन में प्रतिभू किसी व्यक्ति को किसी निर्दिष्ट समय पर उपस्थित करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करता था। आज कल भी न्यायालयों में किसी अपरध में बन्दी बनाये गये व्यक्ति के लिए इसी प्रकार के प्रतिभू होते हैं जो उसे वाद की तिथियों पर उपस्थित करने का दायित्व लेते हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के उत्तम शील के विषय में विश्वासार्थ प्रतिभू होते थे और ऋण लेने वाला व्यक्ति भी उत्तमर्ण के समक्ष किसी व्यक्ति को प्रतिभू बनाकर ऋण लेता था। यदि किसी एक व्यक्ति को या अनेक व्यक्तियों को

१- प्रातिभाव्यवणिक्शुल्कमद्यद्यूतदण्डाः पुत्रान्नाभ्याभवेयुः।- गौ २।३।३८

२- न स्त्री पतिपुत्रकृतम्। न स्त्रीकृतं पतिपुत्रौ।- वि ६।३१-३२

३- वि ६।३७ गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधस्त्रीणां पतिर्दद्यात्।

४- द्रष्टव्य वि ६।३७ पर नन्दपण्डित की वैजयनती टीका 'तदधीनवृत्तित्वात्।'

५- न पिता पुत्रकृतम्।-वि ६।३३

प्रतिभू बनाकर ऋण लिया गया हो तो ऋणी के धन न लौटाने पर प्रतिभू को धन देना पड़ता था। ऋण के प्रतिभू की मृत्यु पर उसके पुत्रों को वह धन उत्तमर्ण को देना होता था।[1] यदि कई व्यक्ति प्रतिभू होते थे और ऋणी द्वारा लिये गये ऋण के भिन्न-भिन्न अंश देने की संविदा पहले नहीं हुई रहती थी तो उनमें से प्रत्येक समपूर्ण धन का देनदार होता था। यह उत्तमर्ण की इच्छा पर निर्भर था कि वह किस प्रतिभू से धन वसूल करे। यदि प्रतिभू उत्तमर्ण द्वारा पीडित किये जाने पर ऋणी की ओर से धन लौटा देता था तो ऋणी दूना धन प्रतिभू को देता था।[2] ऋण के अतिरिक्त अन्य दो प्रकार की स्थितियों में प्रतिभू की मृत्यु होने पर उसके पुत्रों का कोई उत्तरदायित्व नहीं माना जाता था।[3]

निधि एवं निक्षेप

धर्मसूत्रों की सर्वाङ्गीण विकसित अर्थव्यवस्था में भी व्यक्तिगत धन की सुरक्षा हेतु धनागार या बैंक की पद्धति का प्रचलन नहीं प्रतीत होता है। सुवर्ण आदि आभूषण या मुद्रारूपी धन सुरक्षित रखन की दो ही विधियाँ ज्ञात होती हैं। लोग ऐसे धन को किसी भाण्ड में रखकर घर के भीतर भूमि में गाड़ देते थे अथवा किसी धन-जन-सम्पन्न एवं सामाजिक प्रतिष्ठा वाले सज्जन के यहाँ निक्षेप रख देते थे। यदि किसी को अस्वामिक निधि प्राप्त होती थी तो उसमें राजा को भी अंश देना होता था।[4]

विश्वासपूर्वक दूसरे के पास रखे गये निक्षेपका एक रूप उपनिधि अथवा औपनिधिक भी था, जिसमें किसी भाण्ड या मंजूषा में कोई धन बन्द कर किसी के यहाँ धरोहर रखा जाता था। जिसके पास निक्षेप[5] रखा जाता था उसके यहाँ निक्षेप का नाश होने पर यदि निक्षेप रखने वाले की कोई असावधानी कारण न हो तो उसे लौटाना

१- दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि॥- वि ६।४१

२- वि ६।४२-४३ ३- गौ २।३।३८

४- द्रष्टव्य इस अध्याय में आगे राजकीय सम्पत्ति का प्रकरण।

५- हरदत्त ने निधि और निक्षेप एक ही माना है (गौ २।३।३६ की वृत्ति)
किन्तु विष्णुधर्मसूत्र में निधि से गाड़कर रखा गया धन ही अभिप्रेत है। वि ३।५६-६१

नहीं पड़ता था। जो व्यक्ति निक्षेप का अपहरण करता था उसे राजा ब्याज के साथ लौटाने के लिए बाध्य करता था और चोर के तुल्य मानकर दण्ड देता था।[१]

मुद्रा एवं वाणिज्य

धर्मसूत्रकालीन अर्थव्यवस्था में मुद्रा का भी प्रचलन था। गौतमधर्मसूत्र में माष, कृष्णल और कार्षापण नाम की मुद्राओं का उल्लेख है। कार्षापण तत्कालीन अर्थवयवस्था में सम्भवतः सर्वाधिक प्रचलित सिक्का था। यह ताँबे का होता था।[२] एक कार्षापण में बीसा माष होते थें और एक माषा चार काकिणी के बराबर होता था।[३] कृष्णल नाम की मुद्रा का उल्लेख भी गौतम ने किया है।[४] विष्णुधर्म का एक छोटा अध्याय(चतुर्थ) इन मुद्राओं के विषय में ही है। इसके अनुसार आठ त्रसरेणु की एक लिक्षा, तीन लिक्षा का एक राजसर्षप, तीन राजसर्षप का एक गौरसर्षप, छः गौरसर्षप का एक यव तथा तीन यव का एक कृष्णल होता था। पुनः पाँच कृष्णल का एक माष, बारह माष का अक्षार्ध और सोलह माष का एक सुवर्ण तथा चार सुवर्ण का एक निष्क होता था। समान वजन के दो कृष्णलों का रुप्यमाषक तथा सोलह रुप्यमाषक का धरण होता था। कार्षापण एक कार्ष अर्थात् अस्सी रक्तिका ताम्र का होता था।

धर्मसूत्रों में उपलब्ध दण्डविधि से यह स्पष्ट प्रतीतहोता है कि व्यापार एवं क्रयविक्रय पर भी राजा का कुछ सीमा तक नियन्त्रण था। आयातित वस्तुओं के विक्रय पर विशेष प्रकार के कर लिये जाते थे अतः उनका विवरण भी रखा जाता होगा। नकली वस्तुएँ बेचने, मूल्य लेकर वस्तु न देने, तौल में गड़बड़ी करने के लिए[५] दण्ड दिये जाते थे और राजपुरुष इन पर सतर्क दृष्टि रखते थे। व्यापारियों के संघ या कम्पनी का संकेत भी विष्णुधर्मसूत्र में मिलता है। किन्तु ये भी राजा के अप्रत्यक्ष

१- निक्षेपापहार्यर्थवृद्धिसहितं धनं धनिकस्य दाप्यः। राज्ञा चौरवच्छास्यः।- वि ५।१६६-१७०

२- ताम्रिकस्य कार्षापणः।- हरदत्त गौ २।३।६ की वृत्ति।

३- उशनसा मासो दर्शितः- माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि।
काकिणी तु चतुर्थांशो माषस्यैव प्रकीर्तितः॥- गौ २।३।१६ की वृत्ति में उद्धृत।

४- फलहरितधान्यशाकादाने पञ्चकृष्णलमल्पम्।- गौ २।३।१५, द्र०वि ५।८५

५- वि ५।१२४, १२७, १२२

नियन्त्रण में होते थे।[1] उनके कार्यों में वह हस्तक्षेप करता था। कुछ वस्तुओं का विक्रय राजा की ओर से निषिद्ध भी था।[2]

कृषि और मजदूरी के विषय में धर्मसूत्रों ने जो नियम दिये हैं[3] उनसेयह भी प्रमाणित होता है कि व्यक्तियोंके अपने व्यवसाय में आर्थिक हानि न उठानी पड़े इसके लिए राजा सदैव तत्पर रहता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में धर्मसूत्रों की अर्थव्यवस्था व्यापक है और प्रजा के आर्थिक हितों की रक्षा एवं न्याय के लक्ष्य से प्रेरित है, इसमें सन्देह नहीं।

राजस्व या राजकीय सम्पत्ति-विषयक कानून

धर्मसूत्रों में राजतन्त्र पद्धति का जो स्वरूप है उसमं राजा के ऊपर धर्म का साक्षात् नियन्त्रण है। इस दृष्टि से धर्मसूत्र एक लिखित संविधान का स्थान ग्रहण करते हैं और राजा के आचरण के लिए विस्तृत कानूनोंका विधान करते हैं। संविधान या धर्मशास्त्रीय व्यवस्था का ही सर्वोपरि महत्त्व है। राजा निरंकुश नहीं है। वह अपनी सम्पत्ति की वृद्धि करने एवं प्रजा से स्वेच्छया धन वसूल करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। वह प्रजा से जो भी धन प्राप्त करता है वह उसके लिए वेतन के समान है। प्रजा की सभी प्रकार से सुरक्षा बनाये रखने के लिए ही उसे कर या अन्य प्रकार से धन लेने का अधिकार है। धर्मसूत्रों ने उसे आर्थिक अधिकार कर्त्तव्य के बदले में दिये हैं। राजा का विलासितापूर्ण जीवन उन्हें मान्य नहीं है। प्रजाहित के लिए सुरक्षित कोष को व्यक्तिगत सुखभोग के लिए व्यय करना अनैतिक आचरण घोषित किया गया है।

राज्य के सात अङ्गों या प्रकृतियों के अन्तर्गत 'कोश' महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।[4] कोश के क्षीण होने पर राज्यव्यवस्था असम्भव हो जाती है और शत्रु देश आक्रमण कर राज्य का विनाश कर देता है। इस कारण राजकोश की सम्पन्नता, राज्यव्यवस्था में नियुक्त कर्मचारियों के वेतन तथा प्रजा की सुविधा के लिए विविध निर्माण कार्य हेतु

१- वि ५।१२५ संभूयवणिजां पण्यमनर्घेणावरुन्धताम्। वि ५।१६७ गणद्रव्यापहर्ता विवास्यः।

२- वि ५।१३०

३- गौ २।३।१५-२३, व १६।११-१२, वि ५।१५३-१५६

४- स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतयः।- वि ३।३३

प्रजा से धनसंग्रह अनिवार्य हो जाता है। इस धनसंग्रह में राजा या राजपुरुष स्वेच्छाचार न करें इस प्रयोजन से सभी धर्मसूत्रों ने राजकीय आय के साधनों एवं कर या शुल्क की मात्राओं का निर्धारण कर दिया है। राजकीय आय के निम्नलिखित प्रमुख साधनों के उल्लेख धर्मसूत्रों में उपलब्ध होते हैं:-

करग्रहण

सम्भवतः राज्यव्यवस्था के आदिकाल से ही राज्य की आयका एक प्रमुख स्रोत प्रजा से लिया जाने वाला कर रहा है। धर्मसूत्रों में जिस प्रकार की अर्थव्यवस्था दिखयी पड़ती है उसमं एक सुविकसित करग्रहण नीति का समावेश तत्कालीन शासनव्यवस्था के उच्च स्तर का सूचक है। प्रजा से करग्रहण का औचितय प्रतिपादित करते हुए गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि करदाताओं की रक्षा राजा का धर्म है अतः वह रक्षण कार्य में तत्पर रहे।[१] गौतम का यह संकेत स्पष्ट है कि कर राजा को रक्षण कार्य हेतु प्राप्त होने वाली सम्पत्ति है और अन्य वर्णों की अपेक्षा रक्षण कार्य राजा का अधिक कर्त्तव्य होने के कारण जो भी कर उसे प्राप्त होते हैं उन्हीं से वह अपना तथा अपने कर्मचारियों आदि का पोषण करे।[२] एक प्रकार से कर राजा का वेतन होता था। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर बौधायन ने कहा है कि राजा प्रजा की आय का षष्ठांश भृति के रूप में ग्रहण कर प्रजा की रक्षा करे।[३] वसिष्ठ ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि राजा अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए प्रजा से धन न ले।[४]

करग्रहण में भी धर्मसूत्रों ने धर्म का विचार किया है और धर्मसम्मत शुल्क ग्रहण करने का आदेश दिया है। आपस्तमबधर्मसूत्र के अनुसार धर्मसम्मत शुल्क ग्रहण

१- तद्रक्षणधर्मित्वात्। तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात्।- गौ २।१।२८,२६
गौ २।१।१६ की वृत्ति में हरदत्त ने इस मत का भी उल्लेख किया है कि राजा करग्रहण में तत्पर रहे। 'तेषु (वल्यादिषु नित्ययुक्तः स्यात्। तात्पर्येणऽऽददीत शुल्कम् ह्यस्यैतद्धनमिति।'

२- अधिकेन वृत्तिः।- गौ २।१।३० आपत्काल के अतिरिक्त राजा को पूर्वसंचित कोश से व्यय करने का अधिकार नहीं थां ' न तु पूर्वैर्यत्सञ्चित्य खातं कोशरूपेण तेन जीवेत्।' हरदत्त की वृत्ति।

३- षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्।- बौ १।१८।१

४- अधिष्ठानान्न नीहारः स्वार्थानाम्।- व १६।१४

करना राजा का अधिकार एवं कर्त्तव्य दोनो था।[1] धर्म और नैतिकता का ध्यान रखते हुए अनेक व्यक्तियों को करमुक्त रखने का विधान भी सभी धर्मसूत्रों में किया गया है। करमुक्त लोगों के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रमुख स्थान श्रोत्रिय ब्राह्मण का होता था। गौतम ने न केवल ऐसे ब्राह्मणों को करमुक्त रखा है, अपितु उनके भरणपोषण का दायित्व भी राजा के ऊपर डाल दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने जीविका निर्वाह करने में असमथ्र ब्राह्मणों का भी पोषण स्वयं राजा का कर्त्तव्य माना है।[2] जो ब्राह्मण पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा करमुक्त रखे गये होते थे उनसे करग्रहण न करने और ब्रह्मचारी एवं लोकोपकारक कार्य करने वाले चिकित्सक आदि का अन्नादि के दान द्वारा भरण करने का आदेश भी गौतम ने दिया है।[3] यद्यपिबौधायन ने श्रोत्रिय ब्राह्मण को करमुक्त रखने के विषसय में स्पष्ट नहीं कहा है, तथापि 'षड्भागभृतः' कहकर वे इसी तथ्य का संकेत करते हैं कि राजा षष्ठ भाग का अंशग्राही होता है और इस प्रकार वह श्रोत्रिय द्वारा उत्पादित धर्म का भी षष्ठांश प्राप्त करता था।[4] आपस्तम्बधर्मसूत्र में उपलब्ध करमुक्त व्यक्तियों की सूची निम्नलिखित है- 'श्रोत्रिय ब्राह्मण, सभी वर्णों की स्त्रियाँ, युवावस्था के चिह्न प्रकट होने से पूर्व की अवस्था तक के बालक, विद्याग्रहण के लिए गुरुकुल में निवास करने वाले, धर्म के आचरण में संलग्न तपस्वी, चरणों को धोकर जीविका निर्वाह करने वाला शूद्र, अन्धे, गूंगे, बहरे, रोगी तथा परिव्राजक आदि धन का परित्याग कर विरक्त जीवन व्यतीत करने वाले।'[5] वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार श्रोत्रिय राजपुरुष, अनाथ, संन्यासी, शिशु, वृद्ध एवं तरुण करमुक्त होते हैं।[6] इसी प्रकार जो विधवाएँ पतिगृह से लौटकर पितृगृह में निवास करती थीं उनको भी करमुक्त किया गया

१- धार्म्यं शुल्कमवहारयेत्।- आप २।२६।६

२- बिभृयाद् ब्राह्मणाञ्श्रोत्रियान्। निरुत्साहांश्च ब्राह्मणवत्।- गौ २।१।६,१०

३- अकरांश। उपकर्वाणांश्च।- गौ २।१।११,१२

४- द्र० गोविन्दस्वामी, 'ब्राह्मणस्याऽनुरक्षितस्य धर्मषाड्भाग्भवति।- बौ १।१८।१ भाष्य।

५- आप २।२६।१०-१७

६- अकरः श्रोत्रियो राजपुमाननाथप्रव्रजितबालवृद्धतरुणप्रजाताः।- व १६।२३ इस सूत्र में अन्तिम 'प्रदातारः' स्पष्ट नहीं है, संभवतः 'प्रदातारः' पाठ जो कुछ पाण्डुलिपियों में मिलता है,शुद्ध हो।

है। कुमारी कन्याएँ तथा भृत्यों की पत्नियाँ भी करमुक्त थीं।[१] वसिष्ठ के अनुसार नदियों, सूखी घास, वन, जले हुए पदार्थ और पर्वत के उपभोग पर कोई कर नहीं होता था, किन्तु इनसे जीविका निर्वाह करने वालों से स्वल्प कर लिया जा सकता था।[२] वसिष्ठधर्मसूत्र में 'मानवम्' नाम से उद्धृत एक श्लोक में कहा गया है : 'एक कार्षापण से कम सम्पत्ति पर, शिल्प की वृत्ति पर, शिशु, दूत, भिक्षा से प्राप्त अन्न, चोरों के अपहरण के बाद बची हुई सम्पत्ति पर, श्रोत्रिय, संन्यासी तथा यज्ञ पर कोई कर नहीं लगाया जाता है।'[३]

विष्णुधर्मसूत्र ने भी ब्राह्मणों से करादानका वर्जन यह कहते हुए किया है कि वे राजा को अपने द्वारा आचरित धर्म का कर देते हैं। वस्तुतः राजा प्रजा के सुकृत एवं दुष्कृत का षष्ठ अंश प्राप्त करता है।[४] ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, भक्षु, गर्भिणी स्त्री एवं तीर्थयात्री से नदी पार करन के लिए लिया जाने वाला शुल्क भी वर्जित किया गया है और यदि कोई नाविक अथवा शुल्कादान के लिए नियुक्त कर्मचारी इन लोगों से शुल्क ले लेता था तो वह दण्डनीय होता था।[५] इसके विपरीत जिनसे शुल्क लेना नियमानुकूल होता था वे यदि विना शुल्क दिये पलायन करते थे तो उनका सर्वस्व हरण कर लेने का विधान था।[६]

धर्मसूत्र के काल में करादानकी व्यवस्था इतनी विकसित थी कि इसके लिए निश्चय ही एक पृथक् विभाग का गठन हो गया था। विष्णुधर्मसूत्र में तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि राजा खानों, करादान, नदी पार करने वालों से शुल्क लेने तथा हाथियों एवं वनों की व्यवस्था में विश्वस्त एवं योग्य अधिकारियों की नियुक्ति करे।[७] इस

१- प्राग्गामिकाः कुमार्यो भृतपत्न्यश्च।- व १६।२४

२- नदीकक्षवनदाहशैलोपभोगा निष्कराः स्युः। तदुपजीविनो वा दद्युः।- व १६।२६,२७

३- न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्के न शिल्पवृत्तौ न शिशौ न दूते।
न भैक्षलब्धे न हृतावशेषे न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञ इति॥- व १६।३७

४- ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। ते हि राज्ञो धर्मकरदाः। राजा च प्रजाभ्यः सुकृतदुष्कृतषष्ठांशभाक्।- वि ३।२६-२८

५- वि ५।१३।३

६- शुल्कस्थानादपक्रामन्सर्वापहारमाप्नुयात्।- वि ३।३१

७- आकरशुल्कतरनागवनेष्वाप्तान्नियुंजीत।- वि ३।१६

धर्मसूत्र में शौल्किक[1] नामके कर्मचारी और शुल्कस्थान[2] का उल्लेख है। शुल्कस्थाननिश्चित रूप से आजकल की चुंगी की चौकियों के समान होते थे, जो ऐसे स्थलों पर स्थापित होते थे, जहाँ शुल्क देने वालों से सरलतापूर्वक शुल्क लिया जा सके और वे पलायन न कर सकें। आपस्तम्बधर्मसूत्र के काल में शुल्कग्रहण का कार्य ग्रामों की चोरों से रक्षा करने के लिए नियुक्त रक्षापुरुषों के हाथ में था। ये रक्षापुरुष एक निश्चित सीमा के भीतर देखरेख का कार्य करते थे और उस क्षेत्र से सभी प्रकार के कर लेकर राजकोष में पहुँचाते थे।[3] स्पष्ट है कि धर्मसूत्रों के आरम्भिक काल में करादान के लिए सुरक्षा एवं प्रशासन के कर्मचारियों से भिन्न कर्मचारी नहीं थे।

प्रायः सभी प्रकार के कर एवं शुल्क का उल्लेख धर्मसूत्रों में हुआ है और कर के अंशों का भी विभिन्न प्रकार से निर्धारण किया गया है। गौतमधर्मसूत्र के काल में यह व्यवस्था सरल प्रतीत होती है, किन्तु विष्णुधर्मसूत्रके काल तक प्रत्येक प्रकार के करादान हेतु पृथक् उपविभागों का अस्तित्व स्पष्टतः प्रतीत होता है। मुख्यतः कृषि की उपज एवं खानों से उत्पादन-कर, देश में उत्पन्न अथवा विदेशों से आयातित वस्तुओं पर विक्रय कर, समुद्र मार्ग से व्यापार पर शुल्क, नदी पार करने के शुल्क तथा वृत्तिकर लिये जाते थे। विशेष स्थितियों में आकस्मिक कर भी लिया जाता था। इन विभिन्न प्रकार के करों में राजा द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अंश में एकरूपता न होकर करयोग्य वस्तु या व्यक्ति के अनुसार भिन्नता होती थी।

कृषिकर

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार कृषकों को अपने खेतों की उपज का दसवाँ, आठवाँ अथवा छठा भाग राजा को देना होता था।[4] सम्भवतः उपर्युक्त अंशभिन्नता भूमि की उर्वरता के आधार पर थी।[5] बौधायन के अनुसार राजा प्रत्येक प्रकार की आय के

१- वि ५।१३२ ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुगुर्विणीतीर्थानुसारिणां नाविकः शौल्किकः शुल्कमाददानश्च।

२- वि ३।३१ शुल्कस्थानादपक्रामन्सर्वापहारमाप्नुयात्।

३- आप २।२६।४-६

४- राज्ञो बलिदानं कर्षकैर्दशमष्टमं षष्ठं वा।- गौ २।१।२४

५- हरदत्त ने भूमि के अतिभोग, मध्यमभोग एवं अल्पभोग का उल्लेख किया है:

भाग का अधिकारी होता था।[१] आपस्तम्ब एवं वसिष्ठधर्मसूत्र में किसी प्रकार के कर या शुल्क के अंश का उल्लेख नहीं है तथापि आपस्तम्ब का कथन है कि शुल्क धर्मानुकूल होना चाहिए और वसिष्ठधर्मसूत्र में करयोग्य वस्तु की मात्रा एवं मूल्य के आधार पर ही नीहार ग्रहण करने का निर्देश है।[२] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन धर्मसूत्रों के काल में भी प्रायः सभी प्रकार के कर विस्तारपूर्वक निर्धारित थे जिनका इनमें जानबूझकर, संभवतः संक्षेपार्थ उल्लेख नहीं किया गया है। पुनः विष्णुधर्मसूत्र में कुछ विस्तार से कृषि एवं कृषक कीअन्य प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं पर इस प्रकार शुल्क निश्चित किया गया है- 'राजा प्रत्येक वर्ष धान्य से षष्ठ अंश ग्रहण करे। अन्य प्रकार की भी सभी फसलों से षष्ठ अंश ग्रहण करे, पशु, सुवर्ण, वस्त्र का दो प्रतिशत, मांस, मधु, घृत, ओषधि, गन्ध, पुष्प, मूल, फल, रस, लकड़ी, पत्ते, अजिन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन तथा बांस से बने उपकरणों का षष्ठ भाग बलि के रूप में ग्रहण करे।[३]

विक्रय कर

व्यापारियों द्वारा विक्रय की जाने वाले वस्तुओं पर करादान राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। गौतम ने इसे शुल्क कहा है। यह शुल्क विक्रय की जाने वाले वस्तु का बीसवाँ भाग होता था।[४] हल्दी आदि मूल, फल,पुष्प, औषध, मधु, मांस, तृण और ईंधन के विक्रय पर षष्ठांश शुल्क था।[५] व्यापारियों को शुल्क देने के अतिरिक्त प्रत्येक मास अपनी विक्रय वस्तु में से एक वस्तु राजा को कम मूल्य पर बेचनी होती थी। गौतम ने इस प्रकार के नियम का स्पष्ट उल्लेख किया है। बौधायनधर्मसूत्र में दूसरे देश से समुद्र मार्ग से लायी गयी विक्रयवस्तु पर ही शुल्क का निर्देश है। ऐसी वस्तुओं में से

'कृष्टायाः भूमेरतिभोगमध्यमभोगाल्पभोगविषयोऽयं व्यवस्थितो विकल्पः। अतिभोगे दशमांशो मध्यमभोगे- ऽष्टमांशो ऽल्पभोगे षष्ठांश इति।'- गौ २।१।२४ की वृत्ति।

१- षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्।- बौ १।१८।१

२- धार्म्यं शुल्कमवहारयेत्।- आप २।२६।९; मानमूल्यमात्रं नैहारिकं स्यात्।- व १९।१४

३- वि ३।२२-२५

४- विंशतिभागः शुल्कः पण्ये।- गौ २।१।२६

५- मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः।- गौ २।१।२७

६- पण्यं वणिग्भिरर्थापचयेन देयम्।- गौ २।१।३५

कोई उत्कृष्ट रत्न आदि जैसा पदार्थ लेकर अवशिष्ट पर राजा दस प्रतिशत शुल्क ग्रहण करता था।[1] इस प्रकार का शुल्क बौधायनधर्मसूत्र के काल में विशिष्ट था, अतः अन्य प्रकार की विक्रय वस्तुओं के विषय में यही सामान्य नियम है कि उनके मूल्य के अनुसार इस प्रकार शुल्क ग्रहण किया जाय कि व्यापारी को कष्ट न हो।[2] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार भी स्वदेश में उपलब्ध विक्रयवस्तु का दशमांश और परदेश से आयातित वस्तु का बीसवाँ अंश विक्रय कर था।[3]

वृत्तिकर

धर्मसूत्रकाल में वृत्तिकर की भी व्यवस्था थी। गौतम ने इस प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है जिनसे राजा शुल्क लेता था। कुछ आचार्यों (एके) क मत का संकेत करते हुए उन्होंने यह नियम दिया है कि पशुपालन से जीविका चलाने वाले और ब्याज पर धन देने वाल राजा को प्रति वर्ष पशुओं तथा मूलधन का दो प्रतिशत कर के रूप में प्रदान करे।[4] शिल्पियों एवं श्रमिकों से कोई अंश नहीं लिया जाता था। गौतम, वसिष्ठ एवं विष्णुधर्मसूत्र में श्रमिकों एवं शिल्पियों के लिए प्रतिमास एक दिन राजा का कार्य करना ही शुल्क बताया गया है।[5] नौका तथा गाड़ी चलाकर जीविका निर्वाह करने वाले भी प्रतिमास राजा के लिए कार्य करते थे, किन्तु राजा उनको भोजन देता था।[6]

वसिष्ठधर्मसूत्र ने राजा की मृत्यु पर दिये जाने वाले प्रासंगिक कर का भी उल्लेख किया है। नौका द्वारा नदी पार करने का शुल्क निश्चित नहीं था। सम्भवतः यह शुल्क स्वल्प होता था। इन करों एवं शुल्कों के अतिरिक्त राजा किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त

१- सामुद्रशुल्कः। वरं रूपमुद्धृत्य दशपणं शतम्।- बौ १।१८।१३,१४

२- अन्येषामपि सारानुरूपेणाऽनुपहत्य धर्मं प्रकल्पयेत्।- बौ १।१८।१५

३- स्वदेशपण्याच्च शुल्कांश दशममादद्यात्। परदेशपण्याच्च विंशतितमम्।- वि ३।२९-३०

४- पशुहिरण्ययोरप्येके पंचाशद् भागः।- गौ २।१।१५

५- शिल्पिनो मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः। एतेनाऽऽत्मोपजीविनो व्याख्याताः।- गौ २।१।३१-३२
प्रतिमासमुद्वाहकरं त्वागमयेत्।- व १९।२८
शिल्पिनः कर्मजीविनश्च शूद्राश्च मासेनैकं राज्ञः कर्म कुर्युः।- वि ३।३२

६- नौचक्रीवन्तश्च। भक्तं तेभ्यो दद्यात्।- गौ २।१।३३,३४

खोयी हुई सम्पत्तिसे भी एक निश्चित अंश ग्रहण करता था।

अस्वामिक धन

राजा की आय का एक स्रोत इस प्रकार का धन भी था जो किसी को मिल गया हो और जिसके स्वामी का ज्ञान न हो। ऐसा धन खोया हुआ स्वामित्वहीन धन होता था और वह जिसे प्राप्त होता था उसे भी कुछ अंश मिलता था, शेष धन राजकोश में पहुँचा दिया जाता था। इस कारण धर्मसूत्र में यह स्पष्ट निर्देश है कि यदि कोई वयक्ति किसी भी प्रकार का खोया हुआ धन पाता है तो उसके विषय में राजा को सूचना दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो चोर के समान समझा जाता था और दण्ड का भागी होता था।[१] धर्मसूत्रों की यह व्यवस्था इस तथ्य का प्रमाण है कि तत्कालीन समाज में राजा का प्रजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति परप्रत्यक्ष नियन्त्रण था और यह व्यवस्था निश्चित रूप से प्रजा में काले धन के उपार्जन की प्रवृत्ति को रोकती थी। किसी खोये हुए धन को पाने पर पहले राजा को सूचित करना इसलिए अनिवार्य था कि राजा उस धन के स्वामी की घोषणा कराकर अन्वेषण कराता और एक वष्र तक प्रतीक्षा कर उस धन में से एक प्रकार का आयकर या सम्पत्तिकर लेकर शेष धन प्राप्तकर्त्ता को दे देता था।[२] गौतम के अनुसार राजा तीन चतुर्थांश लेकर एक चतुर्थांश पाने वाले को देता था।[३]

इस प्रकार की सम्पत्ति से अंश ग्रहण करते समय राजा को वस्तु को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के वर्ण पर भी विचार करना होता था । यद्यपि गौतमधर्मसूत्र में यह नियम दियागया है कि प्राप्त निधि राजा का धन होता है, तथापि यदि पानेवाला कोई ब्राह्मण हो जो अपनेवर्ण क लिए विहित कर्मों मं रत हो तो वहनिधि राजा की न होकर उस ब्राह्मण को ही प्राप्तहोनी चाहिए।[४] गौतम ने इस मत का भी उल्लेख किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त वर्ण का व्यक्ति भी यदि प्राप्त धन के विषय में राजा से निवेदन

१- अनिवेदितविज्ञातस्य सर्वमपहरेत्।- वि ३।६२

२- प्रनष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः। विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम्।- गो २।१।३६-३७

३- ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थः राज्ञः शेषः।- गौ २।१।३८

४- निध्यधिगमो राजधनम्। ब्राह्मणस्याभिरूपस्य । - गौ २।१।४३,४४

करता है तो उसे भी षष्ठभाग मिलता है।[1] वसिष्ठधर्मसूत्र काइस सन्दर्भ में केवल इतना ही कहना है कि खोया हुआ धन मिलने पर राजा का हाता है,[2] किन्तु विष्णुधर्मसूत्र में निम्नलिखित प्रकार स विभाग किया गया है- 'यदि राजा कोई निधि प्राप्त करता है तो उसका आधा ब्राह्मणों में वितरित करे और आधा राजकोश में जमा करो दे। यदि ब्राह्मण कोई धन पाता है तो वह सम्पूर्ण धन स्वयं ग्रहण कर सकता है। क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति इस प्रकार के धन को प्राप्त करने पर आधे का स्वयं अधिकारी होता है, शेष में वह आधा ब्राह्मणों में वितरित करे और आधा अंश राजा को अर्पित करे। वैश्य चतुर्थ अंश राजा को अर्द्धांश ब्राह्मणों को और स्वयं चतुर्थांश ग्रहण करे। किन्तु यदि ऐसी निधि का प्राप्तिकर्त्ता शूद्र है तो वह उस निधि के बारह भाग करने पर पाँच भाग राजा को एवं अन्य पाँच भाग ब्राह्मणों को देकर केवल दो भाग ग्रहण करे।[3]

भूमि के भीतर या अन्य किसी प्रकार से सुरक्षित रखे गये धन में सें राजा को एक प्रकार के सम्पत्ति-कर के रूप में बारहवाँ अंश प्राप्त होता था। केवल ब्राह्मण की निधि के विषय में ही इस नियम का अपवाद होता था।[4]

उत्तराधिकारि-विहीन रिक्थ

राजा की आय का एक स्रोत इस प्रकार की समपत्ति भी थी जिसका कोइ उत्तराधिकारी नहीं होता था। प्रामितः, राजा का यही प्रयत्न होता था कि सम्पत्ति छोड़करनिःसन्तान मरने वाले व्यक्ति से संबद्ध उन लोगों का अन्वेषण किया जाय जो उसके उत्तराधिकारी हो सकते थे, किन्तु ऐस किसी भी योग्य व्यक्ति का अभाव होने पर वह रिक्थ राजकोष में रखलिया जाता था एवं अचल सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था, किन्तु यदि रिक्थ छोड़करमरने वाला व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण का होता था तो उसकी सम्पत्ति श्रोत्रिय ब्राह्मणों में वितरित कर दी जाती थी।[5] किसी ऐसी सम्पत्ति भी

१- अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठं लभेत्येके।- गौ २।१।४५

२- प्रहीणद्रव्याणि राजगामीति भवन्ति।- व १६।१६

३- वि ३।५६-६१

४- स्वनिहिताद्राज्ञे ब्राह्मणवर्जं द्वादशमंशं दद्युः।- वि ३।६३

५- श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्। राजेतरेषाम्।- गौ ३।१०।३६-४०

स्वामी राजा ही हो जाता था, जिसका स्वामी उसे छोड़कर कहीं चला गया हो, किन्तु एक वर्ष तक उसके लौटने की प्रतीक्षा करने के बाद ही राजा उस धन को राजकोश में मिलान का कार्य करता था। एक वर्ष की अवधि के भीतर स्वामी के लौट आने पर उसे वह सम्पत्ति लौटा दी जाती थी। इस नियम में भी ब्राह्मण के धन के विषय में अपवाद था।[१] वसिष्ठधर्मसूत्र में इस अपवाद का कारण यह बताया गया है कि 'ब्राह्मण का धन घोर विष होता है। वस्तुतः, विष विष नहीं है, ब्राह्मण का धन ही विष है। जिसे विष कहते हैं वह तो अकेले अपना ही विनाश करता है, किन्तु ब्राह्मण का धन मनुष्य को पुत्र और पौत्रों के साथ नष्ट कर देता है।[२]

युद्ध में प्राप्त शत्रुधन

राजा के लिए युद्ध भी धनागम का साधन होता था। यद्यपि युद्ध में राजा द्वारा नियुक्त योद्धा शत्रुओं से छीनी गयी सम्पत्ति का स्वामी होता था, तथापि हाथी, घोड़े ओर रथ आदि वाहनराजा को प्राप्त होते थे। यदि सभी सैनिक मिलकर शत्रु पर विजय करने के बाद सम्पत्ति प्राप्त करते थे तो उसमें से राजा अपनी इच्छा से अपने लिए कोई मूल्यवान् द्रव्य ले लता था और अवशिष्ट धन का उन सैनिकों में उनके शौर्य के अनुसार विभाजन कर देता था।[३] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार विजयी राजा शत्रुदेश की खानों की सम्पूर्ण वस्तुएँ ग्रहण कर लेता था।[४] इससे भी उसके राजकोष की वृद्धि होती थी।

१- सर्वाभावे राजा दायं हरेत्।-आप २।१४।५
तयोरलाभे राजा हरेत्। न तु ब्राह्मणस्य राजा हरेत्। त्रैविद्यसाधुभ्यः संप्रयच्छेत्।- व १७।८३,८७
तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजगामि। ब्राह्मणार्थो ब्राह्मणानाम्।-वि १७।१३,१४
अब्राह्मणस्य प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं संवत्सरं परिपाल्य राजा हरेत्।- बो १।१८।१६

२- ब्रह्मस्वं तु विषं घोरम्।
न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपोत्रकम्॥- व १७।८५,८६

३- जेता लभेत सांग्रामिकं वित्तम्। वाहनं तु राज्ञः। उद्धारश्चापृथग्जये। अन्यत्तु यथार्हं भाजयेद्राजा। - गौ २।१।२०-२३

४- आकरेभ्यः सर्वमादद्यात्।- वि ३।५५

आर्थिक दण्ड से प्राप्त धन

धर्मसूत्रों के काल में विविध प्रकारके अपराधों के लिए अपराधी से दण्ड के रूप में धन लिया जाता था, जो राज्य की आय का एक प्रधान स्रोत थां उच्च वर्ण के व्यक्ति का अपमान करने पर,[१] चोरी करने पर चुराये गये धन का आठ, सोलह, बत्तीस या चौंसठ गुना अर्थदण्ड [२] आदि की व्यवस्था तो थी ही, छोटे अपराधों के लिए भी अर्थदण्ड लिया जाता था और कई अपराधों में अपराधी के सम्पूर्ण धन का अपहरण कर उसे राज्य से निकाल दिया जाता था, जैसे कूटसाक्षियों तथा उत्कोचजीवी कर्मचारियों का सर्वस्व अपहरण करने का निर्देश विष्णुधर्मसूत्र ने दिया है।[३] इस धर्मसूत्र में अर्थदण्ड को साहस दण्ड के नाम से तीन कोटियों में रखा गया है। दो सौ पचास पण का अर्थदण्ड प्रथम साहस, पाँच सौ पण का दण्ड मध्यमय साहस तथा सहस्र पण का अर्थदण्ड उत्तम साहस कहलाता है।[४] दण्डविधिके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः प्रत्येक प्रकार के अपराधके लिए धर्मसूत्रों में अथ्रदण्ड निर्धारित किये गये हैं जो या तो पण, कार्षापण या सुवर्ण नाम की मुद्राओं के यप में हैं अथवा कभी-कभी पशुओं या अन्य प्रकार की सम्पत्ति के रूप में ।

धर्मसूत्रों की अर्थव्यवस्था का आधार भी धर्म है। धर्म के अनुकूल आचरण द्वारा उपार्जित धन को ही श्रेष्ठ माना गया है। विष्णुधर्मसूत्र शुक्ल धन, शबल धन और असित धन नाम के तीन वर्गों में गृहस्थ के धन का वर्गीकरण करता है।[५] अपनी वृत्ति द्वारा उपार्जित धन, पितासे प्राप्त, भार्या के साथ विवाह में उपलब्ध तथा मित्रों आदि द्वारा दिया गया उपहार शुक्ल धन है। अपने वर्ण से एक वर्ण निम्कोटि की वृत्ति द्वारा उत्पादित, उत्कोच के रूप में प्राप्त, अविक्रेय पदार्थों के विक्रय से उपलब्ध एवं उपकार के बदले में लिया गया धन शबल धन है और दासवृत्ति, द्यूत, चोरी, ठगी,

---

१- गौ २।३।६-९,११

२- गौ २।३।१२-१३

३- कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहारः कार्यः। उत्कोचजीविनां सभ्यानां च।- वि ५।१७६-१८०

४- पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेय सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥- वि ४।१४

५- विष्णुधर्मसूत्र, अध्याय ५८।

भिक्षा आदि निकृष्ट उपायों एवं अधर्माचरण द्वारा उपार्जित धन कृष्ण धन नाम सेअभिहित है।[1] धर्मसूत्रों की अर्थव्यवस्था का यही लक्ष्य है कि धर्मसम्मत वृत्ति एवं उपायसे ही व्यक्ति धन का उपार्जन करे। धर्मसूत्र का विश्वास है कि मनुष्य जैसे धन का उपभोग करता है वैसा ही फल भी प्राप्त होता है-

यथाविधेन द्रव्येण यत्किञ्चित्कुरुते नरः।
तथाविधमवाप्नोति स फलं प्रेत्य चेह च।।

-विष्णुधर्मसूत्र, ५८।१२

1& fo 58A1&11

अध्याय ६

धर्मसूत्रों में पाप और प्रायश्चित्त

धर्मसूत्रों में प्रतिपादित धर्म का नैतिक पक्ष उन स्थलों पर पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है जहाँ वे व्यक्ति द्वारा किये गये अनेक प्रकार के दुष्कर्म, नियमोल्लंघन अथवा पापकर्मों का तथा उनसे मुक्ति हेतु प्रायश्चित्तों का विवेचन करते हैं। वस्तुतः, धर्मसूत्रों का लक्ष्य यही है कि वे व्यक्ति को उन कर्मों के लिए प्रेरित करते हैं जो उसके वैयक्तिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन के लिए हितकर हैं और उन कर्मों से विरत करते हैं जो अहितकर हैं। सभी धर्मसूत्रों में पापकर्मों का प्रचुर विस्तार से विवेचन है और इस प्रकार पाप एवं प्रायश्चित्त न केवल धर्मसूत्रों में अपितु आगे चलकर स्मृतियों में भी प्रतिपाद्य विषय का अभिन्न अङ्ग बन गया है। पापकर्मों के फलों का, सांसारिक जीवन में पतन या सामाजिक तिरस्कार का और मृत्यु के अनन्तर कष्टमय नरक के भोग का अथवा निकृष्ट योनि में पुनर्जन्म का भयावह वर्णन कर धर्मसूत्र नैतिकता एवं सदाचार की स्थापना का उद्देश्य ही सिद्ध करने में तत्पर दिखायी पड़ते हैं। दूसरी ओर वे पापी के सुधार की सम्भावनाएँ भी अस्वीकार नहीं करते, अपितु उसके उद्धार हेतु प्रायश्चित्तों के रूप में विविध उपायों का भी निर्देश करते हैं।

पाप की अवधारणा

पाप के विषय में धर्मसूत्रों की अवधारणा स्पष्ट है। प्रायश्चित्त का प्रकरण आरम्भ करते हुए गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है : 'व्यक्ति इस संसार में कुत्सित कर्म करने पर पाप से लिप्त हो जाता है। ये कुत्सित कर्म इस प्रकार के हैं यथा पतित आदि अयोग्य व्यक्तियों के लिए यज्ञ कराना, लशुन आदि अभक्ष्य पदार्थ का भक्षण, असत्य या अश्लील भाषण, सन्ध्योपासना आदि विहित कर्मों का त्याग करना तथा हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों का सेवन।'[1] गौतम के ही विचारों की आवृत्ति बौधायनधर्मसूत्र में भी मिलती है।[2] पाप की यही धारणा वसिष्ठधर्मसूत्र में भी देखी जा सकती है।[3] पाप-विषयक मान्यता का आधार कर्मफल का सिद्धान्त है। व्यक्ति द्वारा किये गये प्रत्येक कर्म का फल अवश्यंभावी है। परिणामतः उत्तम कर्मों का शुभ एव कल्याणकारी तथा गर्हित कर्मों का अशुभ एवं कष्टदायी फल उत्पन्न होता है।

कर्मफल की इस अनिवार्यता का संकेत विष्णुधर्मसूत्र में इन शब्दों में किया गया है: ' जैसे सहस्रों गायों के बीच बछड़ा अपनी माता को ढूँढ लेता है वैसे ही पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता को ढूँढ लेता है।' [4] पापकर्मों के फलों को भोगने के लिए तीन स्थितियों की कल्पना उपलब्ध होती है: १- इस जीवन में सामाजिक दृष्टि से पतन एवं कष्टों की अनुभूति, २-परलोक में कर्मानुसार कष्टपूर्ण नरक की प्राप्ति, ३- पुनर्जन्म होने पर निकृष्ट योनियों में कष्टमय जीवन की प्राप्ति। इनके अतिरिक्त यह धारणा भी अभिव्यक्त की गयी है कि व्यक्ति के दुष्कर्म से उसके पितृगण की भी दुर्गति होती है। विष्णुधर्मसूत्रके अध्याय ४३ में २१ प्रकार के नरकों की गणना की गयी है, और उनके कष्टों, घृणित, बीभत्स एवं जुगुप्साप्रद अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है।

१- अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते यथैतदयाजययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनमिति।- गौ ३।१।२

२- अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा। मिथ्या वा चरत्ययाज्यं वा याजयतयप्रतिग्राह्यस्य वा प्रतिगृह्णात्यनाश्यान्नस्य वाऽन्नमश्नात्यचरणीयेन वा चरति।- बौ ३।१०।२-३

३- अथ खल्वयं पुरुषो मिथ्या व्याकरोत्ययाज्यं वा याजयत्यप्रतिग्राह्यं वा प्रतिगृह्णात्यनन्नं वाऽश्नात्यनाचरणीयमेवाचरति।-व २२।१

४- यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारं विन्दते ध्रुवम्॥- वि २०।४७

प्रायश्चित्त न करने वाले पातकियों को इन नरकों के असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं। महापातकियों को एक मन्वन्तर तक, उपपातकियों को चार युग तक, संकरीकरण के पापियों को एक सहस्र वर्षों तक नरक भोगना पड़ता है। सभी प्रकार के पापियों को जिन्होंने नौ प्रकार के अपराधों में से कोई अपराध किया है मृत्यु के बाद यमपथ पहुँचने पर घोर कष्ट भोगना पड़ता है। यम के भयङ्कर दूत ऊँचे-नीचे मार्गों पर इधर-उधर पटकते, खींचते और डराते हुए ले जाते हैं।[१]

विष्णुधर्मसूत्र के ही शब्दों में पापियों को नरक भोगने के बाद विविध प्रकार की योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अपने पाप के अनुसार वे वनस्पतियों, कीड़ों, पक्षियों, जल में उत्पन्न जीवों, मृग, पशु एवं अस्पृश्य मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं।[२] पापियों के पुनर्जन्म होने पर उनके शरीर में जो पाप के द्योतक चिह्न होते हैं उनका उल्लेख वसिष्ठ ने किया है। एक उद्धरण देते हुए वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा गया है- 'चोर के नाखून भद्दे होते हैं, ब्राह्मण के हत्यारे को श्वेतकुष्ठ होता है, गुरुपत्नीगमन करने वाला चर्मरोगी होकर उत्पन्न होता है।[३] इसी प्रकार के चिह्नों का उल्लेख विस्तारपूर्वक विष्णुधर्मसूत्र में किया गया है।[४] विविध प्रकार की वस्तुओं की चोरी करने वाले पुनर्जन्म होने पर विभिन्न प्रकार के पक्षियों का जन्म प्राप्त करते हैं।[५] पाप की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक आधार भी धर्मसूत्रों की उक्तियों में स्पष्ट किया गया है। वसिष्ठ के अनुसार : 'जिस पाप को खुले आम कह दिया जाता है वह पाप कम हो जाता है।'[५] पाप या पुण्य कर्म के आचरण में संकल्प का अधिक फल बताते हुए आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि प्रमादवश, अनजान में हत्या करने वाले का भी उतना ही दोष होता है जितना जानबूझकर हत्या करने वाले का तथा संकल्प के साथ वध करने वाला अधिक पाप का भागी होता है।[६] पाप के संक्रमण का विचार इन शब्दों में द्रष्टव्य है: 'श्रोत्रिय का वध करने वाला अपना पाप उस व्यक्ति पर फेंक देता है जो

१- वि ४३।२४ -२३

२- वि ४४।१-६, आप २।२।३-७

३- व २०।४३,४४ ४- वि ४५।२-३१

५- निरुक्तं ह्येनः कनीयो भवतीति।- व २०।२६

६- यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोषफलम्। यः संकल्पेन भूयः।- आप १।२६।२-३

उसका अन्न खाता है। व्यभिचारिणी स्त्री अपना पाप अपने पति पर संक्रमित कर देती है। विद्यार्थी और यजमान अपना पाप गुरु के ऊपर डाल देते हैं और चोर अपना पाप उस राजा के ऊपर डाल देता है, जो उसे क्षमा कर देता है।[1] दूसरी ओर आपस्तम्ब के अनुसार पाप पापी पर ही रहता है, उसके अन्न पर नहीं आ सकता और यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पाप पापी व्यक्ति के अन्न पर संक्रमित होता है तब भी पापी व्यक्ति का अन्न भक्ष्य होता है, क्योंकि वह दान आदि द्वारा निर्दोष हो जाता है।[2] इसी प्रकार पापी के पापफल का अधिकारी उसके पिता आदि दूसरे व्यक्ति नहीं होते, अपितु स्वयं पापकर्मा व्यक्ति ही फल का भोग करता है। आपस्तम्ब के ही शब्दों में जो पुत्र पाप कर्म करते हैं केवल वे ही नष्ट होते हैं उनके पिता आदि दूसरे व्यक्ति नहीं होते, जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को ही कीड़े नष्ट करते हैं, वृक्ष या उसकी शाखा को हानि नहीं पहुँचाते। वस्तुतः, इस लोक मे पूर्वज का अपने वंश में उत्पन्न पुत्रादि द्वारा किये गये कर्मों से कोई संबन्ध नहीं होता और न परलोक में उन कर्मों के फल से ही कोई सम्बन्ध होता है।[3] निर्दोष व्यक्ति पर दोषारोपण करने वाला स्वयं ही उस पाप के दूने दोष का भागी माना गया है। इसी प्रकार समर्थ होते हुए भी दुर्बल व्यक्ति की आततायी से रक्षा न करने वाला भी उस आततायी के समान पापी ठहराया गया है।[4]

पाप के विभिन्न फलों के उल्लेख के पीछे धर्मसूत्रों का एक महान् नैतिक प्रयोजन स्पष्ट देखा जा सकता है। पाप के आतंक द्वारा जिस किसी प्रकार मनुष्य को दुष्कर्म से विरत करना ही धर्मसूत्रों में विचेचित धर्म का प्रधान लक्ष्य है। यहाँ हम फल के आधार पर पाप कर्मों का उल्लेख करेंगे।

दुष्कर्मों का वर्गीकरण

१- अतिपातक - विष्णुधर्मसूत्र में अतिपातक नाम से घोर पाप कर्मों का एक

१- अथाप्युदाहरन्ति अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥- व १६।४४

२- यदि हि रजः स्थावरं पुरुषे भोक्तव्यं चेच्चलं दानेन निर्दोषो भवति।-आप १।१८।६

३- आप २।२४।६-१०   ४-गौ ३।३।१७-१६

विशेष वर्ग उल्लिखित है, जो वस्तुतः यौनाचार से संबद्ध है। इसके अन्तर्गत मातृगमन, दुहितृगमन तथा स्नुषागमन की गणना की गयी है और कहा गया है कि इन पापों से युक्त महापातकियों को अग्नि में प्रवेश करना चाहिए। अन्य किसी प्रकार से ऐसे महापातकी पाप से मुक्त नहीं हो सकते।[१]

२-महापातक- गौतमधर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण की हत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन, मातृपक्ष में पाँचवीं, पितृपक्ष में सातवीं पीढ़ी के भीतर उत्पन्न स्त्री से यौनसम्बन्ध, ब्राह्मण के स्वर्ण की चोरी, नास्तिकता, निरन्तर निन्दित कर्म का आचरण, पतित व्यक्ति का त्याग न करना और निर्दोष व्यक्ति का त्याग करना - ये पातक कर्म हैं और इन्हें करने वाले पतित हो जाते हैं। दूसरों को पातक कर्म के लिए प्रेरित करने वाला और इन पतितों के साथ एक वर्ष तक उठने-बैठने वाला भी पतित हो जाता है।[२] बौधायनधर्मसूत्र में भी भ्रूणहत्या, गुरुतल्पगमन, स्तैन्य और सुरापान को बड़े पापकर्मों के रूप में[३] उल्लिखित कर पतनीय कर्मों के अन्तर्गत निम्नलिखित की गणना की गयी है- समुद्रयात्रा, ब्राह्मण की सम्पत्ति या निक्षेप का अपहरण, भूमिविषयक विवाद में मिथ्या साक्ष्य, सभी प्रकार की निषिद्ध वस्तुओं का भी क्रय-विक्रय, शूद्र की सेवा, शूद्रा स्त्री में गर्भाधान और शूद्रा पत्नी से पुत्रोत्पत्ति।[४] आपस्तम्ब ने पापकर्मों के अन्तर्गत पुरुष या स्त्री का वध, गुरुतल्पगमन, सुरापान, स्तेय का प्रमुख रूप से उल्लेख कर उनके विभिन्न प्रायश्चित्तों का निर्देश किया है।[५] भ्रूणहा (विद्वान् ब्राह्मण की हत्या करने वाले) के लिए उन्होंने पतित का कठोर जीवन विशेष रूप से विहित किया है और यह घोषणा की है कि इस प्रकार के पतित को इस जन्म में पाप से मुक्ति नहीं मिलती।

१- मातृगमनं दुहितृगमनं स्नुषागमनमित्यतिपातकानि।
अतिपातिकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम्।
न ह्यन्या निष्कृतिस्तेषां विद्यते हि कथं च न॥- वि ३४।१-२

२- ब्रह्महृ-सुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसंबन्धागस्तेन-नास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासि-पतितात्याग्य-पतितत्यागिनः पतिताः। पातकसंयोजकाश्च। तैश्चाब्दं समाचरन्।- गौ ३।३।१-३

३- बौ २।१।२,१२,१५,१७

४- समुद्रसंयानम्। ब्रह्मस्वन्यासापहरणम्। भूम्यनृतम्। सर्वपण्यैर्व्यवहरणम्। शूद्रसेवनम्। शूद्राभिजननम्। तदपत्यत्वं च।- बौ २।२।२

५- आप १।२४।१-७, १।२५।१-२, ३-६,११

प्रायश्चित्त के फलस्वरूप मृत्यु के बाद ही पाप नष्ट होता है।[१]

वसिष्ठ ने भी गुरुतल्पगमन, मद्यपान, भ्रूणहत्या तथा ब्राह्मण के सुवर्ण का अपहरण के लिए अन्य प्रायश्चित्तों की अपेक्षा अधिक कठोर प्रायश्चित्त विहित कर इनकी गुरुता का स्पष्ट संकेत किया है।[२] उल्लेखनीय है कि पापकर्मों का वर्गीकरण वसिष्ठधर्मसूत्र में उपलब्ध नहीं है। इसमें उपर्युक्त पातक कर्मों के साथ ही परिवित्ति, अग्रेदिधिषुपति और ब्रह्मोज्झ के लिए भी प्रायश्चित्त विहित हैं।[३] पाप कर्मों का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत करने वाले विष्णुधर्मसूत्र में महापातक के रूप में निम्नलिखित की गणना की गयी है- ब्रह्महत्या, सुरापान, ब्राह्मणसुवर्णहरण, गुरुदारागमन तथा इन पातक कर्मों के पापियों के साथ संबन्ध।[४] इनके प्रायश्चित्त की व्यवस्था करते हुए इस धर्मसूत्र में कहा गया है कि इस प्रकार के पातकी अश्वमेध से अथवा पृथ्वी के सभी तीर्थों की यात्रा से शुद्ध होते हैं।[५] स्पष्टतः विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में गुरुतल्पगमन से मातृगमन का तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उसे अतिपातक के वर्ग में गिनाकर अग्निप्रवेश मात्र प्रायश्चित्त द्वारा मृत्यु के बाद समाप्त होने वाला पाप घोषित किया गया है।

३- महापातकसमान कर्म- महापातक समान कर्मों का उल्लेख गौतम० तथा विष्णु० में पृथक् रूप में किया गया है। गौतम के अनुसार ये कर्म हैं- झूठा साक्ष्य, राजा के निकट परनिन्दा, पिता या आचार्य के विषय में असत्य दोषारोपण।[६] विष्णु० ने इन महापातकसमान या अनुपातकों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है- 'यज्ञ करने वाले क्षत्रिय या वैश्य की, रजस्वला, गर्भवती, अत्रिगोत्र वाली स्त्री का अथवा अविज्ञात गर्भ का या शरणागत का वध ब्रह्महत्या के समान होता है। मिथ्या साक्ष्य, मित्र का वध ये दोनो कर्म सुरापान के समान हैं। ब्राह्मण की भूमि या निक्षेप का हरण सुवर्णस्तेय के

१- आप १।२६।१

२- व २०।१३।६ ३- व २०।५,६,१२

४- ब्रह्महत्या सुरापानं ब्राह्मणसुवर्णहरणं गुरुदारगमनमिति महापातकानि। तत्संयोगश्च। - वि ३५।१-२

५- अश्वमेधेन शुद्धेयुर्महापातकिनस्त्विमे।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथानुसरणेन च ॥- वि ३५।६

६- कौटसाक्ष्यं राजगामि पेशुनं गुरोरनृताभिशंसनं महापातकसमानि।-गौ २।३।१०

समान है। पितृव्य, मातामह, मामा, श्वशुर की पत्नी, नृपपत्नी, बुआ, मौसी, भगिनी, श्रोत्रियपत्नी, ऋत्विग्पत्नी, उपाध्यायपत्नी, मित्रपत्नी, बहन की सखी, सगोत्रा, उत्तम वर्ण की स्त्री, कुमारी, अन्त्यवर्ण की स्त्री, रजस्वला, शरणागता, प्रव्रजिता या निक्षिप्ता स्त्री का अभिगमन गुरुदारगमन के तुल्य है।[१] इन दोषों से युक्त पापियों के लिए भी वही प्रायश्चित्त विहित हैं, जो महापातकियों के लिए निर्दिष्ट हैं।[२] यहाँ उल्लेखनीय है कि इनमें से अनेक की गणना दूसरे धर्मसूत्रों में उपपातकों के अन्तर्गत की गयी है।[३]

४- ***उपपातक*** - गौतम ने उपपातक के दुष्कर्मियों की एक लम्बी सूची श्राद्धभोजन के प्रसंग में वर्ज्य व्यक्तियों की गणना करते हुए दी है।[४] तदनुसार चोर, निःसन्तान, नास्तिक, नास्तिक वृत्ति वाले, जानबूझकर पवित्र अग्नि का ध्वंस करने वाले, जिस पुरुष से बड़ी बहन के अविवाहिता रहते छोटी बहन से विवाह हुआ हो, वह स्त्री जिसकी छोटी बहन पहले ही विवाहिता हो, स्त्रियों के लिए यज्ञ कराने वाले, अनेक लोगों के समूह हेतु यज्ञ कराने वाला, बकरी पालने वाला, अग्निहोत्र के कर्म का त्याग करने वाला, सुरापान करने वाला, दुराचारी, चौकीदारी करने वाला, उपपति, जिसकी पत्नी उपपति से संबद्ध हो वह पुरुष, कुण्ड और गोलक (परदारा से उत्पन्न पुत्रों) का अन्न खाने वाला, सोमविक्रयी, किसी का घर जलाने वाला, विष देने वाला, व्रत भंग करने वाला, किसी गण के सेवक, अगम्या स्त्रियों से संभोग करने वाला, हिंसा में रुचि रखने वाला, बड़े भाई के विवाह से पूर्व विवाह करने वाला, छोटे भाई के विवाह के बाद विवाहित, जिसके छोटे भाई ने पहले अग्निहोत्राग्नि का आधान किया हो, बड़े भाई के अग्निहोत्राधान से पहले अग्निहोत्राग्नि का आधान करने वाला तथा स्वयं को आघात पहुँचाने वाला - ये सभी उपपातक के दोषी होते हैं। इनके अतिरिक्त गाय की हत्या करने वाले, वेद भूल जाने वाले, ब्रह्मघ्नों (वेदत्यागियों) के लिए यज्ञ कराने वाले और

१- वि ३६।१-७

२- अनुपातकिनस्त्वेते महापातकिनो यथा।
अश्वमेधेन शुध्यन्ति तीर्थानुसरणेन च॥- वि ३६।८

३- यथा बौधायन ने अगम्यागमन, पिता की सखी, माता की सखी, अपपात्र स्त्री तथा पतिता से मैथुन को उपपातक के अन्तर्गत गिना है।-बौ २।२।४

४- गौ २।६।१५-१८

पतितसावित्रीक भी उपपातक के पाप से दूषित होते हैं।[१]

बौधायन ने उपपातक के अन्तर्गत निम्नलिखित दुष्कर्मों का उल्लेख किया है: अगम्या स्त्रियों से संभोग, माता की सखी, गुरु अर्थात् पिता की सखी, अपपात्र स्त्री तथा पतिता से मैथुन, जीविका हेतु चिकित्सा कार्य, अनेक लोगों के लिए यज्ञ कराना, मंच पर अभिनयादि से जीवननिर्वाह, नृत्य, गीत आदि की शिक्षा देना, जीविका हेतु गाय, भैंस पालना, किसी कन्या के विषय में दुर्गुण का प्रचार करना या उसे मैथुन द्वारा दूषित करना।[२]

विष्णुधर्मसूत्र[३] में उपपातकों के अन्तर्गत निम्नलिखित दुष्कर्मों की गणना की गयी है- अनुचित लाभ प्राप्ति हेतु असत्यभाषण, किसी के दोष के विषय में राजा के यहाँ निन्दा करना, गुरु का अनुचित रूप में अपमान करना, वेद का तिरस्कार करना, स्वाध्याय के वेद को भूल जाना, अपने अग्निहोत्रादि, पिता, माता, पुत्र या पत्नी का परित्याग करना, जिन व्यक्तियों का अन्न वर्जित है उनका अन्न खाना अथवा अभक्ष्य अन्न का भक्षण करना, दूसरे व्यक्ति के सुवर्ण के अतिरिक्त धान्य आदि सम्पत्ति का अपहरण, परदारा से व्यभिचार, जिनके लिए यज्ञ वर्जित है उनका यज्ञ कराना, निन्दित व्यवसाय ग्रहण कर जीविकोपार्जन, निषिद्ध दक्षिणा लेना, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या गाय का वध, अविक्रेय वस्तुओं का विक्रय, बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का विवाह होने पर दोनो के लिए उपपातक होता है, इस प्रकार विवाह के लिए कन्यादान देना, ऐसे विवाह में पौरोहित्य करना, उपनयन की विहित अवधि का बीत जाना, पारिश्रमिक लेकर वेदाध्यापन, ऐसे अध्यापक से वेदाध्ययन, राजा की आज्ञा से खानों के कार्य में नियुक्त होना, लम्बे और तीक्ष्ण अस्त्रों का निर्माण करना, वृक्ष, लता, आदि को काटना, अपनी पत्नी की वेश्यावृत्ति से जीवननिर्वाह, दूसरे पर आभिचारिक क्रिया करना, केवल अपने लिए भोजन पकाना, अग्निहोत्र की अग्नि का आधान न करना, देवों, ऋषियों एवं पितरों के ऋण को न चुकाना, अधार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, नास्तिकता, नृत्य

१- गौ ३।२।११

२- अगम्यागमनम्। गुर्वी सखीं गुरुसखीमपपात्रां पतितां च गत्वा भेषजकरणं ग्रामयाजनं रंगोपजीवनं नाट्याचार्यता गोमहिषीरक्षणं यच्चाऽन्यदप्येवं युक्तं कन्यादूषणमिति।- बौ २।२।४

३- वि ३७।१ - ३४

आदि जैसे व्यवसाय द्वारा जीविकानिर्वाह, सुरापान करने वाली स्त्री से मैथुन।[१] इस प्रकार के उपपातक कर्मों का प्रायश्चित्त बताते हुए कहा गया है कि उन्हें चान्द्रायण व्रत, पराक व्रत अथवा गोयज्ञ करना चाहिए।[२] बौधायन ने उपपातक के दोषी व्यक्तियों के लिए दो वर्ष तक पतित का जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया है।[३]

५-अशुचिकर कर्म- बौधायन ने निम्नलिखित दुष्कर्मों का उल्लेख अशुचिकर शीर्षक के अन्तर्गत किया है : जुआ खेलना, आभिचारकि अनुष्ठान करना, अग्निहोत्र करना, खेत में गिरे अन्न से जीवनवृत्ति चलाना, समावर्तन संस्कार होने के बाद भी भिक्षा माँगकर जीविकानिर्वाह, समावर्तन के बाद भी चार मास से अधिक अवधि तक निवास करने वाले विद्यार्थी का अध्यापन, नक्षत्रों की गणना एवं ज्योतिष द्वारा जीविकानिर्वाह।[४]

६- ***जातिभ्रंशकर कर्म*** - विष्णुधर्मसूत्र के वर्गीकरण में उपपातकों के अनन्तर जातिभ्रंशकर कर्मों का उल्लेख है, जिनमें ब्राह्मण को शारीरिक कष्ट पहुँचाना, अपेय वस्तुओं यथा मद्य आदि को सूँघना, धूर्तता का व्यवहार, पशुमैथुन, पुरुष या स्त्री के साथ अप्राकृतिक यौनाचार की गणना की गयी है और दुष्कर्मियों के लिए जानबूझकर पापकर्म करने की स्थिति में सान्तपन कृच्छ्र का तथा अनजान में करने की स्थिति में प्राजापत्य कृच्छ्र का प्रायश्चित्त विहित है।[५]

७- संकरीकरण कर्म - ग्राम्य या आरण्य पशुओं की हिंसा को विष्णुधर्मसूत्र में संकरीकरण कर्म बताया गया हे और इस दोष के लिए एक मास यावकभक्षण अथवा कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत का प्रायश्चित्त विहित है।[६]

१- वि ३७।१-३४

२- उपपातकिनस्त्वेते कुर्युश्चान्द्रायणं नराः।
पराकं च तथा कुर्युर्यजेयुर्गोमखेन च॥- वि ३७।३५

३- तेषां तु निर्वेशः पतितवृत्तिर्द्वौ संवत्सरौ।- बौ २।२।६

४- अथाशुचिकराणि द्यूतमभिचारोऽनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिता समावृत्तस्य भैक्षचर्या तस्य चैव गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यस्तस्य चाध्यापनं नक्षत्रनिर्देशश्चेति।- बौ २।२।७-८

५- जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया।
कुर्यात्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया॥- वि ३८।१-६, ७

६- वि ३९।१-२

८- ***अपात्रीकरण***- विष्णुधर्मसूत्र ने निन्दित व्यक्तियों से धनग्रहण, वाणिज्य, ब्याज लेकर जीवननिर्वाह, असत्यभाषण एवं शूद्र की सेवा को अपात्रीकरण कर्म की संज्ञा दी है।[1] अपात्रीकरण की शुद्धि के लिए तप्तकृच्छ्र, शीतकृच्छ्र या महासान्तपन व्रत का प्रायश्चित्त उल्लिखित है।[2]

९-***मलावह कर्म***- विष्णुधर्मसूत्र में पापकर्मों का अन्तिम वर्ग मलावह कर्मों का है, जिनमें पक्षियों, जलचरों, जल में उत्पन्न जीवों की हत्या, कृमि, कीट का वध, मद्य से युक्त भोजन का ग्रहण सम्मिलित है। इनके लिए तप्तकृच्छ्र अथवा कृच्छ्रातिकृच्छ्र प्रायश्चित्त करने पर ही शुद्धि होती है।[3]

उपर्युक्त पापकर्मों के विभिन्न वर्गों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि इन पापकर्मों के निम्नलिखित प्रमुख विषय हैं, जिनमें नियमोल्लंघन की विविध कोटियाँ दुष्कर्म के आधिक्य या न्यूनत्व के आधार पर मानी गयी हैं:-

१- *हिंसा*- जिसमें ब्राह्मण की हत्या, अन्य वर्ण के पुरुषों एवं स्त्रियों का वध, पशु-पक्षियों, कीट एवं वनस्पतियों की क्षति सम्मिलित है।

२-*यौनाचार*- जिसके अन्तर्गत निकटतम संबन्ध की स्त्रियों, गुरुजनों की पत्नियों, घनिष्ठ पारिवारिक संबन्ध की स्त्रियों, परस्त्रियों से अनुचित संबन्ध, वैवाहिक नियमों का उल्लंघन, अप्राकृतिक मैथुन आदि दुष्कर्म सम्मिलित हैं।

३-*स्तेय* - दूसरे की वस्तु का अपहरण, जिसमें ब्राह्मण के सुवर्ण, भूमि आदि का अपहरण, धूर्ततापूर्वक लाभप्राप्ति, प्रवञ्चना, अनुचित दक्षिणा आदि परिगणनीय है।

४- *निषिद्धभोजन* -यथा सुरापान, मद्ययुक्त भोजन, वर्जित अन्न का भक्षण, अयोग्य व्यक्ति का अन्नग्रहण।

५- *वेद एवं वर्णधर्म की उपेक्षा*- यथा अग्निहोत्र एवं वर्णधर्म का त्याग, शूद्रसेवा, नास्तिकता, स्वाध्याय-त्याग, अभिनयादि निषिद्ध जीविका एवं व्यवसाय

१- निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं कुसीदजीवनमसत्यभाषणं शूद्रसेवनमित्यपात्रीकरणम्।- वि ४०।१

२- अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति।
शीतकृच्छ्रेण वा भूयो महासान्तपेन वा॥- वि ४०।२

३- पक्षिणां जलचराणां च घातनम्। कृमिकीटानां च। मद्यानुगतभोजनम्। इति मलावहानि।४१।१-३

का अनुसरण, अयोग्य व्यक्ति का यज्ञ कराना, पशुपालन, पतितसावित्रीकता, ब्रह्मचर्यभङ्ग।

६- *आचारोल्लंघन* - इसके अन्तर्गत माता, पिता या गुरु का तिरस्कार, पुत्र या पत्नी का त्याग, निन्दित कर्म का आचरण, पतित के साथ निवास, दूसरों को पातक कर्म के लिए प्रेरित करना, मिथ्या साक्ष्य, समुद्रयात्रा, परनिन्दा, कन्या का दोषप्रचार, मात्र अपने लिए भोजन पकाना सम्मिलित हैं।

पतन एवं पतित की स्थिति

उपर्युक्त पापकर्मों के निमित्त धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट प्रायश्चित्तों का विवेचन करने से पूर्व यहाँ पतन की स्थितियों एवं पतित व्यक्ति की सामाजिक अवस्था पर दृष्टिपात करना भी प्रासंगिक प्रतीत होता है। पतन मुख्यतः अतिपातक और महापातक नाम से उल्लिखित पापकर्मों के फलस्वरूप ही होता था, वह भी उस पापयुक्त व्यक्ति का, जो शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त का अनुसरण कर शुद्ध होना नहीं चाहता था। पतन की यह स्थिति बड़े पाप कर्मों हेतु प्रायश्चित्त को अनिवार्य बना देती थी। कुछ आचार्यों ने उपपातक कर्मों से भी पतन स्वीकार किया है।[१] आपस्तम्ब ने इस मत का भी उल्लेख किया है कि अभक्ष्य मांस का भक्षण, मलमूत्रादि अमेध्य पदार्थ का भक्षण, शूद्र के उच्छिष्ट का भक्षण जैसे अशुचिकर कर्म भी पातक होते हैं।[२]

पतित की सामाजिक स्थिति इतनी निकृष्ट एवं तिरस्कारपूर्ण होती थी कि सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति जागरूक कोई भी व्यक्ति पातक कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस नहीं करता था और यदि पातक कर्म का दोष हो भी जाता था तो वह पतित का जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा कठोरतम प्रायश्चित्त करना अधिक अच्छा समझता। वस्तुतः, पतन की स्थिति जीवनकाल में ही एक गर्हित मृत्यु थी। पतित व्यक्ति के त्याग की जो विधि अपनाने का निर्देश कई धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है उसकी क्रियाओं से यह स्पष्ट है कि पतित को मृत मान लिया जाता था। गौतम के शब्दों में इस लोक में द्विजाति कर्म से और परलोक में पुण्यकर्मों के फल से वञ्चित होना ही पतन कहा गया

१- आप १।२५।७-१०

२- आप १।२५।१३-१८

है और कुछ इसे नरक का पर्यायवाची मानते हैं।[१]

त्याग या पात्रनिनयन[२]

जिस पतित व्यक्ति का त्याग करना होता था उसके विद्यागुरु अर्थात् आचार्य, उपाध्याय आदि को तथा मातुल आदि सम्बन्धियों को बुलाकर उसके लिए श्राद्ध तक की क्रियाएँ उसके पुत्र या सगोत्र पुरुषों द्वारा की जाती थीं। तदनन्तर उस त्याज्य व्यक्ति के नाम पर जल से पूर्ण घट उलट दिया जाता था। पात्र-निनयन का कार्य कोई दास करता था। वह अपवित्र स्थान से फेंका हुआ घड़ा लाकर उसे दासी के घड़े के जल से भरता था और ग्राम के बाहर दक्षिण दिशा की ओर मुख कर 'मैं अमुक को जल से वञ्चित करता हूँ' कहते हुए अपने पैर से घड़े को उलट देता था। त्याज्य व्यक्ति के सभी बन्धुबान्धव प्राचीनावीती होकर तथा अपनी शिखा को खोलकर उस दास का स्पर्श करते थे। आचार्य, उपाध्याय और अन्य सम्बन्धी उस दास का स्पर्श नहीं करते थे, केवल इस पाात्र-निनयन क्रिया के साक्षी बनकर उपस्थित रहते थे। इस प्रकार पतित का अपने समाज से निकट सम्बन्धियों एवं बन्धुबान्धवों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था। वसिष्ठ के अनुसार पात्र-निनयन की क्रिया शूद्रापत्नी का पुत्र अथवा निम्नवर्ण का गुणहीन व्यक्ति करता था और घड़े के जल में कटे हुए अग्रभाग वाला कुश रख्कर वह उसे बायें पैर से उलट देता था।[३] जो बन्धुवान्धव पात्रनिनयन के समय उपस्थित रहते थे वे पात्र को अपने बायें करते हुए वापस लौटते थे।[४]

इस प्रकार के पतित व्यक्तिसे संभाषण तक निषिद्ध था। ऐसे व्यक्ति से अनजान में भाषण करने पर भी रात्रि भर सावित्री मन्त्र का जप एवं जानबूझकर बोलने पर तीन रात्रि तक जप का प्रायश्चित्त है।[५] ब्रह्महत्यादि पापों के कारण पतित व्यक्ति की दृष्टि पड़ने पर भोजन भी अभोज्य माना गया है।[६] पतित अतियि सत्कार के योग्य

१- द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्। तथा परत्र चासिद्धिः। तमेके नरकम्।- गौ ३।३।४-६

२- गौ ३।२।२-७, बौ २।१।३५, व १५।११ में भी पात्रनिनयन का संकेत है।

३- व १५।१२

४- व १५।१३-१४

५- गौ ३।२।८-६

६- गौ २।६।२५ श्वचण्डालपतितावेक्षणे दुष्टम्।

नहीं रह जाता था।[1] आपस्तम्ब ने पतित आचार्य या निकटतम सम्बन्धी से भी मिलने जाने अथवा उनसे कोई वस्तु लेने का वर्जन किया है। उनके मिल जाने पर चुपचाप चरणस्पर्श मात्र कर्त्तव्य बताया है।[2] कुत्ते और पतित को एक समान मानते हुए आपस्तम्ब ने अन्यत्र कहा है कि उनके द्वारा देखा गया श्राद्धकर्म निन्दित है।[3] गौतम ने तो पातकी के यहाँ से भिक्षा लेने का भी निषेध किया है। वे कहते हैं : 'किसी भी वर्ण के गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा ली जा सकती है, किन्तु पातकी की भिक्षा नहीं।'[4]

पतित व्यक्ति से सभी प्रकार के सम्बन्धों का सर्वथा विच्छेद करने पर धर्मसूत्रों ने विशेष बल दिया है। पतित के सम्पर्क से पतन हो जाता है इसकी घोषणा प्रायः सभी धर्मसूत्रों में की गयी है और पतित संयोग को चार महापातकों के अतिरिक्त पाँचवें महापातक के रूप में परिगणित किया गया है। पतितों के साथ एक वर्ष तक उठने-बैठने से भी व्यक्ति पतित हो जाता है।[5] पतित का यज्ञ कराने, उसका अध्यापन करने या उससे विवाह-सम्बन्ध करने, उसके साथ एक सवारी पर चलने, एक साथ बैठने और एक साथ भोजन करने से भी पतन होता है।[6] वसिष्ठ के उद्धरण में कहा गया है कि पतित का विवाह या यज्ञ कराने से पतन होता है, किन्तु एक गाड़ी या आसन पर साथ बैठने से पतन नहीं होता।[7] विष्णुधर्मसूत्रं एक वर्ष तक सम्पर्क के अतिरिक्त एक साथ आसन और शयन को भी पतन का कारण मानता है।[8] उपर्युक्त

१- गौ १।३।२६

२- न पतितमाचार्यं ज्ञातिं वा दर्शनार्थो गच्छेत्।- आप १।२८।६, द्र० आप १।२८।७०, तु० सत्या २६।७।४२-४४

३- श्वभिरपपात्रैश्च श्राद्धस्य दर्शनं परिचक्षते।-आप २।१७।२०

४- सार्ववर्णिकभैक्ष्यचरणमभिशस्तपतितवर्जम्।- गौ १।२।४१

५- तैश्चाब्दं समाचरन्।-गौ ३।३।३

६- बौ २।२।२३ बौधायन ने एक उद्धरण देकर कहा है कि जो पतित गुरु के साथ सम्पर्क रखते हैं, जो लोग पतित शिष्य के साथ धर्मविरुद्ध सम्बन्ध बनाये रखते हैं, जो पतित जनों का भोजन करते हैं या उनके लिए मन्त्रों का प्रयोग करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

७- अथाप्युदाहरन्ति। संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाद्दानादिति। - व १।२२

८- वि ३५।३-४

व्यवस्था देने के साथ-साथ धर्मसूत्रों ने यह स्पष्टतः आदेश दिया है कि पतितों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं होना चाहिए।[१]

धर्मसूत्रों में उपलब्ध वर्णनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पतितों का अपना एक पृथक् समाज बन जाता था। बौधायन का निर्देश है कि सभी पतित एक साथ एक स्थान पर निवास करें, वे आपस में ही धर्म का पालन करें, वे एक दूसरे का यज्ञ करायें, एक दूसरे का अध्यापन करें, आपस में ही विवाह करें तथा पुत्र उत्पन्न होने पर उनसे कहें कि हमें छोड़कर तुम आर्यों के पास चले जाओ।[२] ऐसा ही अभिमत आपस्तम्ब का भी है।[३]

पतित की स्थिति इतनी गर्हित थी कि उसके पतित होने का उल्लेख करना भी पापपूर्ण माना गया था।[४] पतित व्यक्ति के लिए सम्पत्ति का अधिकार भी समाप्त हो जाता था। बौधायन ने पतित व्यक्ति को न केवल सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित किया है, अपितु उसे भरणपोषण के योग्य भी नहीं माना है।[५] पातकी पुत्रों को सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं है ऐसी घोषणा आपस्तम्ब ने भी की है।[६] पतित पिता की सम्पत्ति भी त्याज्य मानी गयी है।[७]

पतित आचार्य, ऋत्विज् और पिता का भी त्याग धर्मसूत्रों ने कर्त्तव्य के रूप में विहित किया है। कहा गया है कि 'यदि ऋत्विज् और आचार्य पतित व्यक्ति के सेवा करते हैं तो उन दोनो का त्याग कर देना चाहिए।[८] यज्ञ कर्म न कराने वाले ऋत्विक् का तथा अध्यापन न करने वाले आचार्य का त्याग कर देना चाहिए। इससे भिन्न स्थिति में त्याग न करने पर व्यक्ति स्वयं ही पतित हो जाता है।[९] गौतम ने राजा की हत्या करने वाले, शूद्र के लिए यज्ञ कराने वाले, शूद्र से धन लेकर यज्ञ करने वाले, अनध्याय एवं

१- न पतितैस्संव्यवहारो विद्यते।- बौ २।३।४२, आप १।२१।५, द्र० व १५।१६, वि ५४।३१

२- बौ २।२।१०

३- आप १।२६।८

४- आपं १।२१।२०, व २०।३०

५- बौ २।३।३८-४१

६- आप २।१४।१

७- दायं तु न भजेरन्।-बौ ३।३।१६, द्र० व २०।४५

८- गौ ३।३।१२

९- ऋत्विगाचार्यावयाजकानध्यापको हेयावन्यत्र हानात्पतति।- व १३।५०

अनध्यापन द्वारा वेद की हानि करने वाले, विद्वान् ब्राह्मण की हत्या करने वाले, चाण्डाल आदि अन्त्यावसायियों के साथ निवास करने वाले और उन अन्त्यावसायियों की स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाले पिता के परित्याग का भी आदेश दिया है।[१] वसिष्ठ ने भी पतित पिता के त्याग का विधान किया है।[२] किन्तु उल्लेखनीय है कि माता के पतिता होने पर भी उसका त्याग धर्मसूत्रों को मान्य नहीं है। वसिष्ठ का कथन है कि माता पुत्र के लिए पतिता नहीं होती।[३] आपस्तम्ब का भी कथन है कि माता पुत्र के लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाती है, अतः उसके पतिता होने पर भी उसकी सेवा करनी चाहिए।[४] स्त्री के पतन के विषय में वसिष्ठ का कथन है कि स्त्री तीन प्रकार के पापकर्मों से पतित होती है : पतिहत्या, विद्वान् ब्राह्मण की हत्या और अपने गर्भ का नाश।[५] गौतम ने भ्रूणहत्या अर्थात् गर्भपात कराने और हीन वर्ण के पुरुष की यौनसम्बन्धादि द्वारा सेवा करने से ही स्त्री का पतन स्वीकार किया है।[६] पत्नी का सुरापान ऐसा पातक कर्म माना गया हे, जिससे शुद्धि हेतु कोई प्रायश्चित्त सम्भव नहीं है। वसिष्ठ के अनुसार जिस पुरुष की पत्नी सुरापान करती है उसका आधा भाग पतित हो जाता है। उस पतित भाग की शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।[७]

पतित का पुत्र जन्मना पतित होता है या नहीं इस प्रश्न पर भी धर्मसूत्रों में मतभेद है। एक अभिमत यह है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के साथ पतित नहीं होता[८] और इसके समर्थन में यह दृष्टान्त दिया गया है कि अंगहीन व्यक्ति का पुत्र भी

१- त्यजेत्पिजरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा। - गौ ३।२।१

२- व १३।४७ ३- माता तु पुत्रे न पतति।- व १३।४७

४- माता पुत्रस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शूश्रूषा नित्या पतितायामपि।- आप १।२८।६

५- त्रीणि स्त्रियः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः।
भर्तृवधो भ्रूणहत्या स्वरूस गर्भस्य पातनम्।।- व २८।७

६- भ्रूणहनि हीनवर्णसेवायां च स्त्री पतति।-गौ ३।३।६

७- व २१।१५

८- अथापि न सेन्द्रियः पतति। तदेतेन वेदितव्यमंगहीनोऽपि हि साङ्गं जनयतीति।- बौ २।२।१०, आप १।२६।१०-११, सत्या २६।२७।६६-६८

सर्वाङ्गपूर्ण उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि यदि पतित का पुत्र पतित पिता के साथ न रहकर आर्यों अर्थात् वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वालों के साथ निवास करता है तो वह आर्यों की प्रतिष्ठा का अधिकारी हो जाता है। इसी कारण इस सिद्धान्त के अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि पतित अपने पुत्र को आर्यों के पास भेज दे, अपने समाज में न रखे।[१] किन्तु इसके विपरीत हारीत का मत है, जिसके अनुसार पतित का पुत्र भी पतित ही माना जाता है, क्योंकि स्त्री दधिधानी के समान होती है। जिस प्रकार दधिधानी में अपवित्र दूध डालने से बने हुए घृतादि से यज्ञ का पवित्र कार्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार अपवित्र वीर्य से उत्पन्न पुत्र भी पवित्र नहीं हो सकता।[२] वसिष्ठ की यह उक्ति भी ध्यानार्ह है कि पतित से उत्पन्न पुत्र ही पतित होता है, कन्या नहीं, क्योंकि कन्या अपने पिता के कुल को छोड़कर दूसरे कुल में चली जाती है।[३]

जातिप्रवेश

पतित व्यक्ति के शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त कर लेने पर उसे पुनः अपने समाज या वर्ण में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त होता था। प्रायश्चित्त कर लेने पर वह पुनः अपने बन्धुबान्धवों की सभा में उपस्थित होता था, जल, दूध, घृत, मधु और नमक का स्पर्श करता था। तदनन्तर उससे ब्राह्मण यह प्रश्न करता था कि क्या तुमने प्रायश्चित्त कर लिया है? उसके 'हाँ' कहने पर उसे यज्ञकर्मादि का अधिकारी घोषित किया जाता था।[४] गौतमधर्मसूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध व्यक्ति के बन्धुगण पवित्र सरोवर या नदी से जल लाकर सोने का घड़ा भरें और उससे उसे नहलायें। पुनः ऐसे घड़ा देकर मन्त्र का जप करें 'शान्ता द्यौः शान्ता पृथ्वी शान्तं विश्वमन्तरिक्षं यो रोचनस्तमिमं गृह्णाति।' तब वह पवमान, तरत्समन्दी, कूष्माण्ड मन्त्रों से आज्याहुति देकर ब्राह्मण को सुवर्ण या गौ का दान दे।[५] वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त करने वाले के

१- बौ २।२।१०, आप १।२६।६

२- मिथ्यैतदिति हारीतो दधिधानीसधर्माः स्त्रियस्स्युर्यो हि दधिधान्यामप्रयतं पय आतच्य मन्थति न तच्छिष्टा धर्मकृत्येषूपयोजयन्ति। एवमशुचि शुक्लं यन्निर्वर्तते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते।
-बौ २।२।११, आप १।२६।१२-१४, सत्या २६।७।६६-७१

३- पतितोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः। सा हि परगामिनी।- व १३।५१-५२

४- बौ २।२।३५-३७

५- गौ ३।२।१०-१५

बन्धुबान्धव आगे-आगे हँसते हुए एवं क्रीडा करते हुए चलें और उनके पीछे वह व्यक्ति रोता हुआ-सा चले। बन्धुबान्धव पवित्र सरोवर से सोने के घड़े में जल पर 'आपो हि ष्ठा' आदि ऋचाओं से उसे नहलायें और फिर उसके लिए पुत्रोत्सव के समान क्रियाएँ करें।[1] वस्तुतः प्रायश्चित्त के बाद उसका सामाजिक दृष्टि से पुनर्जन्म होता था।

प्रायश्चित्त

पापकर्मों के फल से मुक्ति हेतु धर्मसूत्रों में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। कहा गया है कि मनुष्य इस संसार में बुरे कर्मों द्वारा पाप से लिप्त हो जाता है।[2] इन पापों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए या नहीं इस विषय में भी विवाद है।[3] जो विचारक प्रायश्चित्त को व्यर्थ मानते हैं उनका तर्क यह है कि कर्मों का क्षय नहीं होता, अतः प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।[4] किन्तु जो लोग प्रायश्चित्त का उपदेश देते हैं वे केवल वैदिक वाक्यों का प्रमाण उद्धृत करते हैं। वेद में भी 'जिस व्यक्ति से धन का दान नहीं लेना चाहिए उससे दान लेने पर पुनस्तोम यज्ञ करे' व्रात्यस्तोम करने पर (पतितसावित्रीक आदि सवन आदि कर्मों के अधिकारी होते हैं, 'जो अश्वमेध करता है वह सभी पापों और ब्रह्महत्या के दोष से मुक्त हो जाता है', 'पापी व्यक्ति अग्निष्टुत से यज्ञ करे' आदि वाक्यों द्वारा[5] प्रायश्चित्त के विधान किये गये हैं। अतएव श्रुति के निदर्शन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रायश्चित्त करना चाहिए।[6] धर्मसूत्रों ने प्रायश्चित्त को अत्यधिक महत्त्व दिया है। यही कारण है कि सभी धर्मसूत्रों में इन प्रायश्चित्तों का विस्तृत विवेचन है। आपस्तम्बधर्मसूत्र का स्पष्ट निर्देश है कि जो व्यक्ति इन्द्रियों की दुर्बलता के वशीभूत होकर अपने कर्म से भ्रष्ट हों उनको

१- व १५।१७-२१
२- गौ ३।१।२, बौ ३।१०।२-३, व २२।१
३- तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्नकुर्यादिति मीमांसन्ते।- गौ ३।१।३, तुलना० बौ ३।१०।४, व ३३।३
४- न कुर्यादित्याहुः। न हि कर्म क्षीयत इति।- गौ ३।१।४-५,
बौ ३।१०।५-६; व २२।३-४
५- द्रष्टव्य गौ ३।१।७-१०, बौ ३।१०।७-६, व २२।५-७
६- कुर्यादित्येव तस्माच्छ्रुतिनिदर्शनात्।- व २२।७

आचार्य उनके कर्म के अनुसार तथा शास्त्र के आधार पर प्रायश्चित्त का विधान करें।[1]

प्रायश्चित्त की धारणा के मूल में दो बातें प्रतीत होती हैं। एक तो पापकर्म का बोध कर उससे विरत होने के लिए निश्चय या संकल्प और दूसरे उसके अशुभ फल को नष्ट करने की आकांक्षा से उत्तम या धार्मिक कर्म का आचरण। प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति से भी इन्हीं दो तत्त्वों का निर्देश होता है। 'प्रायः' शब्द तप का और 'चित्त' शब्द निश्चय का वाचक है।[2] सामान्यतः पाप कर्म के दोष को दूर करने के लिए जो प्रायश्चित्त विहित हैं, उनमें जप, तप, होम, उपवास और दान ही प्रमुख हैं।[3] उनमें भी पातक कर्मों के लिए विहित प्रायश्चित्त तप एवं आत्मपीडन की दृष्टि से सर्वाधिक कठोर हैं । विष्णुधर्मसूत्र ने उपर्युक्त के अतिरिक्त देवों की पूजा, परोपकार के कार्य एवं तीर्थस्नान का भी प्रायश्चित्त के रूप में उल्लेख किया है। इन प्रायश्चित्तों का विधान कर्म के अनुसार ही किया गया है अर्थात् लघु पाप के लिए कम दिनों का और कम कष्टसाध्य प्रायश्चित्त एवं गुरु पाप कर्म हेतु दीर्घकालीन एवं अधिक कष्टपूर्ण प्रायश्चित्त उल्लिखित है।[4] बौधायन का कथन है कि प्रायश्चित्त का विधान व्यक्ति के शरीर, बल, आयु , अवस्था, समय एवं कर्म का पूर्णतः विचार कर करना चाहिए।[5] कुछ प्रायश्चित्त आजीवन करणीय होते हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के प्रायश्चित्त करते थे

१- शास्त्रैरधिगतानामिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नानां शास्ता निर्वेषमुपदिशेद्यथाकर्म यथोक्तम्।
- आप २।१०।१३

२- प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।- शंख, गौ ३।१।३ की वृत्ति में हरदत्त द्वारा उद्धृत।

३- तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम्।- गौ ३।१।११, बौ ३।१०।१०
शरीरपरितापेन तपसाध्ययनेन च।
मुच्यते पापकृत्पापाद्दानाच्चापि प्रमुच्यते। इति विज्ञायते।- व २०।४०

४- एनःसु गुरुषु गुरुणि लघुषु लघूनि।- गौ ३।१।१८
यद्यत्र हि भवेद्युक्तं तद्धि तत्रैव निर्दिशेत्। भूयो भूयो गरीयस्सु लघुष्वल्पीयसस्तथा।-बौ ४।१।२
द्र० बौ ३।१०।१७ एतान्यनादेशे क्रियेरन्नेनस्सु गुरुषु गुरुणि लघुषु लघूनि।-तुलना ० आप २।१२।२२

५- शरीरं बलमायुश्च वयः कालं च कर्म च।
समीक्ष्य धर्मविद्बुद्ध्या प्रायश्चित्तानि निर्दिशेत्।।- बौ १।१।१६

वे मृत्यु के बाद पापमुक्त माने जाते थे और उनका विधिपूर्वक श्राद्धकर्म किया जाता था।[१] प्रायश्चित्त कर लेने पर पतित व्यक्ति भी शुद्ध हो जाता था और एक विशेष विधि से वह जाति में सम्मिलित किया जाता था। ऐसा व्यक्ति विविध यज्ञ कर्मों का भी अधिकारी हो जाता था।[२]

आत्मनाश

सर्वाधिक कठोर प्रायश्चित्त कर्म का विधान महापातकों के लिए किया गया है। इन अपराधों में एक विकल्प आत्म७नाश अथवा स्वेच्छया मृत्यु का वरण भी विहित है। इस प्रायश्चित्त के मूल में यह धारणा विद्यमान है कि इन पातक कर्मों के पाप से इस जीवन में मुक्ति नहीं हो सकती, कठोर प्रायश्चित्त करने पर ही मृत्यु के बाद पाप नष्ट हो सकता है। पाप-बोध की उत्कट अवस्था में किसी व्यक्ति द्वारा आत्मघात करना स्वाभाविक प्रतीत हो सकता है, किन्तु प्रायश्चित्त के रूप में इसका विधान आश्चर्यजनक है। स्पष्टतः ऐसे प्रायश्चित्त का विधान पातक कर्मों से स्वभाव से दुर्बल मनुष्य को दूर रखने का ही प्रयोजन सिद्ध करता है।

ब्रह्महा (विद्वान् ब्राह्मण की हत्या करने वाले) के लिए गौतम ने एक प्रायश्चित्त यह दिया है कि वह अपने को भोजन त्याग द्वारा दुर्बल बना दे और तीन बार प्रज्वलित अग्नि में कूदे।[३] अथवा युद्धरत योद्धाओं के बीच में जाकर उनके बाणों का लक्ष्य बने।[४] ऐसी स्थितियों में जीवित बच जाने या मृत होने पर पाप से शुद्धि मानी गयी है। ऐसा पापी व्यक्ति यदि हिंसक जीवों से या चोर आदि आततायियों से संघर्ष कर ब्राह्मण के प्राणों की या धन की रक्षा करता है तो उस स्थिति में स्वयं क्षत-विक्षत होने पर पापरहित हो जाता है।[५] कई धर्मसूत्रों में ऋतुस्नाता ब्राह्मणी का वध भी ब्राह्मणवध के तुल्य बताया गया है और इस पाप कर्म के लिए भी ब्रह्महा के लिए विहित प्रायश्चित्त का

१- गौ ३।२।१५,१६

२- बौ २।१।३७ चरितनिर्वेशं सवनीयं कुर्युः।-

३- अग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य।- गौ ३।४।२

४- लक्ष्यं वा सज्जन्ये शस्त्रभृताम्।- गौ ३।४।३

५- गौ ३।४।७,८ तुलना - आप १।२४।२१

निर्देश किया गया है।[१]

सुरापान महापातक हेतु भी आत्मनाश का प्रायश्चित्त विहित है। गौतम के शब्दों में 'सुरापान करने वाले ब्राह्मण के मुख में खौलती हुई सुरा डाली जाये। इससे उसकी मृत्यु होने पर वह शुद्ध हो जाता है।[२] यद्यपि बौधायन एवम् आपस्तम्ब के[३] धर्मसूत्रों में इस प्रायश्चित्त के मरणान्त होने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि भाव यही है कि मतिपूर्वक सुरापान करने पर यह प्रायश्चित्त मरणान्त ही होता है।[४] वसिष्ठ ने यह स्पष्ट कर दिया हे कि यदि ब्राह्मण ने जानबूझकर कई बार सुरा का पान किया हो तो अग्नि के वर्ण की खौलती हुई सुरा का पान करे, मरण के अनन्तर ही वह पापमुक्त होता है।[५]

आत्मनाश-रूप प्रायश्चित्त का सर्वाधिक कठोर विधान गुरुतल्पगमन के प्रसंग में प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने किया है। गौतम के अनुसार ये प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं: 'गुरुतल्पग जलते हुए लोहे की शय्या पर शयन करे अथवा अग्नि में तपाने से लाल बनी हुई लोहे की स्त्री-प्रतिमा का आलिङ्गन करे, अथवा अण्डकोशसहित लिङ्ग को काटकर अंजलि में लेकर दक्षिणपश्चिम कोण की ओर तब तक चलता रहे जब तक गिरकर मृत्यु न प्राप्त कर ले।[६] इन सभी प्रायश्चित्तों में मृत्यु होने पर ही शुद्धि मानी गयी है।[७]

स्तेन कर्म अथवा ब्राह्मण के स्वर्ण की चोरी के महापातक हेतु भी आत्मनाश का प्रायश्चित्त इस प्रकार बताया गया है- 'स्तेन अपने केशों को बिखराकर कन्धे पर

१- गौ ३।४।१२-१३, आप १।२४।६, बौ २।१।११, व २०।३५

२- सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिचेयुः सुरामास्ये मृतः शुध्येत्।-गौ ३।५।१

३- सुरां पीत्वोष्णया कायं दहेत्।- बौ २।१।१७ सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेत्।- आप १।२५।३, तु० सत्या २६।६।७८

४- द्र० बौ २।१।१७ पर गोविन्दस्वामी, 'मरणान्तिकमेतन्मतिपूर्वके।'

५- अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां तां द्विजः पिबेन्मरणात्पूतो भवतीति।- व २०।२२

६- गौ ३।५।८-१०, बौ १।१।१२-१४, आप १।२५।१,२ सत्या २६।६।७५-७७, २६।७।५० आप० ने लोहे की खोखली जलती हुई स्त्रीप्रतिमा में प्रवेश द्वारा आत्मनाश का प्रायश्चित्त भी दिया है, आप १।२८।१५, वसिष्ठ ने भी दो प्रायश्चित्त दिये हैं- २०।१३-१४

७- मृतः शुध्येत्।-गौ ३।५।११

मूसल लेकर राजा के समीप जाकर अपने कर्म को बताते हुए मूसल से प्रहार करने के लिए कहे। राजा के प्रहार से उसका वध होने पर उसे पाप से मुक्ति मिलती है।[1] यदि राजा प्रहार नहीं करता है तब भी वह पाप से मुक्त हो जाता है और उसका पाप राजा के ऊपर चला जाता है।[2] आपस्तम्ब ने इसी प्रसंग में दो और आत्मनाश के प्रायश्चित्त बताये हैं। स्तेन व्यक्ति स्वयं को अग्नि में झोंककर अथवा प्रतिदिन भोजन में कमी करते हुए उपवास द्वारा अपना जीवन समाप्त कर ले।[3] वसिष्ठ ने ऐसे व्यक्ति के लिए निर्देश दिया है कि वह 'केश मुँड़ाकर, घृत लगाकर, गोबर की अग्नि में पैर से लेकर अपने को जलाये, मरने से ही उसका पाप नष्ट होता है।'[4]

यद्यपि आत्मनाश के प्रायश्चित्तों का धर्मसूत्रों ने विधान किया है, तथापि समाज में इन प्रायश्चित्तों का प्रचलन अत्यन्त सन्देहास्पद है। कहीं एकाध उदाहरण भले ही मिल जाते होंगे, सामान्य स्वीकृति असम्भव प्रतीत होती है। कुछ धर्मसूत्रों ने तो आत्मघात के औचित्य पर प्रश्नचिह्न भी लगाया है और स्वयं आत्मघात को एक घोर पातक कर्म घोषित किया है। आपस्तम्ब के अनुसार जो अपना या दूसरे का जीवन लेता हे वह अभिशस्त होता है।[5] गुरुतल्पगमन के प्रसंग में आत्मनाश का एक प्रायश्चित्त देकर आपस्तम्ब ने हारीत का मत उद्धृत किया है कि इस प्रकार के आत्मघातरूप प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।[6] सुरापान और स्तेन जैसे कर्मों में आत्मघात का प्रायश्चित्त अत्यन्त असमीचीन प्रतीत होता है। वस्तुतः, धर्मसूत्रों ने इस प्रकार के प्रायश्चित्तों द्वारा पापकर्मों से मानव को विरत रखने का प्रयत्न किया है और इनके मूल में धर्माचरण एवं नैतिकता का प्रबल आग्रह ही दिखायी पड़ता है। प्रायश्चित्तों की

१- स्तेनः प्रकीर्य केशान् सैधकं मुसलमादाय राजानं गच्छेदनेन मां जहीतितेनैनं हन्यात् वधे मोक्षो भवति।- बौ २।१।१५, द्र०आप १।२५।४, व २०।४१, बौधायन के अनुसार यह मुसल सैधक के काठ का होना चाहिए और वसिष्ठ के अनुसार उदुम्बर का।- वि ५२।१

२- अशासनात्तु तद्राजा स्तेनादाप्नोति किल्बिषमिति।- बौ २।१।१६, आप १।२५।५, वि ५२।२, सत्या २६।६।७६, २६।७।१-५

३- आप १।२५।६,८

४- व २०।५२

५- यो हन्यात्मानं परं वाऽभिमन्यतेऽभिशस्त एव स भवति।-आप १।२८।१७

६- आप १।२८।१६

विस्तृत व्यवस्था धर्मसूत्रों के नैतिक बोध की एक मुक्त अभिव्यञ्जना सिद्ध होती है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का नियम प्रायश्चित्त में सामान्यतः विहित है। सभी प्रकार के तप एवं जप के साथ ब्रह्मचर्य अथवा सभी प्रकार के सुखभोगों से विरक्ति एवं विशेषतः यौनसुख का वर्जन अनिवार्य माना गया है। तपों का स्वरूप रूपष्ट करते हुए गौतम ने सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य का ही उल्लेख किया है।[१] हत्या के बड़े पाप कर्मों में तथा यौनसम्बन्धी अनाचार के प्रायश्चित्त में ब्रह्मचर्य का अधिक महत्त्व है। पातक कर्मों के अन्तर्गत ब्रह्महत्या के लिए बारह वर्ष का, क्षत्रियवध के लिए छः वर्ष का, वैश्यवध के लिए तीन वर्ष का तथा शूद्रवध के लिए एक वर्ष का ब्रह्मचर्य विहित है।[२] ब्राह्मण आत्रेयी स्त्री की हत्या को ब्राह्मण हत्या के तुल्य तथा अनात्रेयी ब्राह्मणी की हत्या को क्षत्रियवध तुल्य, गौ की हत्या वैश्यवध तुल्य मानकर इन पापकर्मों के प्रायश्चित्त के लिए भी ब्रह्मचर्य का नियम दिया गया है।[३]

यौनदुराचार के अन्तर्गत परस्त्रीगमन हेतु दो वर्ष का, किसी श्रोत्रिय की पत्नी से संबन्ध का तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार व्यभिचार करने वाली स्त्री के लिए भी एक वर्ष का ब्रह्मचर्य का नियम आचरणीय होता था।[४] मन्त्रों के दुष्प्रयोग करने पर भी ब्रह्मचर्य विहित किया गया है। गौतम के अनुसार 'किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जिसके लिए मन्त्रों का प्रयोग वर्जित हो, मन्त्र प्रयोग करने पर , यदि उसके लिए प्रयुक्त मन्त्रों में एक सहस्र शब्द हों तो एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत करने से पाप नष्ट होता है। अग्निहोत्र की अग्नि को बुझा देने पर, वेद के स्वाध्याय का त्याग करने पर अथवा उपपातक का दोष करने पर भी एक वर्ष के ब्रह्मचर्य का प्रायश्चित्त

१- ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधःशायिताऽनाशक इति तपांसि।- गौ ३।१।१५, तुलना० अहिंसा सत्यमस्तैनयं सवनेषूदकोपस्पर्शनं गुरुशुश्रूषा ब्रह्मचर्यमधश्शयन-मेक वस्त्रताऽनाशक इति तपांसि।- बौ ३।१०।१४

२- गौ ३।४।४, १४, १५,१६, आप १।१।३४, १।२।१

३- गौ ३।४।१२, १७,१८

४- गौ ३।४।२६, ३०,३५ बौ २।३।५२ में परस्त्रीगमन हेतु एक वर्ष का ब्रह्मचर्य उक्त है।

विहित है।[१]

अनाशक या उपवास

अनाशक या भोजन का त्याग भी प्रायश्चित्त हेतु तप का प्रधान अङ्ग है। इसका आचरण सामान्यतः सभी प्रकार के तपों एवं जपों में किया जाता था।[२] कतिपय लघु दोषपूर्ण कर्मों में प्रायश्चित्त के लिए उपवास उचित माना गया है, विशेषतः भोजन-विषयक नियमोल्लंघन में। उदाहरणार्थ, गौतम के अनुसार अभोज्य अन्न खा लेने पर, अपवित्र पदार्थ निगलने पर उस समय तक उपवास करना चाहिए जब तक पेट खाली न हो जाय, अर्थात् कम से कम तीन दिन एवं रात्रियों तक।[३] विष्णुधर्मसूत्र के निम्नलिखित नियम भी द्रष्टव्य हैं : 'व्यभिचारिणी, पाखण्डी, चिकित्सक, व्याध, क्रूर पुरुष, उच्छिष्ट भोजन करने वाले, पुत्रहीना एवं पतिहीना स्त्री , स्वर्णकार, शत्रु तथा पतित का अन्न खा लेने पर सात दिन-रात उपवास करे।'[४] श्राद्ध का भोजन कर लेने वाला ब्रह्मचारी तीन दिन उपवास करे एवं एक दिन जल में रहे।[५] चाण्डाल द्वारा प्रदत्त विना पका हुआ अन्न अनजान में खा लेने पर तीन दिन उपवास करे।[६]

अन्य प्रकार के नियमोल्लंघन में भी उपवास का प्रायश्चित्त उक्त है। बौधायन के अनुसार 'यदि सायंकाल सन्ध्योपासना किये विना ही बीत जाय तो रात्रि को उपवास करे और प्रातःकालीन सन्ध्योपासना का समय विना सन्ध्योपासना के बीत जाय तो दिन में उपवास करे।[७] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार 'जिस व्यक्ति पर आक्रोश नहीं करना चाहिए उस पर आक्रोश करने वाला, छोटी बात के लिए असत्य भाषण करने वाला व्यक्ति तीन दिनों तक दूध, मसाले और नमक के भोजन का परित्याग करे। यदि शूद्र वर्ण का व्यक्ति इस प्रकार का दोष करता है तो वह सात दिनों तक उपवास करे।[८]

१- गौ ३।४।३३,३४

२- गौ ३४।१।१५, बो ३।१०।१४

३- गौ ३।५।२३-२५

४- वि ५१।१०-१२

५- वि ५१।४६

६- वि ५१।५७-५८

७- बौ २।७।१६

८- आप १।२६।३-४

विष्णुधर्मसूत्र में निम्नलिखित नियमों में भी उपवास का निर्देश है : 'यदि धर्म के नियम की उपेक्षा कर जानबूझकर ब्रह्मचारी सूर्योदय होने के बाद तक अथवा सूर्यास्त हो जाने पर सोया रहे तो एक दिन उपवास करे तथा एक सहस्र आठ बार गायत्री का जप करे।[१] यदि गृहस्थ पर्वों को तथा स्त्री की अस्वस्थता के दिनों को छोड़कर ऋतुकाल में पत्नीगमन नहीं करता है तो तीन दिनों तक उपवास करे।[२]

स्नान एवम् आचमन

पाप से मुक्ति हेतु प्रायश्चित्त का विधान करते हुए धर्मसूत्रों ने तप के उपयुक्त स्थानों का उल्लेख किया है और तीर्थों में स्नान को विशेष फलप्रद माना है। सामान्यतः सभी पर्वत, सभी नदियाँ, पवित्र जलाशय, तीर्थस्थान, ऋषियों के आश्रम, गायों के रहने के स्थान एवं देवमन्दिर तप एवं जप की क्रियाओं के लिए श्रेयस्कर हैं।[३] तप के अन्तर्गत प्रातः, मध्याह्न एवं सायं काल स्नान की भी गणना की गयी है।[४] प्रातःस्नान के मन्त्र का जप भी विहित है। गौतम ने महापातकों के प्रायश्चित्त में जल में डूबकर तीन बार अघमर्षणसूक्त के जप का भी विधान किया है।[५] वे निम्नलिखित पापकर्मों के लिए भी मन्त्रों के उच्चारण के साथ स्नान का प्रायश्चित्त बताते हैं: धोखा देना, पिशुनता, निषिद्ध कर्म का आचरण, वर्जित पदार्थों का भोजन, शूद्रासंभोग, योनि से अन्यत्र वीर्यपात, जानबूझकर दूसरों की हानि करना या दोषपूर्ण कर्म करना।[६] इसी प्रसंग में उन्होंने सभी पापकर्मों के लिए प्रातःकाल 'अहश्च मादित्यश्च पुनातु' मन्त्र से और सन्ध्या को 'रात्रिश्च मा वरुणश्च पुनातु' मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित कर आचमन का प्रायश्चित्त भी दिया है।[७]

१- वि २८।५३ २- वि ५४।८

३- सर्वे शिलोच्चयाः सर्वा स्रवन्त्यः पुण्याः ह्रदास्तीर्थान्मृषिनिवासा गोष्ठपरिष्कन्धा इति देशाः। गौ ३।१।१४, बौ ३।१०।१३, व २२।१२

४- 'सवनेषूदकस्पर्शनम्'- गौ ३।१।१५, बौ ३।१०।१४ ५- गौ ३।६।१

६- गौ ३।७।७ तुलना आप १।२६।७ ने आभिचारिक कर्म के लिए भी स्नान बताया है। स्नान के 'आपो हि ष्ठा' तीन मन्त्र अथवा 'हिरण्यवर्णा'आदि चार मन्त्र हैं।

७- गौ ३।७।६

बौधायन के अनुसार जल से भरे पात्र का दर्शन ही सभी पापों को नष्ट कर देता है। उनके शब्दों में 'चौराहे पर रखे हुए जल से पूर्ण पात्र को 'सिंहे मे' आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए देखने पर व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है, यहाँ तक कि वह घोर पातक कर्म से भी शुद्ध हो जाता है।[१] उन्होंने कर्त्तव्य में प्रमाद के प्रायश्चित्त स्वरूप ओंकार एवं व्याहृतियों के उच्चारण के साथ जल से आचमन को सभी पापों से मुक्तिदायक बताया है।[२] दिन में वीर्यपात करने के दोष का परिमार्जन 'रेतस्' शब्द से युक्त मन्त्रों के उच्चारण के साथ तीन बार आचमन द्वारा विहित है।[३] उच्छिष्ट एवं अभोज्य भक्षण करने पर स्नान एवं मन्त्र जप का नियम भी उपलब्ध होता है।[४]

ब्रह्मचारी के नियमों में सोते समय सूर्यास्त होने, पठित वेदांश के भूलने, अग्निपरित्याग या निद्रा में वीर्यस्खलन आदि दोषों के जो प्रायश्चित्त बताये गये हैं उनमें भी स्नान की प्रधानता है।[५] अश्वमेधयज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान विशेष रूप से पवित्र माना गया है और कहा गया है कि इस स्नान से पतितसावित्रीक एवम् अभिशस्त के पाप नष्ट हो जाते हैं।[६] विष्णुधर्मसूत्र मे कार्तिक मास के स्नान का विशेष फल बताते हुए कहा गया है कि इस मास में नित्य स्नान करने वाला, जितेन्द्रिय व्यक्ति जप करते हुए एवं हवि का भक्षण करते हुए सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[७] निषिद्ध भोजन का भक्षण करने पर हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में प्रातः शीतल जल से स्नान

१- 'सिंहे मे' इत्यपां पूर्णे पात्रेऽवेक्ष्य चतुष्पथे।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महतः पातकादपि ॥- बौ ४।७।७

२- बौ ४।३।२,५

३- दिवा रेतस्सिक्त्वा त्रिरपो हृदयङ्गमाः पिबेद्रेतस्याभिः।-बौ २।१।२८

४- आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूतापुनातु माम्।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् ।।
यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वादुश्चरितं मम।
सर्वं पुनातु मामापोऽपो सतां च प्रतिग्रहं स्वाहेति ।।- बौ २।८।११

५- आप २।१२।१५, वि ५४।१३, २८।५१, वि ५३।४

६- आप १।२४।२२, ३।४।१०, व ११।७८

७- कार्तिकं सकलं मासं नित्यस्नानी जितेन्द्रियः।
जपन्हविष्यभुग्दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥- वि ८६।४

करना होता था।[१]

पवित्र पेय एवं भक्ष्य

प्रायश्चित्त के प्रसंग में धर्मसूत्रों ने कई प्रकार के पवित्र माने गये पेय एवं भक्ष्य पदार्थों के सेवन का भी विधान किया है। इनमें पञ्चगव्य एवं यावक प्रमुख हैं। गाय के मूत्र, गोबर, दूध, दधि और घृत का मिश्रण पञ्चगव्य कहा जाता है।[२] पञ्चगव्य के साथ कुश धोया हुआ जल और जौ से बना हुआ यवागू मिला देने पर ब्रह्मकूर्च होता है और इसे अत्यन्त पावन माना गया है।[३] सान्तपन आदि व्रतों में पञ्चगव्य एवं ब्रह्मकूर्च का सेवन व्रत का प्रमुख अङ्ग होता है। बौधायन के अनुसार गोमूत्र, गोबर के रस, दधि, दूध और घृत में पकाये गये यावक के भक्षण से पापी व्यक्ति क्षण में ही पापमुक्त हो जाता है और जिसने शूद्रा स्त्री से पुत्र उत्पन्न किया है या अगम्यागमन किया है वह सात दिन पञ्चगव्य में पकाये गये यावक के भक्षण से पापरहित हो जाता है।[४]

यावकभक्षण की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि ग्यारह दिन एवं रात्रियों तक यावक भक्षण करने से पूर्वजों द्वारा किया गया पाप भी नष्ट हो जाता है।[५] गाय के नीचे से निकाले गये यावक का भक्षण अलौकिक फलप्रद बताया गया है।[६] कहा गया है

१- आप १।२७।३-६

२- गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
पञ्चरात्रं तदाहारः पञ्चगव्येन शुद्ध्यति।।- बौ ४।५।१४

३- गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिसर्पिः कुशोदकम्।
यवाचामेन संयुक्तो ब्रह्मकूर्चोऽतिपावनः ।।- बौ ४।५।२५

४- योऽश्नीयाद्यावकं पवनंगोमूत्रे सशकृद्रसें
सदधिक्षीरसर्पिष्के मुच्यते सोऽहंसः क्षणात् ॥
पूतो यश्च शूद्रायां येनाऽगम्या च लङ्घिता।
सप्तरात्रात्प्रमुच्येते विधिनैवन तावुभौ ॥- बौ ४।६।५-६

५- एकादशरात्रं पीत्वा पूर्वपुरुषकृतमपि पापं निर्णुदति।-बौ ३।६।१६

६- बौ ३।६।२०

कि यावकभक्षण सात दिन में शरीरधारी के अपने पापों को नष्ट करता है।[१] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यावकभक्षण से सात दिन में महापातकी भी पवित्र हो जाता है, बारह दिन में पूर्वपुरुषों के पाप तथा एक मास में सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं और पञ्चगव्य के साथ २१ दिन तक यावकभक्षण करने से सभी पापों से मुक्ति हो जाती है।[२]

तिल और भिक्षान्न भक्षण भी प्रायश्चित्त में उपकारक बताया गया है। अध्ययन के नियम का उल्लंघन करने वाले ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त हेतु आपस्तम्ब श्रावणी को तिलभक्षण का निर्देश करते हैं।[३] भिक्षान्न के प्रसंग में बौधायन का यह कथन उल्लेखनीय है: 'जो व्यक्ति अग्निहोत्रियों से प्राप्त भिक्षा का भक्षण करता है वह एक मास में शुद्ध होता है। यायावर गृहस्थ से प्राप्त भिक्षा का भक्षण करने वाला दस दिन में और वानप्रस्थ से प्राप्त भिक्षा का भक्षण करने वाला पाँच दिनों में ही पापमुक्त हो जाता है।[४]

सामान्यतः सभी प्रकार के तपों के साथ-साथ पवित्र पेय या भक्ष्य पदार्थ का सेवन अनिवार्य और तप के अभिन्न अङ्ग के रूप में विहित है। व्रतों का आचरण करते समय केवल दूध, केवल फल, जौ से पकाकर बनाया गया यावक, घृत और सोने को तप्त जल में डालकर उस जल का पान और सोम का पान श्रेयस्कर माना गया है।[५] शंखपुष्पी, कमल, गूलर, बेल और पलाश के पत्ते डालकर उबाले गये दूध को भी पवित्र माना गया हे। बौधायन एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में ऐसे दूध का पान सुरापात्र से जल पीने का दोष हो जाने पर प्रायश्चित्त के रूप में निर्दिष्ट है।[६]

१- बौ ४।५।३३ २- वि ४८।१३-१७

३- आप १।२७।१

४- भैक्षाहारोऽग्निाहेत्रिभ्यो मासेनैकेनशुद्ध्यति।
यायावरवानप्रसौभ्यो दशभिः पञ्चभिर्नवैः ॥- बौ ४।५।२७

५- पयोव्रतता फलभक्षता प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशं सोमपानमिति मेध्यानि।- गौ३।१।१३ तथाव २२।११

६- सुराधानं ते योभाण्डे अपः पर्याषिताः पिबेत्।
शङ्खपुष्पीविपक्वेन षडहं क्षीरेण वर्तयेत्।- बौ २।१।२१,द्र०व २०।२१

प्राणायाम

तप का ही एक रूप प्राणायाम है। यह वस्तुतः तप और जप का मिश्रण होता है। श्वास रोककर ॐकार एवं व्याहृतियों सहित तीन बार गायत्री का शिरस् मन्त्र के साथ जप करने पर एक प्राणायाम होता है।[१] पापनाश हेतु प्रायश्चित्त के रूप में प्राणायाम की प्रशंसा कई धर्मसूत्रों में की गयी है। गौतम ने इसे शारीरिक शुद्धि का एक उपाय माना है।[२] प्रतिदिन सोलह प्राणायाम करने से एक मास में विद्वान् ब्राह्मण की हत्या का पाप दूर हो जाता है ऐसा मत बौधायन, वसिष्ठ एवं विष्णुधर्मसूत्र में द्रष्टव्य है।[३] वसिष्ठ के अनुसार तीन बार प्राणायाम करने से एक दिन-रात में किये गये पापकर्म दूर हो जाते हैं और सन्ध्या को प्राणायाम करने से दिन में कर्म, मन एवं वाणी द्वारा किये गये पापों से मुक्ति हो जाती है।[४] विष्णुधर्मसूत्र में भी पापनाश हेतु प्राणायाम का निर्देश किया गया है।[५] नियम का अतिक्रमण करने की अवस्था प्राणायाम का विधान आपस्तम्ब ने भी किया है।[६] व्याहृतियों के उच्चारण से भी पापनाश होने का संकेत गौतमधर्मसूत्र में स्पष्ट शब्दों में किया गया है।[७]

धर्मसूत्रों ने प्राणायाम का विधान विभिन्न दोषपूर्ण कर्मों में प्रायश्चित्त के रूप में किया है, यथा ऋतुस्नाता पत्नी से यौनसम्बन्ध न करने पर सौ प्राणायाम का निर्देश है।[८] शूद्रा का अन्न खाने एवं शूद्रामैथुन के दोष में सात दिनों तक प्रतिदिन सात प्राणायाम[९], दुःस्वप्न देखने पर शरीर के क्लान्त होने तक,[१०] सुरा की गन्ध सूँघने पर

१- सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥- व २५।१३, तु० बौ ४।१।२८, वि ५५।६

२- गौ १।१।४०, १।१।६१

३- बौ ४।१।२६, व २६।४, वि ५५।२-५

४- व २६।१-२

५- वि ५५।८

६- आप २।१२।१८

७- प्रतिषिद्धवाङ्मनसाचारे व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः।- गौ ३।७।८

८- बौ ४।१।२३

९- बौ ४।१।६

१०- आप २।१२।१६

तीन बार और मांसभक्षी पशु द्वारा काटे जाने पर भी तीन प्राणायाम विहित है।[1] अन्तिम दो स्थितियों में घृत के प्राशन का नियम भी दिया गया है। पक्षियों, जलचर एवं अस्थिहीन प्राणी का वध करने पर उपवास अथवा प्राणायाम,, गायत्रीजप या घृतभक्षण प्रायश्चित्त होता था।[2]

होम एवम् इष्टि

पाप कर्मों के विनाश हेतु वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ किया गया होमकर्म धर्मसूत्रों में एक प्रायश्चित्त के रूप में उल्लिखित है। बौधायन के अनुसार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अग्नि पर आठ समिध् रखने से पाप से शुद्धि होती है।[3] उन्हीं के शब्दों में 'होम से पाप शान्त होता है। होम भी अन्नदान से शान्त होता है और अन्न दक्षिणा द्वारा शान्ति प्राप्त करता है।[4] अनुचित निर्णय करने की स्थिति में राजा के लिए कूष्माण्ड मन्त्रों से होम विहित है।[5] यौनविषयक दुष्कर्म के लिए हवन का प्रायश्चित्त विशेष रूप से बताया गया है। पत्नी के परपुरुष चिन्तन के प्रसंग में तीन दिन व्रत के बाद आठ सौ आहुतियाँ, वाणी द्वारा पतिनिष्ठा की हानि करने पर एक मास के व्रत के अनन्तर बत्तीस सौ आहुतियाँ और यौनसम्बन्ध का पाप करने पर एक वर्ष के व्रत के बाद आठ सौ आहुतियों के पति द्वारा दिये जाने का नियम वसिष्ठधर्मसूत्र में उपलब्ध होता है।[6] इसी प्रकार गौ से भिन्न मादा पशु से अप्राकृतिक यौनसम्बन्ध के प्रायश्चित्त में कूष्माण्ड मन्त्रों द्वारा घृत से होम का नियम निर्दिष्ट है।[7] घृत का होम एवं 'रेतस्य' आदि मन्त्र से अग्नि पर दो समिधाएँ रखने का प्रायश्चित्त ब्रह्मचारी के लिए भय के कारण, रोग में या स्वप्न में वीर्यस्खलन होने पर अथवा एक

१- गौ ३।५।६-७, वि ५४।१२ में कुत्ता, सियार, सूअर, गदहा, कौआ अथवा कुलटा स्त्री द्वारा काटे जाने पर नदी मे प्रवेश कर सोलह प्राणायाम का विधान है।

२- वि ५०।४३-४६ ३-बौ ४।३।६-७

४- हुतेन शाम्यते पापं हुतमन्नेन शाम्यति।
अन्नं दक्षिणया शान्तिमुपयातीति नश्श्रुतिः ॥ - बौ २।६।४३

५- बौ १।१६।१६ ६-व २१।६-८

७- गौ ३।४।३६

सप्ताह तक अग्निचर्या एवं भिक्षाचरण में व्यवधान होने पर विहित है।[१]

स्त्रीसम्बन्ध द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग करने वाले अवकीर्णी के लिए भी होम का विधान प्रायश्चित्त के रूप में किया गया है। अवकीर्णी अमावस्या की रात्रि में अग्नि प्रज्वलित कर कामकाम के लिए घृत की दो आहुतियाँ देता था और चौराहे पर निर्ऋति देवी के लिए गर्दभ की बलि करता था। गर्दभ का चर्म धारण कर लाल रंग की मिट्टी के पात्र में सात घरों से भिक्षा माँगता था।[२] अध्ययन में नियमोल्लंघन करने वाले ब्रह्मचारी को भी काम एवं मन्यु के लिए होम करना एक वैकल्पिक प्रायश्चित्त बताया गया है।[३]

गणहोम का विशेष महत्त्व बौधायनधर्मसूत्र में प्रतिपादित है। इसके अन्तर्गत आठ गणों के लिए होम किया जाता था।[४] आठ गणहोमों में से केवल एक करने से ही मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।[५] यह विचित्र व्यवस्था भी की गयी है कि गणहोम धन देकर दूसरे से कराया जा सकता है अथवा कोई व्यक्ति अपने आचार्य, पिता एवं माता के लिए भी गणहोम कर सकता है।[६]

पतितसावित्रीक के लिए व्रात्यस्तोम तथा अभिशस्त के लिए गोसव या अग्निष्टुत् विहित है।[७] कतिपय इष्टियों की भी पापमुक्ति हेतु प्रशंसा की गयी है। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार 'जो व्यक्ति वैश्वानरी इष्टि, व्रातपती इष्टि तथा पवित्रेष्टि को क्रमशः प्रत्येक ऋतु में करता है वह सभी पापों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।[८] बहुत से दोष करने पर भी पवित्रेष्टि पापों से मुक्त कर देती है। यह सबसे अधिक पवित्र करने वाली है।[९] बौधायन ने अन्यत्र भी कहा है कि 'मृगारेष्टि, पवित्रेष्टि, त्रिहविः, पावमानी इष्टि, वैश्वानरी इष्टि से युक्त ये सभी इष्टियाँ पाप का विनाश करती हैं।[१०]

१- गौ ३।५।२०
२- गौ ३७५, १७-१८, बौ २।१।२६-३०, ४।२।१०, आप १।२६।८, व २३।१,२
३- आप १।२६।१५
४- बौ ४।७।५,६
५- बौ ४।८।७
६- बौ ४।८।२,८
७- व ११।७६, २२।७
८- बौ १।२।१८
९- बहूनामपि दोषाणां कृतानां दोषनिर्णये।
पवित्रेष्टिं प्रशंसन्ति सा हि पावनमुत्तममिति ॥- बौ १।२।१७
१०- बौ ४।६।२ इन इष्टियों की प्रशंसा वसिष्ठ ने भी की है, व २२।१०

तप एवं विविध व्रत

प्रायश्चित्त के लिए तपश्चर्या सामान्यतः विहित है। तप के अन्तर्गत धर्मसूत्रों ने ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, सवनों में अर्थात् प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल स्नान, गीले वस्त्र धारण करना, आस्तरणरहित भूमि पर शयन एवं भोजन के त्याग की गणना की है।[१] बौधायन ने इनके अतिरिक्त अहिंसा, अस्तैन्य अर्थात् चोरी न करना, गुरु की सेवा और केवल एक वस्त्र धारण करना भी सम्मिलित किया है।[२] वस्तुतः, तप में नैतिक आचरण, संयम, कठोर जीवन, शारीरिक शुद्धि एवं विलासिता और इन्द्रियसुखों के त्याग पर बल दिया गया है। यथासंभव सभी प्रकार की पवित्र मानी जाने वाली वस्तुओं या अवस्थाओं का संयोग तप के फल को और अधिक समृद्ध कर देता है, अतएव शारीरिक शुद्धि, संयम के साथ जप, दान और देवपूजा को भी श्रेयस्कर माना गया है। यही नहीं, पवित्र स्थानों एवं पवित्र तिथियों पर तप का आचरण और भी श्रेयस्कर प्रतिपादित किया गया है। आगे दिये गये विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

तप के लिए निम्नलिखित पवित्र स्थान बताये गये हैं : सभी पर्वत, सभी नदियाँ, पवित्र सरोवर, तीर्थस्थान, ऋषियों के आश्रम, गायों के रहने का स्थान तथा देवालय।[३] इसी प्रकार तप या जप के लिए निम्नलिखित अवधि का निर्देश है- एक वर्ष, छः मास, चार मास, तीन मास, दो मास,एक मास, चौबीस दिन,बारह दिन, छः दिन, तीन दिन तथा एक दिन और रात।[४] इन अवधियों में किये जाने वाले प्रायश्चित्त के रूप में विविध व्रतों का विधान किया गया है। बौधायन[५] ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि विवेकी व्यक्ति इन व्रतों को उतने ही समय तक करे, जितने समय तक करने से शरीर

१- ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधःशायिताऽनाशक इति तपांसि।
- गौ ३।१।१५

२- अहिंसा सत्यमस्तैन्यं सवनेषूदकोपस्पर्शनं गुरुशुश्रूषा ब्रह्मचर्यमधश्शयनमेकवस्त्रताऽनाशक इति तपांसि।- बौ ३।१०।१४

३- गौ ३।१।१४, बौ ३।१०।१२

४- संवत्सरः षण्मासा चत्वारस्त्रयो वा द्वौ वैकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालाः।-गौ ३।१।१७, द्र० बौ ३।१०।१६, व २२।१३ ,आप १।२६।१७

५- एवमेतानि यन्त्राणि तावत्कार्याणि धीमता।
कालेन यावतोपैति विग्रहं शुद्धिमात्मनः ॥- बौ ४।७।३

की शुद्धि का बोध हो जाय। इसी प्रकार यह जप आदि विशिष्ट प्रायश्चित्त करने वाले की इच्छा पर छोड़ दिया गया है कि वह कौन-सा प्रायश्चित्त या व्रत करे।[१] धर्मसूत्रकार का यहाँ तात्पर्य यह है कि लघु या गुरु पाप के अनुसार कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र या चान्द्रायण व्रत करने चाहिए। अधिक पाप होने पर इनमें से सभी किये जा सकते हैं और कम पाप होने की स्थिति में कोई एक।[२]

कृच्छ्र व्रत- उपर्युक्त व्रतों में सबसे सामान्य एवं कम कठोर व्रत कृच्छ्र है। इसके कई भेद हैं। बारह दिन के कृच्छ्र व्रत में भोजन का नियम इस प्रकार है- तीन दिन केवल प्रातः काल हविष्य अन्न का भक्षण, अगले तीन दिन केवल सायंकाल हविष्य का भक्षण, पुनः तीन दिन अयाचित भोजन का केवल एक वेला भक्षण और अन्त में तीन दिन उपवास।[३] बौधायन ने इसी व्रत को प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति द्वारा उक्त कृच्छ्रव्रत भी कहा है।[४]

बालकृच्छ्रव्रत- उपर्युक्त कृच्छ्रव्रत में ही कुछ परिवर्तन करने पर अपेक्षाकृत सौकर्य हो जाता है और इस कारण इसे बालकृच्छ्र कहते हैं। इसमें एक दिन केवल दिन में, दूसरे दिन केवल रात्रि में, तीसरे दिन विना माँगे प्राप्त भोजन करने के बाद चौथे दिन उपवास रखने का और इस प्रकार तीन आवृत्ति द्वारा बारह दिन व्रत का नियम है।[५] विष्णुधर्मसूत्र में अस्सी वर्ष की आयु से अधिक अवस्था के वृद्ध, सोलह वर्ष से कम आयु के बालकों, स्त्रियों एवं रोगियों के लिए प्रत्येक व्रत का आधा करने की अनुमति दी गयी है।[६] बौधायनधर्मसूत्र में एक स्थल पर कृच्छ्र व्रत में ब्राह्मण के लिए यावक, क्षत्रिय के लिए यवागू तथा वैश्य के लिए आमिक्षा का भोजन भी अनुमत है।[७]

१- एतान्येवानादेशे विकल्पेत क्रियेरन्।- गौ ३।१।१८

२- कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तम्।- गौ ३।१।२० द्र० उपर्युक्त पर हरदत्त की वृत्ति, तुलनीय- बौ २।२।२५,३।१०।१८

३- गौ ३।८।२-५, बौ २।२।२५, ४।५।६, व २१।२०, आप १।२७।७

४- बौ ४।५।६

५- बौ ४।५।७, बौ २।२।२६ यही व्रत स्त्रियों और वृद्धों के लिए भी है।

६- वि ५४।३३

७- बौ ३।७।१०

कृच्छ्र व्रत का प्रायश्चित्त के रूप में विधान प्रायः यौनविषयक पापकर्मों में किया गया है। अन्त्यावसायिनी स्त्री से यौनसम्बन्ध पर एक वर्ष तक और अनिच्छापूर्वक समागम के लिए बारह दिन का कृच्छ्रव्रत, मासिक धर्म के समय स्त्रीसंगम हेतु तीन दिन-रात का कृच्छ्र[१], पत्नी द्वारा पति का परित्याग करने पर छः मास का कृच्छ्र[२], अनजान में अपने गोत्र की कन्या से विवाह करने और उससे पुत्र उत्पन्न करने पर तीन मास का कृच्छ्र बताया गया है।[३] स्त्री द्वारा व्यभिचार की स्थिति में भी बौधायन ने कृच्छ्र का निर्देश किया है।[४] वैश्य आदि वर्ण के पुरुषों से व्यभिचार हेतु कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र का तथा पातक का दोष लगाये जाने पर भी उन्होंने कृच्छ्र व्रत की व्यवस्था की है।[५] वसिष्ठधर्मसूत्र में परिवार की किसी पूज्या स्त्री, सखी या गुरु की सखी के साथ अथवा अपपात्र या पतिता स्त्री के साथ मैथुन करने पर तीन मास तक कृच्छ्र व्रत और परिवित्ति तथा वेद का अध्ययन छोड़ने वाले के लिए बारह दिन का कृच्छ्र विहित किया है।[६]

तप्तकृच्छ्र - तप्तकृच्छ्र भी बारह दिन का होता है। इसमें तीन-तीन दिन क्रमशः उष्ण जल, दूध एवं घृत का भक्षण कर तीन दिन उपवास करना होता है।[७]

शीतकृच्छ्र - उपर्युक्त जल, घृत और दूध को विना उष्ण किये हुए ठण्ढे रूप में तीन-तीन दिन ग्रहण करने के बाद शेष तीन दिन निराहार व्यतीत करने पर शीतकृच्छ्र व्रत होता है, जिसका उल्लेख विष्णुधर्मसूत्र में ही मिलता है।[८]

तप्तकृच्छ्र व्रत का प्रायश्चित्त अधिकांशतः भोजन एवं पानविषयक नियमोल्लंघन में बताया गया है। यथा अज्ञानवश सुरापान करने एवं वर्जित मांस का भक्षण करने पर।[९] मलिनीकरण कर्म के लिए भी तप्तकृच्छ्र निर्दिष्ट है।[१०]

१- गौ ३।५।३२ २- आप १।२८।२०

३- बौ २।१।३८ ४- बौ २।३।४६

५- बौ २।३।५१ एवं २।२।२१ ६- व २०।७,१२, १६,

७- बौ २।२।२४ अन्यत्र बौ ४।५।१० में क्रमशः उष्ण दूध, उष्ण घृत और उष्ण जल तथा वायुभक्षण का उल्लेख है। वि ५६।११-१२ में भी जल, घृत और दूध का क्रम रखा गया है। द्र० व २१।२१

८- वि ४६।१२ ९- गौ ३।५।२ १०- वि ४१।५

अतिकृच्छ्र - उपर्युक्त कृच्छ्र व्रत को ही अधिक कठोर रूप देकर अतिकृच्छ्र की संज्ञा दी गयी है। इसमें जो भी हविष्य अन्न का भक्षण किया जाता है वह केवल एक ग्रास या एक बार हाथ में आने योग्य मात्रा में ही ग्रहण किया जाता है।[१]

कृच्छ्रातिकृच्छ्र - केवल जल पीकर बारह दिन तक व्रत किया जाय तो वह कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत होता है।[२] बौधायन ने जल पीने के लिए भी तीन-तीन दिन क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायं जल पीकर अन्त में तीन दिन वायुभक्षण का उल्लेख किया है।[३] किन्तु विष्णुधर्मसूत्र में इक्कीस दिन केवल दूध पीकर व्रत करना कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत बताया गया है।[४]

कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रतों के लिए कतिपय सामान्य आचारनियमों का भी निर्देश किया गया है। गौतम के अनुसार इन व्रतों में यदि शीघ्र शुद्ध होने की कामना हो तो दिन में खड़ा रहे और रात्रि में बैठकर ही विश्राम करे। केवल सत्यभाषण करे, अनार्या के साथ वार्तालाप न करे, तीनो सवनकालों में मन्त्रों द्वारा सूर्य की पूजा करे, मन्त्रों द्वारा आज्याहुजि प्रदान करे। बारह दिन के बाद चरु बनाकर देवों के लिए बलि अर्पित करे ओर ब्राह्मणों को भोजन कराये।[५] विष्णुधर्मसूत्र में भी इन्हीं आनुषंगिक पवित्र आचारों का संकेत है और केशवपन, स्त्री के साथ संभाषण का निषेध एवं अधःशयन का नियम निर्दिष्ट है।[६]

कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, कृच्छ्रातिकृच्छ्र इन तीन प्रकार के व्रतों का माहात्म्य स्पष्ट करते हुए गौतम ने कहा है:'इन व्रतों में से प्रथम कृच्छ्र व्रत करने वाला पवित्र होता है और अपने वर्ण के कर्म करने योग्य बन जाता है।दूसरे व्रत को करने वाला महापातकों

१- यावत्सकृदाददीत तावदश्नीयात्।- गौ ३।८।१६ द्र० हरदत्त की वृत्ति 'एकेन पाणिना यावत्सकृदादातुं शक्नुयात्तावदेवाश्नीयात्।' द्र० बौ २।२।२७, ४।५।८ गोविन्दस्वामी ने ग्रास की व्याख्या की है : 'शिख्यण्डपरिमितान्नो ग्रासः पाणिपूरोन्नो वा।'

२- अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः।- गौ ३।८।२०, बौ २।२।२८

३- अम्बुभक्षस्त्र्यहानेतान्वायुभक्षस्ततः परम्।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्तृतीयो विज्ञेयो सोऽतिपावनः ॥- बौ ४।५।६

४- कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिनैकविंशतिक्षपणम्।- वि ४६।१३

५- गौ ३।८।६-१७

६- वि २६।२४-२५

के अतिरिक्त अन्य पापों से मुक्त हो जाता है तथा तीसरा कृच्छ्र व्रत करने वाले के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। इन तीनो व्रतों को करने वाला सभी वेदों में पूर्ण एवं सभी देवों में प्रसिद्ध हो जाता है।[१]

सान्तपन कृच्छ्र- बौधायनधर्मसूत्र में सान्तपनकृच्छ्र नाम के व्रत का विधान भी प्रायश्चित्त के प्रकरण में किया गया है। इस व्रत में पेय वस्तुएँ गौ से संबद्ध होती हैं। यदि एक-एक दिन क्रमशः गोमूत्र, गाय का गोबर, गाय का दूध, गाय के दूध का दधि, गौ का घृत और कुशोदक पान करने के अनन्तर एक दिन-रात्रि उपवास करे तो सान्तपनकृच्छ्र व्रत होता है।[२] ये पदार्थ भी क्रमशः गायत्री, 'गन्धद्वारा', 'आप्यायस्व', 'दधिक्राव्ण' 'शुक्रमसि' तथा 'देवस्य त्वा' आदि मन्त्रों का उच्चारणकर पिये जाते हैं। इस प्रकार यह एक सप्ताह का व्रत होता है।[३]

दो दिन के सान्तपनकृच्छ्र का भी निर्देश बौधायनधर्मसूत्र में मिलता है, जो इस प्रकार है- गोमूत्र के अंश के आधा गोबर, तीन भाग दूध,दो भाग दधि तथा एक भाग घृत और एक भाग कुशोदक को मिलाकर एक दिन पान करे तथा दूसरे दिन उपवास करे तो इस प्रकार का सान्तपन कृच्छ्र चाण्डाल को भी पवित्र करता है।[४]

महासान्तपनकृच्छ्र- प्रथम प्रकार के सान्तपन व्रत का निरन्तर तीन बार आचरण करने पर महासान्तपन व्रत होता है।[५]

पराकव्रत- बारह दिनो तक निरन्तर विना भोजन के व्रत के अन्य नियमों का पालन करने पर पराक नाम का कृच्छ्र व्रत होता है।[६] यह सर्वपापप्रणाशन है।

१- प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मणो भवति। द्वितीयं चरित्वा यत्किञ्चिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते। तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुचयते। अथैतांस्त्रीन्कृच्छ्रांश्चरित्वा सर्वेषु वेदेषु स्नातो भवति सवैर्देवैर्ज्ञातो भवति।- गौ ३।८।२१-२४

२- गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्र सान्तपनं स्मृतम् ॥- बौ ४।५।११, द्र० वि ५६।१८

३- गन्धद्वारा आदि मन्त्रों के लिए द्रष्टव्य तैत्तिरीयसंहिता १।२।५, १।५।११, १।१।१०

४- बौ ४।५।१३ द्र० गोविन्दस्वामी का भाष्य जिसके अनुसार घृत और कुशोदक बराबर परिमाण में हो, उनसे दूना दधि, तिगुना दूध, चार गुना गोबर ओर पाँच गुना गोमूत्र हो।

५- बौ ४।५।१६, वि ४६।२०

६- यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणाशनः ॥-बौ ४।५।१५

अन्य कृच्छ्र व्रत- विष्णुधर्मसूत्र में उदककृच्छ्र, मूलकृच्छ्र, श्रीफलकृच्छ्र, पर्णकृच्छ्र नाम के व्रतों का उल्लेख है। उदककृच्छ्र में एक मास तक उदकमिश्रित सत्तू का, मूलकृच्छ्र में कमल के मृणाल का, श्रीफलकृच्छ्र में बिल्वफल का या कमल के बीजों का तथा पर्णकृच्छ्र में कुश, पलाश, उदुम्बर, पद्म, शंखपुष्पी, वट और ब्रह्मसुवर्चला के पत्तों को उबालकर उस जल का पान करना होता है। यह पर्णकृच्छ्र केवल सात दिन का व्रत है।[१]

तुलापुरुष व्रत- बौधायन के अनुसार इस व्रत में एक दिन चावल के कणों का भक्षण, तीन दिन तिल के पिण्याक, पाँच दिन तक्र, सात दिन जल तथा एक दिन वायु का भक्षण करना निर्दिष्ट है। यह सत्रह दिनों का व्रत है।[२] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यह व्रत केवल दस दिन का है और इसमें बीच में एक दिन उपवास करते हुए पिण्याक, भात का माँड़, तक्र, जल और सत्तू का पान विहित है।[३]

वसिष्ठधर्मससूत्र में कृच्छ्र व्रत का प्रायश्चित्त निम्नलिखित दुष्कर्मों के लिए विहित किया गया है- कुत्ता, बिल्ली, नेवला, साँप, मेढक, मूषक का वध, अस्थिहीन जीवों की एक बैल द्वारा ढोयी जाने वाली संख्या में वध, किसी अस्थियुक्त प्राणी का वध, अग्नि का परित्याग, नास्तिकता और सोम का विक्रय।[४] जानबूझकर चावल से भिन्न प्रकार की सुरा और चावल से बनी सुरा पीने पर क्रमशः कृच्छ्र एवम् अतिकृच्छ्र व्रत के बाद पुनः उपनयन की व्यवस्था की गयी है।[५] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी मधु या मांस खा लेने पर प्राजापत्य कृच्छ्र करे,[६] यदि किसी द्विजाति ने गायत्री न ग्रहण की हो तो वह तीन प्राजापत्य करने के अनन्तर उपनयन कराये।[७] जानबूझकर किसी अयोग्य शूद्र आदि का यज्ञ कराने, अपरिचित व्यक्ति का अन्त्येष्टि करने, शत्रु के विरुद्ध आभिचारिक क्रिया का प्रयोग करने, अहीन नाम का यज्ञ करने, वेद के स्वाध्याय की उपेक्षा करने पर भी तीन प्राजापत्य कृच्छ्र का प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है।[८]

१- द्र० वि ४६।१४,१५,१६,१७,२३ २- बौ ४।५।२२

३- पिण्याकाचमतक्रोदकसक्तूनामुपवासान्तरितोऽभ्यवहारस्तुलापुरुषः।- वि ४६।२२

४- व२१।२४-३१ ५- व २०।१९-२०

६- वि ५१।४५ ७- वि ५४।२६ ८- वि ५४।२५,२७

से भिन्न किसी मादा पशु से मैथुन कर्म के लिए एक प्राजापत्य कृच्छ्र भी विहित है।[१] अनुचित यौनसम्बन्ध अथवा अगम्यागमन के लिए एक वर्ष तक प्राजापत्य व्रत का महाव्रत के नियमानुसार वृक्ष की छाल धारण कर तथा वन में निवास करते हुए आचरण करने पर भी पाप से मुक्ति मानी गयी है।[२] अज्ञानवश क्षत्रक या कवक पौधे का भक्षण करने पर सान्तपन व्रत का प्रायश्चित्त बताया गया है।[३] चाण्डाल का सिद्ध भोजन करने पर पराक व्रत का उल्लेख है।[४]

चान्द्रायण व्रत

कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र के अतिरिक्त चान्द्रायण व्रत का भी अनेक पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त के रूप में प्रायः सभी धर्मसूत्रों में विधान किया गया है। गौतम[५] के अनुसार इसकी विधि इस प्रकार है- प्रथमतः केश का वपन कराकर पौर्णमासी के एक दिन पहले उपवास करे। तदनन्तर जल का तर्पण, आज्याहुति एवं हवि का अनुमन्त्रण कर चन्द्रमा की पूजा करे। 'यद्देवा देवहेडन' आदि चार ऋचाओं से आज्य की आहुति करे। 'देवकृतस्य' मन्त्र से समिधाओं का अग्नि पर अपधान करे। भोजन के पन्द्रह ग्रास बनाकर उनका अभिमन्त्रण करे।[६] ग्रास की मात्रा इतनी होनी चाहिए जितने को मुख में डालते समय मुख विकृत न हो । पौर्णमासी के दिन पन्द्रह ग्रास का भक्षण कर प्रत्येक दिन एक-एक ग्रास कम करते जाय और अमावस्या के दिन उपवास करने के अनन्तर पुनः एक-एक ग्रास बढ़ाता जाये। इस प्रकार यह व्रत एक मास का होता है। इस व्रत में सामान्य नियम उसी प्रकार होते हैं जैसे कृच्छ्र में।[७] गौतम ने व्रत में अन्नग्रहण का जो नियम दिया है उसके विपरीत क्रम में भी ग्रासों के ग्रहण का

१- वि ५३।७
२- वि ५३।१
३- वि ५१।३४
४- वि ५१।५८
५- गौ ३।६।१-१५
६- पन्द्रह गासों का अभिमन्त्रण ॐ, भूः, भुवः, स्वः, तपः, सत्यम्, यशः, श्रीः, ऊर्गिड, औजस्, तेजस्, वर्चस्, पुरुष, धर्मः, शिवः से किया जाता है अथवा नमः स्वाहा कहकर सभी का अभिमन्त्रण किया जाता है।
७- तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे। - गौ ३।६।२

उन्होंने उल्लेख किया है।[1] बौधायन ने भी संक्षेप में इसी प्रक्रिया का वर्णन किया है- शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक-एक ग्रास आहार बढ़ाने और कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक-एक कम करने तथा दोनो पक्षों में दो दिन उपवास करने पर चान्द्रायण व्रत होता है।[2] अन्यत्र बौधायन ने इस व्रत का गौतम की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन किया है।[3] तदनुसार शुक्लचतुर्दशी को उपवास कर, केश, श्मश्रु, लोम और नख अथवा केवल श्मश्रू कटाकर अग्नि का मन्थन करे। व्रत काल में यज्ञ की हवि का ही भक्षण करे। समिदाधान के अनन्तर अग्नि के चारो ओर कुश फैलाकर पकाये गये अन्न में से लेकर हवन करे।[4] उसके बाद चार दिशाओं के लिए आहुतियाँ देकर पन्द्रह ग्रास भक्षण करे।[5] भक्षण के बाद 'निग्राभ्यास्सव' आदि[6] मन्त्र से जल पीकर सात अनुवाकों से सात आज्याहुति करे।[7] तदनन्तर तीन-तीन मन्त्रों से सूर्य एवं चन्द्रमा की स्तुति करे।[8] इस व्रत काल में शयन करते समय और जागते समय अग्नि के मन्त्र का जप भी विहित है।[9] स्त्री एवं शूद्र के साथ भाषण करना तथा मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तु को देखना भी निषिद्ध होता है।[10]

१- विपरीतमेकेषाम्।- गौ ३।६।१४

२- एकवृद्ध्यया ऽसिते पिण्डे एकहान्या ऽसिते ततः।
पक्षयोरुपवासो द्वौ तद्धि चान्द्रायणं स्मृतम्॥ - बौ ४।५।१७

३- बौ ३।३-८

४- ये बारह आहुतियाँ अग्नि, तिथि, नक्षत्र, नक्षत्र के देवता, चन्द्रमा, द्यावापृथिवी, दिन और रात्रि, रुद्र, सूर्य, वरुण, इन्द्र तथा विश्वेदेवाः के लिए होती हैं। - बौ ३।८।६

५- प्राणाय त्वा। अपानाय त्वा। व्यानाय त्वा। उदानाय त्वा। समानाय त्वा। - ये भक्षण के मन्त्र विहित हैं।- बौ ३।८।१२

६- सात अनुवाक मन्त्रों के लिए द्रष्टव्य तैत्तिरीयारण्यक, १०।५१-५६

७- सूर्य के मन्त्र हैं- उद्वयम, उदुत्यम्, चिचत्रम् आदि। चन्द्रमा के लिए मन्त्र हैं नवो नवो भवति, सचित्रचित्रम्, तथा 'अत्राह' गोरमन्वत। द्र० बौधायन, चौखम्बा संस्करण, पृ० २३६

८- ये मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं : 'अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सुमन्दिषीमहि गोपाय नस्स्वस्तये प्रबुधे नः पुनर्ददः। त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः।- तैत्तिरीयसं० २।१।३।१

९- बौ ३।८।२२-२३

१०- बौ ३।८।२४-३५

पिपीलिकामध्य चान्द्रायण- चान्द्रायण में ग्रासों की मात्रा के भेद के अनुसार पिपीलिकामध्य तथा यवमध्य दो रूपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम पक्ष के प्रथम दिन को चौदह ग्रास भोजन कर एक-एक ग्रास कम करते हुए अमावस्या को उपवास कर पुनः प्रतिपदा को एक ग्रास का भक्षण कर पौर्णमासी तक बढ़ाते जाने पर पिपीलिकामध्य चान्द्रायण होता है और इसके विपरीत अमावस्या को आरम्भ कर एक मास के बाद अमावस्या को उपवास के साथ ही समाप्त करने पर यवमध्य चान्द्रायण होता है।[१] वसिष्ठ ने पिपीलिकामध्य का ही उल्लेख किया है। विष्णुधर्मसूत्र में भी इन दोनो का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जस व्रत में अमावस्या मध्य में होती है वह पिपीलिकामध्य और जिसमें पौर्णमासी मध्य में होती है वह यवमध्य चान्द्रायण होता है।[२]

शिशुचान्द्रायण- चान्द्रायण का सरलीकृत रूप शिशुचान्द्रायण है। इसमें प्रातः एवं सायं चार-चार ग्रास भक्षण कर एक मास तक व्रत का आचरण किया जाता है।[३]

यतिचान्द्रायण- यदि प्रतिदिन मध्याह्न में केवल आठ- आठ ग्रास हविष्य का भक्षण करे तथा इन्द्रियों पर संयम रखे तो यतिचान्द्रायण नाम का व्रत होता हैं।[४]

सामान्य चान्द्रायण- जिस किसी प्रकार एक मास में दो सौ चालीस ग्रास हविष्य का भक्षण करते हुए व्रताचरण करने पर भी चान्द्रायण व्रत माना गया है, जिसे सामान्य चान्द्रायण कहा गया है।[५]

इस व्रत का माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि

१- वि २३।४५-४६

२- यस्यामावास्या मध्ये भवति स पिपीलिकामध्यः। यस्य पौर्णमासी स यवमध्यः।-वि ४७।५-६

३- चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रस्समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥- बौ ४।५।१८
सायं प्रातश्चतुरश्चतुरः स शिशुचान्द्रायणः।- वि ४७।७-८

४- अष्टावष्टौ मासमेकं पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत्॥ -बौ ५।५।१९

५- यथाकथंचित्पिण्डानां द्विजस्तिस्रस्त्वशीतयः।
मासेनाऽश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥- बौ ५।५।२०
यथाकथञ्चित्षष्ठ्योनां त्रिशतीं मासेनाश्नीयात्स सामान्यचान्द्रायणः।- वि ४७।९

जो एक मास का व्रत पूर्ण कर लेता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है, जो दो मास तक यह व्रत करता है वह स्वयं को पवित्र करने के साथ ही अपने पूर्व एवं पश्चात् की दस पीढ़ियों को पवित्र बनाता है एवं जिस स्थान पर आमन्त्रित होता है वहाँ भी पंक्ति को पवित्र करता है तथा एक वर्ष तक निरन्तर इस व्रत का आचरण करने पर चन्द्रमा का लोक प्राप्त करता है।[१] बौधायन के शब्दों में यह व्रत पाप नष्ट करने के साथ ही सभी कामनाओं का फल प्रदान करने वाला है। इसी व्रत द्वारा प्राचीन ऋषियों ने अपनी सभी इच्छाएँ प्राप्त कर लीं। यह पुत्र, पौत्र, पशु, धन, दीर्घजीवन और यश प्रदान करने वाला व्रत है।[२]

प्रायश्चित्त के रूप में चान्द्रायण का विधान अमेध्यप्राशन, मदपान, लशुन जैसे अभक्ष्य पदार्थों एवं निषिद्ध मांसभक्षण के दोषों में किया गया है।[३] दास, दासी, कूप, क्षेत्र, वापी का अपहरण करने तथा मांस, लवण,लाक्षा एवं क्षीर का विक्रय करने पर भी चान्द्रायण विहित है।[४] अज्ञानवश चाण्डालीगमन करने पर दो चान्द्रायण व्रत करने पर ही शुद्धि मानी गयी है।[५] स्त्री के लिए शूद्र या निम्न वर्ण के पुरुष से व्यभिचार करने पर चान्द्रायण का उल्लेख है।[६] गाय, बैल या यज्ञ के उपयोगी पशु की हत्या पर दण्ड के साथ चान्द्रायण व्रत भी प्रायश्चित्त बताया गया है।[७] विवाह के व्यतिक्रम में परिवित्ति, परिवेत्ता, कन्यादान देने वाला और पुरोहित सभी को चान्द्रायण करना होता था।[८]

अन्य व्रत : महाव्रत -हत्या आदिके दुष्कर्मों में जिस ब्रह्मचर्य जीवन का प्रायश्चित्त के रूप में निर्देश किया गया है उसे महाव्रत के नाम से भी उल्लिखित किया गया है। इसमें वन में पर्णकुटी बनाकर निवास, तीन समय स्नान, अपने पापकर्म की घोषणा करते हुए गाँव-गाँव में भिक्षाटन तथा तृणनिर्मित शय्या पर शयन करने का नियम होता था। यह व्रत ब्राह्मण की अथवा यज्ञकर्म में संलग्न क्षत्रिय एवं वैश्य की

१- गौ ३।६।१६-१८ २- बौ ३।८।३७-४० तु० वि ४७।१०

३- वि ५१।२,३ ४- वि ५२।६, ५४।२१

५- वि ५३।६

६- शूद्र चान्द्रायणं चरेत्। -बौ २।३।५० ; प्रतिलोमं चरेयुस्ताः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्।- व २१।१३

७- बौ १।१६।५-६

८- परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते दाता याजकस्य चान्द्रायणं कुर्यात्।- वि ४४।१६

हत्या के लिए बारह वर्ष करना होता था। इस व्रत का आचरण करने वाला शव के सिर की ध्वजा लेकर चलता था।[१]

गोव्रत- गाय की सेवा के व्रत को ही गोव्रत कहा गया है। इसमें केशों का वपन कराकर एक मास तक गो का अनुगमन करना होता था। गौ के बैठने के स्थान पर बैठना, खड़ी होने पर खड़ा होना, चोर आदि सभी प्रकार के भय से उसकी रक्षा करना, उसे शीत, ताप आदि से बचाना एवं शीत एवं ताप झेलना, गोमूत्र से स्नान करना और केवल दुग्ध का पान करना- इस व्रत में करणीय नियमों के रूप में विहित हैं।[२] गोगमन जैसे अप्राकृतिक यौनाचार में इसका प्रायश्चित्त के रूप में निर्देश है।[३]

उल्लेखनीय है कि इन विविध व्रतों में पूर्णतः सुखभोग का त्याग एवं कष्ट को अंगीकार कर पवित्र पदार्थों एवं विचारों का संयोग ही अभीष्ट था। इस प्रकार तप को पाप से शुद्धि का अन्यतम साधन माना गया है और इसकी महत्ता का अनेक स्थलों पर स्पष्टतः उल्लेख किया गया है। तप के अङ्ग के रूप में अथवा उसके उपयोगी अन्य नियमों का भी प्रायश्चित्त के रूप में धर्मसूत्रों ने विधान किया है, जिनका विवेचन यहाँ प्रासङ्गिक है।

जप या रहस्य प्रायश्चित्त

वैदिक मन्त्रों में चमत्कारपूर्ण एवं पावनी शक्ति निहित होने के विश्वास से प्रेरित होकर उनके जप को भी प्रायश्चित्त का एक श्रेष्ठ रूप माना गया है। इसे रहस्य प्रायश्चित्त भी कहा गया है। कारण, जप एकान्त में सम्पन्न होने वाला कर्म है। जप के साथ तप के आचरण भी वाञ्छनीय माने गये हैं। अतएव गौतम ने वेदमन्त्र जप के समय आहार हेतु दूध, शाक, फल, जीवन-धारण करने योग्य अल्प जौ के आहार, घृत में सुवर्ण को रगड़ कर उसके पान तथा सोमपान का नियम विहित किया है।[४] स्वभावतः पवित्र स्थान पर जप की क्रिया श्रेयस्कर बतायी गयी है। ऐसे स्थान हैं[५]- पर्वत, नदियों के तट, पवित्र कुण्ड, तीर्थस्थान, ऋषियों के आश्रम, गायों के रहने का स्थान और

१- वि ५०।१-१५

२- वि ५०।१६-२४

३- वि ५३।३

४- गौ ३।१।१३

५- गौ २।६।१४

देवता का मन्दिर। धर्मसूत्रों में वेदपारायण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है, यथा यदि कोई व्यक्ति एक वर्ष तक भिक्षा ग्रहण करता हुआ वेद का पारायण करता है तो वह दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है। वेद-पारायण देवों तक पहुँचाने वाली सीढ़ी है और इसी से देवों ने देवत्व प्राप्त किया है।[१]

वेदज्ञान एवं वेदपारायण से पापनाश का प्रशस्तिपूर्ण वर्णन वसिष्ठधर्मसूत्र में उपलब्ध है। इसमें कहा गया हैः 'यदि सैकड़ों दुष्कर्म करने वाला वेद को धारण करता है, तो उसके उस सम्पूर्ण पाप को वेद रूपी अग्नि ईंधन के समान जला देती है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देती है उसी प्रकार वेदरूपी अग्नि अपने कर्मों से उत्पन्न दोष को नष्ट कर देती है।'[२] ऋग्वेद की पवित्रता का विशेष उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन लोकों की हत्या कर और जिस किसी का अन्न भक्षण करते हुए भी ऋग्वेद का अध्येता किसी पाप का भागी नहीं होता।[३] जप की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि मुनि का मूल फल भक्षण करते हुए अरण्य में तपस्या करना और किसी विप्र का एक ऋचा का अध्ययन करना समान ही होता है।[४] विष्णुधर्मसूत्र में भी जप की महत्ता इन शब्दों में घोषित की गयी हैः 'चार प्रकार के पाकयज्ञ तथा वेदोक्त यज्ञ सभी मिलकर जपयज्ञ की सोलहवीं कला के बराबर नहीं होते। जप के द्वारा ब्राह्मण मुक्ति प्राप्त कर लेता है इसमें सन्देह नहीं, चाहें वह अन्य धार्मिक कर्म करे या न करे।'[५]

१- बौ ३।६।१६, १८, १९

२- यद्यकार्यशतं साग्रं कृतं वेदाश्च धार्यते।
सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥
यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदाग्निः कर्मजं दोषमात्मनः॥-व २७।१-२

३- हत्वापि स इमांल्लोकान्भुञ्जानोऽपि यतस्ततः।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन॥- व २७।३

४- तपस्तपति योऽरण्ये मुनिर्मूलफलाशनः।
ऋचमेकं च योऽधीते तच्च तानि च तत्समम्॥- व २७।५

५- ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥
- वि ५५।२०-२१

वसिष्ठधर्मसूत्र में पतित सम्पर्क के प्रायश्चित्त स्वरूप अपने वेद की संहिता का उत्तर दिशा की ओर चलते हुए पाठ करने का विधान है।[1] वेद के समान धर्मशास्त्र के अध्ययन को भी घोर पापों का विनाश करने वाला घोषित किया गया है : 'ब्राह्मण का सुवर्ण चुराने वाला और गुरुतल्पगामी व्यक्ति धर्मशास्त्र का अध्ययन कर पवित्र हो जाता है।[2] बौधायन ने भी अपने वेद की संहिता के चौबीस बार अध्ययन से उशनस् के लोक की, छत्तीस बार अध्ययन से बृहस्पति के लोक की तथा अड़तालीस बार अध्ययन से प्रजापति के लोक की प्राप्ति का फल बताया है और केवल बारह आवृत्ति करने से ही निषिद्ध कर्मों के दोष एवं गुरुकोप से मुक्ति का उल्लेख किया है।[3]

प्रायश्चित्त के लिए जप के रूप में वेद के कतिपय विशिष्ट अंशों का प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने निर्देश किया है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार, उपनिषद्, आरण्यक, सभी छन्दों में आये संहिता पाठ, मधु शब्द से युक्त यजुष् मन्त्र, 'ऋतं च सत्यं च' आदि अघमर्षण मन्त्र अथर्ववेद में आया हुआ अथर्वशिरस् 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि रुद्र देव को संबोधित ग्यारह अनुवाक, पुरुषसूक्त, राजत और रौहिण नाम के साम, 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यादि बृहत् साम, 'अपि त्वा शूर नोनुमः' आदि रथन्तर साम, 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' आदि पुरुषगति साम, 'विदामघवन्' आदि महानाम्नी नाम की ऋचाएँ, महावैराज साम, 'विभ्राड्बृहत्पिबतु' आदि महादिवाकीर्त्य साम, तलवकार शाखा के अनुसार 'उदुत्यं चित्रम्' आदि और छान्दोगों के अनुसार 'मूर्धानं दिवः'आदि ज्येष्ठ साम, 'उपास्तै गायता नरः' आदि बहिष्पवमान साम, 'यद्देवा देवहेळनम्' आदि कूष्माण्ड नाम से ख्यात तीन अनुवाक, 'स्वादिष्टया मन्दिष्टया' आदि सोम देवता की पावमानी ऋचाएँ तथा 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' आदि सावित्री ऋचा-- ये सभी पवित्र करने वाले हैं।[4] बौधायन एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में भी इन्हीं अंशों का अथवा इनमें से कुछ का जप हेतु निर्देश है।[5] विष्णुधर्मसूत्र में नवीनता द्रष्टव्य हैं उसमें निम्नलिखित अंशों

१- व २०।४६

२- यो वै स्तेनः सुरापो वा भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
धर्मशास्त्रमधीत्यैव मुच्यते सर्वपातकैः ।।-व २०।१६

३- बौ ३।६।१०

४- द्र०गौ ३।१।१२ तथा हरदत्त की वृत्ति ५- द्र० बौ ३।१०।११ तथा व २२।६

के जप का विधान किया गया है:[1]- अघमर्षण शुद्धवती ऋचा, तरत्समन्दीय, कूष्माण्डी, पावमानी, दुर्गासावित्री (ऋ० १।६६।१), अतीषंगा साम (२।४७-४६), पदस्तोमसाम (२।५७८-५८०), व्याहृति साम, भारुण्ड साम (यत्ते कृष्ण आदि २१ साम), चन्द्रसाम (१।१४७), पुरुषव्रत नाम के दो साम, अब्लिङ्ग साम (२।११८७), बार्हस्पत्य साम (१।६१), गोसूक्त साम (१।१२२), आश्वसूक्त, चन्द्रसूक्त नाम के साम, शतरुद्रिय, अथर्वशिरस्, त्रिसुपर्ण (तैत्ति०ब्रा० १०।४८-५०), महाव्रतसाम (१।६१), नारायणीय (तैत्ति० आर०१०) तथा पुरुषसूक्त।

मन्त्रजप द्वारा पापनाश के लिए गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र का विशेष महत्त्व है। बौधायन के शब्दों में ' जो व्यक्ति सूर्योदय के समय एक सहस्र और आठ बार गायत्री का जप करता है वह ब्रह्महत्या के अतिरिक्त अन्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[2] विष्णुधर्मसूत्र इसके महत्त्व का विस्तृत उल्लेख करता है : 'परमेष्ठी प्रजापति ने तीनो वेदों से एक-एक पाद को दुहकर 'तत्' से आरम्भ होने वाले सवितृ देवता के मन्त्र को दिया है। ओंकार एवं व्याहृतियों का पहले उच्चारण करते हुए इस गायत्री मन्त्र का प्रातः एवं सायंकाल जप करने वाला ब्राह्मण वेदाध्ययन का उतना ही पुण्य प्राप्त कर लेता है जितना वस्तुतः वेदाध्ययन करने वाला। इस प्रकार गाँव के बाहर एक मास तक प्रतिदिन एक सहस्र जप करने वाला द्विजाति बड़े पापों से वैसे ही मुक्त होता है जैसे साँप केंचुल से।[3] गायत्रीजप से प्राप्त होने वाले पुण्यफल और ब्रह्मलोक की भी चर्चा की गयी है।[4]

अघमर्षणमन्त्र का जप पापशमन हेतु अद्भुत शक्ति से युक्त माना गया है। 'ऋतं स सत्यं च' से आरम्भ होने वाला छः मन्त्रों का यह सूक्त अघमर्षण ऋषि द्वारा दृष्ट है। बौधायनधर्मसूत्र में इस सूक्त का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि यह अघमर्षण सूक्त पाप को दूर करने वाला, पवित्र करने वाला, विस्तीर्ण और प्राचीन है। उस पवित्र और शुद्ध करने वाले अघमर्षण सूक्त से पवित्र होकर हम अपने शत्रुभूत

१- वि ५६।३-२६

२- बौ ४।५।३१

३- वि ५५।११-१३

४- वि ५५।१४-१६

पाप को जीतें।[१] विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में जिस प्रकार यज्ञों में श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ पाप को दूर करता है वैसे ही अघमर्षण भी पाप दूर करता है।[२] इस सूक्त की पापनाशक शक्ति के सन्दर्भ में बौधायनधर्मसूत्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- 'अघमर्षण सूक्त का विधिपूर्वक पाठ करने से सात रात्रियों में जानबूझकर और अनजान में किये गये उपपात्कों से मुक्ति हो जाती हे।[३] बारह रात्रियों में ब्रह्महत्या, गुरुपत्नीगमन, सुवर्ण की चोरी और सुरापान के अतिरिक्त अन्य सभी दुष्कर्मों के पाप दूर हो जाते हैं और इक्कीस रात्रियों तक जप करने से उपर्युक्त महापातकों से भी शुद्धि हो जाती है।[४] इसके अद्‌भुत एवं चमत्कारपूर्ण फल का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है : 'इसका विधिपूर्वक जप करने वाला सबको पार कर जाता है, सबको जीत लेता है। यज्ञ के सभी फलों को प्राप्त कर लेता है। सभी पवित्र तीर्थों में स्नान कर लेता है, सभी वेदों के अध्ययन के लिए विहित व्रत का आचरण कर लेता है। सभी देवता उसे जानने लगते हैं। वह देखने मात्र से ही ब्राह्मणों की पंक्ति को पवित्र करता है और उसके सभी कर्म सफल होते हैं।[५] बौधायनधर्मसूत्र में ही अन्यत्र कहा गया है कि 'जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर तीन बार 'ऋतं च सत्यं च' इत्यादि अघमर्षण मन्त्रों का जप करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[६]

कूष्माण्ड[७] नाम से ख्यात तैत्तिरीयसंहिता के मन्त्रों का जप भी प्रायश्चित्त में

१- विज्ञायते च। चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूताः अतिपाप्मानमरातिं तरेमेति ॥- बौ ४।२।१७

२- वि ५५।७ द्रष्टव्य शंखस्मृति १२।१-२

३- ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते।- बौ ३।५।५

४- द्वादशरात्राद् भ्रूणहननं गुरुतल्पगमनं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानमिति च वर्जयित्वा। एकविंशति-रात्रात्तान्यपि तरति तान्यपि जयति।- बौ ३।५।६-६

५- बौ ३।५।८

६- बौ ४।४।२

७- तैत्तिरीयशाखा के स्वाध्यायब्राह्मण में उल्लिखित 'यद्देवा देवहेळनम्' 'यददीव्यनृणाम्' 'आयुष्टे विश्वतोऽवधत्' तीन अनुवाकों को 'कूष्माण्डानि' कहकर उल्लिखित किया जाता है। उसी के अन्तर्गत आच्छिद्र नाम के प्रश्न में आयी हुई 'यद्‌देवा देवहेळनम्' आदि अनुवाक की ऋचाओं को कूष्माण्डी ऋचाएँ कहते हैं।- द्र० गौ ३।१।१२ पर हरदत्त का भाष्य।

प्रशंसित है। कूष्माण्ड मन्त्रों के उच्चारण के साथ हवन पाप को नष्ट करता है।[१] एक उद्धरण में यह कहा गया है कि भ्रूणहत्या की अपेक्षा कम घोर पापों से मुक्ति के लिए कूष्माण्डमन्त्र समर्थ है।[२] इन मन्त्रों से हवन करने पर यजमान पवित्र होकर देवलोक प्राप्त करता है।[३] इसी प्रकार अभक्ष्य अन्न का भक्षण करने पर अथवा ऐसे व्यक्तियों के अन्न का भक्षण करने पर जिनका अन्न वर्जित है, तरत्समन्दीय ऋचाओं के उच्चारण से शुद्धि होती है।[४] निषिद्ध कर्मों के बार-बार आचरण करने पर वारुणी मन्त्रों का[५] अभक्ष्यभक्षण, अपेयपान, शूद्रा स्त्री से मैथुनरत होने पर, या अस्वाभाविक वीर्यपात जैसे दोषों से युक्त होने पर अब्लिङ्ग एवं वारुणी मन्त्रों का जप विहित है।[६] बौधायन के अनुसार 'आयं गौः पृश्निरक्रमी' आदि मन्त्रों अथवा 'द्रूपदादिवेन्मुमुचानः' मन्त्रों का जल में खड़ा होकर तीन बार जप करने से सभी पाप दूर हो जाते हैं।[७] इसी प्रकार का फल 'हंसश्शुचिपदित्' आदि मन्त्रों के भी तीन बार पाठ करने से सिद्ध होता है।[८] सावित्री मन्त्र, व्याहृतियों एवं प्रणव के विषय में भी ऐसा ही कहा गया है।[९] अन्यत्र बौधायन का कथन है कि मधुच्छन्दा ऋषि द्वारा दृष्ट शाकलसंहिता के आरम्भिक दस सूक्तों तथा सात व्याहृतियों के जप करने चाहिए। ये सभी पाप का विनाश करने वाले हैं।[१०] विष्णुधर्मसूत्र में पुरुषसूक्त का जप एवं होम गुरुतल्पगमन के घोर पाप से शुद्धि प्रदान करने वाला बताया गया है।[११] इस प्रकार अनेक मन्त्रों के जप का विधान धर्मसूत्रों ने प्रायश्चित्त के प्रसंग में किया है।

१- बौ ३।७।१
२- बौ ३।७।३
३- बौ ३।७।१६
४- बौ ४।२।५, द्र० ऋग्वेद ७।१।१५
५- बौ ४।२।६
६- बौ ४।२।१३
७- बौ ४।४।३-४, द्र० तैत्तिरीयसंहिता १।५।३
८- बौ ४।४।५, तैत्तिरीयसंहिता ४।२।१
९- बौ ४।४।६-८
१०- समाधुच्छन्दसो रुद्रा गायत्री प्रणवान्विता।
सप्तव्याहृतयश्चैव जाप्याः पापविनाशनाः ॥- बौ ४।६।१
११- वि ५५।६

पापशमन हेतु दान

प्रायश्चित्त के रूप में विविध वस्तुओं के दान का विधान भी सभी धर्मसूत्रों में किया गया है। किन्तु दान में दाता और दान लेने वाले के विषय में भी सम्यक् रूप से विचार किया गया है। दान का पात्र श्रोत्रिय या विद्वान् ब्राह्मण ही श्रेष्ठ माना गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार 'देवों और पितरों के लिए जो कुछ भी अर्पित किया जाता है उसे विद्वान् ब्राह्मण को देना चाहिए। अश्रोत्रिय को दिया गया दान देवों और पितरों के निकट नहीं पहुँचता।[१] यदि कोई मूर्ख ब्राह्मण अपने घर में उपस्थित हो और वेद का विद्वान् दूर भी हो तब भी विद्वान् ब्राह्मण ही दान देने योग्य होता है। मूर्ख ब्राह्मण को दान न देने से पाप नहीं लगता।[२] प्रतिदिन वेद का पारायण करने वाला, उच्चकुलोत्पन्न, रागहीन, तीन अग्नियों में निरन्तर हवन एवं यज्ञ करने वाला, पापभीरु, ज्ञानसम्पन्न, परिवार की स्त्रियों को प्रिय, धर्मात्मा, गायों का रक्षक एवं तप से कृश बना हुआ ब्राह्मण दान का श्रेष्ठ पात्र माना गया है।[३] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार वेद के मुख्य अंशों के अध्येता को दिया गया दान सहस्र गुना अधिक फलदायी होता है और वेद के पारंगत ब्राह्मण को दिया गया दान अक्षय फल उत्पन्न करता है।[४] इसके विपरीत इसी धर्मसूत्र में यह भी कहा गया है कि अब्राह्मण को जो वस्तु दी जाती है वह ब्राह्मण को दी गयी वस्तु के समान ही पारलौकिक फल प्रदान करती है और जो व्यक्ति उपनयन होने से ही स्वयं को ब्राह्मण कहता है, किन्तु जो दैनिक धर्मकार्य नहीं करता उसे दिया गया दान दूना फल उत्पन्न करता है।[५]

दान न लेने की प्रशंसा करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि जो दान का अधिकारी होते हुए भी दान नहीं लेता है वह दाताओं के लोक को प्राप्त करता है।[६] जो

१- व ३।८

२- यस्य चैकगृहे मूर्खो दूरे वापि बहुश्रुतः।
बहुश्रुताय दातव्यं नास्ति मूर्खे व्यतिक्रमः ॥- व ३।९

३- स्वाध्यायोत्थं योनिमन्तं प्रशान्तं वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम्।
स्त्रीषु क्षान्तं धार्मिकं गोशरण्यं व्रतैः क्लान्तं तादृशं पात्रमाहुः ॥- व ६।१०

४- वि ९३।३-४

५- वि ९३।१-२

६- वि ५७।९

व्यक्ति दान लेने की विधि को न जानकर दान लेता है वह दाता के साथ नरक में डूबता है।[१] दाता का विचार करते हुए धर्मसूत्र व्यभिचारिणी, नपुंसक एवं पतित से दानग्रहण वर्जित करते हैं।[२] कुछ स्थितियों में दाता का विचार गौण माना गया है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार 'अपने गुरुजनों, भृत्यों आदि अधीन रहने वाले स्वजनों को देने के लिए अथवा पितृ एवं देवगण की पूजा के लिए किसी से भी दान ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु उससे स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करना चाहिए।[३] इसी प्रकार का नियम वसिष्ठधर्मसूत्र में भी उद्धरण के रूप में दिया गया है।[४] सभी प्रकार के दान में श्रद्धा का महत्त्व है। श्रद्धा के अभाव में दान का कोई फल नहीं होता, अतएव बौधायन की उक्ति है कि श्रद्धाहीन मूर्ख व्यक्ति यज्ञ करके या दान देकर भी स्वर्ग प्राप्त नहीं करता।[५]

दान देने योग्य वस्तुओं के अन्तर्गत धर्मसूत्रों ने सुवर्ण, गौ, वस्त्र, अश्व, भूमि, तिल, घृत और अन्न का उल्लेख किया है।[६] धर्मपूर्वक उपार्जित धन का दान भी दीर्घकाल तक सन्तुष्टि देने वाला माना गया है।[७] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार अश्वदान से सूर्यलोक, वस्त्रदान से चन्द्रलोक तथा स्वर्णदान से अग्निलोक की प्राप्ति होती है।[८] प्रिय वस्तु के दान को प्रोत्साहित करते हुए कहा गया है कि मनुष्य इस लोक में स्वयं जो कुछ सर्वाधिक चाहता है तथा उसके घर के लोग जिसे सर्वाधिक चाहें उसे यदि अक्षय रूप में प्राप्त करना हो तो उसे गुणवान् ब्राह्मण को दान करे।[९]

प्रायश्चित्त के रूप में गौ के दान का उल्लेख करते हुए बौधायन ने कहा है कि 'पातक के अतिरिक्त कोई अन्यय पाप कर्म करने पर प्रायश्चित्त के रूप में वेद के

१- वि ५७।८
२- वि ५७।१४
३- वि ५७।१३
४- वि १४।१३
५- इष्ट्वा दत्त्वापि वा मूर्खः स्वर्गं न हि स गच्छति।- बौ १।१७।७
६- हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला घृतमन्नमिति देयानि।-बौ ३।१०।१५
७- तथा धर्माहृतेन द्रव्येण तीर्थे प्रतिपन्नेन।- आप २।१६।२४
८- वि ९२।११-१३
९- यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्ति दयितं गृहे।
तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षय्यमिच्छता ॥- वि ९२।३२

विद्वान् ब्राह्मण को भूरे या पिंगल वर्ण की, प्रचुर रोम वाली गौ का दान करे। दान करते समय उसके ऊपर जल छिड़के और काला तिल फेंके।[1] गौ के दान की प्रशंसा करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि गाय के दान से स्वर्ग, दस गायों के दान से गोलोक तथा सौ गायों के दान से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। सोने से मढ़ी हुई सींगों वाली, चाँदीमढ़े खुर वाली, मुक्ताजटित पूँछ वाली, कांसे के उपदोह वाली, वस्त्र से ढँकी गाय का दान करने पर दाता उसके रोओं की संख्या के बराबर वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है। यदि दान में दी जाने वाली गौ कपिलवर्ण की हो तो उसका विशेष फल होता है।[2] इसी प्रकार बछड़े का प्रसव करती हुई गौ के दान को पृथ्वी के दान के समान पुण्यफलप्रद बताया गया है।[3] इस विषय में विष्णुधर्मसूत्र में एक गाथा भी उद्धृत है जिसके अनुसार ऐसी गौ का श्रद्धापूर्वक दान करने वाला गौ तथा बछड़े के शरीर के रोओं की संख्या के समान युगों तक स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।[4] इसी प्रकार कृषि कर्म योग्य बैल का दान दस गायों के दान के समान माना गया है।[5]

गौ के दान के समान ही भूमिदान से अभीष्ट स्वर्ग की प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वृषभ के चर्म के बराबर भूमि का दान करने से सभी पापों से मुक्ति हो जाती है।[6] तिल के दान से अभीष्ट सन्तान तथा आश्विन् मास में अश्विन् देवों के लिए घृत का दान करने से सौन्दर्य प्राप्त होता है।[7] अन्नदान की विशेष रूप से प्रशंसा की गयी है। इसके महत्त्व का निर्देश करते हुए बौधायन कहते हैं[8] : 'प्राणी अन्न के

१- बौ २।२।१८ २- वि ९२।५-८ ३- वि ८८। १-२

४- सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्।
दत्त्वा स्वर्गमवप्नोति श्रद्दधानः समाहितः ॥- वि ८८।४

५- दान्तं धुरन्धरं दत्त्वा दशधेनुप्रदो भवति।- वि ९२।१०

६- गोचर्ममात्रामपि भुवं प्रदाय सर्वपापेभ्यः पूतो भवति।- वि ९२।४
यत्किञ्चित्कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्षितः।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति ॥- व २९।१६

७- वि ९२।२३-२४

८- अन्ने श्रितानि भूतान्यन्नं प्राणमिति श्रुतिः।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः ॥- बौ २।६।४१

ऊपर आश्रित होते हैं और अन्न ही प्राण है ऐसा श्रुति का वचन है, अतः अन्न का दान करना चाहिए। अन्न ही श्रेष्ठ हवि है। गौतम ने भी पकाये हुए भोजन का दान पुण्यफलप्रद कहा है।[१] बौधायन ने अन्न के दान का फल सभी प्रकार के व्रताचरण की अपेक्षा भी अधिक माना है। वे कहते हैं: 'जो व्यक्ति अन्न का दान करता है, सत्यभाषण करता है तथा प्राणियों पर दया करता है वह सभी व्रतों से शुद्ध हुए सभी व्यक्तियों से बढ़कर होता है।'[२] वैशाख पूर्णिमा के दिन कृष्णमृगचर्म के दान का विशेष महत्त्व है। इसे सम्पूर्ण पृथ्वी के दान के तुल्य बताया गया है।[३] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार कृष्णमृगचर्म पर तिल, सोना, मधु और घृत रखकर ब्राह्मण को दान देने से पाप नष्ट हो जाते हैं।[४] विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति हेतु चाँदी और अन्य धातु के पात्रों, पुष्प, अनुलेप, दीप, भवन, छत्र, आसन, शय्या, जूते, ईन्धन, लवण, घृत, मधु, तेल और जल के दान का भी उल्लेख किया गया है।[५] आततायी एवं हिंसक पशुओं से किसी व्यक्ति को अभयदान अन्य सभी प्रकार के दान से श्रेष्ठ एवं अभीष्ट लोक प्रदान करने वाला माना गया है।[६] वसिष्ठधर्मसूत्र में सुवर्ण को अग्नि से उत्पन्न, पृथ्वी को विष्णु से तथा गायों को सूर्य से उत्पन्न बताकर इनके दान की महत्ता प्रतिपादित की गयी है।[७]

पतित व्यक्ति प्रायश्चित्त के अन्त में गौ का दान करता था और अपने आचार्य को भी सुवर्ण या गौ का दान देता था।[८] क्षत्रिय की हत्या के लिए छः वर्ष के ब्रह्मचर्य व्रत के अन्त में एक सहस्र गौ एवं एक साँड़, वैश्यवध के प्रायश्चित्त में सौ गायें और एक वृषभ, शूद्र तथा अनात्रेयी स्त्री के वध में दस गायें और वृषभ के दान का भी विधान

१- गौ १।५।२०

२- योऽन्नदस्सत्यवादी च भूतेषु कृपया स्थितः।
पूर्वोक्तयन्त्रशुद्धेभ्यस्सर्वेभ्यस्सोऽतिरिच्यते ॥- बौ ४।५।३२

३- वि ८७।६-६, व २८।१८-१६

४- वि ८७।१०, व २८।२२

५- विष्णुधर्मसूत्र अध्याय ६१,६२ वसिष्ठधर्मसूत्र अध्याय २६

६- सर्वदानाधिकमभयप्रदानम्। तत्प्रदानेनाभीप्सितं लोकमाप्नोति।- वि ६२।१,२

७- अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं पूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
तासामनन्तं फलमश्नुवीत यः काञ्चनं गां च महीं च दद्यात् ॥- व २८।१६

८- गौ ३।२।१३-१४

धर्मसूत्रों में किया गया है।[1] गाय की हत्या, मण्डूक, नकुल, कौवा, कृकलास, चूहा, छुछुन्दर - इन सबकी हत्या, एक सहस्त्र अस्थिहीन जीवों की हज्या में वैश्यवध के तुल्य ही एक सौ गायों का दान विहित है। नपुंसक की हत्या पर एक पुरुष के बोझ के बराबर पुआल एवं एक माष सीसे का, तथा सूअर की हत्या पर एक घड़े घृत का दान भी उल्लिखित है।[2]

देवपूजा द्वारा पापनाश

विशेषतः विष्णुधर्मसूत्र में देवों की पूजा का भी प्रायश्चित्त के रूप में विधान किया गया है। विष्णु की दैनिक पूजा हेतु इस धर्मसूत्र के अध्याय ६५ में विस्तृत विधि और मन्त्रों का उल्लेख है। अन्ययत्र भी पापों से शुद्धि के लिए विष्णुपूजा विहित है। यथा, मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष में ११ दिन का व्रत कर बारहवें दिन वासुदेव की पुष्प, चन्दन, घूप, दीप, नैवेद्य से पूजा एवं ब्राह्मणभोजन का निर्देश कर कहा गया है कि मार्गशीर्ष से कार्तिक तक प्रत्येक मास इस पूजन को सम्पन्न करने पर एक वर्ष में सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और आजीवन पूजन से मृत्यु के बाद श्वेत द्वीप की प्राप्ति होती है। एक वर्ष तक दोनो पक्षों की द्वादशी को यह पूजन करने पर स्वर्ग प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पक्ष में १४ दिन उपवास कर पन्द्रहवें दिन यह पूजन करने पर विष्णुलोक प्राप्त होता है।[3] वैशाख मास की तृतीया तथा कार्तिक की कृष्णद्वादशी को भी वासुदेवपूजन पाप से मुक्तिदायक बताया गया है और कहा गया है कि इन तिथियों पर जो वस्तु दान दी जाती है वह अक्षय होती है।[4] इसी धर्मसूत्र में विष्णु की पूजा के विषय में निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : 'पौष की पूरिगमा को चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर भगवान् वासुदेव की पूजा करने से पुष्टि प्राप्त होती है।'[5] माघी पूर्णिमा के बाद कृष्णद्वादशी को व्रत तथा वासुदेव की मूर्ति की धूप, दीप एवं नैवेद्य से पूजा करने वाला चाहें जिस प्रदेश, राज्य या स्थान तें जन्म लेगा वहाँ अपिरिमित सुख प्राप्त करेगा।[6]

१- गौ ३।४।१४-१७, आप १।२४।१-३

२- गौ ३।४।१८-२५

३- वि ४६।१-६

४- वि ९०।१७-१८

५- वि ९०।३-५

६- वि ९०।२०-२३

विष्णुपूजा के अतिरिक्त रेवती देवता तथा धर्मराज की पूजा के भी विशेष फल उक्त हैं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार 'रेवती देवता को प्रसन्न करने के लिए प्रतिमास में रेवती दिन को तीन ब्राह्मणों को मधु, घृतयुक्त खीर खिलाने वाला सौन्दर्य प्राप्त करता है।'[१] माघ के दोनो पक्षों की चतुर्दशी को नदी में स्नान कर धर्मराज की पूजा करने वाला प्रत्येक पाप से मुक्त हो जाता है।[२] पापों से मुक्ति के लिए वरुण की पूजा का उल्लेख शंख ने भी किया है।[३] देवमूर्ति की परिचर्या के भी विशिष्ट फल बताये गये हैं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार देवमूर्ति के पुष्पों को हटाने पर गोदान का फल मिलता है, मन्दिर को झाड़ने एवं लीपने से भी यही फल प्राप्त होता है।[४] 'देवता का मन्दिर बनवाने वाला जिस देवता का मन्दिर बनवाता है उसी का लोक प्राप्त करता है। दूसरे द्वारा बनवाये गये मन्दिर की सफेदी कराने वाला यश पाता है और उसकी रंगाई कराने वाला गन्धर्वलोक का अधिकारी होता है।[५]

विष्णुधर्मसूत्र में ऐसे परोपकार के कार्यों का भी निर्देश किया गया है, जिनसे पाप का विनाश होता है और उत्तम फल प्राप्त होते हैं। कूप खुदवाने के कार्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि 'कूप खुदवाने वाले का आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है जब पानी निकल आता है।'[६] कूप, आराम, तडाग, मन्दिर आदि का जीर्णोद्धार करने वाला भी उतना ही फल प्राप्त करता है जितना इनको बनवाने वाला।[७] इसी प्रकार तडाग का निर्माण कराने वाले के लिए यह फल बताया गया है कि वह नित्य तृप्त रहता है और वरुण का लोक प्राप्त करता है।[८] सेतु बनवाने वाले को स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।[९]

इस प्रकार प्रायश्चित्त के रूप में धर्मसूत्रों ने उन सभी प्रकार के कर्मों का विधान कर दिया है जो लोक में प्रशंसित हैं और परलोक में भी उत्तम फल देने वाले

१- वि ९०।२६ २- वि ९०।२८

३- शंख ९।३ ४- वि ९१।१७

५- वि ९१।१०-१२

६- अथ कूपकर्तुस्तत्प्रवृत्ते पानीये दुष्कृतस्यार्धं विनश्यति।- वि ९१।१

७- वि ९१।१६ ८- वि ९१।२

९- वि ९१।९ सेतुकृत्स्वर्गमाप्नोति ।

माने गये हैं। वैदिक मन्त्रों के जप एवं होमकर्म पारलौकिक फल हेतु ही विहित किये गये थे। तप की कठोरता का लक्ष्य मानसिक एवं शारीरिक शुद्धि ही प्रतीत होता है। प्रायश्चित्त का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष स्पष्ट है। इसमें पाप को स्वीकार कर उससे विरत रहने का संकल्प एवं उसके स्थान पर श्रेष्ठ धर्माचरण की प्रवृत्ति का विकास प्रायश्चित्त के स्वाभाविक परिणाम होते हैं। धर्मसूत्रों ने व्यक्ति की सहज दुर्बलता को माना है और यह व्यवस्था दी है कि व्यक्ति के लिए अपना सुधार करने और सन्मार्ग पर चलने का अवसर सदैव उपलब्ध रहे। अपराध या पापकर्म की प्रवृत्ति पर निरन्तर अंकुश लगा रहे और उसका सतत उन्मूलन होता रहे, यही धर्मसूत्रों के प्रायश्चित्त-विधान का महान् नैतिक उद्देश्य है।

अध्याय १०

धर्मसूत्रों में नैतिक मूल्यों का विकास एवं साधारणधर्म

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म के विविध पक्षों पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि धर्मसूत्रकारों की दृष्टि में नैतिक मूल्य ही धर्म के पर्यायवाची हैं। पिछले अध्यायों में हमने धर्मसूत्रों की नीतिपरक अवधारणा पर विभिन्न प्रसंगों में प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आश्रमधर्म, वर्णधर्म या गुणधर्म के सन्दर्भ में धर्मसूत्रों ने जिन विस्तृत नियमों का निर्देश किया है उनका प्रमुख लक्ष्य नैतिक मूल्यों की स्थापना ही है। धर्मसूत्रों में नैतिक मूल्यों का जिस प्रकार विकास दिखायी पड़ता है वह भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। विशेषतः, यौनसम्बन्ध, दण्डव्यवस्था, पाप एवं प्रायश्चित्त-विधान के प्रसंग में धर्मसूत्रों की नैतिकता-विषयक अवधारणा का विशिष्ट स्वरूप ध्यातव्य है। यद्यपि नैतिक मूल्य धर्मसूत्रों के लिए नवीन नहीं हैं, वरन् परम्परा से ही प्राप्त हें, तथापि उन्होंने उसे व्यक्ति, व्यक्तिसमूह या परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में परखने का भी प्रयत्न किया है।

सामान्यतः धर्म मनुष्य का दैवी शक्तियों से संबन्ध एवं उसके आध्यात्मिक जीवन का विवेचन करता है, जबकि नैतिकता मनुष्य और उसके पड़ोसी, किंवा समाज से सम्बन्धों को ग्रहण करती है। धर्म और नैतिकता के क्षेत्र धर्मसूत्रों में परस्पर इतने मिल गये हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। प्रो० सुशीलकुमार मैत्र ने अपने

विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'दि इथिक्स आफ द हिन्दूज़' के आरम्भ में हिन्दू आचारशास्त्र का आधार आध्यात्मिक जीवन के तीन स्तरों को माना है। ये स्तर हैं- सामाजिकता, व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता तथा पूर्ण एवं पारलौकिक जीवन। उनके अनुसार हिन्दू आचारशास्त्र, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आचारशास्त्र है और इसकी परिणति ब्रह्म या परमतत्त्व की दार्शनिक विचारधारा में होती है जो आध्यात्मिक जीवन का चरमोत्कर्ष है।[१] वर्ण और आश्रम से संबद्ध धर्म सामाजिक आचारशास्त्र के अन्तर्गत आता है और ये धर्म व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं योग्यता के अनुरूप किये जाने वाले कर्त्तव्य हैं। इनके अतिरिक्त 'साधारणधर्म' भी हिन्दू आचारशास्त्र में विवेचित हैं जो सभी मनुष्यों द्वारा आचरणीय होते हैं और वर्ण या आश्रम के भेद से प्रभावित नहीं होते। इस प्रकार धर्मसूत्रों में विवेचित वर्णाश्रमधर्म भी मनुष्य के सामाजिक एवं व्यक्तिगत कर्त्तव्यों को तथा साधारणधर्म शाश्वत नैतिक मूल्यों को ही प्रतिपादित करता है। वर्ण या आश्रम के जो कर्त्तव्य उपदिष्ट हैं वे नैमित्तिक या काम्य न होकर नित्य ही हैं। यथा एक ब्राह्मण के लिए अपने वर्णधर्म का और एक ब्रह्मचारी के लिए अपने आश्रमधर्म का पालन नित्य कर्त्तव्य है। हाँ, इन कर्त्तव्यों में सापेक्षता है। ब्राह्मण के विशिष्ट कर्तव्य दूसरे वर्ण के लिए विहित न होने से दूसरे वर्णों के लिए प्रमाण नहीं होते और इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के विशिष्ट कर्त्तव्य दूसरे आश्रमों के लिए प्रमाण नहीं होते। साधारण धर्म सभी मनुष्यों के लिए नित्य आचरणीय कर्त्तव्य हैं, चाहे वे मनुष्य किसी भी वर्ण या आश्रम के क्यों न हों।

प्रो० मैत्र ने साधारणधर्म एवं वर्णाश्रमधर्मों के समुच्चय को वस्तुनिष्ठ या विषयपरक नैतिकता (आब्जेक्टिव मॉरेलिटी) के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु इस प्रकार की नैतिकता ही पर्याप्त नहीं होती। वस्तुनिष्ठ नैतिकता व्यक्ति के लिए आत्मसंयम में सहायक होती है। उसके अनन्तर व्यक्तिनिष्ठ या विषयिपरक पवित्रता का, आन्तरिक उत्कर्ष का लक्ष्य होता है। यही हिन्दू नीतिशास्त्र की व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता

१- "The Ethics of the Hindus is based on a three-fold scheme of the spiritual life comprising the stages of sociality, subjective morality and the life absolute and transcendental. Hindu Ethics is thus social ethics and psychological ethics and culminates in the philosophy of the Absolute which is the consummation of the spiritual life."
- D.K.Maitra, *The Ethics of the Hindus*, p. 1

है।[1] व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता के स्तर पर व्यक्ति लोभ, मोह आदि पर पूर्णतः विजय प्राप्त कर लेता है और चित्तशुद्धि की वह अवस्था प्राप्त कर लेता है, जब उसका मन सन्तुलित, निष्पक्ष तथा लौकिक एवं पारलौकिक सुखों के भोग से विरक्त हो जाता है। इसी मानसिक अवस्था में वह परस्पर प्रतिद्वन्द्वी संवेगों में सदसद्विवेक की एवं नैतिक मूल्यों का सम्यक् निर्धारण करने की क्षमता से युक्त होता है। हमारे विचार से धर्मसूत्रों ने इसी मानसिक अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को 'शिष्ट' कहा है और उसके आचरण को प्रमाण माना है।[2]

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विशेषतः नीतिशास्त्र पर किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हुआ। धर्मसूत्रों को ही हम प्राचीनतम नीतिशास्त्रीय ग्रन्थ मान सकते हैं। हमारे प्राचीन चिन्तकों ने नैतिकता को धर्म या विधि से अलग नहीं लिया, अपितु मानव के समग्र आचरण पर विचार किया और उसके अपने प्रति, दूसरे मानव के प्रति, अन्य निम्नतर प्राणियों के प्रति एवं ईश्वर के प्रति सम्बन्धों की दृष्टि से सम्पूर्ण जीवन की आचारसंहिता का विवेचन किया। धर्मसूत्रों में आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त के जो विवेचन किये गये हैं वे बाह्यतः नैतिकता से संबद्ध नहीं प्रतीत होते, किन्तु नैतिकता की अवधारणा इन नियमों में सर्वत्र विद्यमान है। प्रायश्चित्त के जो विधान पहली दृष्टि में जप एवं तपस्या के कर्मकाण्ड या अनुष्ठान मात्र प्रतीत होते हैं, वे दुष्कर्म से विरत करने एवं सत्कर्म की प्रेरणा देने के महान् नैतिक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। आचार के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है और व्यवहार या गुणधर्म के अन्तर्गत अपराध, दण्ड एवं न्याय का प्रतिपादन सामाजिक नैतिकता का पक्ष ही प्रकाशित करता है।

१- But objective morality is not sufficient by itself and it is necessary that the individual after a period of discipline in objective co-operation and self-restraint, should look inwards into himself and aim at subjective purity and inner excellence of the will."

Ethics of the Hinus, p. 3

२- तृतीयः शिष्टागमः। शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभक्रोधविवर्जिताः।- बौ १।१।३,५

शिष्टः पुनरकामात्मा।- व १।६

विद्वान् ब्राह्मण को भूरे या पिंगल वर्ण की, प्रचुर रोम वाली गौ का दान करे। दान करते समय उसके ऊपर जल छिड़के और काला तिल फेंके।[१] गौ के दान की प्रशंसा करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि गाय के दान से स्वर्ग, दस गायों के दान से गोलोक तथा सौ गायों के दान से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। सोने से मढ़ी हुई सींगों वाली, चाँदीमढ़े खुर वाली, मुक्ताजटित पूँछ वाली, कांसे के उपदोह वाली, वस्त्र से ढँकी गाय का दान करने पर दाता उसके रोओं की संख्या के बराबर वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है। यदि दान में दी जाने वाली गौ कपिलवर्ण की हो तो उसका विशेष फल होता है।[२] इसी प्रकार बछड़े का प्रसव करती हुई गौ के दान को पृथ्वी के दान के समान पुण्यफलप्रद बताया गया है।[३] इस विषय में विष्णुधर्मसूत्र में एक गाथा भी उद्धृत है जिसके अनुसार ऐसी गौ का श्रद्धापूर्वक दान करने वाला गौ तथा बछड़े के शरीर के रोओं की संख्या के समान युगों तक स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।[४] इसी प्रकार कृषि कर्म योग्य बैल का दान दस गायों के दान के समान माना गया है।[५]

गौ के दान के समान ही भूमिदान से अभीष्ट स्वर्ग की प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वृषभ के चर्म के बराबर भूमि का दान करने से सभी पापों से मुक्ति हो जाती है।[६] तिल के दान से अभीष्ट सन्तान तथा आश्विन् मास में अश्विन् देवों के लिए घृत का दान करने से सौन्दर्य प्राप्त होता है।[७] अन्नदान की विशेष रूप से प्रशंसा की गयी है। इसके महत्त्व का निर्देश करते हुए बौधायन कहते हैं[८] : 'प्राणी अन्न के

१- बौ २।२।१८ २- वि ९२।५-८ ३- वि ८८। १-२

४- सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्।
दत्त्वा स्वर्गमवप्नोति श्रद्दधानः समाहितः ॥- वि ८८।४

५- दान्तं धुरन्धरं दत्त्वा दशधेनुप्रदो भवति।- वि ९२।१०

६- गोचर्ममात्रामपि भुवं प्रदाय सर्वपापेभ्यः पूतो भवति।- वि ९२।४
यत्किञ्चित्कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्षितः।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति ॥- व २९।१६

७- वि ९२।२३-२४.

८- अन्ने श्रितानि भूतान्यन्नं प्राणमिति श्रुतिः।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः ॥- बौ २।६।४१

ऊपर आश्रित होते हैं और अन्न ही प्राण है ऐसा श्रुति का वचन है, अतः अन्न का दान करना चाहिए। अन्न ही श्रेष्ठ हवि है। गौतम ने भी पकाये हुए भोजन का दान पुण्यफलप्रद कहा है।[१] बौधायन ने अन्न के दान का फल सभी प्रकार के व्रताचरण की अपेक्षा भी अधिक माना है। वे कहते हैं: 'जो व्यक्ति अन्न का दान करता है, सत्यभाषण करता है तथा प्राणियों पर दया करता है वह सभी व्रतों से शुद्ध हुए सभी व्यक्तियों से बढ़कर होता है।'[२] वैशाख पूर्णिमा के दिन कृष्णमृगचर्म के दान का विशेष महत्त्व है। इसे सम्पूर्ण पृथ्वी के दान के तुल्य बताया गया है।[३] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार कृष्णमृगचर्म पर तिल, सोना, मधु और घृत रखकर ब्राह्मण को दान देने से पाप नष्ट हो जाते हैं।[४] विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति हेतु चाँदी और अन्य धातु के पात्रों, पुष्प, अनुलेप, दीप, भवन, छत्र, आसन, शय्या, जूते, ईन्धन, लवण, घृत, मधु, तेल और जल के दान का भी उल्लेख किया गया है।[५] आततायी एवं हिंसक पशुओं से किसी व्यक्ति को अभयदान अन्य सभी प्रकार के दान से श्रेष्ठ एवं अभीष्ट लोक प्रदान करने वाला माना गया है।[६] वसिष्ठधर्मसूत्र में सुवर्ण को अग्नि से उत्पन्न, पृथ्वी को विष्णु से तथा गायों को सूर्य से उत्पन्न बताकर इनके दान की महत्ता प्रतिपादित की गयी है।[७]

पतित व्यक्ति प्रायश्चित्त के अन्त में गौ का दान करता था और अपने आचार्य को भी सुवर्ण या गौ का दान देता था।[८] क्षत्रिय की हत्या के लिए छः वर्ष के ब्रह्मचर्य व्रत के अन्त में एक सहस्र गौ एवं एक साँड़, वैश्यवध के प्रायश्चित्त में सौ गायें और एक वृषभ, शूद्र तथा अनात्रेयी स्त्री के वध में दस गायें और वृषभ के दान का भी विधान

१- गौ १।५।२०

२- योऽन्नदस्सत्यवादी च भूतेषु कृपया स्थितः।
पूर्वोक्तयन्त्रशुद्धेभ्यस्सर्वेभ्यस्सोऽतिरिच्यते ॥- बौ ४।५।३२

३- वि ८७।६-६, व २८।१८-१६

४- वि ८७।१०, व २८।२२

५- विष्णुधर्मसूत्र अध्याय ६१,६२ वसिष्ठधर्मसूत्र अध्याय २६

६- सर्वदानाधिकमभयप्रदानम्। तत्प्रदानेनाभीप्सितं लोकमाप्नोति।- वि ६२।१,२

७- अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं पूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
तासामनन्तं फलमश्नुवीत यः काञ्चनं गां च महीं च दद्यात् ॥- व २८।१६

८- गौ ३।२।१३-१४

धर्मसूत्रों में किया गया है।[1] गाय की हत्या, मण्डूक, नकुल, कौवा, कृकलास, -चूहा, छुछुन्दर - इन सबकी हत्या, एक सहस्र अस्थिहीन जीवों की हज्या में वैश्यवध के तुल्य ही एक सौ गायों का दान विहित है। नपुंसक की हत्या पर एक पुरुष के बोझ के बराबर पुआल एवं एक माष सीसे का, तथा सूअर की हत्या पर एक घड़े घृत का दान भी उल्लिखित है।[2]

देवपूजा द्वारा पापनाश

विशेषतः विष्णुधर्मसूत्र में देवों की पूजा का भी प्रायश्चित्त के रूप में विधान किया गया है। विष्णु की दैनिक पूजा हेतु इस धर्मसूत्र के अध्याय ६५ में विस्तृत विधि और मन्त्रों का उल्लेख है। अन्ययत्र भी पापों से शुद्धि के लिए विष्णुपूजा विहित है। यथा, मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष में ११ दिन का व्रत कर बारहवें दिन वासुदेव की पुष्प, चन्दन, घूप, दीप, नैवेद्य से पूजा एवं ब्राह्मणभोजन का निर्देश कर कहा गया है कि मार्गशीर्ष से कार्तिक तक प्रत्येक मास इस पूजन को सम्पन्न करने पर एक वर्ष में सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और आजीवन पूजन से मृत्यु के बाद श्वेत द्वीप की प्राप्ति होती है। एक वर्ष तक दोनो पक्षों की द्वादशी को यह पूजन करने पर स्वर्ग प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पक्ष में १४ दिन उपवास कर पन्द्रहवें दिन यह पूजन करने पर विष्णुलोक प्राप्त होता है।[3] वैशाख मास की तृतीया तथा कार्तिक की कृष्णद्वादशी को भी वासुदेवपूजन पाप से मुक्तिदायक बताया गया है और कहा गया है कि इन तिथियों पर जो वस्तु दान दी जाती है वह अक्षय होती है।[4] इसी धर्मसूत्र में विष्णु की पूजा के विषय में निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : 'पौष की पूर्णिमा को चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर भगवान् वासुदेव की पूजा करने से पुष्टि प्राप्त होती है।'[5] माघी पूर्णिमा के बाद कृष्णद्वादशी को व्रत तथा वासुदेव की मूर्ति की धूप, दीप एवं नैवेद्य से पूजा करने वाला चाहें जिस प्रदेश, राज्य या स्थान तें जन्म लेगा वहाँ अपिरिमित सुख प्राप्त करेगा।[6]

१- गौ ३।४।१४-१७, आप १।२४।१-३
२- गौ ३।४।१८-२५
३- वि ४६।१-६
४- वि ६०।१७-१८
५- वि ६०।३-५
६- वि ६०।२०-२३

विष्णुपूजा के अतिरिक्त रेवती देवता तथा धर्मराज की पूजा के भी विशेष फल उक्त हैं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार 'रेवती देवता को प्रसन्न करने के लिए प्रतिमास में रेवती दिन को तीन ब्राह्मणों को मधु, घृतयुक्त खीर खिलाने वाला सौन्दर्य प्राप्त करता है।'[१] माघ के दोनो पक्षों की चतुर्दशी को नदी में स्नान कर धर्मराज की पूजा करने वाला प्रत्येक पाप से मुक्त हो जाता है।[२] पापों से मुक्ति के लिए वरुण की पूजा का उल्लेख शंख ने भी किया है।[३] देवमूर्ति की परिचर्या के भी विशिष्ट फल बताये गये हैं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार देवमूर्ति के पुष्पों को हटाने पर गोदान का फल मिलता है, मन्दिर को झाड़ने एवं लीपने से भी यही फल प्राप्त होता है।[४] 'देवता का मन्दिर बनवाने वाला जिस देवता का मन्दिर बनवाता है उसी का लोक प्राप्त करता है। दूसरे द्वारा बनवाये गये मन्दिर की सफेदी कराने वाला यश पाता है और उसकी रंगाई कराने वाला गन्धर्वलोक का अधिकारी होता है।[५]

विष्णुधर्मसूत्र में ऐसे परोपकार के कार्यों का भी निर्देश किया गया है, जिनसे पाप का विनाश होता है और उत्तम फल प्राप्त होते हैं। कूप खुदवाने के कार्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि 'कूप खुदवाने वाले का आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है जब पानी निकल आता है।'[६] कूप, आराम, तडाग, मन्दिर आदि का जीर्णोद्धार करने वाला भी उतना ही फल प्राप्त करता है जितना इनको बनवाने वाला।[७] इसी प्रकार तडाग का निर्माण कराने वाले के लिए यह फल बताया गया है कि वह नित्य तृप्त रहता है और वरुण का लोक प्राप्त करता है।[८] सेतु बनवाने वाले को स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।[९]

इस प्रकार प्रायश्चित्त के रूप में धर्मसूत्रों ने उन सभी प्रकार के कर्मों का विधान कर दिया है जो लोक में प्रशंसित हैं और परलोक में भी उत्तम फल देने वाले

१- वि ९०।२६
२- वि ९०।२८
३- शंख ९।३
४- वि ९१।१७
५- वि ९१।१०-१२
६- अथ कूपकर्तुस्तत्प्रवृत्ते पानीये दुष्कृतस्यार्धं विनश्यति।- वि ९१।१
७- वि ९१।१९
८- वि ९१।२
९- वि ९१।९ सेतुकृत्स्वर्गमाप्नोति ।

माने गये हैं। वैदिक मन्त्रों के जप एवं होमकर्म पारलौकिक फल हेतु ही विहित किये गये थे। तप की कठोरता का लक्ष्य मानसिक एवं शारीरिक शुद्धि ही प्रतीत होता है। प्रायश्चित्त का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष स्पष्ट है। इसमें पाप को स्वीकार कर उससे विरत रहने का संकल्प एवं उसके स्थान पर श्रेष्ठ धर्माचरण की प्रवृत्ति का विकास प्रायश्चित्त के स्वाभाविक परिणाम होते हैं। धर्मसूत्रों ने व्यक्ति की सहज दुर्बलता को माना है और यह व्यवस्था दी है कि व्यक्ति के लिए अपना सुधार करने और सन्मार्ग पर चलने का अवसर सदैव उपलब्ध रहे। अपराध या पापकर्म की प्रवृत्ति पर निरन्तर अंकुश लगा रहे और उसका सतत उन्मूलन होता रहे, यही धर्मसूत्रों के प्रायश्चित्त-विधान का महान् नैतिक उद्देश्य है।

अध्याय १०

धर्मसूत्रों में नैतिक मूल्यों का विकास एवं साधारणधर्म

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म के विविध पक्षों पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि धर्मसूत्रकारों की दृष्टि में नैतिक मूल्य ही धर्म के पर्यायवाची हैं। पिछले अध्यायों में हमने धर्मसूत्रों की नीतिपरक अवधारणा पर विभिन्न प्रसंगों में प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आश्रमधर्म, वर्णधर्म या गुणधर्म के सन्दर्भ में धर्मसूत्रों ने जिन विस्तृत नियमों का निर्देश किया है उनका प्रमुख लक्ष्य नैतिक मूल्यों की स्थापना ही है। धर्मसूत्रों में नैतिक मूल्यों का जिस प्रकार विकास दिखायी पड़ता है वह भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। विशेषतः, यौनसम्बन्ध, दण्डव्यवस्था, पाप एवं प्रायश्चित्त-विधान के प्रसंग में धर्मसूत्रों की नैतिकता-विषयक अवधारणा का विशिष्ट स्वरूप ध्यातव्य है। यद्यपि नैतिक मूल्य धर्मसूत्रों के लिए नवीन नहीं हैं, वरन् परम्परा से ही प्राप्त हैं, तथापि उन्होंने उसे व्यक्ति, व्यक्तिसमूह या परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में परखने का भी प्रयत्न किया है।

सामान्यतः धर्म मनुष्य का दैवी शक्तियों से संबन्ध एवं उसके आध्यात्मिक जीवन का विवेचन करता है, जबकि नैतिकता मनुष्य और उसके पड़ोसी, किंवा समाज से सम्बन्धों को ग्रहण करती है। धर्म और नैतिकता के क्षेत्र धर्मसूत्रों में परस्पर इतने मिल गये हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। प्रो० सुशीलकुमार मैत्र ने अपने

विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'दि इथिक्स आफ द हिन्दूज़' के आरम्भ में हिन्दू आचारशास्त्र का आधार आध्यात्मिक जीवन के तीन स्तरों को माना है। ये स्तर हैं- सामाजिकता, व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता तथा पूर्ण एवं पारलौकिक जीवन। उनके अनुसार हिन्दू आचारशास्त्र, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आचारशास्त्र है और इसकी परिणति ब्रह्म या परमतत्त्व की दार्शनिक विचारधारा में होती है जो आध्यात्मिक जीवन का चरमोत्कर्ष है।[१] वर्ण और आश्रम से संबद्ध धर्म सामाजिक आचारशास्त्र के अन्तर्गत आता है और ये धर्म व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं योग्यता के अनुरूप किये जाने वाले कर्त्तव्य हैं। इनके अतिरिक्त 'साधारणधर्म' भी हिन्दू आचारशास्त्र में विवेचित हैं जो सभी मनुष्यों द्वारा आचरणीय होते हैं और वर्ण या आश्रम के भेद से प्रभावित नहीं होते। इस प्रकार धर्मसूत्रों में विवेचित वर्णाश्रमधर्म भी मनुष्य के सामाजिक एवं व्यक्तिगत कर्त्तव्यों को तथा साधारणधर्म शाश्वत नैतिक मूल्यों को ही प्रतिपादित करता है। वर्ण या आश्रम के जो कर्त्तव्य उपदिष्ट हैं वे नैमित्तिक या काम्य न होकर नित्य ही हैं। यथा एक ब्राह्मण के लिए अपने वर्णधर्म का और एक ब्रह्मचारी के लिए अपने आश्रमधर्म का पालन नित्य कर्त्तव्य है। हाँ, इन कर्त्तव्यों में सापेक्षता है। ब्राह्मण के विशिष्ट कर्तव्य दूसरे वर्ण के लिए विहित न होने से दूसरे वर्णों के लिए प्रमाण नहीं होते और इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के विशिष्ट कर्त्तव्य दूसरे आश्रमों के लिए प्रमाण नहीं होते। साधारण धर्म सभी मनुष्यों के लिए नित्य आचरणीय कर्त्तव्य हैं, चाहे वे मनुष्य किसी भी वर्ण या आश्रम के क्यों न हों।

प्रो० मैत्र ने साधारणधर्म एवं वर्णाश्रमधर्मों के समुच्चय को वस्तुनिष्ठ या विषयपरक नैतिकता (आब्जेक्टिव मॉरेलिटी) के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु इस प्रकार की नैतिकता ही पर्याप्त नहीं होती। वस्तुनिष्ठ नैतिकता व्यक्ति के लिए आत्मसंयम में सहायक होती है। उसके अनन्तर व्यक्तिनिष्ठ या विषयिपरक पवित्रता का, आन्तरिक उत्कर्ष का लक्ष्य होता है। यही हिन्दू नीतिशास्त्र की व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता

१- "The Ethics of the Hindus is based on a three-fold scheme of the spiritual life comprising the stages of sociality, subjective morality and the life absolute and transcendental. Hindu Ethics is thus social ethics and psychological ethics and culminates in the philosophy of the Absolute which is the consummation of the spiritual life."
- D.K.Maitra, *The Ethics of the Hindus*, p. 1

है।[1] व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता के स्तर पर व्यक्ति लोभ, मोह आदि पर पूर्णतः विजय प्राप्त कर लेता है और चित्तशुद्धि की वह अवस्था प्राप्त कर लेता है, जब उसका मन सन्तुलित, निष्पक्ष तथा लौकिक एवं पारलौकिक सुखों के भोग से विरक्त हो जाता है। इसी मानसिक अवस्था में वह परस्पर प्रतिद्वन्द्वी संवेगों में सदसद्विवेक की एवं नैतिक मूल्यों का सम्यक् निर्धारण करने की क्षमतां से युक्त होता है। हमारे विचार से धर्मसूत्रों ने इसी मानसिक अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को 'शिष्ट' कहा है और उसके आचरण को प्रमाण माना है।[2]

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विशेषतः नीतिशास्त्र पर किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हुआ। धर्मसूत्रों को ही हम प्राचीनतम नीतिशास्त्रीय ग्रन्थ मान सकते हैं। हमारे प्राचीन चिन्तकों ने नैतिकता को धर्म या विधि से अलग नहीं लिया, अपितु मानव के समग्र आचरण पर विचार किया और उसके अपने प्रति, दूसरे मानव के प्रति, अन्य निम्नतर प्राणियों के प्रति एवं ईश्वर के प्रति सम्बन्धों की दृष्टि से सम्पूर्ण जीवन की आचारसंहिता का विवेचन किया। धर्मसूत्रों में आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त के जो विवेचन किये गये हैं वे बाह्यतः नैतिकता से संबद्ध नहीं प्रतीत होते, किन्तु नैतिकता की अवधारणा इन नियमों में सर्वत्र विद्यमान है। प्रायश्चित्त के जो विधान पहली दृष्टि में जप एवं तपस्या के कर्मकाण्ड या अनुष्ठान मात्र प्रतीत होते हैं, वे दुष्कर्म से विरत करने एवं सत्कर्म की प्रेरणा देने के महान् नैतिक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। आचार के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है और व्यवहार या गुणधर्म के अन्तर्गत अपराध, दण्ड एवं न्याय का प्रतिपादन सामाजिक नैतिकता का पक्ष ही प्रकाशित करता है।

१- But objective morality is not sufficient by itself and it is necessary that the individual after a period of discipline in objective co-operation and self-restraint, should look inwards into himself and aim at subjective purity and inner excellence of the will."

Ethics of the Hinus, p. 3

२- तृतीयः शिष्टागमः। शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभक्रोधविवर्जिताः।- बौ १।१।३,५

शिष्टः पुनरकामात्मा।- व १।६

डॉ० अय्यर ने[१] हिन्दू आचारशास्त्र की ग्रीक या अर्वाचीन आचारशास्त्र से तुलना करते हुए इस अन्तर का निर्देश किया है कि हिन्दू आचारशास्त्र का आधार आगम या वेद है जबकि ग्रीक एवं अर्वाचीन नीतिशास्त्र की चिन्तनपद्धति शुद्ध तर्क पर आश्रित होती है। नैतिक अवधारणा का आधार भिन्न होने पर भी प्राचीन भारतीय आचारशास्त्र भी वैसे ही नैतिक मूल्यों को शाश्वत स्वरूप प्रदान करने का लक्ष्य लेकर चलता है जैसे तर्कमूलक आचारशास्त्र। इस मौलिक अन्तरके फलस्वरूप प्राचीन भारतीय आचारशास्त्र धर्मविषयक सिद्धान्तों के साथ इतना जटिल होकर संश्लिष्ट है कि उसे पृथक् करना कठिन प्रतीत होता है।[२] आगम या ईश्वरप्रदत्त ज्ञान का प्रामाण्य केवल प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र में ही ग्राह्य नहीं है, अपितु अनेक सभ्य देशों के धर्म में इसे एक गौरवमय स्थान प्राप्त है। अर्वाचीन नैतिकतावादी चिन्तकों का भी एक वर्ग जिसे 'इण्ट्यूशनल स्कूल' कहा जाता है, सदसद्विवेक हेतु एक विशिष्ट नैतिकबुद्धि को अनिवार्य मानता है।[३]

धर्मसूत्रों ने भी नैतिक आदर्श के निर्धारण हेतु वेद या श्रुति को ही परम प्रमाण माना है। श्रुति को ही धर्म का प्रत्यक्ष हेतु स्वीकार किया गया है।[४] इस सन्दर्भ में धर्मसूत्रों के निम्नलिखित वचन ध्यानार्ह हैं : 'वेद द्वारा लक्षित कर्मों के अनुष्ठान से ही धर्म अथवा पुण्य की प्राप्ति होती है, उसके अक्षरज्ञान से नहीं।[५] आपस्तम्बधर्मसूत्र का कथन है[६]- 'वेद ही प्रमाण हैं। उनमें जो यज्ञिय अनुष्ठान विहित हैं वे ही कार्य हैं और

१- इवोलयूशन ऑफ हिन्दु मॉरल आइडियल्स, पृ० ७

२- "This peculiar conception of Dharma, based as it is upon the authority of the eternal Vedas and the necessity for placing the rules of conduct on supra-sensible basis, has tended to the entanglement of ethics with religion and rendered it difficult to extricate ethcis from religious theory."
- Sir S. Aiyer, *The Eevolution of Hindu Moral Ideals, p. 14*

३- डॉ० अय्यर, तदेव, पृ० १६

४- बौ १।१।६

५- कृच्छ्रा धर्मसमाप्तिरसमाम्नानेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते।- आप २।२६।१३

६- त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते व्रीहियव-पश्वाज्यपयः-कपालपत्नीसम्बन्धान्युच्चैर्नीचैः कार्यमिति तैर्विरुद्ध आचारो ऽप्रमाणमिति मन्यन्ते।
- आप २।२३।६

उनके विरुद्ध आचार अप्रमाण हैं ऐसा तीनो वेदों के विद्वानों का मत है। वसिष्ठ के शब्दों में 'तीन वेदों के विद्वान् जिसको धर्म कहें वही आचरणीय है।'[१] पुनः आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का कथन है कि 'धर्मज्ञों की व्यवस्था ही धर्म है और प्रमाण है।'[२] बौधायन के अनुसार 'धर्मशास्त्रज्ञ द्विजों के वचन ही धर्म हैं।'[३] वेद के तीन या चार विद्वान् भी जिसे धर्म कहें वही धर्म है, दूसरे सहस्रों व्यक्तियों के कथन धर्म नहीं हैं।[४]

धर्मसूत्रों की इन उक्तियों से स्पष्ट है कि वे धर्म अथवा नैतिकता के निर्णय हेतु व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा की अपेक्षा व्यवस्थित परम्परागत ज्ञान को आधार एवं प्रमाण मानने के पक्ष में हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र के शब्दों में वेद को अप्रमाण मानना आत्मनाश का हेतु है।[५] वेद के अतिरिक्त स्मृति और शिष्टजनों के आचारण भी प्रमाण माने गये हैं। ऐसे प्रादेशिक आचारों को अधर्म ठहराया गया है जो शिष्टों के आचरण एवं परम्परा के विरुद्ध होते हैं।[६] प्रचलित आचार की अपेक्षा श्रुति ही बलवती होती हे। जिन आचारों के समर्थन में श्रुति उपलब्ध नहीं है उनके परित्याग का आदेश ही धर्मसूत्रों ने दिया है।[७] श्रुति के अभाव में देश, जाति और कुल के धर्म भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किये गये हैं।[८]

१- त्रैविद्यवृद्धा यं ब्रूयुर्धर्मं धर्मविदो जनाः।- व १।१६

२- धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च।- आप १।१।२

३- धर्मशास्त्रसमारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः।
क्रीडार्थमपि यद् ब्रूयुस्स धर्मः परमः स्मृतः ॥

४- चत्वारो वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥- व ३।७

५- अथाप्युदाहरन्ति।
अप्रामाण्यं च वेदानामार्षाणां चैव कुत्सनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मन इति ।।- व १२।४१

६- बौ १।२।६

७- श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्।- आप १।४।८

८- देशधर्मजातिधर्मकुलधर्माञ्श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः।- व १।१७

प्रवृत्ति

प्रवृत्ति एवं सदसद्विवेक नीतिशास्त्र के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। भारतीय चिन्तन-परम्परा में इनका सम्यक् विवेचन हुआ है। प्रशस्तपाद, दिनकरभट्ट, प्रभाकर के अतिरिक्त न्यायदर्शन द्वारा भी प्रवृत्ति की सूक्ष्म मीमांसा की गयी है।[१] धर्मसूत्रों ने श्रुति या स्मृति के प्रमाण को महत्त्व देते हुए प्रवृत्ति अथवा मनुष्य की सुख की अभिलाषा से की गयी स्वाभाविक चेष्टा को अप्रामाणिक माना है और उसका तयाग ही अभीष्ट बताया है। जहाँ द्वन्द्व की स्थिति होती है और किसी क्रिया के लिए कई वैकल्पिक पक्ष उपस्थित होते हैं वहाँ धर्मसूत्र जिस आचार से प्रीति या स्वसुख की उपलब्धि होती हो उसे अप्रमाण मानते हैं।[२] जहाँ प्रवृत्ति का कारण प्रीति होती है वहाँ शास्त्र का समर्थन नहीं होता। हरदत्त ने क्षारादिभोजन का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि क्षारादि भोजन से प्रीति होती है और जहाँ प्रीतिजनित प्रवृत्ति होती है वहाँ शास्त्र नहीं होता।[३] इसे ही आपस्तम्बधर्मसूत्र में अन्यत्र भी स्पष्ट किया गया है।[४] यह विचार किया गया है कि पहले विधियाँ वेद में उपदिष्ट थीं, किन्तु अब अनेक आचारों के समर्थक ब्राह्मणोक्त विधियाँ उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ अब उपलब्ध ही नहीं हैं। ऐसे प्रचलित आचारों के लिए ब्राह्मणोक्त विधियों का अनुमान करना चाहिए,[५] किन्तु जहाँ प्रीति के कारण उद्भूत प्रवृत्ति हो वहाँ उसके समर्थक विधिवाक्य का अनुमान नहीं किया जा सकता, यथा बुआ की पुत्री एवं मामा की पुत्री से विवाह के प्रसंग में। ऐसे आचारों के विषय में, जो कुछ स्थलों पर प्रचलित बताये गये हैं,[६]

१- द्र० मैत्र, दि इथिक्स आफ द हिन्दूज़, पृ० २५-७३ 'दि एनालिसिस ऑफ वालिशन इन हिन्दू इथिक्स।'

२- श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्। दृश्यते चापि प्रवृत्तिकारणात्। प्रीतिह्युपलभ्यते। - आप १।४।८-१०

३- क्षारादिभोजने भुञ्जानस्य प्रीतिर्भवति। ततश्च यत्र प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। - हरदत्त, आप १।४।१० की वृत्ति।

४- यत्र तु प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमिति।- आ १।१२।११

५- ब्राह्मणोक्ता विषयस्तेषामुत्सन्नपाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते।- आप १।१२।१०

६- यत्र पितृष्वसृसुतामातुलसुतापरिणयनादौ। प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्रोत्सन्नपाठं शास्त्रमनुमीयते, प्रीतेरेव प्रवृत्तिर्हेतोः सम्भवात्।- आप १।१२।११ पर हरदत्त।

प्रीत्युपलब्धि प्रवृत्ति ही हेतु है और इस कारण इनके विषय में शास्त्र का अनुमान नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की प्रवृत्ति का अनुसरण करने वाला नरक में गिरता है।[१]

यद्यपि धर्मसूत्र वेदज्ञ शिष्टों के आचरण को प्रमाण मानते हैं तथापि उनके सभी प्रकार के आचरण प्रमाण नहीं है। महान् लोगों के आचरण भी धर्मविरुद्ध होते हैं (यथा प्रजापति द्वारा स्वसुता का गमन, वसिष्ठ का चाण्डालीगमन)[२] जब किसी आचरण के विषय में श्रुति एवं स्मृति अथवा परम्परा में विरोध हो तो उस स्थिति में श्रुति को ही आदरणीय ठहराया गया है, स्मृति या आचार को नहीं।[३] अनेक स्थितियों में, जहाँ सदसद्विवेक ही विकल्प में निर्णय का आधार होता है, वहाँ धर्मसूत्र श्रुति के अनुमान का ही उल्लेख करता है। सदसद्विवेक नीतिशास्त्र का एक अन्यतम मनोवैज्ञानिक पक्ष है।

सदसद्विवेक (Conscience) का सम्बन्ध विषयी से होता है, जबकि कर्त्तव्य विषयसापेक्ष होता है। इस कारण कर्त्तव्य एवं सदसद्विवेक में परस्पर सम्बन्ध होता है। वे अन्योन्याश्रित होते हैं। 'सदसद्विवेक कर्त्तव्य में नैतिक भेद का पता लगा सकने की क्षमता है।... (यह) उचित और अनुचित के भेद को अधिक या कम स्पष्टता से जानने का अधिकरण(Faculty) है। अतएव उसे नैतिक अन्तर्दृष्टि कहा जा सकता है, क्योंकि वह विश्लेषण का परिणाम न होकर एक तात्कालिक मानसिक प्रक्रिया है।'[४] सदसद्विवेक उचित और अनुचित में भेद करने के साथ ही व्यक्ति को आदेश भी देता है। इस अधिकरण को आत्मसंयम द्वारा विकसित किया जा सकता है। इसकी उपेक्षा करने पर यह नष्ट भी हो जाता है। भारतीय दृष्टि से सदसद्विवेक या कर्त्तव्य का बोध केवल कर्म का ही बोध नहीं कराता, अपितु उस कर्म के उचित अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले 'धर्म' को भी ग्रहण करता है। कोई भी कर्म जो धर्मोत्पादक नहीं है कर्त्तव्य नहीं हो सकता। इस 'धर्म' तत्त्व की व्याख्या विभिन्न दर्शनसम्प्रदायों में विभिन्न रूपों में की गयी है। मीमांसकों में प्रभाकरमतावलम्बी 'अपूर्व' को और भट्टमतानुयायी

१- तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति।- आप १।१२।१२

२- दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्।- गौ ११।३

३- तुल्यबलविरोधे विकल्पः।- गौ १।१।५

४- नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय, फिलिप ह्वीलराइट, अनु० मधुकर,पृ० १०७-१०८

यागादि कर्मों को ही धर्म की संज्ञा देते हैं।[1]

कर्त्तव्य का निर्धारण करने के लिए मनुष्य में जो स्वाभाविक विवेकशक्ति है वह उसे विशेष परिस्थिति में सहायता करती है। 'यदि यह ज्ञानात्मिका शक्ति न होती और केवल शास्त्र, विधान और विधि ही मनुष्य को सन्मार्ग पर चलाने वाले होते तो मनुष्य इस प्रकार इनका दास बन जाता जैसे पशु, पक्षी आदि दूसरे प्राणी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के दास दिखायी देते हैं।'[2] यद्यपि धर्मसूत्रों में इस विवेकशक्ति की अपेक्षा वेद को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, तथापि स्मृतियों ने इस विवेकशक्ति को भी धर्मज्ञान के चार साधनों में एक साधन के रूप में स्वीकार किया है।[3]

धर्म एवं कर्त्तव्य

धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म नीतिशास्त्र में प्रतिपादित कर्त्तव्य को भी अपने भीतर समाविष्ट करता है इसका संकेत हमने ऊपर की पंक्तियों में किया है। फिलिप ह्वीलराइट[4] ने किसी कार्य के कर्त्तव्य होने की तीन शर्तें मानी हैं : (१) उसको करना हमारे हाथ की बात हो, (२) अन्य कार्यों की अपेक्षा उससे ज्यादा हित हो और (३) उस कार्य का हित हमारे लिए ही अच्छा न होकर उससे प्रभावित होने वाले सभी लोगों के लिए अच्छा हो। कर्त्तव्य की भावना में आदेश का स्वर होता है। कर्त्तव्य की भावना इच्छाओं से अधिक बलवती होती है, कर्तव्य में अधिक प्रामाणिकता होती है, यद्यपि मनुष्य प्रलोभनों के कारण कर्त्तव्य को कुछ समय के लिए भूल सकता है।

प्राचीन भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में कर्त्तव्य धर्म का ही वस्तुनिष्ठ पक्ष है। धर्म का व्यक्तिनिष्ठ पक्ष सद्गुण (Virtue) या पुण्य (Religious merit) है।[5] कर्त्तव्य के रूप में धर्म का वर्गीकरण अनेक भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने किया है। प्रो०मैत्र ने इन सभी प्रकार के वर्गीकरणों का संकलन किया है, जिसके अनुसार सर्वप्रथम मनु

१- द्र० मैत्र, दि इथिक्स आफ दि हिन्दूज़, पृ० ७५

२- डॉ० भीखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० १३-१४

३- वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।- मनुस्मृति, २।१२

४- नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय, अनु० मधुकर, पृ० १०७

५- द्र० प्रो० सुशीलकुमार मैत्र, दि इथिक्स ऑफ दि हिन्दूज़, पृ० ७

ने वर्णाश्रमधर्म एवं साधारणधर्म के रूप में कर्त्तव्यों का वर्गीकरण किया है। साधारणधर्म के अन्तर्गत वे धृति, क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य एवम् अक्रोध की गणना करते हैं। प्रशस्तपाद ने सामान्य एवं विशेष दो वर्गों में कर्त्तव्यों का वर्गीकरण किया है। मीमांसकों ने लौकिक तथा शास्त्रिक या पारमार्थिक कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। इन्हीं को दूसरे शब्दों में दृष्टार्थक एवम् अदृष्टार्थक नाम भी दिया गया है। शास्त्रिक, पारमार्थिक या अदृष्टार्थक कर्त्तव्यों के भी दो उपवर्ग हैं- काम्य एवं नित्यनैमित्तिक कर्म। शास्त्रिक कर्त्तव्यों का एक विभाजन विधि और निषेध के वर्गों में भी किया गया है।[१]

धर्मसूत्रों में धर्म के पञ्चविध वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म एवं निमित्तधर्म का उल्लेख हमने पहले (अध्याय २ में) किया है। इनके अन्तर्गत जो विधान किये गये हैं उनके भीतर मनुष्य के सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का समावेश है। इन कर्त्तव्यों को हम निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं : १- अपने प्रति कर्त्तव्य, जिसमें आत्मोत्थान एवं मोक्ष की प्राप्ति तक के साधनभूत कर्त्तव्यों को ग्रहण किया जा सकता है, २- परिवार के प्रति, जिनमें अपनी सन्तति के सुख एवं उन्नयन का दायित्व भी सम्मिलित है, ३- मानवजाति के प्रति - इसमें सामाजिक सम्बन्धों में सभी प्रकार के कर्त्तव्य सम्मिलित हैं; ४- प्राणियों के प्रति; ५- पितृगण के प्रति तथा ६- देवगण के प्रति। अन्तिम दो प्रकार के कर्त्तव्य विशुद्ध यज्ञपरक या कर्मकाण्डविषयक हैं और पुनर्जन्म, परलोक आदि की धारणाओं पर आधृत हैं। इन कर्त्तव्यों के साथ ही यह भी स्मरणीय है कि धर्मसूत्र भी मनुष्य के त्रिविध ऋणों को मानता है और उनसे मुक्ति का प्रयत्न व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य घोषित करता है। पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा देव ऋण की कल्पना भी व्यक्ति के त्रिविध कर्त्तव्यों का ही कथन करते हैं।[२]

आत्मरक्षा

धर्मसूत्रों की दृष्टि में व्यक्ति के लिए अपनी रक्षा तथा अपना मानसिक उन्नयन महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। इसके लिए उन्होंने अनेक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश दिये

१- मैत्र, दि इथिकस ऑफ दि हिन्दूज़, पृ० ७-२३

२- बौ २।११।३६ द्र० इस ग्रन्थ अध्याय ३, गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत।

हैं। मनुष्य को अपनी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[1] उसे धर्मानुकूल सुख-सुविधा तथा जीवन धारण हेतु वृत्ति का अनुसरण अवश्य करना चाहिए। स्नातक के नियमों के प्रसंग में गौतम ने आत्मसम्मान की रक्षा एवं शुद्धता के लिए जो उपदेश दिये हैं वे वस्तुतः सामान्य व्यक्ति के लिए भी ग्राह्य हैं। आमन्त्रित न होने पर यज्ञ में जाने का निषेध भी व्यक्ति के स्वाभिमान की रक्षा हेतु ही किया गया है।[2] तिरस्कारपूर्ण दिया गया भोजन त्याज्य बताया गया है।[3] जीवन की रक्षा सभी प्रकार से करनी चाहिए[4] इसका स्पष्ट विधान करते हुए धर्मसूत्रों ने अनेक ऐसे कर्मों का निषेध किया है जिनमें प्राणों का संकट हो, यथा बाहु से तैरकर नदी पार करना, ऊँची-नीची भूमि पर चलना, विपत्तिजनक कर्म करना, सन्दिग्ध नाव पर चढ़ना आदि।[5] आत्मरक्षा हेतु आपत्तिकाल में वे सभी आचरण भी नैतिक हो जाते हैं जो सामान्यतः अनैतिक हैं। यथा अपने वर्ण की वृत्ति का त्याग कर निम्न वर्ण की वृत्ति से जीविकानिर्वाह। इसी विचार से धर्मसूत्रों ने आपद्धर्म की भी व्यवस्था की है। गौतम के शब्दों[6] में प्राणसंकट की स्थिति में शूद्र की गर्हित वृत्ति भी अपनायी जा सकती है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण भी शस्त्र धारण कर सकता है और क्षत्रिय वैश्य का कर्म कर सकता है। आपत्तिकाल में शूद्र का अन्न भी भोज्य माना गया है।[7]आत्महत्या करने वाले को अभिशस्त कहकर निन्दित किया गया है[8] और आत्मघाती के लिए श्राद्ध करना ऐसा पापकर्म माना गया है जिसके लिए तप्तकृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत विहित है।[9]

१- गौ १।६।४-८ २- गौ १।६।५४

३- गौ २।८।१२, २।८।२१

४- सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेत्।-गौ १।६।३४

५- गौ १।६।३२-३३, व १२।४४-४५

६- सर्वथा वृत्तिरशक्तावशौद्रेण। तदप्येके प्राणसंशये। ७ गौ १।७।२२,२३
द्र० गौ १।७।२५,२६ प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत। राजन्यो वैश्यकर्म।

७- आप १।१८।१४

८- यो ह्यात्मानं परं वाऽभिमन्यतेऽभिशस्त एव स भवति।- आप १।२८।१७, द्र० व २३।१४

९- अथाप्युदाहरन्ति। य आत्मत्यागिनः कुर्यात्स्नेहात्प्रेतक्रियां द्विजः।
स तप्तकृच्छ्रसहितं चरेच्चान्द्रायणव्रतमिति ॥- व २३।१६

सामाजिक भेद के अनुसार कर्त्तव्य

धर्मसूत्रों की नैतिक दृष्टि समाज में रहने वाले मनुष्यों को समान नहीं देखती, अपितु उनको एक दूसरे से जन्म, संस्कार एवं आचरण के आधार पर भिन्न देखती है। अतएव धर्मसूत्र प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी आयु तथा वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य का निर्धारण करते हैं। इस स्वधर्म का पालन विभिन्न जनसमुदायों के लिए एक ही लक्ष्य को सिद्ध करता है। ब्राह्मण अपने वर्ण के, क्षत्रिय अपने वर्ण के और वैश्य अपने वर्ण के कर्त्तव्यों का आचरण करते हुए एक ही नैतिक आदर्श की उपलब्धि करते हैं। धर्मसूत्रों में सामाजिक नैतिकता का जो स्वरूप है उसका एक पक्ष सापेक्ष कर्त्तव्यों की संहिता है। ये इस प्रकार के कर्त्तव्य हैं जो व्यक्ति को अपने जीवन के विशिष्ट आश्रम, विशेष सामाजिक स्थिति, स्वभाव एवं विशेष क्षमताओं के अनुसार करणीय हैं।[१] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये कर्त्तव्य भी अपने-अपने आश्रम या वर्ण के लिए नित्य हैं। दूसरे के लिए उनकी प्रामाणिकता नहीं होती। ब्रह्मचर्याश्रम के लिए सभी प्रकार के यौन आचरण निन्दित एवं कठोरता से वर्जित हैं, किन्तु गृहस्थाश्रम में यौन सम्बन्ध एक अनिवार्य कर्त्तव्य है। ब्राह्मण के लिए दान ग्रहण करना, यज्ञ कराना अपने वर्ण का विशिष्ट कर्त्तव्य है, किन्तु अन्य वर्णों के लिए ये प्रमाण नहीं हैं। जिसे धर्मसूत्रों ने गुणधर्म कहा है वे भी इसी प्रकार के सापेक्ष कर्त्तव्य हैं। राजा के अपने पद के कारण कुछ विशेष कर्त्तव्य विहित हैं जो उसके लिए नित्य कर्त्तव्य हैं। इसी प्रकार स्त्री के धर्म उसके स्त्री होने के कारण विशिष्ट और सापेक्ष हैं। इन सापेक्ष कर्त्तव्यों से भी अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण मानवजाति के प्रति ही कर्त्तव्य का पालन होता है।[२]

धर्मसूत्रों के अनुसार मनुष्यों में पारस्परिक भेद उनकी प्रवृत्ति एवं संस्कार[३] के

१- "The duties of *varna* and *asrama* together constitute the code of relative duties, the duties of station in life, the duties obligatory on the individual in consequence of social status temperament specific powers and capacities."
- S.K. Maitra, *The Ethics of the Hindus, p. 1*

२- "Thus the individual of a specific community who observes the duties of his class does not serve his own community merely, but also and in the same process, all other communities according to their deserts and needs and in this way the whole of humnaity itself." -*ibid., p.3*

३- प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च।-व ४।१

फलस्वरूप है। उनके अनुसार मनुष्य को अपने पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही इस जीवन में वर्ण, शरीर, बुद्धि आदि व्यक्तिगत गुणों की प्राप्ति होती है।[१] इस भेद के कारण ही धर्मसूत्र सापेक्षतावादी नैतिकता का आश्रय लेते हैं, जिसके अनुसार नैतिकता का मानदण्ड एवं मूल्य स्थायी न होकर व्यक्ति, काल, स्थिति के अनुरूप परिवर्तनशील माना जाता है। इसका एक उदाहरण धर्मसूत्रों में ब्याज पर ऋण देने के प्रसंग में द्रष्टव्य है। सामान्यतः ब्याज लेना निन्दित है,[२] तथापि वैश्य के लिए उसका वर्णधर्म के रूप में विधान है।[३] मनुष्यवध एक घोर अनैतिक कर्म है, किन्तु उसमें भी मारे गये व्यक्ति के वर्ण एवं गुण के अनुसार भेद किया गया है। ब्राह्मण के वध की अपेक्षा श्रोत्रिय का वध अधिक अनैतिक एवं शूद्र का वध बहुत कम अनैतिक समझा गया है। व्यभिचार अनैतिक कर्म है, किन्तु दासी और ब्राह्मणी के सम्बन्ध में व्यभिचार को एक समान नहीं देखा गया है। धर्मसूत्रों की इस प्रकार की विलक्षण नैतिकता का आधार यही दृष्टिगत होता है कि वे व्यक्ति के मूल्य में जन्म, संस्कार, गुण, शील के आधार पर अन्तर करते हैं और उसी के अनुसार नैतिक मानदण्ड मानकर अनैतिकता में कोटियों का भेद करते हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी दृष्टि में वध या व्यभिचार अनैतिक नहीं है। उसे वे घोर अनैतिक मानते हैं, किन्तु इस अनैतिक कर्म से प्रभावित व्यक्ति के मूल्यानुसार अनैतिकता में कम या अधिक कोटियों का अन्तर स्वीकार करते हैं।

धर्मसूत्रों में नैतिकता का एक मानदण्ड वर्णधर्म या स्वधर्म होने के कारण वर्णधर्म के पालन पर विशेष बल दिया गया है। स्वधर्म का त्याग पतन का हेतु ठहराया गया है।[४] केवल महान् प्रयोजन से ही स्वधर्म का त्याग विहित है। ब्राह्मण और गौ की रक्षा के लिए ब्राह्मण और वैश्य भी शस्त्र धारण कर सकते थे।[५] यहाँ भी दो प्रकार के

१- द्र० विष्णुधर्मसूत्र, अध्याय ४३, ४४ एवं ४५ वि २०।४०
तुलनीय आप २।२।३ ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव दर्तते।

२- आप १।१८।२२ में ब्याज लेने वाले का अन्न अभोज्य बताया गया है।
ब्रह्महत्यां च वृद्धिं च तुलया समतोलयत्।
अतिष्ठद्भ्रूणहा कोट्यां वार्धुषिकः समकम्पत इति।।- व २।४२, बौ १।१०।२४

३- वैश्यः कुसीदमुपजीवेत्।-बौ १।१०।२२

४- द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्।- गौ ३।३।४ ५- बौ २।४।१८

नैतिक मूल्य में उच्चतर नैतिकता के वरण का उदाहरण द्रष्टव्य है। धर्मसूत्रानुसार द्विजातियों के लिए भी अध्ययन, यजन और दान नित्य एवम् अनिवार्य कर्त्तव्य हैं।[१] सभी वर्णों के लोग अपने धर्म का अनुष्ठान कर परम अपरिमित स्वर्ग के सुख को प्राप्त करते हैं।[२] धर्मसूत्रानुसार वर्णों में श्रेष्ठता जन्मना है।[३] वर्णधर्म के समान ही आश्रम के धर्म भी सापेक्षतया व्यक्ति की समग्र उन्नति का हेतु हैं।[४] वर्णाश्रमधर्म के पालन के फलस्वरूप जो पुण्य उत्पन्न होता है वह पुनर्जन्म होने पर विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, आचरण, वित्त, सुख और मेधा का हेतु होता है।[५] आश्रमधर्म वस्तुतः व्यक्ति के नैतिक उन्नयन का साधन होते हैं। यह धर्मसूत्रों की नैतिक धारणा का वह पक्ष है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मोन्नति से होता है।

यौनप्रवृत्ति एवं नैतिकता

यौनविषयक नैतिकताा पर धर्मसूत्रों में पर्याप्त विचार किया गया है। नारी की सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में विवेचन करते हुए हमने इस नैतिक चिन्तन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है।[६] यहाँ उसके विशिष्ट नैतिक मूल्यों की ओर पुनः दृष्टि डालना प्रासंगिक है। धर्मसूत्रों में सिद्धान्त रूप में यौनसम्बन्धों का एक उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है, भले ही उसका व्यावहारिक पक्ष परस्पर विरोधी उक्तियों के कारण अस्पष्ट बन गया है। इस सन्दर्भ में सर अय्यर का यह कथन उद्धरणीय है : 'स्त्रियों के प्रति हमारे नैतिक आदर्श जहाँ तक तथाकथित यौन नैतिकता, एकनिष्ठता तथा पातिव्रत्य के क्षेत्र का सवाल है, प्रायः संकुचित धारणाओं पर आधृत है, स्त्रीत्व के आदर्शों में न केवल पति-पत्नी या माता एवं सन्तानों के अथवा पारिवारिक जीवन के

१- पूर्वेषु नियमस्तु।-गौ २।१।३

२- सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्।- आप २।२।२

३- तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्।- आप १।१।५

४- तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति।- आप २।२१।२

५- वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते।- गौ २।२।२६

६- द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का अध्याय ६ धर्मसूत्रों में नारी एवं यौनजीवन।

अन्य घनिष्ठ सम्बन्धों का समावेश होताा है, अपितु हम उसकी क्षमता, उसके चरित्र, उसकी समानता हेतु अर्हता, विकास की स्वाधीनता एवं स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार, उसका सम्पत्ति का स्वामित्व एवं अधिकार, व्यवसाय के चयन तथा समाज का एक सदस्य होने के कारण उसके कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के विषय में जो धारणाएँ बनाते हैं उनका भी समावेश होता है।'[१] स्त्री से सम्बद्ध इन विविध विषयों पर हमारी धारणाएँ परिवर्तनशील होती हैं। उनके पीछे देश की परिस्थितियों, हमारे दृष्टिकोण, धार्मिक विश्वासों और परम्परागत विचारों का हाथ होता है।[२]

धर्मसूत्रों में नारी के प्रति दो प्रकार के विचार एक साथ मिश्रित हैं। माता एवं पत्नी के रूप में जहाँ उसे परम सम्मान एवं सामाजिक महत्त्व दिया गया है वहीं स्त्री के रूप में वह भोग्या मात्र दिखायी पड़ती है। उसकी स्थिति पूर्णतः परतन्त्रता की है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि यह स्थिति ब्राह्मणों के काल से ही आरम्भ हो चुकी थी।[३] स्त्री कथमपि स्वतन्त्र नहीं है, पुरुष ही उसके लिए सभी धर्मों में प्रधान है यह उक्ति प्रायः सभी धर्मसूत्रों में उपलब्ध है।[४] धर्मसूत्रों के अनेक वचनों से यही प्रतीत होता है कि स्त्री सन्तानोत्पत्ति के कारण ही एक उपयोगी व्यक्ति है और यौनसुख का साधन होने के कारण वह एक भोग्य किन्तु साथ ही घृणास्पद वस्तु है। परिणामस्वरूप वर्णानुसार अनेक पत्नियों की अनुमति दी गयी है और भोगार्थ शूद्रापत्नी की स्थिति भी स्वीकार की गयी है।[५] दासी स्त्री तो एक चलसम्पत्ति के रूप में दिखायी पड़ती है। जहाँ तक सम्पत्ति के अधिकार का प्रश्न है कुछ धर्मसूत्र तो उसे इसके नितान्त अयोग्य

१- सर शिवस्वामी अय्यर, इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू मारल आइडियल्स, पृ०५४

२- "Our notion in all these matters have been largely moulded by the conditions of the age and the country, by our outlook on the problems of life, by our religious beliefs, by the influence of traditions and by intellectual progress and the growth of rationalism."
Sir S. Aiyar, *Evolution of Hindu Moral Ideals*, p. 54.

३- द्र० इस ग्रन्थ का पृ० ३१४-३१५

४- अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री।-गौ २।६।१ ; न स्त्री स्वातन्त्र्यं विन्दते।- बौ २।३।४
अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना।- वि ५।१, द्र० व ५।२, बौ २।३।५६

५- कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव न धर्माय।- व १८।१८, द्र० बौ २।३।३०, वि २६।५,
रत्यर्थमेव सा तस्य।

मानते हैं और उसको अबला घोषित करने के लिए श्रुति का वचन भी ढूँढ लेते हैं।[१] कुछ ने उसके अधिकार को स्वीकार किया है[२] तो कुछ ने इस अधिकार के एक स्वल्प अंश की प्राप्ति हेतु पातिव्रत्य एवं एकनिष्ठ यौनजीवन तक की तिलांजलि देने की व्यवस्था बतायी है।[३]

आदर्श नारी के विषय में धर्मसूत्रों की कल्पना एक पूर्णतः पतिपरायणा, मन, वचन एवं कर्म से पति के सुख हेतु समर्पिता स्त्री की है। पति की सेवा ही उसका परम धर्म है। उसके लिए पति से भिन्न कोई यज्ञ नहीं, कोई व्रत नहीं और कोई उपवास नहीं।[४] धर्मसूत्र की आदर्श पत्नी पति के गृह्य कर्मों की व्यवस्था करती है, ऋतुकाल में पतिसमागम और सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपने जीवन की पूर्ण सार्थकता अनुभव करते हुए पति के अभाव में अपने पुत्रों के साथ संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करती है। इसके अतिरिक्त उसका कोई धर्म नहीं माना गया है। वेदों के अध्ययन से वह दूर हो चुकी है, विवाह ही उसका एकमात्र संस्कार रह गया है। धर्मसूत्रों की दृष्टि में पत्नी का महत्त्व उस समय समाप्त हो जाता था जब वह सन्तानोत्पत्ति और विशेषतः पुत्रोत्पत्ति के धर्म में असमर्थ होती थी या पति के धार्मिक कर्मों में सहयोग नहीं दे पाती थी। ऐसी स्थिति में वह त्याज्य भी थी।[५]

यौन नैतिकता के क्षेत्र में धर्मसूत्रकारों की दृष्टि सर्वाधिक तीक्ष्ण दिखायी पड़ती है, किन्तु यहाँ भी उनके नैतिक आदर्शों का अन्तर्विरोध स्पष्ट हो जाता है। एक ओर तो धर्मसूत्र आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति के जीवन का तीन चतुर्थांश (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ्य और संन्यास आश्रमों के रूप में) यौन सम्बन्धों से पूर्णतः मुक्त रखने की व्यवस्था करते हैं और वैवाहिक यौनजीवन का अतिक्रमण कर किये गये व्यभिचार की

१- निरिन्द्रिया ह्यदायाश्चस्त्रियो मता इति श्रुतिः।- बौ २।३।४७

२- गौ ३।१०।१९, वि १७।४-५, आप २।१४।४

३- देवर से नियोग होने पर विधवा को अपने पति की सम्पत्ति में से भरण-पोषण भर अंश प्राप्त होता था।- व १७।६२

४- नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते यत्तु तेन स्वर्गे महीयते।।- वि २५।१५

५- आप २।११।१२-१३, सत्या २७।४।२७-२८, बौ २।४।६

कठोर दण्ड एवं प्रायश्चित्तों द्वारा भर्त्सना करते हैं, तो दूसरी ओर वे व्यभिचार से उत्पन्न पुत्रों की सामाजिक स्थिति को भी मान्यता प्रदान करते हैं। दायभाग के प्रकरण में कानीन, गूढोत्पन्न ओर सहोढ[१] पुत्रों का उल्लेख धर्मसूत्रों की इसी नैतिकता का उदाहरण है। यदि व्यभिचार अनैतिक कर्म है, तो उसको हतोत्साहित करने के लिए व्यभिचारजनित सन्तानों की मान्यता के पीछे इसके अतिरिक्त ओर कोई विचार नहीं दिखायी पड़ता है कि धर्मसूत्र के अनुसार पुत्र होना ही चाहिए, भले ही वह अनैतिक सम्बन्धों से उत्पन्न हो। गौतम ने गूढोत्पन्न पुत्र को (जो अविवाहिता कन्या द्वारा गुप्त रूप में उत्पन्न किया गया होता था) सम्पत्ति का अधिकारी भी माना है।[२] सन्तान के प्रयोजन से ही गृहस्थाश्रम में पति और पत्नी का यौनसंबन्ध एक नित्य कर्त्तव्य है। इसमें विघ्न उत्पन्न करना अधर्म एवम् अनैतिक कार्य के रूप में देखा गया है।[३] पुत्रप्राप्ति की यह उत्कट आकांक्षा वैवाहिक पवित्रता के नैतिक मूल्य को कितना प्रभावित करती है इसका एक उदाहरण धर्मसूत्रों में प्रतिपादित नियोग की प्रथा भी है।

नियोग के सन्दर्भ में धर्मसूत्रों में नैतिक मूल्य का सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन उल्लेखनीय है। कुछ धर्मसूत्रों ने नियोग को केवल इस आधार पर अस्वीकार किया है कि उससे उत्पन्न पुत्र क्षेत्री का हो या बीजी का यह अनिश्चित होता है और ऐसे पुत्र से पुत्र का वास्तविक पारलौकिक प्रयोजन (पिता को मृत्यु के बाद पिण्ड की प्राप्ति और पुत् नामक नरक से उद्धार) सिद्ध नहीं होता।[४] गौतम और वसिष्ठ ने नियोग की अनुमति कुछ प्रतिबन्धों के साथ दी है[५] किन्तु आपस्तम्ब ने इसे स्थापित नैतिक मूल्यों के विपरीत पाया और इसे स्पष्ट रूप से वैवाहिक नैतिकता का उल्लंघन मानते हुए घोषित किया कि पति के अतिरिक्त किसी भी दूसरे पुरुष से यौनसंबन्ध पाणिग्रहण की प्रतिज्ञा के विरुद्ध एक व्यभिचार है और नरक देने वाला है।

१- व १७।२२, बौ २।३।२४, व १७।२४, बौ २।३।२२, व १७।२७

२- गौ ३।१०।३०-३१, द्र०वि १५।१०-१७

३- बौ ४।१।१६-२३, वि ५४।८, बौधायन ने तो सन्तानोत्पत्ति में सहयोग न करने वाली पत्नी को तिरस्कारपूर्वक त्याग देने का निर्देश भी दिया है। बौ ४।१।२२

४- द्र० गौ २।६।६,१४; व १७।६, बौ २।२।३६, आप २।१३।५

५- गौ २।६।८, व १७।६१

अतः इस प्रकार के नियोग की अपेक्षा वैवाहिक पवित्रता का निर्वाह श्रेयस्कर है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि किसी काल में इस प्रथा के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर ध्यान न देकर अनुमति दी गयी थी, किन्तु यौनसुख के प्रति मानव की स्वाभाविक लिप्सा एवं इन्द्रिय-दुर्बलता का अनुभव करने पर इसे निषिद्ध करना आवश्यक हो गया।

परस्त्रीगमन जैसे व्यभिचार के सन्दर्भ में पुनः धर्मसूत्र की नैतिक धारणा स्त्री के वर्ण एवं सामाजिक स्थिति द्वारा प्रभावित है। उच्च वर्ण की स्त्री से व्यभिचार हेतु अधिक दण्ड एवं प्रायश्चित्त तथा निम्न वर्ण की स्त्री के गमन का कम दण्ड एवं प्रायश्चित्त विहित है। इसी प्रकार यौनसुख हेतु वे स्त्री की अन्य प्रकार की अपवित्रता भी उपेक्षित करने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। बौधायन का कथन है कि संभोग के लिए स्त्रियाँ सदैव पवित्र होती हैं। मैथुनकाल में स्त्री पवित्र होती है।[2] वसिष्ठ ने यह उल्लेख किया है कि स्त्री प्रसव के एक दिन पूर्व तक संभोग द्वारा पति को सन्तुष्ट कर सकती है, ऐसा स्त्रियों को इन्द्र द्वारा दिये गये वरदान का प्रभाव है।[3]

धर्मसूत्रों में यदि पुरुष की बहुपत्नीकता स्वीकृत है तो स्त्री को भी कतिपय स्थितियों में पुनर्विवाह की अनुमति देकर एक समान नैतिक मानदण्ड प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। एक पति को छोड़कर दूसरे से विवाह करने वाली 'पुनर्भू' एवं उसके पुत्र 'पौनर्भव' को मान्यता दी गयी है।[4] पतित एवं उन्मत्त पति को छोड़कर स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी।[5] पति के सदैव के लिए प्रवास करने पर कुछ वर्षों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर भी स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी।[6] इस नैतिक मूल्य में परिवर्तन विष्णुधर्मसूत्र में दृष्टिगत होता है जिसके अनुसार विधवा के लिए सती होने तक का निर्देश किया गया है।[7]

१- अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः। तद्व्यतिक्रमेक खलु पुनरुभयोर्नरकः। नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात्।- आप २।२७।५-७

२- बौ १।६।२, व २८।८,६

३- अपि च काठके विज्ञायते। अपि नः श्वो विजनिष्यमाणाः पतिभिः सह शयीरन्निति स्त्रीणामिन्द्रदत्तो वर इति।- व १२।२४

४- गौ ३।१०।३१, व १७।२०

५- व १७।२०, बौ २।२।२७

६- व १७।७५-७६, गौ २।६।१६,१७

७- वि २५।१४

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया कन्याक्रयण, कन्यापहरण एवं बलात्कार जैसे आचरण की विवाहभेदों के अन्तर्गत गणना के प्रसंग में भी द्रष्टव्य है। वसिष्ठ इन विवाहभेदों को ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए ही उचित मानते हैं।[१] किन्तु आपस्तम्ब इस प्रकार के विवाहों का नाम लेना भी उचित नहीं समझते।[२] गौतम इसे अधर्म्य एवं बौधायन ऐसे विवाहों को वैश्य एवं शूद्र के योग्य मानते हैं।[३] बौधायन कन्याक्रयण की कटु आलोचना करते हैं।[४] सामान्यतः धर्मसूत्र स्त्री-पुरुष की प्रतिष्ठा के अनुकूल, उत्तम सन्तान के प्रयोजन से, मन्त्रों द्वारा, वधू के अभिभावकों की सहमति से सम्पन्न विवाहों को श्रेयस्कर घोषित करते हैं और इस प्रकार विवाह संस्था का एक नैतिक आधार स्थापित करते हैं।

न्याय-विषयक नैतिकता

नीतिशास्त्र में सामाजिक न्याय एक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण किन्तु विवादास्पद विषय है। इस पर उपयोगितावादी और समानतावादी चिन्तनधाराएँ प्रमुख हैं। न्याय धर्म का ही एक स्वरूप है। इसकी विशेषता यह है कि यह राजधर्म का अंग है और इसे राजा के अधिकार द्वारा बलपूर्वक अथवा दण्ड के भय द्वारा लागू किया जाता है।[५] हार्टमैन के अनुसार 'न्याय अन्य मूल्यों की सिद्धि की पहली आवश्यकता है। साथ ही साथ वह सारे धर्मों में श्रेष्ठ है। न्याय श्रेष्ठ रूपों का मार्ग प्रशस्त कर देने वाली न्यूनतम नैतिकता है।' अरस्तू के अनुसार 'न्याय व्यक्ति को न्यायी बनाने वाली और जो कुछ वह उचित समझता है उसे उचित ढंग से करवाने वाली आदत और चरित्र

१- व १।३४,३५

२- पैशाच (- बलात्कार) का उल्लेख वसिष्ठ ने भी नहीं किया है।

३- बौ १।२०।१३

४- बौ १।३१।४५, व १।३७ भी इस विवाह का विरोधी है।

५- निकोलाय हाटमेन के अनुसार न्याय 'निम्नतर धर्म' है। यह निम्नतर धर्म इसलिए है कि यह अधिकतर राजनीतिक है और उसे बलपूर्वक लागू किया जा सकता है। - द्र० फिलिप ह्वीलराइट, नीतिशास्त्र का आलेचनात्मक परिचय, पृ० २०२

है।'[1]

धर्मसूत्रों के सन्दर्भ में न्याय और विधान में यही अन्तर है कि विधान, श्रुति या शास्त्रवचन नैतिकता का मानदण्ड है तो न्याय उस मानदण्ड के आधार पर व्यक्तियों के सामाजिक आचार की समीक्षा करने की प्रक्रिया है। इस समीक्षा द्वारा व्यक्तियों के सुखों की रक्षा के साथ-साथ कार्य एवं योग्यता के अनुसार फल का वितरण भी सम्भव होता है। धर्मसूत्रों ने न्याय का समावेश राजा के नित्य कर्त्तव्यों के अन्तर्गत किया है। इसे दण्डव्यवस्था का भी आधार माना गया है। गौतम का कथन है कि राजा न्याय के अनुसार वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करे और यदि वे अपने धर्म से विमुख हों तो उन्हें पुनः स्वधर्म में स्थापित करे।[2] इसी प्रसंग में वसिष्ठधर्मसूत्र की उक्ति है कि राजा देश, जाति, कुल के धर्मों पर विचार कर चारो वर्णों को अपने-अपने धर्म में स्थापित करे।[3]

धर्मसूत्रों में न्यायविष्यक नैतिकता की एक प्रधान विशेषता यह है कि वह समानतावादी न होकर व्यक्तियों के सापेक्षिक मूल्य को महत्त्व देती है। वितरणशील न्याय (डिस्ट्रीब्यूटिव जस्टिस) में अरस्तू ने आनुपातिक समानता का नियम प्रतिपादित किया है,[4] जिसके अनुसार लोगों के असमान होने पर उनका भाग भी असमान होना चाहिए। कुछ मनुष्यों का मूल्य दूसरों की अपेक्षा अधिक होता है और यह अधिक मूल्यवत्ता उसके समाज के लिए अधिक मूल्यवान् कार्य से होती है। कुछ इसी प्रकार का दृष्टिकोण धर्मसूत्रों की न्यायविषयक नैतिकता को निर्धारित करता है। यद्यपि वे न्याय के समान वितरण का आदर्श स्वीकार करते हैं, तथापि वे व्यक्तियों में उसके वर्ण और

१- निकोलाय हाटमैन, इथिक्स, खण्ड २, पृ० २३१-२३२, अरस्तू 'दि नाइकोमैकियन इथिक्स, द्र० फिलिप ह्वीलराइट, तदेव,पृ० २०२-२०३ पर उद्धृत।

२- वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्। - गौ २।२६,१०
हरदत्त ने 'न्यायतः' का अर्थ इस प्रकार किया है : 'तान्न्यायतः यथाशास्त्रं षष्ठांशादिभाग-स्वीकारेणाभिरक्षेदभितो रक्षेत्। यथा वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन निरपायास्ते भवेयुः अथवा न्यायत इति यथा देशादिधर्माणां भङ्गो न भवति तथा रक्षेदिति।- गौ २।२।६ की वृत्ति।
हरदत्त की दृष्टि में भी न्याय व्यवस्थित विधान ही है।

३- देशधर्मजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैतानुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान्स्वधर्मे स्थापयेत्।- व १६।७

४- नाइकोमैकियन इथिक्स, ५।३।६ द्र० ह्वीलराइट, नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय, पृ०२०६

लिङ्ग के आधार पर भेद करते हैं। सर अय्यर ने [1] यही बात हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में कही है : 'यद्यपि हिन्दुओं ने न्याय और निष्पक्षता के सद्‌गुणों को परम महत्त्व दिया तथापि उनकी धारणाएँ गहन रूप में वर्णों एवं लिङ्गों के बीच असमानता के सिद्धान्त से अभिव्याप्त थीं।[2]

जहाँ तक दुष्कर्म का प्रश्न है, धर्मसूत्र उसे स्थायी रूप से अनैतिक मानते हैं। वध अहिंसा का विरोधी होने से नित्य ही गर्हित है और अपराध है, किन्तु उसके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों के अपराधियों के लिए एक समान दण्ड नहीं विहित है। ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड से सर्वथा मुक्त किया गया है। अपराध की घोषणा, देशनिष्कासन तथा शरीर पर चिह्नाङ्कन ही उसके लिए दण्ड था। बहुश्रुत ब्राह्मण को उसकी अधिक योग्यता एवं विशेष सामाजिक महत्ता के कारण अवध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य, अपरिवाद्य और अपरिहार्य घोषित किया गया है।[3] दूसरी ओर शूद्र को ब्राह्मण का अपमान करने पर ही जिह्वाच्छेदन, मुख में लोहे के दस अंगुल लम्बे तप्त लोहे का प्रवेश कराने जैसे दण्ड विहित हैं।[4] न्याय में असमानता का उदाहरण व्यभिचार के दण्डों में देखा जा सकता है। यदि शूद्र किसी उच्च्व वर्ण की स्त्री से व्यभिचार करे तो उसकी जननेन्द्रिय कटवाकर सर्वस्व अपहरण कर लेने का दण्ड है, किन्तु यदि तीन उच्च्व वर्ण का पुरुष शूद्र वर्ण की स्त्री से व्यभिचाररत हो तो उसे देशनिष्कासन का दण्ड ही विहित है।[5] इसी प्रकार मनुष्य की हिंसा के निमित्त दण्ड में अपराधी के वर्ण के आधार पर असमानता है। शूद्र द्वारा द्विजाति के ऊपर प्रहार करने की चेष्टा करने पर उसके अंग काटने का विधान है।[6] ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मण की हत्या करने पर चिह्नाङ्कन, किन्तु क्षत्रिय द्वारा वही अपराध करने पर मृत्युदण्ड का उदाहरण

१- सर एस० अय्यर, इवोल्यूशन आफ हिन्दू मारल आइडियल्स, पृ० ६२
"Though the Hindus attached the greatest importance to the virtues of justice and impartiality, their conceptions were deeply permeated by the notions of inequality among the castes and sexes."

२- न शारीरो ब्राह्मणदण्डः। कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्ककराणि।- गौ २।३।४३,४४

३- वि ५।२१,२२,२५

४- आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च।- गौ २।३।५; नाश्य आर्य शूद्राणाम्।-आप २।२७।८

५- गौ २।३।१

भी द्रष्टव्य है।[१]

धर्मसूत्रों में न्यायविषयक धारणा के अन्तर्गत पीडित एवं क्षति उठाने वाले व्यक्ति के वर्ण के आधार पर भी दण्ड में आधिक्य या न्यूनत्व माना गया है। ब्राह्मण-वध को घोरतम पाप कर्म मानकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के वध को उत्तरोत्तर कम पापपूर्ण समझा गया है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का वध भी कम दण्डनीय अपराध है, किन्तु गर्भ धारण करने योग्य अथवा गर्भवती ब्राह्मणी का वध इस कारण क्षत्रिय पुरुष के वध के तुल्य निर्धारित किया गया है कि वह पुत्र उत्पन्न कर सकती थी।[२] इसके विपरीत शूद्र के वध का दण्ड हंस, भास, मोर, चक्रवाक, छुछून्दर, मेढक, कुत्ता जैसे क्षुद्र जीवों के वध के तुल्य भी विहित है।[३] इसी प्रकार चोरी जैसे अपराध में ब्राह्मण के धन की चोरी सर्वाधिक दण्ड का हेतु है और इसमें मृत्युदण्ड तक का विधान है।[४] वस्तुओं की चोरी के प्रसंग में दण्ड का आधार वस्तु का मूल्य और महत्त्व भी है।[५]

न्याय की दृष्टि से व्यक्तियों के प्रति उपर्युक्त असमान व्यवहार के उदाहरणों के साथ एक विपरीत विचार यह देखने को मिलता है कि गौतम ने अधिक ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति को अधिक दण्ड देने का भी विधान किया है। शूद्र वर्ण के चोर से धन का आठ गुना, वैश्य अपराधी से सोलह गुना, क्षत्रिय अपराधी से बत्तीस गुना और ब्राह्मण के स्तेन कर्म का अपराधी होने पर उससे चुराये गये धन का चौंसठ गुना दण्ड बताया गया है।[६] इस न्यायव्यवस्था के नैतिक आधार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वर्ण के उत्कर्ष से विद्या का उत्कर्ष होता है और इस कारण अधिक दण्ड होना चाहिए।[७] किन्तु इस प्रकार का उदाहरण धर्मसूत्रों में एकाकी है।

१- बौ १।१८।१६ २- बौ १।१६।३-७ ३- बौ १।१६।८

४- बौ १२।३।४०-४१, आप १।२५।४ ; व १६।३८

५- विष्णुधर्मसूत्र, अध्याय १६ में द्रष्टव्य है।

६- अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य । द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम्।- गौ २।३।१२-१३

७- विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्।- गौ २।३।१२
द्र० उपर्युक्त पर हरदत्त ' यथा यथा वर्णोत्कर्षेण विद्योत्कर्षस्तथा तथा विहिताक्रमे दण्डभूयस्त्वं भवति। निषेधदोषं ज्ञात्वाऽपि प्रवर्तमानस्य दोषाधिक्यं भवति। अजानतस्त्वन्धकूपपतनवद-नुग्रहोऽस्ति।'

धर्मसूत्रों का न्यायविधान न केवल वर्ण एवं लिङ्ग की असमानता के सिद्धान्त से प्रेरित है, अपितु इस असमानता की रक्षा के लिए भी वे परम सचेष्ट हैं। वर्णधर्म के उल्लंघन करने पर सम्पत्तिहरण[१], शूद्र को द्विजातिविहित वेदाध्ययन, अध्यापन जैसे कर्म की चेष्टा मात्र करने पर मुख में खौलता तेल डालने और जिह्वाच्छेदन[२] आदि दण्ड इसके प्रमाण हैं। वर्णों की असमानता को स्वीकार न करते हुए उच्च वर्ण की किसी प्रकार से समानता का आचरण भी दण्डनीय माना गया है।[३]

क्षतिपूरक न्याय (रिमेडियल जस्टिस) का सिद्धान्त भी धर्मसूत्रों में स्वीकृत प्रतीत होता है, विशेषतः सम्पत्ति के सम्बन्ध में। ब्राह्मण के धन को पुनः वापस कराने में यदि राजा लुटेरों द्वारा मारा जाता है तो वह एक परम पुण्य का कार्य है।[४] चोरों द्वारा चुराये धन को पुनः धनी को प्राप्त कराना राजा का कर्त्तव्य है। चोरों से न छीन सकने पर चोरी गया हुआ धन राजा को अपने कोश में से देना होता था।[५] अधमर्ण से उत्तमर्ण को धन वापस दिलाना,[६] कृषि के कार्य में नियोक्ता की हानि कराने वाले से क्षतिपूर्ति कराना,[७] निक्षेप के धन को दिलवाना[८] राजा के कर्त्तव्यों में विहित है। व्यक्तियों की सम्पत्ति की रक्षा राजा का नित्य एवं अनिवार्य धर्म है, जो राजा को करग्रहण के बदले करना होता था।[९] कर से प्राप्त धन राजा का वेतन होता था।[१०] इस कारण व्यक्तियों के पारस्परिक आर्थिक संबन्धों में न्याय की रक्षा उसका प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। पैतृक सम्पत्ति के अधिकार, बालक, अनाथ और स्त्री के धन की रक्षा उसी का दायित्व है। इस प्रकार धर्मसूत्रों ने सम्पत्ति के अधिकार को एक मूलभूत अधिकार

१- शिष्टाकरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चैलपिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम्।- गौ २।३।२४

२- वि ५।२४, गौ २।३।४

३- आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः।- गौ २।३।५

४- आप २।२६।२

५- गौ २।१।४६-४७, वि ३।६६,६७

६- वि ६।७६, १८।२२

७- वि ६।७६, १८।२२

८- गौ २।३।१५-२०; व १६।११-१२; वि ५।१५३-१५६

९- वि ५।१६६-१७०

१०- तद्रक्षणधर्मित्वात्।-गौ २।१।२८ इस कारण प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध में प्राणों की चिन्ता न करना तथा मरने पर स्वर्ग प्राप्त करना प्रशंसित है।

के रूप में स्वीकारा है और यह सिद्धान्त भी अपनाया है कि अपराधी को भी जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की उपलब्धि होनी चाहिए।[१]

धर्मसूत्रों की न्यायविधि एक सुदृढ आधार पर अवलम्बित है और इस आचार में नैतिकता का स्पष्ट दर्शन होता है। न्याय करते समय राजा को निम्नलिखित निर्देश दिये गये हैं : प्रजाओं के प्रति समान भाव रखे।[२] देशधर्म, जाति एवं कुल के धर्मों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर न्याय करे।[३] दण्ड देना राजा का अनिवार्य कर्त्तव्य है, अपराधी को दण्ड न देने पर वह स्वयं पापी होता है।[४] दो पक्षों के विवाद में किसी के प्रति रुचि नहीं लेनी चाहिए।[५] अनुचित निर्णय होने पर राजा, साक्षी, सभासद् भी पाप के भागी होते हैं।[६] इन निर्देशों के अतिरिक्त न्याय हेतु साक्षी एवं लेख्य के प्रमाणों को भी मान्यता दी गयी है और इसका पूरा प्रयत्न किया गया हे कि अन्याय न हो, अपराध के अनुसार ही दण्ड दिये जायें।[७] पुरुष की शक्ति और उसके अपराध के अभ्यास का ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार कम या अधिक दण्ड दिया जाय।[८] हिंसा और आक्रोश के अपराधों में देश, काल, धर्म, अवस्था और स्थान का विचार करते हुए दण्ड देना चाहिए।[९] अपराधों में व्यक्ति की जाति, धन, अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर ही तथा विद्वानों से मन्त्रणा कर ही दण्ड देना चाहिए।[१०] इन सभी उक्तियों से धर्मसूत्रों की न्यायविषयक नैतिकता के सिद्धान्त स्पष्ट हैं।

कुछ स्थितियों में धर्मसूत्र का दृष्टिकोण सुधारवादी है और वह अपराधी को

१- द्र० यथा गौ २।३।२४

२- समः प्रजासु स्यात्।- गौ २।२।५ ३- व १६।७

४- बौ २।१।१६; गौ २।३।४२,४५; व १२६।५६ ; आप २।२८।१४

५- द्वयोर्विवदमानयोः पक्षान्तरं न गच्छेत्।- व १६।३

६- बौ १।१६।२०

७- अपराधानुरूपं च दण्डं दापयेत्।- वि ३।६१

८- पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञानाद्दण्डनियोगः।- गो २।३।४८

९- दण्डस्तु देशकालधर्मवयोविद्यास्थानविशेषैर्हिंसाक्रोशयोः कल्प्यः। आगमाच्च दृष्टान्ताच्च। - व १६।६,१०

१०- वि ५।१९४

अपने सुधार का अवसर प्रदान करता है[1] तथा एक बार अपराध को क्षमा करने का भीा विधान करता है, किन्तु दूसरी बार अपराध करने पर उसे क्षम्य नहीं मानता है।[2] यह सुधारवादी दृष्टिकोण प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में और अधिक स्पष्ट है।

न्यायविषयक नैतिकता के इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व धर्मसूत्रों में विवेचित दिव्य के औचित्य पर विचार करना आवश्यक है। वस्तुतः दिव्य में सामाजिक न्याय के ऊपर धार्मिक विश्वास या दैवी चमत्कार का विश्वास प्रबल दिखायी पड़ता है। संभवतः, इसका आश्रय तभी लिया जाता होगा जब साक्षी आदि प्रमाणों से निर्णय असंभव होता होगा। जो भी हो, इसमें न्याय हेतु जो साधन अपनाने का विधान है उनसे वास्तविक अपराधी का ज्ञान हो पाता होगा यह विश्वसनीय नहीं है। तार्किक दृष्टि से दिव्य का कोई नैतिक महत्त्व नहीं है। इतनी उपयोगिता अवश्य हो सकती है कि दैवी चमत्कार के भय से अपराधी स्वयं ही अपराधस्वीकृति के लिए बाध्य हो जाते होंगे। इस प्रकार की न्यायविधि स्थायी और सर्वस्वीकृत रही होगी यह सन्देहास्पद है। नैतिकता की तर्कमूलक स्थिति न होने से ही दिव्य या समयक्रिया का लोप हो गया ।

प्रायश्चित्त का नैतिक प्रयोजन

पाप कर्म की विभिन्न श्रेणियों और उनके लिए प्रायश्चित्त का विवेचन धर्मसूत्रों का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है। पाप की अवधारणा की पृष्ठभूमि में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त हैं। न्याय एवं दण्ड के समान ही पाप और प्रायश्चित्त धर्मसूत्रों की सामाजिक नैतिकता का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इस व्यवस्था में भी वर्णों का विचार अधिक किया गया है, तथापि दुष्कर्म से विरत करने के लिए अपराधी व्यक्ति के प्रति एक सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। ब्रह्महत्या, ब्राह्मण-सुवर्णापहरण अतिपातक के रूप में उल्लिखित किये गये हैं और ब्राह्मण वर्ण के सापेक्षिक महत्त्व को ध्यान में रखा गया है। अतिपातकों [3] में सुरापान की गणना कुछ

१- नियम का अतिक्रमण करने वाले को उसके द्वारा अपराधवृत्ति का त्याग किये जाने के समय तक बन्धन में रखना भी विहित है।- आप २।२७।१८,१६

२- द्वितीयमपराधं न स कस्यचित्क्षमेत्।- वि ३।६३

३- द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का अध्याय ६ ।

विचित्र लगती है, क्योंकि वह ब्रह्महत्या और गुरुतल्पगमन की कोटि में आने योग्य नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार समुद्रयात्रा को पातक कर्म मानना[१] तत्कालीन नैतिक दृष्टि का ही सूचक है। उपपातकों में जिन पापकर्मों की गणना की गयी है, वे भी आधुनिक नैतिक दृष्टि से एक धरातल पर रखे जाने योग्य नहीं हैं, किन्तु धर्मसूत्रकाल में जिन पाप कर्मों को समान रूप से गम्भीर माना जाता था उनकी रोचक सूची प्रस्तुत करते हैं।

यदि नैतिकता के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो पाप कर्म करने वाले के लिए पतित का जीवन, त्याग एवं पात्रनिनयन जैसी बाध्यतामूलक क्रियाएँ एक कठोर दण्ड का ही रूप हैं। दुष्कर्म से विरत करने के लिए प्रायश्चित्त शारीरिक या आर्थिक दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली रहे होंगे, किन्तु इसके लिए एक धार्मिक बुद्धि, श्रद्धा, सदसद्विवेक, आत्मग्लानि, अनुताप एवं दुष्कर्म से मुक्त होने का संकल्प आदि कई मानसिक स्थितियों की आवश्यकता होती थी जो संभवतः साधारण व्यक्ति के लिए कठिन रही होगी। एक असंगत तथ्य यह देखने को मिलता है कि कुछ धर्मसूत्र तो पतित के पुत्र को भी जन्मना पतित मानते हैं।[२]

प्रायश्चित्त का आधार भी श्रुति है। ये प्रायश्चित्त जप, तप, होम, उपवास और दान के रूप में विहित हैं।[३] पाप कर्मों के अनुसार इनमें भी कोटियों की भिन्नता है। अतिपातक कर्मों के लिए बड़े प्रायश्चित्त और उससे कम के लिए छोटे प्रायश्चित्त विहित हैं।[४] इनका निर्देश भी प्रायश्चित्त करने वाले के शरीर,आयु, बल, काल और कर्म का सम्यक् विचार कर ही किया जाता था।[५]

आत्मनाश जैसे प्रायश्चित्तों का नैतिक उद्देश्य विवादास्पद है। अतएव कुछ धर्मसूत्रकार इसे घोर पातक बताते हैं।[६] सुरापान और ब्राह्मण के सुवर्ण की चोरी जैसे

१- बौ २।२।२

२- व १३।५१; बौ २।२।११; आप १।२६।१२-१४; सत्या २६।७।६६-७१ में हारीत का मत।

३- तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम्। - गौ ३।१।११

४- एनःसु गुरुषु गुरुणि लघुषु लघूनि।- गौ ३।१।१६ तुलना ० बौ ४।१।२; बौ ३।१०।१७; आप २।१२।२२

५- बौ १।१।१६

६- आप १।२८।१७ ने आत्मघाती को अभिशस्त बताया है। आपस्तम्ब ने हारीत का मत भी अपने समर्थन में उद्धृत किया है। आप १।२८।१६

पाप के लिए भी आत्मघात का प्रायश्चित्त विहित है। प्रायश्चित्त के रूप में ब्रह्मचर्य, वेद का जप, व्रत का आचरण, होमकर्म आदि सभी मानसिक शुद्धि के साधन हैं और इन सबमें व्यक्ति के सुधार का नैतिक आदर्श विहित है। वैदिक मन्त्रों का जप भी अन्य प्रकार के कठिन तपस्यापूर्ण प्रायश्चित्तों के तुल्य घोषित किया गया है। इसका कारण वेद के प्रति परम श्रद्धा ही है। आस्तिक बुद्धि उत्पन्न होने पर ही वेदविहित धर्म के आचरण की प्रवृत्ति हो सकती है ओर इसी विचार से मन्त्रजप भी एक प्रमुख प्रायश्चित्त बना हुआ है, किन्तु जप जैसे प्रायश्चित्त अन्य कठोर आत्मपीडन के प्रायश्चित्तों की तुलना में हल्के प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार पञ्चगव्य भक्षण, यावकप्राशन जैसे प्रायश्चित्त भी अपेक्षतया अधिक सुकर हैं।

कर्म का सिद्धान्त

भारतीय धर्म में कर्म का सिद्धान्त भी नीतिशास्त्र की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रायश्चित्त के प्रकरण में धर्मसूत्रों में आयी कुछ उक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि नैतिक निर्णय की स्थिति में कर्म का विचार व्यक्ति के लिए सहायक होता था। कर्मसिद्धान्त का अनिवार्य सम्बन्ध पुनर्जन्म की धारणा से है। मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्म सञ्चित होते हैं और उन कर्मों का भोग करने के लिए जीवात्मा को पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। मनुष्य का वर्तमान जीवन भी विगत जन्म के कर्मफल के कारण है और भविष्य में भी उसका पुनर्जन्म होगा। इस विश्वास से प्रेरित कर्मसिद्धान्त को धर्मसूत्रों ने भी अपने धर्मव्यवस्था का एक प्रमुख आधार बनाया है। अपने कर्मों के फल का भोग करने के अनन्तर उससे शेष बचे हुए फल के अनुसार ही मनुष्य विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, विद्या, शील, धन, सुख एवं बुद्धि प्राप्त कर पुनः जन्म लेता है।[१] पूर्वजन्म के पुण्य के शेष होने पर ही वेद का विशिष्ट ज्ञान भी प्राप्त होता है।[२] व्यक्ति को उसका विशिष्ट वर्ण भी अपने पूर्वजन्म के कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होता है इसी विश्वास से धर्मसूत्रों ने वर्णों के आपेक्षिक महत्त्व

१- गौ २।२।२६ द्रष्टव्य आप २।२।३ 'ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते।'

२- आप १।५।५

एवं उत्कर्ष का समादर आग्रहपूर्वक किया है।

गौतम का कथन है कि मनुष्य के कर्मों का क्षय नहीं होता।[१] विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में मनुष्य कर्मपाश के बन्धन में बँधा होता है।[२] उत्पन्न की जिस प्रकार अवश्य मृत्यु होती है उसी प्रकार मृत का पुनर्जन्म अवश्य होता है।[३] मनुष्य के सुकृत और दुष्कृत ही मृत्यु के बाद उसके साथ जाते हैं।[४] मनुष्य कहीं भी जाय अकेला धर्म ही उसके साथ जाता है, अतएव इस असार मृत्युलोक में धर्म का आचरण ही करना चाहिए।[५] जैसे सहस्रों गायों में बछड़ा अपनी माता को ढूँढ लेता है वैसे ही पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता को ढूँढ लेता है।[६] पापी व्यक्ति अपने पापों का फल भोगने के बाद पक्षियों का जन्म पाते हैं और यदि वे मनुष्य का जन्म पाते हैं तो अनेक दुर्लक्षणों से युक्त होते हैं।[७]

कर्म का सिद्धान्त नैतिक आचरण का प्रेरक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सर अय्यर का यह कथन संगत प्रतीत होता है कि यह एक सिद्धान्त से अधिक कुछ और हो सकता है यह सिद्ध करना कठिन है और सद् या असद् अथवा सौभाग्य या दुर्भाग्य की सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में सफल नहीं होता।[८]

१- न हि कर्म क्षीयत इति।- गौ ३।१।१५

२- कर्मपाशवशो जन्तुस्तत्र का परिवेदना।- वि २०।२८

३- जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च।- वि २०।२९

४- सुकृतं दुष्कृतं चोभौ सहायौ यस्य गच्छतः।
बान्धवैस्तस्य किं कार्यं शोचद्भिरथवा न वा ॥- वि २०।३१

५- धर्म एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचनगामिनम्।
नन्वसारे नृलोकेऽस्मिन्धर्मं कुरुत माचिरम् ॥- वि २०।४०

६- यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारं विन्दते ध्रुवम् ॥ - वि २०।४७

७- वि ४३।५५, अध्याय ४४ एवं ४५

८- "That the doctrine of Karma is not successful in solving all the problems of good or evil and good or bad fortune may be conceded. Thus, it is more than a theory cannot be asserted or proved."
- Sir S. Aiyar, *The Evolution of Hindu Moral Ideals*, p. 135

साधारण धर्म : विषयपरक नैतिकता

साधारणधर्म धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म का अभिन्न अंग है। वे ऐसे नित्य कर्त्तव्य हैं जो व्यक्ति को अपनी सामाजिक स्थिति , जीवन की विशिष्ट अवस्था से निरपेक्ष होकर करणीय हैं। वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म एवं गुणधर्म के विपरीत साधारणधर्म मनुष्यमात्र के लिए विहित हैं।[1] वस्तुतः साधारणधर्म या नैतिक सद्गुण ही वर्णाश्रमधर्म के भी आधार हैं। इन गुणों पर धर्मसूत्रों ने जिस प्रकार प्रत्येक सन्दर्भ में परम महत्त्व दिया है वह उनकी विषयसापेक्ष नैतिकता को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देता है। इन सद्गुणों को मनुष्य के आत्मोत्कर्ष के लिए परम अनिवार्य मानकर ग्रहण किया गया है। जैसा कि प्रो० मैत्र का कथन है हिन्दुओं की नैतिकता का मूल लक्ष्य व्यक्ति को स्वातन्त्र्य प्रदान करना है, उसे पूर्ण एवं स्वावलम्बी बनाना है और उसे सभी भौतिक एवं सामाजिक बन्धनों से मुक्त करना है।[2]

हिन्दू धर्म का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में साधारणधर्म के अन्तर्गत आने वाले नैतिक गुणों की अनेक स्थलों पर गणना की गयी है। यथा मनु, प्रशस्तपाद, वात्स्यायन एवं पतञ्जलि ने अपने-अपने ढंग से इन गुणों का वर्गीकरण किया है।[3] मनु धृति, क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध की गणना करते हैं, तो वात्स्यायन इसके तीन प्रमुख भेद शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक करने के अनन्तर शारीरं धर्मों में दान, परित्राण, परिचरण (सामाजिक सेवा), वाचिक के अन्तर्गत सत्य, हितवचन, प्रियवचन एवं स्वाध्याय का तथा मानसिक धर्मों में दया, अस्पृहा एवं श्रद्धा का समावेश करते हैं।[4] इन नैतिक गुणों की स्थापना धर्मसूत्रों से

१- गोविन्दस्वामी ने अहिंसादि नैतिक गुणों को निमित्त धर्म के अन्तर्गत माना है और वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म एवं निमित्तधर्म इन पाँच भेदों में भी प्रत्येक के साधारण और विशिष्ट उपभेद बताये हैं। द्र० बौ १।१।३ का भाष्य। किन्तु स्वयं धर्मसूत्रों में इन नैतिक गुणों को साधारणधर्म के रूप में उल्लिखित किया गया है।

२- "Hindu morality primarily aimed at the autonomy of the individual, ie. at making him self-sufficient and self-dependent and free from all external bonds, physical and social."- *The Ethics of the Hindus, p.8*

३- प्रो० मैत्र, तदेव, पृ० ७-२३, ६०-२०८

४- तदेव, पृ०१६२-१६३

पहले संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में पूर्ण रूप से हो चुकी थी। धर्मसूत्र बल देकर उनके आचरण की प्रेरणा देने का ही महान् प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

धर्मसूत्रों में भी अनेक स्थलों पर नैतिक गुणों की गणना की गयी है। गौतमधर्मसूत्र में आठ आत्मगुणों को निम्नलिखित प्रकार से गिनाया गया हे- सभी प्राणियों पर दया, क्षमाशीलता, अनसूया, पवित्रता, अनायास अर्थात् अपने को कष्ट देने वाले कर्म न करना, मङ्गल अर्थात् उत्तम कर्म का आचरण, अकार्पण्य और अस्पृहा।[१] स्नातक के आचारों के प्रसंग में अहिंसा, मृदुता अथवा क्षमाशीलता, दृढनिश्चय, संयम और दानशीलता की चर्चा की गयी है।[२] वर्णधर्म का विवेचन करते हुए शूद्र के लिए सत्य, अक्रोध और पवित्रता का ही धर्म के रूप में निर्देश है।[३] पुरोहित के गुणों का उल्लेख करते हुए भी नैतिक गुणों का महत्त्व स्पष्ट किया गया हे, विशेषतः उत्तम वाणी, शील, न्यायवृत्त अर्थात् लोक से अविरुद्ध आचरण और तप अर्थात् भोग से पराङ्मुख होना।[४] बौधायन ने शिष्ट व्यक्ति को निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न कहा है- दूसरों से द्वेष न करना (विगतमत्सर), अहंकारहीन होना, कुम्भीधान्यता (एक दिन से अधिक के लिए अन्न संग्रह न करना), अलोलुपता और दम्भ, दर्प, लोभ, मोह, क्रोध से विवर्जित होना।[५] संन्यासी के व्रत और उपव्रत में अहिंसा, सत्य, अस्तैन्य, मैथुनवर्जन, त्याग, अक्रोध, गुरुशूश्रूषा, अप्रमाद, शौच और आत्मशुद्धि के गुणों को ही विवेचित किया गया है।[६] ब्रह्मचारी के गुणों में धैर्य, आत्मसंयम, उत्साह, अक्रोध, अनसूया, सत्यभाषण, लज्जाशीलता, अहंकारहीनता की गणना भी इन नैतिक गुणों के

१- दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति।- गौ १।८।२४

२- नित्यमहिंस्रो मृदुर्दढकारी दमदानशीलः।- गौ १।९।७३

३- तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम्।- गौ २।१।५२

४- ब्राह्मणं च पुरोदधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयःशीलसमपन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्।- गौ २।२।१२

५- शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहंकाराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः। - बौ १।१।५

६- अथेमानि व्रतानि भवन्ति - अहिंसा सत्यमस्तैन्यं मैथुनस्य च वर्जनं त्याग इत्येव। पञ्चैवोपव्रतानि भवन्ति- अक्रोधो गुरुशुश्रूषाऽप्रमादश्शौचमाहारशुद्धिश्चेति।- बौ १।१८।२,३

अर्जन का महत्त्व प्रतिपादित करती है।[1]

ब्राह्मण का एक आदर्श चित्र धर्मसूत्रों में प्ररतुत किया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र में ब्राह्मण के लक्षण निम्नलिखित बताये गये हैं : योग, तप, दम, दान, सत्य, शौच, श्रुत अर्थात् वेदज्ञान, घृणा अर्थात् दया, विद्या, विज्ञान, आस्तिक्य।[2] इसी धर्मसूत्र में कहा गया है कि जो शान्त और दान्त हैं, जिनके कान वेदज्ञान से पूर्ण हैं, जो जितेन्द्रिय हैं ओर प्राणिवध से निवृत्त हैं, जिनका हाथ दान लेते समय संकुचित रहता है, वे ब्राह्मण उद्धार करने में समर्थ होते हैं।[3] सत्याषाढधर्मसूत्र में योगी के आदर्श का विस्तार से उल्लेख किया गया है और उसमें सभी नैतिक गुणों की गणना की गयी है।[4] अन्यत्र एक सुन्दर रूपक द्वारा नैतिक गुणों के समुच्चय को एक मानव यज्ञ के रूप में वर्णित किया गया है : 'ध्यान अग्नि है, सत्य उपनयन है, क्षान्ति आहुति है, लज्जा सुख है, अहिंसा और सन्तोष पुरोडाश हैं, तप यूप है, प्राणियों को अभयदान दक्षिणा है। इस प्रकार मानवयज्ञ कर ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करता है।[5] बौधायनधर्मसूत्र में व्रतों का विवेचन कर कहा गया है[6] कि जो अन्न का दान करता है, सत्यवादी है, सभी प्राणियों पर दया

१- सत्यवादी ह्रीमानहङ्कारः।- बौ १।३।२१; मृदुः। शान्तः। दान्तः। ह्रीमान्। दृढधृतिः। अग्लास्नुः। अक्रोधनः। अनसूयुः।- आप १।३।१७-२५

२- योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं श्रुतं घृणा।
विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥
दीर्घवैरमसूया चासत्यं ब्राह्मणदूषणम्।
पैशुन्यं निर्दयत्वं च जानीयाच्छूद्रलक्षणम् ॥ - व ६।२३-२४

३- ये शान्तदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णाः जितेन्द्रियः प्राणिवधान्निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिताग्रहस्तास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥- व ६।२५

४- अक्रोधोऽहर्षोऽरोषोऽलोभोऽमोहोऽद्रोहोऽवध्यः सत्यवचनमनत्याशो ऽपैशुनमनसूया संविभागस्त्याग आर्जवं मार्दवं शमो दमः सर्वभूतैरविरोधो योग आर्यमानृशंस्यं तुष्टिरिति वर्णाश्रमाणां सभयपदानि तान्यनुतिष्ठन्विधिना सर्वगामी भवति।- सत्या० २६।६।१४

५- ध्यानाग्निः सत्योपनयनं क्षान्त्याहुतिः स्रुवं ह्रीः पुरोडाशमहिंसा सन्तोषो।
यूपः कृच्छ्रं भूतेभ्योभयदाक्षिण्यमिति कृत्वा क्रतुं मानसं याति क्षयं बुधः ॥-- व ३०।८

६- योऽन्नदस्सत्यवादी न भूतेषु कृपया स्थितः।
पूर्वोक्तयन्त्रशुद्धेभ्यस्सर्वेभ्यस्सोऽतिरिच्यते ॥ - बौ ४।५।२३

करता है और व्रतों द्वारा शुद्ध है वह सबसे बढ़कर उत्कृष्ट व्यक्ति है।

वैखानसधर्मसूत्र में गृहस्थ के निम्नलिखित नैतिक गुण विहित हैं : दया, सत्य, ईमानदारी, उत्तम आचरण, स्वाध्याय एवं तर्पण।[१] वानप्रस्थ्य के प्रसंग में भी बाह्य नियम पर आधृत दस क्रियाओं की चर्चा है : स्नान, स्वच्छता, अध्ययन, दान, यज्ञ, उपवास, इन्द्रियनिग्रह, व्रत, मौन तथा दस नियम, जिनके अन्तर्गत सत्य, विनय, श्रद्धा, सहिष्णुता, आत्मसंयम, मित्रता, सरलता, मृदुता, अहिंसा और माधुर्य परिगणित हैं।[२] इसी प्रसंग में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि वानप्रस्थ प्रत्येक प्राणी के प्रति दयालु, निष्पक्ष, सहिष्णु, श्रद्धालु और द्रोहरहित होवे, सुख के प्रति उदासीन रहे, प्रियभाषी, ईर्ष्यारहित एवं लोभशून्य स्वभाव का हो।[३]

सामान्य धर्मों की चर्चा करते हुए धर्मसूत्रों ने नैतिक गुणों को सभी मनुष्यों के कर्त्तव्य के रूप में विहित किया है। वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार सत्य, अक्रोध, दान, अहिंसा और प्रजनन सभी व्यक्तियों का धर्म है।[४] मोह, अक्रोध, असूया का अभाव सभी आश्रमों का इष्ट धर्म है।[५] विष्णुधर्मसूत्र सामान्य धर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित की गणना करता है- क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थानुसरण, दया, आर्जव, लोभशून्यत्व, देवब्राह्मणपूजन अर्थात् आस्तिकता एवं अनसूया।[६] यहाँ हम धर्मसूत्रों में विशेष महत्त्व के साथ जिन नैतिक गुणों का प्रतिपादन किया गया है उन पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

सत्य

सत्य की नैतिक अवधारणा वैदिक संहिताओं के काल में ही पूर्ण विकसित हो चुकी थी।[७] धर्मसूत्रों में यह प्रधान नैतिक मूल्य के रूप में विवेचित है। उपर्युक्त नैतिक

१- वैखानस ८।४ २- वैखा ६।४ ३-वैखा १०।५

४- सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजननं च । - व ५।४

५- मोहक्रोधासूयाविवर्जनं सर्वाश्रमाणां धर्म इष्टः।- व १०।३०

६- क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्रह्मणपूजनम्। अनभ्यसूया च तथा धर्म सामान्य उच्यते ॥
- वि ११।१६,१७

७- यथा ऋ७।१०४।१२

गुणों के विवेचन में यह स्पष्ट है कि सत्य का महत्त्व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास सभी आश्रमों में सर्वोपरि है। मनुष्य के गुणों में सत्यभाषण तथा सत्य आचरण सर्वत्र प्रशंसित है। विष्णुधर्मसूत्र सत्य को परम शक्तिसम्पन्न तत्त्व के रूप में वर्णित करते हुए कहता है : 'सत्य से आदित्य तपता है, चन्द्रमा प्रकाशित होता है, वायु बहती है, पृथ्वी धारण करती है, सत्य से ही जल विद्यमान है। सत्य से ही अग्नि, आकाश, वेदों एवं यज्ञों का अस्तित्व है।'[१] सत्य का फल सहस्र अश्वमेध से भी अधिक बताते हुए कहा गया है - सहस्र अश्वमेध और सत्य तुला पर रखे गये। सहस्रों अश्वमेध से भी सत्य अधिक भारी सिद्ध हुआ।[२]

विशेषतः न्याय के सन्दर्भ में व्यवहार में उपस्थित साक्षी के सत्यभाषण की प्रायः सभी धर्मसूत्रों ने प्रशंसा की है। ऐसे अवसर पर सत्य को श्रेष्ठ धर्म बताया गया है।[३] सत्य भाषण से साक्षी को लोक में मान प्राप्त होता है[४] और परलोक में स्वर्ग[५]। असत्यभाषण से नरक की प्राप्ति होती है।[६] केवल यथातथ्य वचन ही सत्य नहीं है, सत्य को जानते हुए भी उसका अवचन भी उतना ही दोषपूर्ण है जितना असत्यभाषण।[७] विवाद में साक्षी के असत्यभाषण से विवादास्पद व्यक्ति या वस्तु के महत्त्व के अनुसार अपेक्षाकृत अधिक पाप होता है।[८] गौ, अश्व से भिन्न पशुओं के विषय में असत्यभाषण का पाप दस पशुओं के वध के तुल्य कहा गया है।[९] किसी संशययुक्त वचन को प्रत्यक्ष के समान कहना भी पाप का हेतु है।[१०]

१- वि ८।२७-३५

२- अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥- व ८।३६

३- सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनम्।- गौ २।४।३१

४- बौ १।१६।६

५- गौ २।४।७; आप २।२६।१०

६- गौ २।४।८; आप २।२६।६ ७- गौ २।४।६

८- गौ, अश्व, पुरुष और भूमि के विषय में असत्यभाषण से पाप उत्तरोत्तर दस गुना अधिक बताया गया है। - गौ २।४।१५

६- यथा गौ २।५।१४

१०- आप २।१२।२१

धर्मसूत्रों में असत्य की घोरनिन्दा होने पर भी कई स्थितियों में असत्यभाषण का नैतिक औचित्य भी प्रतिपादित किया गया है। यथा 'यदि असत्यभाषण से किसी के प्राणों की रक्षा होती हो तो उस असत्यभाषण से साक्षी को दोष नहीं लगता।[१] गौतम ने कुछ आचार्यों का यह मत भी उल्लिखित किया है कि यदि विवाह, मैथुन, उपवास तथा रोगी आदि को सान्त्वना देने के लिए असत्यभाषण किया जाय तो वह पाप कर्म नहीं होता।[२] वसिष्ठ ने उपर्युक्त के अतिरिक्त प्राणों का संकट होने पर, सम्पूर्ण सम्पत्ति का विनाश निकट होने पर तथा ब्राह्मण की रक्षा के प्रयोजन से बोले गये असत्य को भी दोषरहित घोषित किया है।[३] असामान्य मानसिक स्थितियों में बोला गया असत्य भी दोषरहित मानते हुए गौतम कहते हैं : 'क्रोधी, अत्यन्त हर्षित, भयाकुल, रोगी, लोभी, बालक, अत्यन्त वृद्ध, मूढ और मत्त आदि व्यक्ति के वचन मिथ्या होने पर भी पाप के निमित्त नहीं होते हैं।[४]

वाणी का संस्कृत होना भी नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। मनुष्य को ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिए जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे।[५] प्रियवचन बोलकर मनुष्यों से मित्रता करनी चाहिए।[६] स्वागत के वचन और सुन्दर एवं प्रिय वाणी सज्जनों की अक्षय सम्पत्ति है।[७] बौधायन ने स्नातक के लिए अश्लील, रूक्ष और कठोर वाणी का वर्जन किया है, जो सामान्यतः सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य समझना चाहिए।[८]

धर्मसूत्रों ने सत्यवचन के साथ-साथ सत्य आचरण पर भी बल दिया है। गौतम ने सत्यधर्मा होने का उपदेश दिया है।[१०] विष्णुधर्मसूत्र में वैडालव्रतिक और बकव्रती के लिए जो अपने व्यवहार में धूर्तता का आश्रय लेते हैं, अन्धतामिस्र नरक में

१- नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम्।- गौ २।४।२४

२- विवाहमैथुननर्मार्तसंयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम्।- गौ ३।५।२६

३- उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥- व १६।३६

४- गौ १।५।२२

५- गौ १।२।२५

६- आप २।२०।२१

७- व १३।६१

८- शुक्ला रूक्षा परुषा वाचो न ब्रूयात्।- बौ २।६।२०; तुलना- सत्या २६।८।३१-३५

९- गौ १६६८

१०- वि ६३।१०

गिरने का फल बताया है[१] तथा वृथालिङ्गी (मिथ्या दूसरे आश्रम का वेश धारण करने वाले) को श्राद्ध में भोजन कराने के लिए अयोग्य माना है।[२] इसी धर्मसूत्र में कहा गया है कि बिल्ली के समान धूर्तता करने वाले ब्राह्मण को, अथवा बगुले के समान पाखण्डी ब्राह्मण को माँगने पर जल तक नहीं देना चाहिए।[३] वसिष्ठ ने भी पाखण्ड और वञ्चना जैसे असत्याचरण की निन्दा की है।[४]

अहिंसा

सत्य के समान अहिंसा भी अत्यन्त प्राचीन काल से स्वीकृत नैतिक मूल्य है। धर्मसूत्रों में हिंसा और तप के लिए जो घोर दण्ड एवं प्रायश्चित्त विहित हैं वे इसका विशिष्ट महत्त्व व्यक्त करते हैं। यद्यपि अहिंसा को सत्य की अपेक्षा अधिक वरेण्य नैतिक मूल्य माना गया है और हिंसा से बचने के लिए असत्यभाषण भी दोषरहित घोषित किया गया है, तथापि इसकी जो व्यवस्थाएँ की गयी हैं उनमें व्यक्तियों के वर्ण और गुणों का ध्यान रखकर अपराध या पाप का निर्धारण किया गया हे, जैसे ब्राह्मण-वध सर्वाधिक पाप से युक्त और शूद्र का वध उसकी अपेक्षा बहुत कम पापपूर्ण समझा गया है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का वध भी कम घोर दुष्कर्म के रूप में ग्रहण किया गया है। सामान्यतः धर्मसूत्र मनुष्य से लेकर वनस्पतियों तक के प्रति अहिंसा का उपदेश करते हैं और किसी को भी क्षति पहुँचाने का वर्जन करते हैं।

जैसे कुछ असाधारण स्थितियों में असत्यभाषण को दोषपूर्ण नहीं माना गया है वैसे ही कई परिस्थितियों में हिंसा को अधर्म की अपेक्षा धर्म ठहराया गया है। राजधर्म से संबद्ध अध्याय में हमने युद्धविषयक हिंसा एवं नैतिकता का विचार किया है।[४] शत्रु राजा से अपने राष्ट्र की रक्षा करना राजा का नैतिक कर्त्तव्य है, किन्तु इस कर्त्तव्य का पालन युद्ध में हिंसा के विना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में हिंसा ही नैतिक मूल्य बन जाती है। इसीलिए धर्मसूत्र कहता है कि युद्ध में हिंसा से कोई दोष नहीं उत्पन्न होता।[५] पशुवध सामान्यतः हिंसा है, किन्तु याज्ञिक प्रयोजन से पशुवध हिंसा नहीं माना गया है।

१- वि ८२।५-६ २- वि ६३।७

३- वि ६।५० ४- द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का अध्याय ७

५- न दोषो हिंसायामाहवे।- गौ २।१।१७, द्र० वि ५!।६४

यहाँ धर्मसूत्र की दृष्टि में वध का सम्पादन उच्चतर नैतिक मूल्य बन जाता है।[१] चूँकि विना पशुवध के यज्ञ कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए यज्ञ में पशुवध अपरिहार्य है और हिंसा नहीं है।[२] यह धर्मसूत्र का अपना दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार यज्ञ में जिन वनस्पतियों, पशुओं, वृक्षों और पक्षियों का नाश होता है, वे पुनः उत्तम स्वरूप प्राप्त कर उत्पन्न होते हैं।[३] श्रौत एवं स्मार्त कर्मों से भिन्न पशुहिंसा को यह कहकर वर्जित किया गया है कि ऐसे वध में पशु के शरीर में जितने रोएँ होते हैं उतने दिन वध करने वाला लोक-परलोक में कष्ट भोगता है।[४] अहिंसक पशु के वध का पाप और भी भयंकर बताया गया है।[५] मांसभक्षण के त्याग की प्रशंसा की गयी है।[६] जिस प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण का वध अपेक्षतया अधिक अधर्म है उसी प्रकार पशुओं में गौ का वध अधिक पापप्रद घोषित किया गया है।

युद्ध में भी नैतिक आचरण पर बल देते हुए धर्मसूत्र हथियार डालने वाले, अस्तव्यस्त केशों वाले, हाथ जोड़कर दया की भीख माँगने वाले, युद्धक्षेत्र से डरकर भागने वाले, विना अश्व वाले, अशक्त होकर बैठे हुए, छिपने के लिए ऊँचे स्थान पर चढ़े हुए, अपने को दूत, गौ और ब्राह्मण बताने वाले का वध निषिद्ध करते हैं।[७] सुरापान से मत्त, पागल, चेतनाहीन, कवचादि बन्धन से हीन, स्त्री, बालक और वृद्ध का भी वध वर्जित है।[८]

युद्ध की हिंसा के समान ही आततायी की हिंसा भी धर्मसूत्रों की नैतिक दृष्टि में उचित है। ऐसी स्थितियों में आत्मरक्षा का उच्चतर मूल्य मान्य होता हे और हिंसा

१- वध्याश्च धर्मार्थे।- गौ २।८।३७, तुलना वि ५१।६४

२- पितृदेवतातिथिपूजायामप्येव पशुं हिंस्यादिति मानवम्।
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः ॥- व ४।५-६

३- नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्माद्यागे वधोवधः ॥- व ५।७

४- वि ५१।६३ ५- वि ५१।६०,७५

६- वि ५१।६८

७- आप २।१०।१२, द्र० गौ २।१।१८ ८- बौ १।१८।१०-११

का विकल्प ही बन जाता है, क्योंकि विना हिंसा किये आत्मरक्षा सम्भव नहीं रह जाती। धर्मसूत्र का कथन है कि आततायी वध में क्रोध ही क्रोध पर परावर्तित होता है।[१]

दया एवं परित्राण

दूसरों के प्रति कर्त्तव्यों में एक प्रमुख कर्त्तव्य यह है कि उनके दुःख एवं कष्ट में साथ दिया जाय, उनका शोषण न किया जाय और ऐसा व्यवहार किया जाय जो उन्हें कष्टकर न प्रतीत हो। दया की भावना अहिंसा के साथ जुड़ी हुई है। यदि दूसरों को मनुष्य स्वयं कष्ट नहीं देता तो यह भी नैतिक नहीं है कि उनके अन्य कारण से कष्ट में होने पर स्वयं तटस्थ रहे। धर्मसूत्र न केवल मानव के प्रति अपितु पशुओं, प्राणियों एवं वनस्पतियों के प्रति भी दया भाव का उपदेश देते हैं। गृहस्थाश्रम में भोजन के प्रसंग में देखा जा सकता है कि भोजन देने के क्रम में दया, कृतज्ञता और स्नेह का नैतिक गुण विद्यमान है। सदैव रोगी, वृद्ध, बालक, दास और दासी को पहले भोजन देने के बाद ही गृहस्थ दम्पती को भोजन ग्रहण करने का निर्देश मिलता है।[२] दास के वृद्ध होने पर उसका भरण-पोषण करने का विधान भी दया भाव से ही प्रेरित है।[३] विवत्सा गौ का दूध पीने,[४] दूध पिलाती हुई गौ की ओर गौ के स्वामी का ध्यान आकृष्ट न करने,[५] कृषि कर्म में पशुओं के प्रति ताडनादि क्रूर व्यवहार न करने[६] आदि नियमों में भी दया का भाव स्पष्ट है। विष्णुधर्मसूत्र का निम्नलिखित वचन भी इसी भावना को पुष्ट करता है : 'जो किसी जीवित प्राणी को जानबूझकर बाँधने, मारने या वध करने का कष्ट नहीं देता और सबके प्रति हित चाहता है वह अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।[७]

१- अथाप्युदाहरन्ति।
अध्यापकं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्।
न तेन भ्रूणहा भवति मन्युस्तं मन्युमृच्छतीति ॥- बौ १।१८।१२, द्र० व ३।१५-१८
यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरवे मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे।- आप १।२६।७

२- आप २।६।१०,११; गौ १।५।१६,२३; वि ६७।३६-४२; व ११।११;बौ २।५।१८

३- यं चायमाश्रयेद् भर्तव्यस्तेन क्षीणोऽपि ।- गौ २।१।६३

४- बौ १।१२।१० ५- गौ १।६।२४

६- यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥- वि ५१।६६

प्राणियों की रक्षा करना भी मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है। वध से रक्षा करने में समर्थ होने पर भी रक्षा न करना उतना ही पापपूर्ण बताया गया है जितना वध करनेवाला का कर्म दोषपूर्ण होता है।[१] दण्ड के प्रकरण में आया हुआ विष्णुधर्मसूत्र का यह नियम उल्लेखनीय है : 'यदि कोई दुष्कर्मी किसी व्यक्ति पर प्रहार कर रहा हो और पीडित व्यक्ति सहायता के लिए पुकार रहा हो, तो वहाँ पहुँचकर जो सहायता नहीं करता वह अधिक अपराध का भागी होता है और प्रहार करने वाले की अपेक्षा दूने दण्ड के योग्य होता है।[२] आश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत विशेषतः परिव्राजक के लिए यह कर्त्तव्य विहित है कि वह सभी प्राणियों को अभय देकर विचरण करे, सबकी समान भाव से रक्षा करे।[३] परित्राण की प्रशंसा करते हुए विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि 'विना पुरस्कार के ब्राह्मण, गाय, स्त्री या बालक की रक्षा हेतु जीवन त्याग करने पर अधम वर्ण के व्यक्ति को भी स्वर्ग प्राप्त होता है।[४]

धर्मसूत्रों में दया एवं परित्राण का महत्त्व इतना अधिक है कि दंश जैसे क्षुद्र जीव को भी हानि पहुँचाना निन्दित है[५] और इसके लिए प्रायश्चित्त भी विहित है। मार्ग चलने में भी अन्धे, वृद्ध, भार से दबे हुए, दुर्बल और रोगी के लिए मार्ग छोड़ने का नियम भी इसी दया भावना का द्योतक है।[६]

इन्द्रिय-निग्रह

धर्मसूत्रों की नैतिकता सुखवादी नहीं है, क्योंकि उनकी व्यवस्था का परम

१- दुर्बलहिंसायां च विमोचने शक्तश्चेत्।-गौ ३।३।१६

२- उत्क्रोशन्तमनभिधावतां तत्समीपवर्तिनां संसरतां च।- वि ५।७४

३- परिव्राजकः सर्वभूतानामभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेत।- व १०।१
मेधावी सर्वतोऽभयदाता।-व २६।१०, द्र० बौधायन २।१७।२६

४- ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम्॥- वि १६।१८

५- बौ ३।३।१६

६- पन्था देयो ब्राह्मणाय गवे राज्ञे ह्यचक्षुषे।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च॥- बौ २।६।३०

लक्ष्य मोक्ष है और उनके मतानुसार सुखवादी को मोक्ष नहीं मिल सकता।[१] उपनयन संस्कार से आरम्भ कर संन्यास तक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन में इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों का नियन्त्रण ही धर्मसूत्रों का आदर्श है। ब्रह्मचारी के लिए वाणी, बाहु और उदर के संयम का विधान किया गया है।[२] लिङ्ग, उदर, हाथ, पैर, वाणी और नेत्र आदि की चपलता का वर्जन किया गया है।[३] इन सामान्य धर्मों का पालन सभी के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य है। लिङ्ग की चपलता का तात्पर्य अनुचित यौनसम्बन्ध से है, उदर की चपलता निषिद्ध भोजन का भक्षण है, हाथ की चपलता शिल्प की शिक्षा और पैर की चपलता पर्यटन है। वाणी की चपलता से वाचालता अभिप्रेत है और नेत्र की चपलता का प्रयोग नृत्यादि दर्शन के लिए किया गया है।[४] गृहस्थ के लिए भी इन्द्रियविषयों के सीमित सेवन की ही अनुमति दी गयी है और वानप्रस्थ एवं संन्यास में तो इन्द्रियसंयम ही जीवन का परम धर्म बन जाता है। दम का महत्त्व विष्णुधर्मसूत्र में बताते हुए कहा गया हे : 'दान्त व्यक्ति सभी सिद्धियाँ प्राप्त करता है, दम पवित्र करता है, परम मंगल प्रदान करता है और दम से मनुष्य मन की सभी इच्छाओं को प्राप्त कर लेता है।'[५] पञ्चेन्द्रियों द्वारा खींचे जाने वाले तथा मन द्वारा हाँके जाने वाले रथ पर आरूढ जो व्यक्ति उसे सदाचार के पथ पर ले चलता है, उसे (काम, क्रोध, लोभ) शत्रु तब तक जीत नहीं सकते, जब तक कि रथ से अनियन्त्रित घोड़े (इन्द्रियाँ) भाग नहीं जाते।'[६] धर्मसूत्रों में तप की महत्ता का जितना गौरव देकर प्रतिपादन किया गया है वह इन्द्रियों के संयम से ही सम्भव होने के कारण जितेन्द्रियत्व की ही प्रशस्ति है। इन्द्रियों के निग्रह

१- व १०।२०

२- वाग्बाहूदरसंयतः । - गौ १।२।२७; आप १।२।२२-३० , १।७।३-६ में भी इसी प्रकार के इन्द्रियसंयम के नियम दिये गये हैं।

३- न शिश्नोदरपाणिपादवाक्चक्षुश्चापलानि कुर्यात्।- गौ १।६।५०
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो भवेत्।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ॥- व ६।४२

४- वि ७२।१-५

५- दशार्थयुक्तेन रथेन यातो मनोवशेनार्थपथानुवर्तिना।
न चेद्रथं नापहरन्ति वाजिनस्तथागतं नावजयन्ति शत्रवः ॥
- वि ७२।६

से ही योग की प्राप्ति सम्भव है जो धर्म के परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है।[१]

मानसिक शुद्धि

आदर्श नैतिक जीवन हेतु सभी प्रकार के मानसिक विकारों से मुक्त होना अनिवार्य है। मानसिक विकारों के प्रभाव से ही मनुष्य अनेक प्रकार के पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। इस कारण धर्मसूत्रों ने भी इन मानसिक विकारों पर विजय प्राप्त कर चित्तशुद्धि एवं आन्तरिक शान्ति की उपलब्धि को महत्त्व दिया है और प्रत्येक स्थल पर मानसिक शुद्धि का निर्देश दिया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, असूया, पैशुन्य, द्रोह, दम्भ आदि का पूर्णतः वर्जन किये विना धर्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित नैतिक आदर्श नहीं प्राप्त किया जा सकता। क्रोध आदि मनोविकार योग की सिद्धि में बाधक होते हैं।[२] विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में 'काम, क्रोध ओर लोभ- ये नरक के त्रिविध द्वार हैं, जो मनुष्य का विनाश करते हैं, अतएव इन तीनो का परित्याग करना चाहिए।'[३]

भूतदाही अर्थात् प्राणियों का विनाश करने वाले दोषों को गिनाते हुए आपस्तम्ब ने उन सभी मानसिक दुर्गुणों का उल्लेख किया हे जो योग की प्राप्ति में बाधक हैं- 'क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह, असत्यभाषण, अतिभोजन, दूसरे पर मिथ्या दोष लगाना, दूसरे के गुणों से जलना, काम, द्वेष, इन्द्रियों को वश में न रखना, मन को समाहित न करना - ये प्राणियों का विनाश करने वाले दोष हैं और ये योग द्वारा ही नष्ट होते हैं।'[४] क्रोधशून्यता, हर्ष का अभाव, रोष न करना, अलोभ, अमोह, अदम्भ अद्रोह, सत्यवचन, भोजन में संयम, परदोषकथन से विरक्ति, अनसूया, स्वार्थहीनता, उदारता, दान आदि न लेना, सरलता, कोमलता, भावावेगों का शमन,

---

१- योगात्संप्राप्यते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपो नित्यं तस्माद्युक्तः सदा भवेत्॥- व २५।८, तुलनीय बौ ४।१।२६

२- क्रोधादींश्च भूतदाहीयान्दोषान्वर्जयेत्।- आप १।३१।२७; ब्रह्मचारी के विषय में द्रष्टव्य गौ १।२।१६ तथा सत्या २६।६।१३

३- त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥- वि ३३।६

४- आप १।२३।१३, सत्या २६।६।१३

इन्द्रियों को वश में रखना, सभी प्राणियों के साथ प्रेम, आत्मा के चिन्तन में मन को समाहित करना, आर्यों के आचरण का अनुसरण करना, क्रूरता का त्याग और सन्तोष - इन उत्तम गुणों का विधान सभी आश्रमों के श्रेष्ठ जनों द्वारा समयाचारपूर्वक किया गया है। जो इनका शास्त्रोक्त विधि से आचरण करता है वह विश्वात्मा को प्राप्त करता है।[1] क्रोध आदि भूतदाही दोषों को नष्ट करने का साधन योग है। इन दोषों का नाश करने पर ही ज्ञानी व्यक्ति क्षेम प्राप्त करता है।[2] वसिष्ठधर्मसूत्र में तीन रोगों - ईर्ष्या, अनशन और जरा- में ईर्ष्या को प्रथम स्थान पर रखा गया है।[3] दर्प को अधर्म का प्रेरक बताते हुए आपस्तम्ब कहते हैं- 'अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि से हर्षयुक्त व्यक्ति दर्पान्वित हो जाता है और धर्म का उल्लंघन करता है। धर्मोल्लंघन से वह निश्चय ही नरक प्राप्त करता है। धर्मोल्लंघन से वह सर्वथा कष्ट भोगता है।[4] बौधायन ने दीनता, शठता और कुटिलता के भावों के परित्याग का उपदेश दिया है।[5] अस्तैन्य या परवस्तुग्रहण का निषेध भी धर्मसूत्रों में अनेक स्थलों पर किया गया है। चोरी के लिए कठोर दण्ड एवं प्रायश्चित्त भी विहित हैं। सभी प्रकार के मनोविकारों पर विजय प्राप्त करने पर ही धर्म का पालन सम्भव हो सकता है और इस हेतु नैतिक गुणों के अर्जन द्वारा मानसिक शुद्धि को धर्म का व्यावहारिक स्वरूप मानकर मानवमात्र के लिए विहित किया गया है।

दान एवं स्वार्थहीनता

धर्मसूत्रों में दान एक नैतिक मूल्य की अपेक्षा पाप नष्ट करने के निमित्त से किया गया प्रायश्चित्त है। दान के पात्र केवल ब्राह्मण कहे गये हैं। चूँकि धार्मिक प्रयोजन से ही दान देना विहित है, अतएव धर्मसूत्रों में दानपात्र के चरित्र पर भी विचार करने

१- आप १।२३।६; सत्या २६।६।१४

२- दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते।
निर्हत्य भूतदाहीयान् क्षेमं गच्छति पण्डितः ॥- आप १।२३।११, सत्या २६।६।११

३- व २१।२३

४- हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः।- आप १।१३।४

५- दैन्यं शाठ्यं जैह्म्यं च वर्जयेत्।- बौ २।४।२५

का निर्देश उपलब्ध होता है।[१] इस दान का विधान उचित स्थान पर, उचित समय पर और योग्य व्यक्तियों के लिए ही किया गया है।[२] अविद्वान् ब्राह्मण को दान देने पर दान की वस्तुएँ वैसे ही व्यर्थ हो जाती हैं जैसे अग्नि में सूखी हुई लकड़ी जलकर भस्म हो जाती है।[३] विष्णुधर्मसूत्र में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के दान से विभिन्न फल बताये गये हैं।[४] गुणवान् को दान देना ही प्रशंसित है।[५] यशःप्राप्ति हेतु दान देना निषिद्ध है।[६] दान से सभी इच्छाओं की प्राप्ति होती है। स्वर्ग, ब्रह्मलोक, सौभाग्य आदि की प्राप्ति का उल्लेख वसिष्ठधर्मसूत्र में द्रष्टव्य है।[७] भूमिदान[८] और विद्यादान[९] को भी श्रेष्ठ फल देने वाला तथा अनेक पापों का शमन करने वाला अतिदान कहकर गौरवान्वित किया गया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मसूत्रों में दान का प्रयोजन परलोक में पुण्यफल की प्राप्ति एवं पूर्वकृत पाप का नाश ही है। उसके पीछे दया या परोपकार की भावना का अस्तित्व नगण्य दिखायी पड़ता है। केवल अन्नदान के विषय में कुछ अपवाद देखा जा सकता है।

भोजन जैसे अनिवार्य कर्म में जिस निःस्वार्थता का दर्शन होता है उससे नैतिकता का एक उत्कृष्ट रूप उभर आता है। धर्मसूत्रों ने दूसरों को देकर भोजन करना उचित माना है।[१०] गृहस्थ दम्पती के लिए सबसे अन्त में भोजन करने का विधान है।[११] विना दिये भोजन करने की निन्दा की गयी है और कहा गया है कि जो अपने आश्रित जनों को भोजन दिये विना स्वयं भोजन करता है वह अज्ञानी है और वह यह

१- गौ १।५।२१; व ६।२६
२- देशतः कालतःशौचतः सम्यक्प्रतिगृहीतृत इति दानानि प्रतिपादयति।- आप २।१५।१२
३- व ५६।३१-३२
४- विष्णुधर्मसूत्र, अध्याय ९२,९३
५- यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्ति दयितं गृहे।
तद्यद्‌गुणवते देयं तदेवाक्षय्यमिच्छता ॥-वि ९२।३२
६- वि ९२।१४
७- वसिष्ठधर्मसूत्र,अध्याय २६
८-व २९।१६
९- त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती।
बतिदानं हि दानानां विद्यादानं ततोऽधिकम्॥- व २९।१९
१०- न त्वेव कदाचिददत्वा भुञ्जीत।- बौ २।५।१७; द्र० आप २।६।११
११- बौ २।१३।५-६; गौ १।५।२३; आप २।४।११,१२

नहीं जानता कि वह नहीं खा रहा है, अपितु खाया जा रहा है।[1] धर्मसूत्र की दृष्टि में भी स्वयं अपने लिए भोजन पकाने वाला केवल पाप का ही भक्षण करता है ('केवलादी भवति केवलाघी'। मोघमन्नं विन्दते।)[2]

स्वार्थहीनता और त्याग की भावनाएँ ऐसे सूत्र हैं जिनसे हिन्दू धर्म में जीवन का बहुरंगी वस्त्र बुना हुआ है। धर्मसूत्रों का आदर्श भी त्याग एवं स्वार्थहीन जीवन हे। ब्रह्मचारी की सम्पूर्ण क्रियाएँ अपने आचार्य को अर्पित होती हैं, तो गृहस्थ का धन, जीवन, शक्ति और विद्या सभी पञ्चमहायज्ञों और त्रिविध ऋणों के शोधन द्वारा दूसरों को ही समर्पित है, पूर्णतः त्यागमय है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम तो एकमात्र त्याग एवं निःस्वार्थ परोपकार का जीवन है। आत्मोत्कर्ष के साथ अहं का त्याग धर्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन का मूलमन्त्र है।

१- अदत्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते यथाविधि।
भुज्यमानो न जानाति न स भुङ्क्ते स भुज्यते ॥- बौ २।१३।६

२- बौ २।१३।२, द्र० अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।- वि ६७।४३
नाऽऽत्माथ्रमभिरूपपन्नं पाचयेत्।-आप २।८।४

अध्याय 11

उ प सं हा र

धर्मसूत्रों की जीवनदृष्टि

धर्मसूत्रों में मानव जीवन एवं नैतिक मूल्यों का अनुशीलन भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू धर्म की सभी विशेषताओं को उनके यथार्थ रूप में प्रकाशित करता है। धर्मसूत्रों ने मानव-जीवन की जो विशद व्यवस्था की है उसका एक महान् उद्देश्य है। हिन्दू धर्म एवं दर्शन में मनुष्य का वर्तमान जीवन एक बड़ी श‍ृङ्खला की कड़ी मात्र है। अमरत्व की चिरन्तन खोज में यह जीवन एक सोपान मात्र है। धर्मसूत्रों ने जीवन के सभी पक्षों को एक व्यवस्थित रूप देने का बीड़ा उठाया है। यहाँ हम धर्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित जीवनदर्शन एवं नैतिक दृष्टि के कुछ पक्षों पर अपने अध्ययन के आधार पर प्रकाश डालेंगे।

धर्म का आधार एवं क्षेत्र

यह तथ्य है कि धर्मसूत्रों में हिन्दू धर्म की वे बातें अधिक महत्त्व प्राप्त करती सी प्रतीत होती हैं जिन पर आधुनिक नीतिशास्त्री खिन्न होता है। मनुष्यों के मूल्य में अन्तर एवम् आपेक्षिक भेद का सिद्धान्त उनके जीवनदर्शन पर प्रभावशाली दिखायी पड़ता है। कर्म के सिद्धान्त पर आधृत वर्णव्यवस्था को पूर्ण मान्यता देने वाले धर्मसूत्रों ने मानव- समाज को समग्र रूप में न देखकर विभक्त रूप में देखा है। धर्मसूत्रों में जन्म के आधार पर व्यक्तियों में अन्तर करते हुए उन्हें विभिन्न वर्गों में रखा गया है और उन वर्गों के कर्म निर्धारित कर दिये गये हैं। धर्मसूत्रों में प्रतिपादित जीवनदर्शन में व्यक्ति के पूर्ण स्वातन्त्र्य को मान्यता नहीं दी गयी है। उसके स्थान पर संस्कार को

शक्तिशाली तत्त्व माना गया है, जिसके परिणामस्वरूप पूर्व से ही निर्धारित जीवन वर्तमान में प्राप्त होता है और जीवन के बाद भी जीवन मिलता रहेगा। यह प्रक्रिया उस समय तक अविच्छिन्न चलती रहने वाली है जब तक परमात्मा की उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य का वर्तमान जीवन अनादि यात्रा का एक विश्रामस्थल मात्र है, जिसमें कर्म करना ही मनुष्य का धर्म है। मनुष्य अपने कर्मों के बन्धन में बद्ध है। इस जीवन में भी उसके लिए कर्म विहित हैं जिनको श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हुए वह अमरत्व की दिशा में अग्रसर हो सकता है और लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को जीवन में वर्ण की प्राप्ति होती है, कर्मों के फलस्वरूप ही पुरुष या स्त्री के रूप मे उत्पत्ति होती है। इसी विश्वास के आधार पर धर्मसूत्रों ने वर्णव्यवस्था को जन्मना माना है, कर्मणा नहीं। कर्म के आधार पर केवल मनुष्यों की योग्यता एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि या कमी होती है, उसका निजी मूल्य बढ़ता है या नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार मनुष्य जन्म के पूर्व से ही एक अलौकिक शक्ति के बन्धन में है उसी प्रकार जन्म होने पर भी वह एक पुरुष-निर्मित व्यवस्था के बन्धन में होता है। यह पौरुषेयी व्यवस्था ही धर्मसूत्रों का प्रतिपाद्य है। इसे ही **सामयाचारिक धर्म** भी कहा गया है।[1] धर्मसूत्रों ने इस धर्म का प्रधान स्रोत श्रुति या ईश्वर द्वारा प्रकाशित अलौकिक ज्ञान को मानकर पौरुषेयी व्यवस्था को प्रामाणिक बना दिया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक है। वे केवल श्रुति को ही एक मात्र प्रमाण न मानकर परम्परागत अनुभव से उपलब्ध ज्ञान को भी धर्म के विषय में प्रामाणिक मानते हैं। इसे ही स्मृति कहा गया है।[2] यह स्मृति रूपी ज्ञान भी श्रुति से समर्थित होने पर ही स्वीकार्य माना गया है।[3]

व्यावहारिक रूप में धर्म के प्रमाण के विषय में धर्मसूत्रों का दृष्टिकोण उदार एवं तर्कसंगत है। श्रुति एवं स्मृति के सैद्धान्तिक मतभेदों पर ही आश्रित न रहकर वे

१- पौरुषेयी व्यवस्था समयः।--- समयमूला आचाराः समयाचाराः, तेषु भवाः सामयाचारिकाः।- आप १।१।१ की टीका में हरदत्त।

२- अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः। तदभिव्यञ्जको ग्रन्थः स्मृतिः शब्देनोपचर्यते।- गोविन्दस्वामी, बौ १।१।३ की व्याख्या।

३- श्रुतिस्मृतिविरोधेतु श्रुतिरेव गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा।। - गौ १।१।५के भाष्य में हरदत्त द्वारा उद्धृत जाबालि की उक्ति।

यथार्थ जीवन में सफल व्यक्तित्व का आदर्श प्राप्त करने वाले शिष्ट जनों के आचार को भी धर्माचरण अथवा नैतिक कर्त्तव्यों के निर्णय में प्रमाण मानते हैं। शिष्ट ऐसे व्यक्तियों को कहा गया है जो सभी सद्गुणों से सम्पन्न और सभी दुर्गुणों से शून्य होते हैं।[१] शिष्ट जनों के भी उन्हीं आचारों को प्रमाण माना गया है जो श्रुति और स्मृति के विरुद्ध न हों, क्योंकि मनुष्य होने के नाते स्वाभाविक प्रवृत्तियों से प्रेरित होने पर उनके आचरण में भी कुछ दोष आ सकते हैं।[२] धर्मसूत्रों का नैतिक मापदण्ड धार्मिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है और वे देश एवं काल के आधार पर मनुष्यों द्वारा व्यवस्थापित विधान को भी प्रमाण मानते हैं। धीरे-धीरे ईश्वरीय आदेश सामाजिक कानूनों का रूप धारण कर लेता है और समाज में अधिक योग्यतासम्पन्न व्यक्तियों की सहमति से एक ऐसी आचारसंहिता का विकास होता है जो सभी व्यक्तियों पर अनिवार्यतः लागू होती है।

जब धर्मसूत्र धर्म के प्रमाणों के रूप में परिषद्, प्रादेशिक आचार तथा विभिन्न व्यवसाय करने वाले जनसमूह में श्रेष्ठ जनों का (अपने-अपने वर्ग में) उल्लेख करते हैं तो वे स्पष्टतः सामाजिक कानूनों को धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वे न्याय के प्रसंग में राजा को देशधर्म, जातिधर्म एवं कुलधर्म को प्रमाण मानने का भी निर्देश देते हैं। इन सभी प्रमाणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मसूत्रों की व्यवस्थाएँ एक व्यापक और उदार धरातल पर आधृत हैं।

धर्मसूत्रों में मानव की सभी क्रियाओं पर निकट से दृष्टिपात किया गया है तथा उसके लौकिक और आध्यात्मिक जीवन को एक साथ समन्वित रूप में ग्रहण किया गया है। इस धर्म में मनुष्य के अपने प्रति, समाज के प्रति और ईश्वरीय सत्ता के प्रति कर्त्तव्यों का समावेश है। यह मानव स्वभाव, कानून, न्याय, सदाचार, पुण्यफल, कर्त्तव्य और नैतिकता के अर्थों का बोधक है। व्यक्ति के अपने प्रति एवं समाज के प्रति कर्त्तव्यों को आश्रमधर्म में, सामाजिक कर्त्तव्यों को वर्णधर्म में, न्याय का गुणधर्म में तथा नैतिकता का प्रायश्चित्त में विशेष रूप से विचार किया गया है, किन्तु धर्मसूत्रों में धर्म का जो वर्गीकरण किया गया है उनमें एक और दूसरे के बीच स्पष्ट विभाजन करना संभव नहीं है। मनुष्य की सभी क्रियाओं में उसका अपना अस्तित्व और समाज जुड़ा हुआ रहता है। अतः उसमें और समाज में अलगाव नहीं किया जा सकता। मनुष्य के

१- आप १।२०।८,९

२- गौ ११।१।३, आप २।१३।७

अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अपने और दूसरों के प्रति कुछ कर्त्तव्य होते हैं। इसी प्रकार एक विशेष जनसमूह में, विशेष वंशपरम्परा एवं वातावरण में उत्पन्न होने से भी उसके कुछ कर्त्तव्य और कुछ अधिकार होते हैं। जब वह समाज करने के लिए वह अकेला ही प्रयत्न करता है, किन्तु उसके लिए समाज एक आधार प्रदान करता है और आदर्श भी उपस्थित करता है। धर्मसूत्रों में विवेचित धर्म स्वाभाविक रूप में व्यक्ति और समाज की सभी क्रियाओं पर नैतिक दृष्टि से विचार करता है।

पुरुषार्थचतुष्टय

हिन्दू जीवन में मानवजीवन का लक्ष्य चार पुरुषार्थों को माना गया है। वे हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें भी मोक्ष परम लक्ष्य है। धर्मसूत्रों में इन्हीं पुरुषार्थों के लक्ष्य को ध्यान में रखकर धर्म की व्यवस्था की गयी है ओर इन चारो का सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। काम का तात्पर्य इन्द्रिय-विषयों के उपभोग द्वारा उत्पन्न सुख से है(विषयानुभवजन्यसुख)।[1] अर्थ की आवश्यकता धर्म अथवा कर्त्तव्य के पालन के लिए तथा काम आदि सुखों के सेवन के लिए होती है। इस कारण अर्थ भी एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है। काम और अर्थ का सेवन धर्म के विरुद्ध होने पर नहीं किया जा सकता, अतएव धर्म का अपना विशिष्ट महत्त्व है। धर्म, अर्थ और काम - ये तीन पुरुषार्थ एक दूसरे पर आश्रित होते हैं और इनमें सामंजस्य होने पर ही इनका सेवन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास किया जा सकता है। यद्यपि मोक्ष जीवन का अन्त होने पर ही सम्पूर्णतः प्राप्त होता है, तथापि उसकी प्राप्ति का साधन व्यक्ति का जीवन ही है। जीवन में धर्मविहित आचरण एवं योग द्वारा ही मोक्ष संभव है। अतः मोक्ष ही जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ या लक्ष्य है।

धर्मसूत्रों में व्यावहारिक रूप में पुरुषार्थचतुष्टय के उद्देश्य से ही व्यवस्था की गयी है। मानव जीवन का चार आश्रमों में जिस प्रकार विभाजन किया गया है वह

१- इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते।।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम्।।- महाभारत, वनपर्व, ३३।३७-३८

पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि के लिए ही प्रतीत होता है। ब्रह्मचर्याश्रम जीवन की तैयारी है, जिसमें संस्कारों, विद्याध्ययन, आचार-पालन द्वारा व्यक्ति का प्रशिक्षण होता है। और तब वह जीवन के प्रमुख लक्ष्यों की प्राप्ति में लगता हैं तीन पुरुषार्थों की सिद्धि गृहस्थाश्रम में ही होती है, अतः धर्मसूत्रों ने गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।[१] इसी आश्रम में यज्ञ, अतिथिसत्कार आदि द्वारा धर्म की सिद्धि होती है, अर्थ के उपार्जन एवं समुचित काम का सेवन भी गृहस्थाश्रम में ही संभव है। इसके अतिरिक्त तीन ऋणों का शोधन भी इसी आश्रम में संभव है। धर्मसूत्रों ने अपनी व्यवस्था का आधार गृहस्थाश्रम को ही बनाया है। कहा गया है कि गृहस्थ तीन पुरुषार्थों का सेवन करते हुए निरन्तर अन्नदान देते हुए वेदों एवं ब्राह्मणों की पूजा करते हुए, स्वाध्याय एवं पितृतर्पण का सम्पादन करते हुए इन्द्र का परम पद प्राप्त करता है।[२]

गौतम ने मनुष्य के जीवन के प्रत्येक दिन को क्रमशः धर्म, अर्थ और काम के सेवन हेतु विभक्त करते हुए आदेश दिया है कि पूर्वाह्ण, मध्याह्न और सायंकाल क्रमशः धर्म, अर्थ और काम को निष्फल न करे।[३] इनमें भी सिद्धान्ततः धर्म को ही श्रेष्ठ माना गया है।[४] आपस्तम्ब का कथन है: 'धर्म के अनुसार ही धन का उपार्जन करे। उसका योग्य व्यक्तियों एवं वस्तुओं के लिए व्यय करे, उन सुखों का ही भोग करे जो धर्म के द्वारा निषिद्ध नहीं हैं।'[५] इन उक्तियों में अर्थ और काम को धर्मानुकूल होने पर ही सेवन के योग्य घोषित किया गया है। धर्म के अनुकूल अर्थ और काम के सेवन द्वारा ही मनुष्य दोनो लोकों को प्राप्त करता है।[६] इसी विचार को आपस्तम्ब ने एक अन्य स्थल पर व्यक्त करते हुए कहा है कि 'धर्मपूर्वक उपार्जित धन' का योग्य व्यक्ति

१- गौ, १।३।३५, बौ २।११।२६; व ८।१४-१६

२- त्रिवर्गसेवां सततान्नदानं सुरार्चनं ब्राह्मणपूजनं च।
स्वाध्यायसेवां पितृतर्पणं च कृत्वा गृही शक्रपदं प्रयाति।।- वि ५६।३०

३- न पूर्वाह्णमध्यंदिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः।- गौ १।६।४६

४- तेषु तु धर्मोत्तरः स्यात्।- गौ १।६।४७

५- योक्ता च धर्मयुक्तेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च। प्रतिपादयिता च तीर्थे।
भोक्ता च धर्माविप्रतिषिद्धान् भोगान्। -आप २।२०।१८, १६,२२

६- एवमुभौ लोकावभिजयति।-आप २।२०।२३

को दान देना चाहिए।[१] विष्णुधर्मसूत्र में इसी धर्मानुकूल धन को 'स्ववृत्युपार्जित' या शुक्ल (white) नाम दिया गया है और इससे देवत्व की सिद्धि बतायी गयी है।[२]

तीन पुरुषार्थों में धर्म के ऊपर विशेष बल देते हुए धर्मसूत्रों ने 'धर्म के लिए धर्म' का भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आपस्तम्ब का कथन है कि किसी लौकिक फल की कामना से धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब धर्म का आचरण लौकिक फल के लिए किया जाता है, तब वह व्यर्थ हो जाता है। जैसे फल के लिए आम का वृक्ष लगाया जाता है, किन्तु उससे छाया और सुगन्धि भी गौण रूप में मिलती है, उसी प्रकार धर्म के आचरण से लौकिक फल गौण रूप में प्राप्त होते हैं और यदि लौकिक फल नहीं भी मिलते हैं तो उससे धर्म की हानि नहीं होती।[३] इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए वसिष्ठ कहते हैं कि धर्म का कोई कारण नहीं ग्रहण किया जा सकता।[४] यद्यपि गृहस्थाश्रम में भोजन-सुख एवं यौनसुख की अनुमति दी गयी है तथापि इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर धर्म का नियन्त्रण है। भोजन एवं यौनसुख भी धर्म के उच्चतर उद्देश्य के लिए ही विहित हैं। मनुष्य की निषिद्ध कर्म करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है[५] किन्तु धर्म और अर्थ दोनो का अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होने पर भौतिक लाभ का चयन करना पाप का कारण होता है, अतः धर्म का चयन ही विहित है।[६] निःसन्देह धर्मसूत्रकारों ने उपर्युक्त तीन पुरुषार्थों के समन्वय के साथ धर्म को ही प्रधानता दी है।

जीवन में अवस्था के अनुरूप ही वानप्रस्थ और संन्यास नाम के आश्रमों की व्यवस्था की गयी है। इन दोनो आश्रमों में एकमात्र धर्म का ही सेवन विहित है। धर्म के

१- तथा धर्माहृतेनद्रव्येण तीर्थे प्रतिपन्नेन।- आप २।१६।२४

२- वि ५८।६ तथा ५८।३

३- नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत्। निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति। तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूपद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते। नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति।- - आप १।२०।१-४

४- अगृह्यमाणकारणो धर्मः।- व १।७

५- व २२।१

६- धर्मार्थसन्निपातेऽर्थग्राहिण एतदेव।-आप १।२४।२३

माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति ही इनका लक्ष्य है। सभी प्रकार से आध्यात्मिक गुणों एवं चित्तशुद्धि की अवस्था प्राप्त करने की दिशा में ये दोनो आश्रम काम एवं अर्थ का वर्जन करते हैं। धर्मसूत्र मोक्ष या आत्मलाभ को ही परम लाभ कहता है[१] और अपना यह मत दृढतापूर्वक व्यक्त करता है कि सुखवादी को मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।[२]

आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य

धर्मसूत्रों में प्रतिपादित धर्म का प्रयोजन लौकिक और पारलौकिक दोनो ही है, वरन् लौकिक की अपेक्षा पारलौकिक अधिक है। पारलौकिक सुखों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य का जीवन एक निश्चित मार्ग पर चले और यही मार्ग धर्म का मार्ग है। धर्मसूत्रों में जहाँ भी लौकिक कर्त्तव्य का उपदेश दिया गया है वहीं यह बल देकर कहा गया है कि इसके पालन से मनुष्य दोनो लोको को प्राप्त करता है। इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और मृत्यु के बाद अनन्त सुख पाता है। परलोक एवं कर्मफल में विश्वास के कारण ही धर्मसूत्रों में विहित मानवजीवन पूर्णतः आध्यात्मिक जीवन है। ब्रह्मचर्याश्रम के संस्कार, संयम, अग्नि का आधान, गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ, श्राद्ध, एवं श्रौतयज्ञ द्वारा एक आध्यात्मिक जीवन का क्रम आरम्भ होता है। प्रत्येक अवस्था में जो साधारण धर्म विहित हैं वे मनुष्य की चित्तशुद्धि में सहायक हैं। योग की संयम-विधि जीवन को पूर्णतः आध्यात्मिक बनाने के लिए ही विहित है। कर्मकाण्ड का प्रमुख स्थान इस जीवन में अवश्य देखा जा सकता है, किन्तु कर्मकाण्ड ही साध्य नहीं है, वह नैतिक जीवन का साधन भी है। देवों में आस्था मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और इससे मनुष्य अपने अहंकार को नियन्त्रित करने में सफल हो सकता है।

आत्मोत्सर्ग धर्मसूत्रों में प्रतिपादित आध्यात्मिक जीवन का एक प्रधान लक्षण है। इस जीवन में मनुष्य की सभी क्रियाएँ केवल अपने लिए न होकर दूसरों के लिए हैं। आत्मनियन्त्रण को धर्मसूत्र सुखी जीवन के लिए अनिवार्य मानते हैं। अपने अहं का त्याग कर दूसरों के लिए जीने का सिद्धान्त आध्यात्मिक जीवन की विशेषता है। कर्म का सिद्धान्त इसका एक अन्य पहलू है। प्रत्येक कर्म का अच्छा या बुरा फल होता है।

१- आत्मलाभान्नपरं विद्यते।- आप १।२२।२

२- व १०।२०

अतः फलों का विचार करते हुए मनुष्य को श्रेष्ठ जीवन का अनुसरण करना चाहिए। इसके लिए धर्मसूत्रों ने आचार-नियमों की विस्तृत व्यवस्था की है और आचार के महत्त्व पर सर्वत्र बल दिया है।[1] शरीर, वाणी और मन की पवित्रता द्वारा ही यह आध्यात्मिक जीवन पाया जा सकता है, अतएव धर्मसूत्रों ने शुद्धि का पुनः पुनः निर्देश किया है।

स्वधर्म एवं सामाजिक जीवन

धर्मसूत्रों के जीवन-दर्शन में कर्त्तव्यों के रूप में स्वधर्म का विधान किया गया है। स्वधर्म के अन्तर्गत सामाजिक कर्त्तव्यों का समावेश है। स्वधर्म सामाजिक नैतिकता को प्रस्तुत करते हैं। वर्णव्यवस्था भारतीय संस्कृति की एक निजी विशेषता है। इस व्यवस्था में वंशपरम्परा और पारिवारिक परिस्थितियों को प्रधानता दी गयी है और इसका आधार कर्म का सिद्धान्त माना गया है। धर्मसूत्र व्यक्ति को अपने उत्कर्ष हेतु स्वेच्छानुसार कर्म की अनुमति नहीं देते हैं। वे चार वर्णों की पारस्परिक असमानता को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं। यह असमानता आधुनिक दृष्टि से समर्थन के योग्य नहीं हो सकती, किन्तु धर्मसूत्र इसे बनाये रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। वे राजा को यह कार्य सौंपते हैं कि वह वर्णों और आश्रमों की रक्षा करे तथा जो इनके धर्म से विचलित हो रहे हों उनको दण्ड देकर पुनः स्वधर्म में स्थापित करे।[2] इन प्रयत्नों के बाद भी वर्णसंकर जातियों की संख्या धर्मसूत्रकाल में बढ़ती जा रही थी और लोग स्वधर्म का त्याग कर दूसरे वर्ण की वृत्तियाँ भी अपनाने लगे थे। धर्मसूत्रों ने प्रायः प्रत्येक विधान में वर्ण के आधार पर व्यक्तियों में भेद किये हैं, चाहें वे धार्मिक संस्कार हों, चाहें न्याय, दण्ड या प्रायश्चित्त। धर्मसूत्रों में शूद्र की स्थिति निकृष्ट है। धर्मसूत्रप्रतिपादित वर्णव्यवस्था में शूद्र के प्रति जो अनुदार दृष्टि अपनायी गयी है वह मानवतावादी नैतिकता के विपरीत है। इसी प्रकार का भेदभाव स्त्री जाति के प्रति भी अपनाया गया है, यद्यपि कुछ उदारवादी अभिमत भी कहीं-कहीं उपलब्ध हो जाते हैं। गृहस्थाश्रम में

१- आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति।।- व ६।१

२- गौ २।२।६-११; वि ३।२-३; व १६।७

नारी को पत्नी और माता के रूप में ही सम्मान प्राप्त है, सामान्यतः यह उपेक्षित और पराधीन दिखायी पड़ती है।

धर्मसूत्रों ने स्वधर्म अथवा वर्णानुसार धर्म को इतना अधिक गौरव दिया है कि उन्होंने उसे लौकिक एवं पारलौकिक सुख का हेतु घोषित किया है।[१] स्वधर्म से पतन को घोर पाप माना गया है और सामाजिक बहिष्कार का भी विधान किया गया है। वर्ण के आधार पर ब्राह्मण को विशेषाधिकार और प्रतिष्ठा दी गयी है, किन्तु उससे बहुत अपेक्षा भी की गयी है। पवित्र आचरण और श्रेष्ठ ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही ब्राह्मण है ऐसी धर्मसूत्रों की मान्यता है। आचरणहीन ब्राह्मण को उपेक्षायोग्य बताते हुए धर्मसूत्र यही कहना चाहते हैं कि गुण-शील-सम्पन्न होने पर ही ब्राह्मणकुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण है और पूजनीय है, अन्यथा वह निन्दनीय और काठ के खिलौने के समान नाम मात्र का ही ब्राह्मण रह जाता है।[२] इतना तो निर्विवाद है कि धर्मसूत्रों की सामाजिक व्यवस्था में भी ब्राह्मण वर्ण का ही प्रभुत्व है, धार्मिक व्यवस्था तो एकान्त रूप में उसके हाथ में है ही। विष्णुधर्मसूत्र के शब्दों में ब्राह्मण ही प्रत्यक्ष देवता हैं।[३] जहाँ तक ब्राह्मण शब्द आदर्श मानव का बोधक है, वहाँ तक तो ब्राह्मण की महत्ता और विशेष स्थिति पर आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु केवल वर्ण के नाम पर विशेषाधिकारों का दुरुपयोग हो तो वह चिन्तनीय बात हो जाती है। धर्मसूत्रकाल में ब्राह्मणत्व का बहुत कुछ नैतिक स्वरूप सुरक्षित दिखायी पड़ता है।

प्रगतिशीलता एवं उदार दृष्टि

यद्यपि धर्मसूत्रों की धर्मव्यवस्था के अन्तर्गत विधि एवं निषेध का स्वर कठोर

१- आप २।२।२; सत्या० २७।१।२४

२- यश्च काष्ठमयो हस्ती यश्चचम्रमयो मृगः।
यश्च विप्रोनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः।।- व ३।११

३- देवाः परोक्षदेवाः प्रत्यक्षदेवाः ब्राह्मणाः। ब्राह्मणैर्लोका धार्यन्ते।
ब्राह्मणाां प्रसादेन दिवि तिष्ठन्ति देवताः।
ब्राह्मणाभिहितं वाक्यं न मिथ्या जायते क्वचित्।।
यद् ब्राह्मणास्तुष्टतमा वदन्ति तद्देवताः प्रत्यभिनन्दयन्ति।
तुष्टेषु तुष्टाः सततं भवन्ति प्रत्यक्षदेवेषु परोक्षदेवाः।।- वि १६।२०-२३

है, तथापि उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील और उदार है। धर्मसूत्रकार पूरी तरह से कट्टरपन्थी या रूढिवादी न होकर तार्किक ढंग से मानवजीवन की समस्याओं पर विचार करते हैं, बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति को आचरण की सीमित स्वतन्त्रता भी प्रदान करते हैं और मनुष्य-सुलभ दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति एवं उदारता प्रदर्शित करते हैं। नीतिशास्त्रीय दृष्टि से भी उनमें बदलते हुए मानदण्ड तथा नैतिक मूल्य की पहचान स्पष्ट दृष्टिगत होती है। वे मनुष्य के जीवन की एक मनोवैज्ञानिक समीक्षा भी करते हैं और और उसके अनुसार अपनी व्यवस्था में परिवर्तन करते हैं। परिवर्तन एक शाश्वत नियम है। पुरानी व्यवस्थाएँ बदलती हैं और उनका स्थान नयी व्यवस्थाएँ लेती रहती हैं। जो धर्म सामाजिक या आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ समायोजन करते हुए अपनी आचार-संहिता में परिवर्तन करता रहता है उसमें प्रगतिशीलता रहती है। वही धर्म शाश्वत रह पाता है। धर्मसूत्रों की व्यवस्थाओं में प्रगतिशीलता के लक्षण अनेक सन्दर्भें में देखे जा सकते हैं।

सबसे पहले धर्म के आधार के विषय में ही धर्मसूत्र केवल श्रुति या ईश्वरीय ज्ञान को ही प्रमाण या नैतिक मापदण्ड मानकर सन्तुष्ट नहीं हैं, अपितु वे परम्परा या स्मृति, शिष्ट जनों के आचरण और यहाँ तक कि प्रादेशिक आचारों और कुलधर्म को भी धर्म का स्रोत एवं प्रमाण स्वीकार करते हैं।[१] वे आचार के निर्णय हेतु स्त्रियों एवं शूद्रों की विशिष्ट विद्या अर्थात् प्रयासों को भी ध्यान देने योग्य समझते हैं।[२] आश्रम व्यवस्था के सन्दर्भ में भी धर्मसूत्रों ने व्यावहारिकता का ध्यान रखकर अपने नियमों में विकल्प की व्यवस्थाएँ की हैं। केवल एक वेद के अध्ययन तक ही ब्रह्मचर्य की अवधि निर्धारित करते हुए वे अड़तालिस वर्ष के काल को अव्यावहारिक मानते हैं।[३] पतितसावित्रीक को प्रायश्चित्त कर लेने पर उपनयन की अनुमति[४] धर्मसूत्रों की का द्योतक है। गृहस्थाश्रम में ही 'काम' पुरुषार्थ की सिद्धि संभव है और काम अथवा इन्द्रियसुख की प्रवृत्ति मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का

१- बौ १।२।६; व १।१७; गौ २।२।२१

२- सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च।-आप २।२६।११

३- बौ १।३।५-६

४- आप १।१।३४

ध्यान रखते हुए ही धर्मसूत्रों ने गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है और चार आश्रमों की व्यवस्था के ऊपर भी सन्देह व्यक्त किया है।[१] द्विजाति के लिए भोगार्थ शूद्रा-विवाह का उल्लेख कुछ धर्मसूत्रों में मिलता है, किन्तु वे उसे अधार्मिक मानते हुए वर्जित करते हैं। यह भी उनकी सुधारवादी दृष्टि का प्रमाण है।[२] मनोवैज्ञानिक आधार पर ही बौधायन गान्धर्वविवाह को भी प्रशंसनीय मानते हैं।[३]

वर्णधर्म का महत्त्व देकर विधान करते हुए भी धर्मसूत्रों का उदार दृष्टिकोण आपद्धर्म के प्रसंग में स्पष्ट है। यह आर्थिक परिवर्तन के साथ समायोजन का अच्छा उदाहरण है। गौतम ने प्राणसंकट की स्थिति में ब्राह्मण के लिए शूद्रवृत्ति की भी अनुमति दे दी है[४] और अपस्तम्ब शूद्र का अन्न भी भोज्य मान लेते हैं।[५] वृत्ति के विषय में प्रगतिशीलता बौधायन के इस नियम में है कि समर्थ होने पर ब्राह्मण वेदाध्ययन के साथ कृषि भी कर सकता है।[६]

प्रगतिशील दृष्टिकोण एवं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के अनेक उदाहरण नारीजीवन के सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं। धर्मसूत्रों ने कन्या को कुछ समय तक अभिभावकों द्वारा विवाह किये जाने की प्रतीक्षा करने के बाद स्वयं अपने अनुकूल पति का वरण करने की छूट दी है।[७] वाग्दत्ता के भावी पति की मृत्यु होने[८] और विवाहिता होने पर भी यौनसंबन्ध से पूर्व विधवा होने की स्थितियों में[९] स्त्री के विवाह अर्थात् पुनर्विवाह को सर्वथा उचित

१- आप २।२१।२ में सभी आरमों के धर्म अनिवार्य कहे गये हैं, किसी एक आश्रम के ग्रहण का विकल्प अस्वीकार किया गया है। बौ २।११।३०में एक उद्धरण देकर कहा गया है कि आश्रमव्यवस्था प्रह्लाद के पुत्र कपिलनाम के असुर ने बनायी है। मनीषी को इस व्यवस्था का आदर नहीं करना चाहिए।

२- व १।२६-२७ ३- बौ १।२०।२६

४- गौ १।७।२२

५- आप १।१८।१४

६- बौ १।१०।३१

७- गौ २।६।२० ;वि २४।४०; बौ ४।१।१५-१६

गान्धर्व विवाह में भी कन्या अपनी इच्छा से पति का वरण करने के लिए स्वतन्त्र होती थी और उसे सामाजिक मान्यता दी जाती थी।

८- व १७।७२ ९- व १७।७४

ठहराया ही गया है, पति के साथ वैवाहिक जीवन का कुछ समय तक निर्वाह करने के बाद विधवा होने वाली स्त्री के 'पुनर्विवाह के प्रति भी कठोर दृष्टिकोण नहीं अपनाया गयाा है। 'पुनर्भू' स्त्री और 'पौनर्भव' पुत्र के उल्लेख इस उदारता के प्रमाण हैं।[१] बदलते हुए नैतिक मूल्य का उदाहरण नियोग की प्रथा के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है, जिसे धर्मसूत्र अन्ततः अमनौवैज्ञानिक एवं यौनविषयक पवित्रता के विरुद्ध समझते हैं और अस्वीकार कर देते हैं।[२] सन्तति की स्वाभाविक इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि यदि कई भाइयों में एक भाई का भी पुत्र है तो सभी भाई पुत्रवान् हो जाते हैं।[३] इस विधान की सुधारवादी और उदार भावना प्रशंसनीय है। विवाह के संबन्ध में भी धर्मसूत्र बहुपत्नीकता से एकपत्नीकता की ओर पूरी तरह उन्मुख हो चुके हैं।[४]

मानव की यौनप्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक समीक्षा भी धर्मसूत्रों में देखी जा सकती है। गृहस्थाश्रम में केवल सन्तानोत्पत्ति हेतु यौनसंबन्ध का विधान करते हुए भी इन्द्रियसुख की स्वाभाविक प्रबलता को स्वीकार किया गया है और सीमा के अन्तर्गत उसके उपभोग की अनुमति दी गयी है।[५] नारी के प्रति उदार दृष्टि कुछ अन्य प्रकार के नियमों में भी द्रष्टव्य है, यथा अपराधिनी होने पर भी उसके वध का निषेध किया गया है। बलात्कार द्वारा दूषित की जानेपर उसे त्याज्य नहीं माना गया है और व्यभिचार का अपराध करने पर भी उसकी शुद्धि का विधान किया गया है।[६] स्त्री के लिए विवाहविच्छेद की अनुमति धर्मसूत्रों की प्रगतिशीलता का विशिष्ट उदाहरण है। वे स्त्री को इस बात के

१- गौ ३।१०।३१ पति के सदा के लिए प्रवास करने पर भी कुछ वर्षों तक प्रतीक्षा के अनन्तर विवाह करने की अनुमति भी एक उदाहरण है। द्र० व १७।७८- ७६; गौ २।६।१६

२- वत्र १७।६; बौ २।२।३६; व १७।६३; आप २।२७।४-७

३- व १७।११

४- आप २।११।१२-१३; परिवेदन की स्थिति में पूर्व पम्नी को भरण एवं जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ प्रदान करना विहित है। अकारण पत्नी का परित्याग करने पर प्रायश्चित्त का उल्लेख है। - आपस्तम्ब० १।२८।२६

५- गौ १।५।२; आप २।१।१८-१६

६- व १७।७३

लिए बाध्य नहीं करते कि पति के कर्तव्यविमुख, पतित, उन्मत्त और दुर्व्यसनी होने पर भी उसको देवता मानकर जीवन भर पूजती रहे। उनके विचार से स्त्री भी ऐसे पति का त्याग कर सकती है।[१]

धर्मसूत्रों में सम्पत्ति के अधिकार के विषय में जो नियम उपलब्ध हैं उनमें भी प्रगतिशीलता की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। यदि किसी धर्मसूत्रकार ने स्त्री को 'अदायादा' माना है तो कुछ ने पुत्री को पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी घोषित किया है।[२] कुछ ने विधवा को सम्पत्ति का अंश नहीं दिया है तो दूसरों ने उसे अंशभागिनी बनाया है।[३] इन मतभेदों में आर्थिक कानूनों का उत्तरोत्तर तर्कसंगत विस्तार एवं परिवर्तन प्रतिबिम्बित है। उत्तराधिकार के प्रसंग में 'कानीन' और 'सहोढ', 'गूढ' एवं 'पौनर्भव' पुत्रों का उल्लेख धर्मसूत्रकारों की आश्चर्यजनक सहिष्णुता का परिचायक है। संभवतः अवैध पुत्रों की सामाजिक समस्या का समाधान ढूँढने की दिशा में उन्होंने भी विचार किया और उनका अस्तित्व मानकर उदार प्रवृत्ति का ही परिचय दिया है।

यह उल्लेखनीय है कि सभी धर्मसूत्रों की विचारदृष्टि एक जैसी नहीं है। अन्तर होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनमें काल और प्रदेश की दूरी अवश्य रही होगी। यदि गौतम और आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों में गम्भीरता और तार्किकता है, तो बौधायन एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में परस्पर विरोधी उक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। वैखानसधर्मसूत्र मुख्यतः विरक्ति के मार्ग को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है और वानप्रस्थ एवं संन्यास के संयम तथा त्यागमय जीवन पर ही विशेष ध्यान देता है। विष्णुधर्मसूत्र में जहाँ न्याय, दण्ड एवं अर्थव्यवस्था का समुन्नत रूप दिखायी पड़ता है वहीं अलौकिक, चमत्कारपूर्ण शक्तियों में विश्वास, पूजाविधि एवं कर्मकाण्ड के विस्तार, नरक की कल्पना, नैमित्तिक दान आदि धार्मिक आस्थाओं की प्रधानता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। न्याय में दिव्य का विधान एवं विधवा के सती होने का नियम केवल इसी धर्मसूत्र में उपलब्ध होता है। संभवतः यह धर्मसूत्र पौराणिक धर्म की मान्यताओं

१- बौ २।३।४७;आप २।१४।४

२- गौ ३।१०।२५,२६; वि १८।३४

३- द्रष्टव्य, इस ग्रन्थ का अध्याय ८ पुत्रों के भेद के अन्तर्गत।

एवं प्रवृत्तियों से प्रभावित है। यह भी ध्यानार्ह है कि किसी एक ही विषय पर सभी धर्मसूत्रकारों के मत पूर्णतः एक समान नहीं हैं, किन्तु उन्हें दूसरे आचार्यों के भिन्न मतों की पूरी जानकारी है, जिनको वे खण्डन या समर्थन के लिए उद्धृत करते हैं।

धर्मसूत्रों ने मानव-जीवन के सभी पक्षों पर अपनी दृष्टि डाली है, सभी स्थितियों के लिए यथासंभव व्यावहारिक आचार-संहिता बनाने की चेष्टा की है। वे समाज की स्थितियों को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य के चरित्र की दुर्बलताओं और सामाजिक बुराइयों पर पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं करते, अपितु उनको उद्घाटित करने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते। वे मनुष्य के प्रति सुधारवादी एवं उदार दृष्टि रखते हुए उसको भूल करने पर भी शुद्ध आचरण का मार्ग दिखाते हैं। जीवन की आचार-व्यवस्था करते समय वे आदर्शवादी होने के साथ-साथ यथार्थवादी भी हैं। वे जीवन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति पूर्ण जागरूक हैं। उनके समक्ष अपना विशिष्ट नैतिक आदर्श है, जो दार्शनिक सिद्धान्तों से समर्थित है। धर्मसूत्रों में प्रतिपादित धर्म में आदर्श और यथार्थ, सिद्धान्त और व्यवहार, विश्वास और तर्क, लोक और परलोक, व्यक्ति और समाज तथा मानवजीवन और नैतिकता सभी एक साथ समन्वित हो गये हैं। भारतीय संस्कृति की सभी विशेषताएँ धर्मसूत्रों में उपलब्ध हैं। ये मानव-जीवन के लिए नैतिकता, कर्त्तव्य, न्याय, विधि और आचार के व्यापक अर्थों में धर्म के आचरण का सन्देश देते हैं- 'धर्म का पालन करो, अधर्म का नहीं। सत्य बोलो, असत्य नहीं। उदार दृष्टि रखो, संकुचित नहीं। जो परम तत्त्व है उसे देखो, जो परम नहीं है उसे मत देखो।

'धर्मं चरत माधर्मं सत्यं वदत मानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत मापरम्।।'[१]

१- व ३०।१

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(क) - मूल संस्कृत ग्रन्थ

ऋग्वेदसंहिता - (सायणभाष्यसहित- माक्स म्यूल्लेर द्वारा सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६६

- वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे संस्करण- पाँच भाग।

अथर्ववेदसंहिता- - शौनक, सायणभाष्यसहित, एस०पी० पण्डित, बम्बई, १८९५-९८ -सातवलेकर सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, १९५७

तैत्तिरीयसंहिता - आनन्दाश्रम संस्करण, सायणभाष्य-सहित, १९००-१९०८

मैत्रायणीसंहिता - श्रोडेर का संस्करण, १८८१ तथा सातवलेकर सम्पादित संस्करण,औंध, १९४२

वाजसनेयिसंहिता - माध्यन्दिन, उव्वट एवं महीधर के भाष्यों के साथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१२

ऐतरेयब्राह्मण - सायणभाष्यसहित, दो भागों में, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १८९६

जैमिनीयब्राह्मण - डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित, नागपुर, १९५०

ताण्ड्यब्राह्मण - सायणभाष्यसहित, सम्पादक, चिन्नवामी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९३५

तैत्तिरीयब्राह्मण - सायणभाष्यसहित, आनन्दाश्रम संस्करण,दो भागों में, पूना, १८६८

शतपथब्राह्मण - माध्यन्दिन, सायणभाष्यसहित, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६४०

शांखायनब्राह्मण - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना,१६११

ऐतरेय आरण्यक - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १८६८

- प्रो० कीथ द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड १६६६

तैत्तिरीय आरण्यक- - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १८६७-१८६८

शांखायन आरण्यक - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १६२२

बृहदारण्यकोपनिषद् - शाङ्करभाष्यसहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, १६२७

- गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण।

छान्दोग्योपनिषद् - गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण।

कात्यायनश्रौतसूत्रम - विद्याधर गौड कृत भाष्य सहित, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, संवत् १६८७

बौधायनश्रौतसूत्रम् - तीन भागों में, डॉ कैलेण्ड सम्पादित, बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १६०४, १६०७, १६१३

वैखानसश्रौतसूत्रम् - सं० कैलेण्ड, बिब्लिओथिका इण्डिका, १६४१

सत्याषाढ-हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र - दस भागों में, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १६०७-१६३२

वैखानसस्मार्तसूत्र - डॉ० कैलेण्ड द्वारा सम्पादित,कलकत्ता, १६४७

गौतमधर्मसूत्रम् - सं०- श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १६२७

हरदत्त की वृत्तिसहित, हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका सं० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १६६६

बौधायनधर्मसूत्रम् - गोविन्दस्वामी भाष्यसहित, चिन्नस्वामी शास्त्री द्वारा टिप्पणियों के साथ सम्पादित,चौखम्बा संस्करण,१६३४

- हिन्दी अनुवाद एवं भूमिकासहित डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय द्वारा सम्पादित,चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १६७२

आपस्तम्बधर्मसूत्रम् - सम्पादक जी० ब्यूह्लेर, बम्बई संस्कृत सीरीज़, १६३२

- चिन्नस्वामिशास्त्रिरामस्वामिशास्त्री द्वारा टिप्पणियों के साथ सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १६३२

आपस्तम्बधर्मसूत्रम् -डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय द्वारा हिन्दी भूमिका एवं अनुवाद सहित सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १६६६

वैखानसधर्मसूत्रम् - डा० कैलेण्ड द्वारा सम्पादित, बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता।

सत्याषाढधर्मसूत्रम - अथवा हिरण्यकेशिधर्मसूत्र - सत्याषाढश्रौतसूत्र के अन्तर्गत आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना

वसिष्ठधर्मसूत्रम् - एओइस एण्टन फ्यूरेर द्वारा सम्पादित, भाण्डारकर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, पूना, १६३० (वासिष्ठधर्मशास्त्र नाम से प्रकाशित)

विष्णुधर्मसूत्रम् - विष्णुस्मृति नाम से प्रकाशित। जूलियस जॉली द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १६६२

- चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी द्वारा पुनर्मुद्रित, १६६३

स्मृतीनां समुच्चयः - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, सं० ४८ (२० स्मृतियों का संकलन)।

लघुशंखस्मृति पृ०१२४-१२७ कुल ७१ पद्यों में। लघुहारीतस्मृति पृ० १३६-१४१ कुल ११७ पद्य। लिखितस्मृति पृ० १८२-१८६ कुल ६६ पद्यों में। वृद्धहारीतस्मृति पृ० २३८- ३५६ (११ अध्यायों में), शंखलिखितस्मृति पृ० ३७२-३७३ कुल ३२ पद्यों में। शंखस्मृति पृ० ३७४-३९५ (कुल १८ अध्यायों में)।

वैखानसस्मृतिसूत्र - १० प्रश्नों में। गृह्य के ७ प्रश्न ओर धर्म के ३ प्रश्न। १९१४ कुम्भकोणम् संस्करण।

हारीतस्मृतिः - प्रकरण ११, ५६। हेमाद्रि द्वारा टीकां तकनलाल द्वारा टीका सहित सम्पादित। बड़ौदा, १८८५

बीस स्मृतियाँ - सम्पादक श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६
(हारीतस्मृति, पृ० २८७-३१६ तक सात अध्यायों में)।

मनुस्मृति - कुल्लूकभट्ट कृत मन्वर्थमुक्तावली के साथ, बम्बई, १९१३

याज्ञवल्क्यस्मृतिः - विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा के साथ, हिन्दी अनुवादसहित, अनुवादक- डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६७

चरणव्यूह - शौनक। महिदास् की टीका के साथ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९२८
- डॉ० अनन्तराम डोंगर शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज़ , बनारस, १९३८

जैमिनीयन्यायमाला - माधवाचार्य विरचित विस्तारव्याख्या सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पुना, ग्रन्थांक २४, १९४६

निरुक्त - यास्क रचित। दुर्गस्वामी की वृत्ति के साथ, सम्पादक- पी० के० राजवाडे, पूना।
- उमाशङ्कर शर्मा ऋषि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी १९६६

महाभारत - गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण ।

(ख) विवेचनात्मक ग्रन्थ (हिन्दी)

अम्बिकादत्त उपाध्याय - हिन्दू धर्म और आचार बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी।

अरविन्द - भारतीय संस्कृति के आधार (अनुवादक- जगन्नाथ वेदालंकार एवं चन्द्रदीप त्रिपाठी) अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, १९६८
- धर्म और जातीयता श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचोरी, द्वितीय सं०।

अल्ब्रेष्ट वेबेर - भारतीय साहित्य (हिन्दी अनुवाद) अनु०- डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, किताब महल, इलाहाबाद, १९६८

आत्रेय, भीखनलाल - भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९३४

काणे, पाण्डुरंग वामन - धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक- अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश, लखनऊ।

कापड़िया, के० एम० - भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार (हिन्दी अनुवाद) अनु०- हरिकृष्ण रावत,मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३

देवराज, एन० के० - भारतीय संस्कृति : महाकाव्यों के आलोक में। सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९६०

पणिक्कर, के० एम० - हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर । एशिया पब्लिशिंग हाउस, १६५६

फिलिप ह्वीलराइट - नीतिशास्त्र का आलेचनात्मक परिचय (हिन्दी अनुवाद) अनु०- मधुकर । सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १६५३

बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य एवं संस्कृति शारदा प्रकाशन, वाराणसी, १६६७

मैक्डानल, ए०ए० - संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक- चारुचन्द्र शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६२

राजबली पाण्डेय - हिन्दू संस्कार। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६६

राधाकृष्णन्, एस० - धर्म और समाज (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक - विराज। राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १६६७

लक्ष्मणशास्त्री जोशी - वैदिक वाङ्मय का विकास (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक- डॉ०मोरेश्वर पराडकर, साहित्य अकादमी

विजय बहादुर राव - उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति । भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १६६६

विवेकानन्द, स्वामी - भारतीय नारी । श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, १६६६
- धर्मतत्त्व । श्रीरामकृष्णशिवानन्दस्मृतिग्रन्थमाला, सं० ७०, नागपुर।
- हिन्दू धर्म । श्रीरामकृष्णशिवानन्दस्मृतिग्रन्थमाला, १७, नागपुर, १६७१

शिवदत्त ज्ञानी - वेदकालीन समाज।
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६७१

सूर्यकान्त - वैदिक कोश ।
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, १६६२

- वैदिक धर्म एवं दर्शन (प्रो० कीथ के 'द रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्स' का अनुवाद) मोतीलाल बनारसीदास, १६६५

(ग) विवेचनात्मक ग्रन्थ (अंग्रेजी)

Aiyer, Sir P.S. Sivaswamy -: **Evotultion of Hindu Moral Ideals**
Calcutta University, 1935

Banerji, Suresh Chandra : - **Dharmasutras: A Study in their Origin and Development.**
Punthi Pustak,Calcutta, 1962

Barth, A. - **The Religion of India**
(Translated by Rev. J.Wood)
Reprinted by Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1963

Bloomfield, M. - **The Religion of the Veda.**
New York, 1908

Buhler, G. - **Sacred Books of the East.** vol.ii,,xiv
(Being the translation of the Dharmasutras) Reprinted by Motilal Banarasidas, Delhi.

Caland, W. - **Vaikhanasa-smarta-sutra**
English translation, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1929

Charisse Bader : - **Women in Ancient India**
Moral and Literary Studies,
Reprinted by Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1964

Dasgupta, Surama : - **Development of Moral Philosophy in India.** Orient Longmans, 1961

Datta, Hirendranath : - **Indian Culture its Strands and Trends.** (Kamla Lectures) Calcutta University, 1941

Dhairyabala ,P. Vora : - **Evolution of Morals in the Epics.** Popular Book Depot. Bombay, 1959.

Ghurey: - **Caste and Class in India.** Popular Book Depot.Bombay, 1957

Jolly, Julius: - **Institute of Vishnu.** (Translation of Vishnu-Dharma-Sutra) Sacred Books of the east series, Vol. VII, Reprinted by Motilal Banarasidad, Delhi, 1965.

Kane, P.V. : - **History of Dharmasastra. Vol.I** Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1936.

Kangle, R.P. : - **The Relative Chronology of the Dharmasutas.** Summary of Papers, Darbhanga, 1948.

Keith, A.B. : - **The Religion and Philosophy of the Veda and Upanisads.** Harvard Oriental Series, Vol. 31,32, 1928.

Macdonell, A.A. : - **A History of Sanskrit Literature,** London, 1900.

Maitra, Sushil Kumar - **The Ethics of the Hindus.** Calcutta University, 1956

Max Muller, F. - **History of Ancient Sanskrit Literature.** Reprinted by Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1968

Mitra, Priti: - **Life and Society in the Vedic Age** Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1966

Motwani, K.L. - **Sri Aurobindo on Social Sciences and Humanities.** Orient Longmans, 1962.

Naik, Ramarao N - **Brahmanism without Casteism.** Nair Bros. Bombay,1961.

O'DEA, Thomas,F. - **The Sociology of Religion.** Prentice Hall of India, New Delhi, 1969.

Radhakrishnan, S. - **The Hindu View of Life.** London, Allen & Unwin, 1954.

- **Religion and Culture.** Orient Paperbacks, New Delhi, Hind Pocket Books, 1968.

Ram Gopal - **India of Vedic Kalpasutras..** National Publishing Hourse, Delhi, 1959.

Sastri, A. Mahadeva: - **Collected Essays on Vedic Religion and Social Reform.**1908.

Shastri, Shakuntala Rao - **Women in the Vedic Age.** Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1960.

Veda Mitra - **India of Dharma-sutras.** New Delhi, 1969.

Wadia, A.R - **Religion as a Quest for Values..** University of Calcutta, 1950.

Weber, Albrecht - **The History of Indian Literature.** (Translated by John Mann & Theodor Zakharie.) Reprinted by Chowkhamba sanskrit Series Office, Varanasi, 1961.

Winternitz, M. - **A History of Indian Literature.** (Translated by Mrs. S. Ketkar) University of Calcutta, 1959.